तत्त्वज्ञान

योगी आनन्द जी

तत्त्वज्ञान

योगी आनन्द जी

हे आत्म-तत्व से युक्त पुरुष!

आप आत्मप्रकाश से युक्त हैं। अज्ञानी नहीं, अज्ञान तो आवरण मात्र हैं। यदि आप इस आवरण को हटा देते है तो वास्तविक प्रकाश-पुंज आपको स्वत: दिखाई देगा ...।

तत्त्वज्ञान

द्वितीय संस्करण

ISBN 978-93-5288-433-9

© लेखक
योगी आनन्द जी

प्रकाशक :
स्व-प्रकाशित
मुद्रक :
भार्गव प्रेस,
11/4, बाई का बाग, ज़ीरो रोड, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश – 211003

anandkyogi@gmail.com

http://www.kundalinimeditation.in/

http://www.youtube.com/c/YogiAnandJiSahajDhyanYog

https://www.fb.com/sahajdhyanyog/

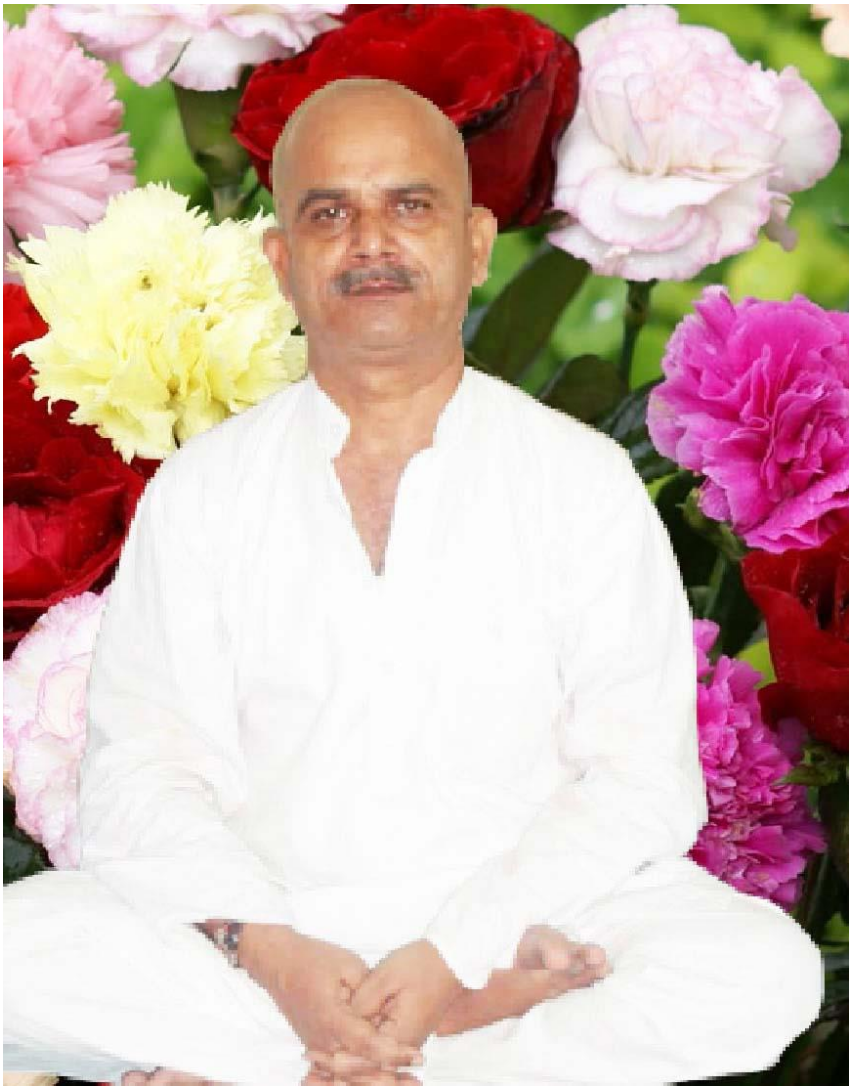

योगी आनन्द जी

प्रस्तावना

तत्त्वज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है। विरले साधकों को ही तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है। जिसने इस ज्ञान को प्राप्त कर लिया है, वह शुभ-अशुभ कर्मों से परे हो गया है। फिर उसके लिए कर्म बन्धन रूप नहीं बनते हैं। वह साधक निष्काम भाव से कर्म करता है। उसे ज्ञात हो जाता है कि मैं यह शरीर, इन्द्रियाँ, मन, अहंकार, चित्त आदि नहीं हूँ अर्थात् जड़ पदार्थ नहीं हूँ, बल्कि जड़ पदार्थ से परे हूँ। इसलिए प्रत्येक मनुष्य के लिए तत्त्वज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। तत्त्वज्ञान प्राप्त किए बिना कोई भी मनुष्य जीवन्मुक्त नहीं हो सकता है और न ही आत्मा में स्थित हो सकता है। तत्त्वज्ञान से अविद्या का पूर्ण नाश हो जाता है। अविद्या का नाश किए बिना निम्नगामिनी विषयाशक्ति वाली अपरा-प्रकृति से जीव मुक्त नहीं हो सकता है।

तत्त्वज्ञान कोई ऐसा ज्ञान नहीं है जो वेद-शास्त्रों व अन्य आध्यात्मिक पुस्तकों को पढ़कर प्राप्त कर लिया जाए। तत्त्वज्ञान सिर्फ योग के अभ्यास द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। जब विवेक-ख्याति अवस्था में आत्मा और चित्त की भिन्नता का ज्ञान हो जाता है, तब तत्त्वज्ञान की प्राप्ति अभ्यासानुसार होने लगती है। वेद-शास्त्रों से, गुरू के द्वारा प्रवचन सुनने से अथवा अन्य आध्यात्मिक पुस्तकों को पढ़ने से तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है। इस ज्ञान के द्वारा (वेद-शास्त्रों आदि के) अविद्या का नाश नहीं होता है, क्योंकि चित्त में रजोगुणी व तमोगुणी वृत्तियाँ विद्यमान रहती हैं। यह ज्ञान तत्त्वज्ञान प्राप्ति में सिर्फ सहायक होता है। तत्त्वज्ञान के विषय पर लेख लिखने का हमारा यही उदेश्य है कि वर्तमान समय में इस दुर्लभ ज्ञान के विषय में सभी मनुष्य समझ सकें कि वास्तव में तत्त्वज्ञान क्या होता है? मैंने इस लेख में चेतन-तत्त्व व जड़-तत्त्व के विषय में लिखने का प्रयास किया है ताकि अभ्यासियों को इस लेख के द्वारा मार्गदर्शन मिल सके, इस पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया है।

निवेदन

तत्त्वज्ञान पर लेख लिखने की प्रेरणा हमें योगी पतंजलि ऋषि जी से मिली। एक दिन जब मैं योग सम्बन्धी लेख लिख रहा था, उसी वक्त ऋषिवर पतंजलि जी का सन्देश आया– "*योगी, मैं तुमसे बात करना चाहता हूँ*"। यह सन्देश मिलते ही मैंने लेख लिखना बन्द कर दिया और आँखें बन्द करके ध्यान पर बैठ गया। आँखें बन्द करते ही पतंजलि ऋषि प्रकट हो गये। पहले मैंने उन्हें प्रणाम किया, उन्होंने आशीर्वाद मुद्रा में अपना हाथ ऊपर की ओर उठाया और हमसे बोले, "*योगी पुत्र, तुम इस कॉपी में क्या लिख रहे थे*"? मैं बोला, "*भगवन, मैं अपने अनुभव लिख रहा था जो हमें ध्यानावस्था में आते हैं*"। ऋषिवर पतंजलि जी बोले, "*तुम इस कॉपी को ज्ञान से भर दो*"। मैं बोला, "*प्रभु! मैं इतनी मोटी कॉपी ज्ञान से कैसे भर सकता हूँ, इतना ज्ञान मुझमें नहीं है*"। पतंजलि जी बोले, "*योगी पुत्र, मैंने कहा ना इस कॉपी को ज्ञान से भर दो, ज्ञान मैं दूँगा, क्या तुम मुझसे ज्ञान लोगे*?" मैं प्रसन्नता से बोला, "*हाँ प्रभु! मैं आपसे ज्ञान देने की प्रार्थना करता हूँ। यह हमारा सौभाग्य ही होगा कि आप हमें ज्ञान देंगे*"। पतंजलि जी बोले, "*मैं तुम्हें ज्ञान अवश्य दूँगा। तुम्हें किस विषय में ज्ञान अथवा जानकारी चाहिए– मुझसे पूछो, मैं तुम्हें बताऊँगा। क्या इस समय तुम्हें कुछ पूछना है*"? मैं बोला, "नहीं प्रभु! इस समय हमारे अन्दर किसी प्रकार की कोई शंका अथवा प्रश्न नहीं है"। पतंजलि जी बोले, "*ठीक है, जब तुम्हें योग के विषय में कुछ भी पूछना हो तो हमें याद करना, मैं तुम्हें बताऊँगा*"। मैं बोला, "प्रभु! आप हमें समय निश्चित कर दें ताकि मैं उसी समय आपसे पूछूँ जिससे आपको समाधि में किसी प्रकार का अवरोध न आए"। पतंजलि जी बोले, "*योग के विषय में तुम किसी भी समय पूछ सकते हो। तुम्हें इतना ज्ञान होना चाहिए कि जब तुम लिखना शुरू करो तो लिखते ही चले जाओ और जब तुम बोलना शुरू करो तो बोलते ही चले जाओ। कहो, मैंने ठीक कहा ना*?" मैं बोला, "जी प्रभु"। पतंजलि जी बोले, "*मैं तुम्हारी सहायता अवश्य करूँगा*"। मैंने उन्हें प्रणाम किया, फिर वे अदृश्य हो गये।

प्रिय पाठकों! जरूरत पड़ने पर मैं योगीराज पतंजलि ऋषि जी से योग के विषय में जानकारी ले लिया करता था। उन्होंने हमें कुण्डलिनी के विषय में बहुत ज्ञान दिया। अब उन्हीं की प्रेरणा से इस लेख को लिख रहा हूँ। यह लेख मैंने अपने योग के अभ्यास के अनुसार लिखा है। अभ्यास के समय प्रत्यक्ष रूप से हमारा कोई मार्गदर्शक नहीं था। मैंने स्वयं अपने ज्ञान के द्वारा यह मार्ग तय किया है। कभी-कभी हमारे सामने इस मार्ग में आगे बढ़ने पर प्रतिकूल परिस्थितियाँ उपस्थित हो जाती थी। इन प्रतिकूल परिस्थितियों के द्वारा आए हुए अवरोधों को मैं भोगकर पार कर लेता था अथवा कभी-कभी सूक्ष्म दिव्य शक्तियों से

मार्गदर्शन ले लेता था। इस लेख को लिखते समय हमारी अवस्था जीवन्मुक्त की है। लेख लिखते समय हमें थोड़ी बहुत परेशानी का सामना करना पड़ रहा है। इसका कारण यह है कि मैं लेख में क्या-क्या लिखूँ व किन-किन शब्दों का प्रयोग करूँ, इसके लिए हमें अपने आपको बहिर्मुखी करना पड़ता है। बिना बहिर्मुखी हुए मैं यह लेख नहीं लिख सकता क्योंकि जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त होने के कारण मैं पूरी तरह से अन्तर्मुखी हो गया हूँ, परन्तु अन्तर्मुखी रहकर लेख नहीं लिखा जा सकता है। इसलिए हमें अहंकार, बुद्धि, मन, इन्द्रियों आदि को क्रमशः बहिर्मुखी करना पड़ता है। मैं बहिर्मुखी ज्यादा समय तक नहीं रह पाता हूँ, अपने आप अन्तर्मुखी हो जाता हूँ। यह अन्तर्मुख और बहिर्मुख की अवस्था जो बार-बार होती रहती है, वह लेख लिखने के लिए अवरोध का कारण बनती है। वैसे मैं पूरी तरह से प्रयास करूँगा कि लेख लिखते समय अधिक से अधिक बहिर्मुखी रहूँ ताकि इस लेख से साधकों को उनकी आवश्यकतानुसार मार्गदर्शन मिल सके।

मैंने योग के अभ्यास की शुरूआत सितम्बर 1984 में की थी। फिर 17 फरवरी 1985 को श्रीमाता जी से (हमारे गुरूदेव) उनके घर जाकर (मिरज-महाराष्ट्र) दीक्षा ली। उन्हीं के मार्गदर्शन में योग का अभ्यास करता रहा। उस समय मैं दिल्ली में नौकरी करता था। फिर नौकरी छोड़कर जनवरी 1987 में मैं अपने पैतृक गाँव कानपुर (उ.प्र.) आ गया। यहाँ आकर योग का अभ्यास अत्यन्त उग्र रूप से करने लगा। ढेरों घरेलू व सामाजिक अवरोध आते रहे मगर मैंने इन अवरोधों की कभी परवाह नहीं की ओर न ही कभी योगमार्ग से विचलित हुआ। कभी-कभी आवश्यकता पड़ने पर श्रीमाता जी के पास चला जाया करता था। उस समय श्रीमाता जी अपने घर पर ही साधकों का मार्गदर्शन किया करती थी। फिर जुलाई 1991 में श्रीमाता जी का आश्रम मिरज के पास बनना शुरू हो गया था। उस समय उन्होंने आश्रम की देखभाल के लिए हमारा ही चयन किया था। मैं जुलाई 1991 में मिरज आश्रम में रहने लगा ओर वहाँ पर सदैव योग का अभ्यास किया करता था। फिर मैंने अत्यन्त कठोर साधना करना आरम्भ कर दिया। इससे हमें योग में शीघ्र ही सफलताएँ मिलने लगीं।

जुलाई 1992 में हमारे और श्रीमाता जी के विचारों में मतभेद उभरना शुरू हो गया। इसका कारण स्वयं हमारे योग का अभ्यास ही था। श्रीमाता जी के मार्गदर्शन के कारण एक समय हमारे अभ्यास में अवरोध आ गया। परन्तु श्रीमाता जी ने इस अवरोध का दोषी हमें ही बताया तथा अत्यन्त कठोर शब्दों का प्रयोग किया। उन शब्दों को सुनकर मैं दुःखी हो गया। फिर मैंने सूक्ष्म लोक के तत्त्वज्ञानी योगियों से सम्पर्क स्थापित किया तथा उनसे मार्गदर्शन करने की प्रार्थना की। उनके मार्गदर्शन में कुछ दिन योग का

अभ्यास किया। मैं समझ गया कि श्रीमाता जी हमारा मार्गदर्शन नहीं कर पायेंगी। वह हर बात के लिए गुरू कृपा को महत्व देती थीं किंतु मैं कर्म पर महत्व देता था। मैं किसी कारण से आश्रम में बना तो रहा मगर श्रीमाता जी से मार्गदर्शन लेना बन्द कर दिया। हमारी कुण्डलिनी पूर्ण यात्रा करके स्थिर हो चुकी थी। अब मैं आगे के विषय में जानना चाहता था, तभी समाधि अवस्था में मार्च 1993 में ब्रह्म की ओर से सन्देश मिलने लगा कि आपका मार्गदर्शक उत्तर भारत में है, अब यह स्थान छोड़ दीजिये। फिर अप्रैल 1993 में मैंने मिरज आश्रम छोड़ दिया। मैं अपने पैतृक गाँव कानपुर (उ.प्र.) वापस आ गया। यहीं पर मैंने 11-12 वर्षीय एक लड़के के योग के अभ्यास का मार्गदर्शन किया। इस लड़के ने मात्र 5½ घण्टे में ही योग में उच्च अवस्था प्राप्त कर ली, क्योंकि वह पूर्व जन्म में महान योगी था। इसी लड़के ने फिर हमें योग के विषय में महत्वपूर्ण जानकारियाँ देनी शुरू कर दी। हमें योग के विषय में ढेर सारी जानकारी प्राप्त हो गई। कुछ समय बाद यह लड़का अपने शेष कर्माशयों को भोगने के लिए भौतिक जगत् में लिप्त हो गया। मैंने अपने गाँव के बाहर जंगल में कुटिया (झोपड़ी) बना कर उसी में अभ्यास करना शुरू कर दिया। यहीं पर मुझे तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हुई। इसी तत्त्वज्ञान को मैं इस लेख में लिख रहा हूँ।

यह मैं तीसरा लेख लिख रहा हूँ। इससे पहले भी हमने दो लेख लिखे हैं। पहला लेख "**सहज ध्यान योग**" तथा दूसरा लेख "**योग कैसे करें**" लिखा है। पाठकों को पहले क्रमशः ये दोनों लेख पढ़ने चाहिएं, क्योंकि ये तीनों लेख क्रमशः एक ही हैं। इसे तीन भागों में लिखा गया है, क्योंकि एक भाग में पूरा लेख लिखना सम्भव नहीं था। जब पाठक क्रमशः तीनों लेख पढ़ेंगे तब सहज ध्यान योग के विषय में पूरी तरह से समझ में आ जाएगा। जो साधक सहज ध्यान योग के मार्ग पर चल रहे हैं अथवा जो जिज्ञासु इस मार्ग के विषय में जानना चाहते हैं, उन्हें तीनों लेख क्रमशः अवश्य पढ़ने चाहिए। ये तीनों लेख मैंने अपने अभ्यास के अनुसार लिखे हैं। इसमे शुरूआत से लेकर आत्मस्थिति तक के विषय में लिखा है कि साधकों को ध्यानावस्था में कैसे-कैसे अनुभव आते हैं तथा उनका अर्थ क्या होता है, व ढेरों प्रकार की जानकारियाँ लिखी गई हैं, ताकि साधकों का मार्गदर्शन हो सके।

तत्त्वज्ञान इतना गहन विषय है कि इस पर लेख लिखना हम जैसे साधक के लिए असम्भव-सा है। फिर भी लिखने का प्रयास कर रहा हूँ। बुद्धिमान पाठकों से निवेदन है कि मैं एक छोटा-सा साधक हूँ तथा अल्पज्ञान वाला हूँ। इसलिए लेख लिखते समय ढ़ेरो त्रुटियाँ होंगी। इन त्रुटियों के लिए हमें क्षमा करें। मनुष्य चाहे जितना भी पुस्तकीय ज्ञान से युक्त हो जाए, कोई चाहे जितना भी अपने को धर्म का मर्मज्ञ कहे, चाहे घर से विरक्त होकर जंगल अथवा दूसरे स्थानों पर चला जाए, या फिर जितना भी आप अपने को

जितेन्द्रिय कहे, मनुष्य क्या देवता भी क्यों न हो, परन्तु बिना योग के अभ्यास के द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है। सांसारिक ज्ञान मात्र से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है क्योंकि अविद्या ग्रन्थि का नाश तो समाधि के द्वारा ही हो सकता है अन्यथा नहीं। योगाग्नि के द्वारा पाप-पुंज जलकर राख हो जाते हैं एवं जब अभ्यास शिखर पर होता है, तब तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है। तत्त्वज्ञान के द्वारा ही कैवल्य की प्राप्ति होती है।

हे अमृत के पुत्रों! जागो, कब तक अज्ञान रूपी अंधकार में भटकते रहोगे? बहुत भटक लिया, इस कष्ट रूपी क्षण भंगुर संसार में तुम्हारा कोई नहीं है। समस्त संसार भ्रम मात्र है। भ्रम को वास्तविक न समझो। वास्तव में तुम अविनाशी चेतनमय तत्त्व हो। अपने स्वरूप को पहचानों। तुम्हारा आत्मज्ञान अविद्या ने ढक लिया है। इस अविद्या रूपी आवरण को कठोर अभ्यास के द्वारा छिन्न-भिन्न करके नष्ट कर दो, फिर तुम अपने आपको अपने निजस्वरूप में स्थित पाओगे और देखोगे कि तुम स्वयं इस सम्पूर्ण सृष्टि के पिता हो तथा शासक भी तुम्हीं हो। तुम्हारी जय हो! तुम्हारी जय हो!

योगी आनन्द जी

विषय सूची

क्र.सं	नाम	पृष्ठ
	प्रथम अध्याय	
1.	योग का महत्व	14
2.	संसार	26
3	प्रकृति	56
4.	गुण	77
5.	चित्त	85
6.	दु:ख	101
7.	कर्म	110
8.	कुण्डलिनी	118
9.	सिद्धियाँ	138
10.	समाधि	147
11.	जीवन्मुक्त	176
12.	ऋतम्भरा-प्रज्ञा	191
13.	विवेक-ख्याति	199
14.	पर-वैराग्य	202
15.	तत्त्वज्ञान	206
16.	ब्रह्म	228
17.	मोक्ष	238
	द्वितीय अध्याय	
	सन् 1999	
18.	समाधि अवस्था में आए कुछ अनुभव	254

सन् 2000

19.	माता आदिशक्ति द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्ति का आशीर्वाद, अवरोधक टूट गया, सबीज समाधि की उच्चतम अवस्था, तीनों गुण, भेदज्ञान रूपी अश्वशाला, आत्मा एक चित्त अनेक, अहंकार	260-266

सन् 2001

20.	सभी वस्तुओं का त्याग, माता काली की कृपा, चारों शरीर, प्रकृति, धर्म रूपी वर्षा का होना, बन्धन से मुक्त हुआ, अस्मिता का साक्षात्कार, ऋतम्भरा-प्रज्ञा का उदय होना, ऋतम्भरा-प्रज्ञा का दर्शन, चित्त के बाह्य परिणाम वाले तीनों गुण, चित्त की भूमि	267-274
21.	तत्त्वों का साक्षात्कार, पृथ्वी तत्त्व के सामान्य व विशेष रूप का साक्षात्कार, जल तत्त्व के सामान्य व विशेष रूप का साक्षात्कार, अग्नि तत्त्व के सामान्य रूप का साक्षात्कार, अग्नि तत्त्व के विशेष रूप का साक्षात्कार, वायु तत्त्व के सामान्य रूप का साक्षात्कार	275-278
22.	ऋतम्भरा-प्रज्ञा का साक्षात्कार, वायु तत्त्व के अन्दर अग्नि तत्त्व, जल तत्त्व व पृथ्वी तत्त्व, आकाश तत्त्व के सामान्य रूप का साक्षात्कार, अस्मिता का साक्षात्कार, तीनों तापों का साक्षात्कार	280-284
23.	वायु तत्त्व के विशेष रूप का साक्षात्कार, आकाश तत्त्व के विशेष रूप का साक्षात्कार, तत्त्वों की पहचान, अपरा-प्रकृति और परा-प्रकृति की संधि होना	285-288
24.	शिवलिंग रूपी ब्रह्माण्ड, मैं अपरा-प्रकृति को खा गया, विवेक-ख्याति, चित्त का ईश्वर के चित्त में अन्तर्मुखी होना, मृत्यु से साक्षात्कार, स्थूल शरीर बेकार हो चुका है, तुम्हें प्रकृति के कुछ कार्य करने हैं	292-300

सन् 2002

25. इंजन की आवाज, बाँस, इंजन की आवाज, ऋतम्भरा-प्रज्ञा का दिखाई देना, इंजन की आवाज, बाँस, इंजन की आवाज, बाँस — 302-307

सन् 2003

26. भगवान् शिव द्वारा आदि शक्ति मंत्र दिया जाना, अपरा-प्रकृति का नष्ट हुए के समान होना, अपरा-प्रकृति संगिनी के रूप में, प्रकृति बकरी के रूप में, अब तुम किराएदार हो गये हो — 308-312

सन् 2004

27. सरल बनो, चक्की का चलना, वायु तत्त्व आकाश तत्त्व में विलीन होने की ओर, प्रज्ञा के तीन स्वरूपों का साक्षात्कार, अपरा प्रकृति का स्वरूप, दिव्यदृष्टि, आकाश तत्त्व में अवस्थित, स्थूल शरीर का दिव्य प्रकाश रूप में परिवर्तित होना — 314-320

28. सहस्त्र-दल कमल (सहस्त्रार चक्र) का विकास होना शुरू हुआ, सहस्त्र-दल कमल का विकास, सहस्त्र-दल का कमल पूर्ण रूप से विकसित हो गया, ईश्वर के समान स्वरूप व शक्तियों का प्राप्त होना — 321-327

29. अपरा प्रकृति की सीमाएँ, अंडे के रूप में स्थित कर्माशय नष्ट हुए, कर्माशयों से मुक्त होना तय — 329-330

सन् 2005

30. श्री हरि के स्वरूप में अनन्त ब्रह्माण्ड, श्री हरि का आशीर्वाद, माया द्वारा अपने स्वरूप का दर्शन, तुम पूर्ण हो, चित्त की भूमि का शुद्ध होना, स्थूल जगत नष्ट हुए के समान, सहस्त्र-दल कमल, परम्-शांत की अवस्था, सभी धर्मों की आखिरी सीमा एक ही है — 332-337

सन् 2006

31. आवा, नाव, तीर, चित्त की भूमि पर छिद्र, मैं शिवलिंग के ऊपर 339-342

सन् 2007

32. सगुण ब्रह्म (परम्-शिव) का दर्शन, कलयुग ने हमसे माफी माँगी, सर्वोच्च अवस्था पर 343-345

सन् 2008

33. नाग ने काटा, बाँस, संसार चक्र, तीर, सहस्त्र-दल कमल पर परम्-शिव व परा-शक्ति एक साथ विराजमान, मैं भगवान् शंकर के रूप में, संकल्प करो हमारी सोई हुई सारी शक्तियाँ जाग्रत हो जाएँ, सहनशीलता की देवी, क्या तुम्हें शिवत्व पद दिया जाना चाहिए 346-351

सन् 2009

34. प्रकृति देवी की प्रेरणा से कार्य करना, चित्त का साक्षात्कार, मैं सहस्त्रार चक्र व अहंकार के ऊपर आसन लगाकर बैठा, सहस्त्र-दल कमल के ऊपर विद्यमान हुआ, सहस्त्र-दल कमल, जगत् का अस्तित्व न जाने कहाँ विलीन हो गया, समता का अभ्यास करो, योगी तुम ऋषि हो 352-357

सन् 2010

35. चित्ताकाश से आगे, अपना जीवन मुझे दे दो, सभी प्राणी तुम्हारे अंश हैं, आहट 358-360

36. योगी की उपाधि दी गई, परा-प्रकृति का अवतरण, समस्त ब्रह्माण्ड को धारण कर लिया, समस्त ब्रह्माण्ड मेरे चारों ओर घूम रहा है, तुम्हारे अन्दर ब्रह्मऋषि के गुण आने लगे हैं 361-363

37. सम्पूर्ण इच्छाओं से रहित होना, अपरा-प्रकृति का स्वरूप, मैं सर्वोच्च स्थिति के पास, आकाश तत्त्व, अपरा-प्रकृति को अपने सिर के नीचे दबा लिया 364-367

38. मैं छिद्र से उस पार चला गया, चित्त की चंचलता शांत हो गई, परम् शांत, हे ईश्वर! इन सभी को माफ कर दो, मैं ही सृष्टि वाला वृक्ष हूँ, हमारा स्थूल शरीर प्रारब्ध वेग के द्वारा सधा हुआ है, जीवन्मुक्त अवस्था परिपक्व हो गई 368-372

39. अन्वय योग का पूर्ण होना, वेदान्त दर्शन में लेख मिलता है, मैं चरवाहा हूँ, इंजन, नाव, ऋतम्भरा-प्रज्ञा, झोपड़ी, योनि, विवर, उल्टा वृक्ष, धर्ममेघ समाधि 373-380

40. इस लेख के अन्त में 381

प्रथम अध्याय

योग का महत्व

ब्रह्म प्राप्ति का साधन योग ही है। गीता में भगवान् श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं– "*हे निष्पाप अर्जुन! इस मनुष्य लोक में मैंने पुरातन काल में कपिल मुनि और हिरण्यगर्भ रूप में दो निष्ठाएँ बतलायी हैं। कपिल मुनि के द्वारा बतलायी हुई सांख्य योग की निष्ठा ज्ञान से होती है तथा हिरण्यगर्भ के रूप में बतलायी हुई कर्मयोग की निष्ठा निष्काम कर्म योग से होती है। सांख्य योग के वक्ता कपिल मुनि हैं और कर्म योग के वक्ता हिरण्यगर्भ हैं। सांख्य योग और कर्म योग यद्यपि ये दोनों अलग-अलग नाम से वर्णित हैं, मगर वास्तव में ये दोनों एक ही हैं। इन दोनों में से एक का भी ठीक से अनुष्ठान कर लेने से दोनों का फल मिल जाता है। सांख्य योगी जिस परमात्म स्वरूप को प्राप्त करते हैं, कर्मयोगी भी उसी परमात्म स्वरूप को प्राप्त करते हैं। जो सांख्य योग और कर्म योग को एक जानता है, वह तत्त्ववेत्ता है। हे अर्जुन! कर्म योग के बिना सांख्य योग साधन रूप में कठिन है*"।

हे पाठकों! जिस प्रकार सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण इन तीनों में से प्रत्येक गुण बिना दोनों की सहायता से अपना कोई भी कार्य स्वतंत्र रूप से प्रारम्भ नहीं कर सकते हैं, उसी प्रकार ज्ञान, उपासना, कर्म भी अपने-अपने कार्य में परस्पर एक-दूसरे की सहायता की उपेक्षा रखते हैं। सांख्य योग में ज्ञान प्रधान है तथा कर्म उपासना गौण है। कर्मयोग में कर्म की प्रधानता है। सांख्य योग सीधे और कठिन मार्ग से जाता है। कर्मयोग बीच में थोड़ा-सा घुमावदार मार्ग से जाता है। दोनों एक ही स्थान से चलते है तथा अन्त में एक ही स्थान में जाकर मिल जाते हैं।

कर्म योग में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार ये पाँच बहिरंग साधन हैं तथा ध्यान, धारणा, समाधि अन्तरंग साधन हैं। धारणा, ध्यान, समाधि- ये तीनों निर्बीज समाधि के बहिरंग साधन हैं। निर्बीज समाधि का अंतरंग पर-वैराग्य है, जिसके द्वारा चित्त से अलग आत्मा का साक्षात्कार कराने वाली विवेक-ख्याति रूपी सात्विक वृत्ति का भी निरोध होकर आत्मा में अवस्थिति का लाभ होता है।

कर्मयोग के पहले पाँच बहिरंग साधन सांख्य योग और कर्मयोग में एक समान हैं। किन्तु जहाँ कर्म योग में धारणा, ध्यान, समाधि द्वारा किसी विषय को ध्येय बनाकर अन्तर्मुख होते हैं, वहीं सांख्य योग में बिना किसी को ध्येय बनाकर अंतर्मुख होते हैं। उसमें धारणा-ध्यान-समाधि के स्थान पर चित्त और उसकी

वृत्तियाँ दोनों ही त्रिगुणात्मक हैं। इसलिए गुण ही गुण में बरत रहे हैं। इस भावना से आत्मा को चित्त से पृथक अकर्ता व केवल शुद्ध स्वरूप में देखना होता है। यह आत्मसाक्षात्कार कराने वाली विवेक-ख्याति के रूप में गुणों की ही सात्विक वृत्ति है। इस प्रकार पर-वैराग्य द्वारा इस वृत्ति के निरोध होने पर आत्म अवस्थिति को प्राप्त होते हैं।

योग सभी धर्मों और वाद-विवाद से रहित है। योग तत्त्व का ज्ञान स्वयं अनुभव द्वारा प्राप्त करना सिखलाता है तथा मनुष्यों को अपने ध्येय तक पहुँचाता है। योग के विषय में आजकल नाना प्रकार की भ्रांतियाँ फैली हुई हैं। इसलिए योग के वास्तविक स्वरूप को समझा देना अत्यन्त जरूरी है। स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर जाना अर्थात् बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी होना योग है। चित्त की वृत्तियों के द्वारा हम व्यवहार की दशा में बहिर्मुखी रहते हैं। जितनी वृत्तियाँ बहिर्मुखी होती जाएँगी, उतनी ही उसमें रजोगुण व तमोगुण की मात्रा बढ़ती जाएगी। उसके विपरीत, वृत्तियाँ जितनी अन्तर्मुखी होती जाएँगी, उतनी ही रजोगुण और तमोगुण की मात्रा घटती जाएगी व सत्त्वगुण का प्रकाश बढ़ता जाएगा। जब चित्त में कोई भी वृत्ति नहीं रह जाएगी, तब शुद्ध आत्म स्वरूप रह जाएगा। कुछ मनुष्य योग का अभ्यास इसलिए नहीं करना चाहते हैं, क्योंकि वह अपने गृहस्थ जीवन को अध्यात्म के मार्ग में बंधन समझते हैं तथा गृहस्थ का साथ छोड़ना नहीं चाहते हैं। योग करने के लिए अथवा परमात्मा को प्राप्त करने के लिए गृहस्थ बन्धन नहीं है और न ही उसे छोड़ने की आवश्यकता है। आप गृहस्थ में रहकर भी योग कर सकते हैं। इसलिए गृहस्थियों के लिए **"सहज ध्यान योग"** उपयोगी बतलाया गया है। मैंने जिनसे योग सीखा था अथवा जो हमारे योग की गुरू थीं, वह खुद भी गृहस्थ में ही रहती थीं। उन्होंने गृहस्थ में रहकर स्वयं योग किया तथा सैकड़ों शिष्यों का मार्गदर्शन भी किया। सच तो यह है कि आपकी गृहस्थी आपका बन्धन नहीं है, बल्कि आपके सूक्ष्म शरीर में स्थित आपके कर्मों के संस्कार ही वास्तविक बन्धन हैं। ये संस्कार आपके अनन्त जन्मों के हैं। आपको गृहस्थ रुपी बन्धन से नहीं, बल्कि चित्त में स्थित संस्कार रूपी बन्धन से परे होना है। आप कहीं भी चले जाएँ, ये संस्कार आपके साथ ही रहेंगे। इसलिए अच्छा है कि गृहस्थ में रहकर ही अभ्यास किया जाए।

कैवल्य रूप परम् पद प्राप्त करने के लिए अनेक उपाये बताए गए हैं, किन्तु उन समस्त उपायों से उस परम् पद को प्राप्त करना सहज नहीं है। सहज ध्यान योग के द्वारा कैवल्य पद आसानी से प्राप्त हो जाता है। कैवल्य पद प्राप्त करना ही मानव जीवन का उदेश्य है। कैवल्य मुक्त होने पर दुःखों की अत्यन्त

निवृत्ति हो जाती है। दुःख नष्ट हो जाने पर पुनः उसकी उत्पत्ति न होने को ही दुःखों की आत्यंतिक निवृत्ति कहते हैं। कैवल्य मोक्ष होने पर जीव को पुनः जन्म, मृत्यु, जरा-व्याधि जनित दुःख नहीं भोगना पड़ता है।

शास्त्रों व पुस्तकों से जो ज्ञान प्राप्त होता है वह वास्तविक ज्ञान नहीं है, क्योंकि शास्त्रों व पुस्तकों को पढ़ने से तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है। इसलिए ऐसे ज्ञान को अविद्या से युक्त ज्ञान कहा जाएगा। तत्त्वज्ञान (यथार्थ ज्ञान) योगाभ्यास के बिना प्राप्त नहीं हो सकता है। एक साधारण मनुष्य का जो ज्ञान है, वह केवल भ्रांति वाला ज्ञान है। ज्ञान उसे कहा जाता है जिससे अज्ञान का नाश हो जाए, मगर सुनने व पढ़ने वाले ज्ञान से अज्ञान पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। जब तक योग के अभ्यास के द्वारा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति न हो जाए, तब तक अज्ञान (अविद्या) बना रहता है। ज्ञान और अज्ञान आपस में एक-दूसरे के विरोधी हैं। जिस स्थान पर ज्ञान होगा वहाँ पर अज्ञान हो ही नहीं सकता है, जैसे-प्रकाश के सामने अंधकार ठहर नहीं सकता है। यही बात ज्ञान और अज्ञान के विषय में है। शास्त्रीय अथवा पुस्तकीय ज्ञान से जीव की मुक्ति नहीं हो सकती है और न ही दुःखों से छुटकारा मिल सकता है। मगर अभ्यास के द्वारा प्राप्त तत्त्वज्ञान से पुरी तरह से छुटकारा मिल सकता है तथा जीव भी बन्धन से मुक्त हो जाता है। आजकल मनुष्य शास्त्रों को पढ़कर अपने आपको ज्ञानी समझने लगते हैं। ऐसी भ्रांति वह स्वयं ही बना लेते हैं। शास्त्रों में यह भी लिखा है कि योग साधना के अतिरिक्त तत्त्वज्ञान प्राप्त करने का दूसरा कोई सरल उपाय नहीं है। योग के अभ्यास द्वारा ही तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है और उसी तत्त्वज्ञान से योगी लोग दुर्लभ मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

ब्रह्माण्ड का छोटा स्वरूप पिण्ड रूप में मानव शरीर है। ब्रह्माण्ड का छोटा स्वरूप होने के कारण जो शक्तियाँ ब्रह्माण्ड में स्थित हैं, वही शक्तियाँ मानव शरीर में सूक्ष्म रूप से अपने-अपने निश्चित स्थान पर विद्यमान रहती हैं। अब यह मनुष्य के ऊपर है कि वह अपने शरीर में स्थित उन शक्तियों की खोज करता है अथवा नहीं। यदि खोज करेगा तो अवश्य वह शक्तियाँ प्राप्त होंगी। अगर खोज नहीं करेगा तो एक-न-एक दिन मानव शरीर नष्ट हो जाएगा। मगर यदि मनुष्य उन शक्तियों का लाभ नहीं उठा पाया तो इसका जिम्मेदार वह स्वयं है। यह शक्तियाँ सुषुप्तावस्था में विद्यमान रहती हैं। जिस जगह पर ये शक्तियाँ विद्यमान होती हैं उस जगह को चक्र, पद्म या कमल कहते हैं। ये चक्र साधारण मनुष्य के शरीर में बन्द रहते हैं अर्थात् निष्क्रिय रहते हैं। इन्हें क्रियाशील करने के लिए अथवा शक्तियों को जाग्रत अवस्था में लाने के लिए योग का अभ्यास करना जरूरी है। योग के अभ्यास के बिना ये शक्ति केन्द्र (चक्र) क्रियाशील नहीं हो सकते। जिस मनुष्य के ये शक्ति केंन्द्र जाग्रत होकर क्रियाशील हो जाते हैं, उस मनुष्य

के अन्दर उच्च कोटि की योग्यता आ जाती है तथा अत्येंद्रिय ज्ञान की प्राप्ति होने लगती है। इन चक्रों में ऊपर वाले दो चक्र ऐसे हैं जिनके क्रियाशील होने पर प्रकृति के रहस्यों का ज्ञान होने लगता है तथा साधक को अपने वास्तविक स्वरूप की अनुभूति होने लगती है। अभी तक जो वह अपने आपको सिर्फ मानव देह मानता था तथा सिर्फ मानव देह तक ही सीमित किए हुए था। मगर अब योग के अभ्यास के द्वारा ऊपरी चक्रों के क्रियाशील होने पर अपने आपको चैतन्यमय व व्यापक रूप में जान लेता है तथा चेतनता और व्यापकता की अनुभूति करता है। इसलिए हर मनुष्य को अपने इस मानव देह प्राप्त करने का वास्तविक लाभ प्राप्त करना चाहिए ताकि उसके जीवन का विकास व उन्नति हो सके।

प्रवचन के द्वारा सुना हुआ तथा पुस्तकों के द्वारा पढ़ा हुआ ज्ञान बुद्धि के अन्तर्गत आता है, मगर तत्त्वज्ञान बुद्धि और अहंकार से परे की अवस्था में प्राप्त होता है। निर्विचार समाधि की उच्चतर अवस्था में जब निर्मल-प्रज्ञा प्रकट होती है, उस निर्मल प्रज्ञा में प्रकृति के तत्त्वों के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान योगी को होता है। तत्त्वों का ज्ञान होने पर प्रकृति का ज्ञान पूरी तरह से हो जाना स्वाभाविक है। योगी अच्छी तरह से समझ लेता है कि मैं जड़ पदार्थ नहीं हूँ अर्थात् मैं शरीर नहीं हूँ, इन्द्रियाँ नहीं हूँ, मन नहीं हूँ, बुद्धि नहीं हूँ, अहंकार अथवा चित्त नहीं हूँ। यह सब ज्ञात हो जाने पर योगी अपने आपको जड़ पदार्थ से अलग कर लेता है। जड़ पदार्थ से अलग होते ही वह चैतन्यमय तत्त्व में अवस्थित हो जाता है। हम सभी अपने आपको जड़ पदार्थ समझते हैं। योग के अभ्यास के द्वारा इसी जड़ पदार्थ से अपने को अलग करना है। जड़ पदार्थ से अलग होते ही हम अपने मूल स्वरूप चेतनतत्त्व में स्थित हो जाएँगे।

जब तक हम तत्त्वज्ञान के द्वारा प्रकृति के वास्तविक स्वरूप को नहीं जान लेते हैं, तब तक अपने वास्तविक स्वरूप, जो चैतन्यमय है, उसमे स्थित नहीं हो सकते हैं, क्योंकि अज्ञानता के कारण हम अपने आपको स्थूल शरीर समझे हुए हैं। इसलिए हम सभी के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं कि हम तत्त्वज्ञान की प्राप्ति करें। जब तक तत्त्वज्ञान को प्राप्त नहीं करेंगे तब तक इस संसार में जन्म, जरा व मृत्यु को प्राप्त होते रहेंगे। एक बात और स्पष्ट कर दूँ– हर साधक को तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है, क्योंकि तत्त्वज्ञान की प्राप्ति कई जन्मों तक कठोर साधना करने के बाद अन्तिम जन्म में होती है। जिसे तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जाता है वह योगी समाज में अपने आपको प्रकट नहीं करता है, बल्कि गुप्त रूप से रहता है। आजकल प्रवचन करने वालों की बहुतायत है। प्रवचन के समय बहुत भीड़ भी एकत्र होती है, मगर इसका मतलब यह नहीं है कि वह तत्त्वज्ञानी हैं। तत्त्वज्ञानी को कीर्ति, वैभव आदि से क्या लेना-देना, वह तो सब कुछ त्याग चुका है।

तत्त्वज्ञान पर ढेरों सन्त महात्मा व प्रवचनकर्ता आजकल बहुत प्रवचन करते हैं तथा तत्त्वज्ञान को विभिन्न दृष्टिकोण से उदाहरण देकर समझाते हैं। यदि प्रवचनकर्ता से पूछा जाए कि क्या उसने स्वयं योग का अभ्यास करके तत्त्वज्ञान प्राप्त किया है, तो शायद प्रवचन कर्ता निरूत्तर हो जाएगा। तत्त्वज्ञान कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो पढ़कर रट लिया जाए, फिर वही दूसरे को सुनाने लगे। इस क्रिया से न तो कहने वाले को और न ही सुनने वाले को लाभ होगा, क्योंकि तत्त्वज्ञान के विषय में कहने व सुनने से अज्ञानता पर कोई असर नहीं पड़ता है। अज्ञानता दोनों के चित्त में ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। मगर तत्त्वज्ञान का स्वभाव है कि जिसे यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है, उसके पास अज्ञानता कभी नहीं आती है, क्योंकि तत्त्वज्ञान अज्ञानता का विरोधी है। ये आपस में एक साथ नहीं रह सकते हैं, जैसे प्रकाश और अंधकार एक साथ नहीं रह सकते हैं।

मनुष्य के जीवन में आध्यात्मिक विकास के लिए योग का अभ्यास करना अत्यन्त आवश्यक है, मगर योग का अभ्यास बिना त्याग के नहीं किया जा सकता है। त्याग वैराग्य का परिणाम है। योग के अभ्यास से मनुष्य की मानसिक शक्ति बढ़ती है। अपनी इच्छाओं को जानबूझ कर रोकने से इच्छाओं की शक्ति संचित हो जाती हैं। फिर उस शक्ति से मनुष्य यथोचित जो कुछ भी करना चाहे कर सकता है। समाज का उपकार मानसिक शक्ति के संचय के बिना सम्भव नहीं है। मानसिक शक्ति का संचय योग के अभ्यास के द्वारा होता है। इससे निम्न कोटि की वासनाएँ रुक जाती हैं, फिर उच्च कोटि की वासनाओं का विकास होता है। ये वासनाएँ शारीरिक सुख की न होकर मानसिक सन्तोष सम्बन्धी होती हैं। ये योग के अभ्यास में सहायक होती हैं। साधक का ध्येय जब तत्त्वज्ञान प्राप्ति हो जाता है, तब वह साधक को शाश्वत शांति प्रदान करता है। इसलिए साधक को न केवल भोगों का त्याग करना पड़ता है, बल्कि त्याग का भी त्याग करना पड़ता है। तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए साधक को अभ्यास में अत्यन्त कठोरता नहीं बरतनी चाहिए। किसी भी प्रकार की अति कठोरता साधक में अभिमान की वृद्धि करती है, इसलिए साधक को मध्यम मार्ग अपनाना चाहिए। जब तक भगवान् गौतम बुद्ध कठोर योग का अभ्यास करते रहे, तब तक उन्हें तत्त्वज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई। जब उन्होंने कठोर अभ्यास को छोड़ दिया तथा मध्यम मार्ग अपना लिया, तब उन्हें तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो गई।

साधक का ध्येय आध्यात्मिक शांति प्राप्त करना अथवा निर्वाण प्राप्त करना होता है। जब तक साधक को संसार की अनित्यता या दुःख रूपता का ज्ञान नहीं होता है, तब तक उसका मन सांसारिक विषयों की ओर जाता रहता है, चाहे वह मन को रोकने का कितना ही प्रयत्न क्यों न कर ले। जब मनुष्य

को संसार की दुःख-रूपता और अनित्यता का ज्ञान हो जाता है, तब उसका संसार से सहज ही अलगाव हो जाता है। फिर मन को सांसारिक विषयों में जाने पर प्रयत्न के द्वारा रोकने का प्रयास नहीं करना पड़ता है। मनुष्य का मन अभ्यास का दास है। जब तक साधक नित्य प्रति योग का अभ्यास नहीं करता है, तब तक उसकी संचित वासनाओं का विनाश नहीं होता और न ही उसे स्थायी शांति की प्राप्ति होती है। बहिर्मुखी वृत्तियों वाला मनुष्य सांसारिक सफलता तो प्राप्त कर सकता है, किंतु उसे आध्यात्मिक शांति प्राप्त नहीं हो सकती है। जैसे-जैसे मनुष्य मृत्यु के समीप आता जाता है, वैसे-वैसे मानसिक अशांति बढ़ती जाती है। प्रकृति स्वयं ही बुढ़ापे में मनुष्य को त्याग के लिए आदेश देने लगती है। वह मनुष्य भाग्यवान है जिसे युवावस्था में ही अपने अहंकार को त्यागने की सद्बुद्धि आ जाती है।

योग का मार्ग कठिन होने के कारण शुरूआत में सभी मनुष्यों को इसका अभ्यास असम्भव-सा प्रतीत होता है, क्योंकि सामान्य अनभिज्ञ और देहात्मभाव वाले मनुष्यों को अज्ञान की क्रियाशक्ति पूरी तरह से अधिकार में किए रहती है। इसलिए योग मार्ग पर चलने वाले साधकों पर यह अज्ञान बाधा डालने का प्रयत्न करता है, क्योंकि योग अविद्या (अज्ञान) का विरोधी है। अभ्यास के समय साधक स्वयं देखता है कि उसका शरीर, प्राण व मन योग मार्ग में जबरदस्त रुकावटें डालते हैं। यदि साधक इस लक्ष्य को स्वीकार कर ले तथा मार्ग में आने वाली कठिनाइयों का सामना करने के लिए तैयार हो जाए, बन्धनों को पीछे छोड़ दे और लक्ष्य प्राप्ति में लग जाए, तो यह निश्चित है कि उसे उसके लक्ष्य की प्राप्ति अवश्य होगी। भगवान् वेद व्यास जी कहते हैं– "*जो ममत्व है, वही दुःख का मूल है और निर्ममत्व ही दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति है। निर्ममत्व से वैराग्य होता है, वैराग्य से योग की प्राप्ति होती है। योग से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है और तत्त्वज्ञान से मनुष्य को मुक्ति मिलती है*"। अतः यह स्पष्ट है कि मुमुक्ष के लिए योग का अभ्यास कितना आवश्यक कर्तव्य है। योग का अभ्यास करने का अधिकार सम्पूर्ण मानव जाति को है। प्रत्येक मनुष्य को अपने विकास तथा उत्थान के लिए अभ्यास करना चाहिए। जाग्रत अवस्था में मनुष्य अपने शरीर के द्वारा सिर्फ भौतिक विकास कर सकता है, मगर योग के अभ्यास के द्वारा मनुष्य अपना सूक्ष्म और सूक्ष्मतर विकास कर सकता है और वह अपने चेतन स्वरूप में स्थित हो सकता है। मनुष्य दुःखों से छुटकारा पाने के लिए भौतिक विकास करता है मगर दुःखों से छुटकारा नहीं मिलता है, क्योंकि दुःखों के संस्कार सूक्ष्म रूप से उसके चित्त में स्थित रहते हैं। इसलिए छुटकारा कहाँ से मिले। जब मनुष्य भौतिक अवस्था से लेकर सूक्ष्मतर अवस्था तक का विकास नहीं करेगा तथा इसके बाद चेतन स्वरूप में स्थित नहीं हो जाएगा, तब तक उसे दुःखों से छुटकारा नहीं मिल सकता है। इसलिए मानव जाति को

दुःखों से छुटकारा पाने के लिए योग के अभ्यास को अपने जीवन का एक भाग बना लेना चाहिए, जिससे दुःखों से अत्यन्त निवृत्त होकर परम् शांति को प्राप्त कर सके।

तत्त्वज्ञान प्राप्ति के लिए किसी की कृपा की आवश्यकता नहीं होती है, क्योंकि किसी की कृपा से तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है। तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिए कई जन्मों तक साधना करने की आवश्यकता होती है, फिर अन्तिम जन्म में तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है। साधक के माता-पिता व निकट सम्बन्धियों का आशीर्वाद व कृपा तत्त्वज्ञान प्राप्ति में सहायता नहीं कर सकता है। ईश्वर न किसी पर कृपा करता है और न ही किसी के कार्य में अवरोध डालता है। सिर्फ सद्गुरु की कृपा व आशीर्वाद तत्त्वज्ञान प्राप्ति में सहायक हो सकता है। एक बात का ध्यान रहे कि गुरू सिर्फ मार्गदर्शन करता है। इसी मार्गदर्शन को कृपा व आशीर्वाद समझा जाए, क्योंकि योग का अभ्यास तो स्वयं साधक को करना पड़ता है। तत्त्वज्ञान प्राप्ति के लिए केवल वही मार्गदर्शन कर सकता है, जिसे स्वयं तत्त्वज्ञान प्राप्त हो। आजकल तत्त्वज्ञानी महापुरूष कहाँ मिलेगा, यह बता पाना बड़ा मुश्किल है, क्योंकि ऐसे महापुरूष अपनी योग्यता को छिपाए रहते हैं। ज्यादातर जो योगी गुरू पर पर आसीन हैं, उन्हें स्वयं तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं होता है। फिर भी ऐसे पुरूष अपने आप को तत्त्वज्ञानी कहने लगते हैं। कुछ तो अपने आप को ईश्वर का अवतार भी कहने लगते हैं, यह उनकी अज्ञानता है। ऐसे योगियों की योग्यता कहाँ तक होती है यह बता पाना असम्भव है। ज्यादातर योगी अपने आपको तब पूर्ण समझने लगते हैं, जब उन्हें समाधि अवस्था में हृदय के अन्दर दीपशिखा के समान जलती हुई लौ का साक्षात्कार होने लगता है। इसे वह आत्मा का वास्तविक स्वरूप समझ लेते हैं, मगर यह उनकी अज्ञानता है। वास्तविकता यह है कि हृदय के अन्दर दिखाई देने वाली लौ वास्तव में चित्त की ही सात्विक वृत्ति होती है। समाधि काल में इस प्रकार के अनुभव अहंकार की भूमि पर स्थित चित्त वृत्तियों के द्वारा दिखाई देने लगते हैं। इस अवस्था से तत्त्वज्ञान प्राप्ति की अवस्था बहुत आगे है।

पूजा-पाठ व ईश्वर चिंतन से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती है। इसकी प्राप्ति के लिए भौतिक साधनों का मोह छोड़ना अत्यंत आवश्यक है तथा योग के नियमों के अनुसार संयम व अभ्यास अत्यन्त जरूरी है। इसे प्राप्त करते समय साधक को कष्ट व परेशानियों का सामना करना पड़ता है। घर के सदस्य व समाज निश्चय ही साधक का विरोध करते हैं। ऐसा विरोध सदैव उसे सहना पड़ता है। ऐसी अवस्था में साधक का कोई साथ नहीं देता, बल्कि कष्टों को सहते हुए उसे अपना मार्ग खुद तय करना पड़ता है। साधक को तत्त्वज्ञान प्राप्त करते समय जो भौतिक कष्ट मिलते हैं, वह उसके चित्त में स्थित शेष कर्माशयों

के कारण होते हैं। शेष कर्माशय अत्यन्त क्लेशात्मक होते हैं। इन क्लेशात्मक कर्माशयों के कारण ही साधक को इन्हें भोगते समय घोर कष्ट उठाना पड़ता हैं। मनुष्य धनबल और बाहुबल को प्राप्त कर अपने को धन्य समझने लगता है, मगर तत्त्वज्ञान प्राप्ति के लिए कोई प्रयास नहीं करता है। समयानुसार धनबल और बाहुबल तो नष्ट हो जाता है मगर जिसने तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लिया है, वह ज्ञान कभी समाप्त नहीं होता है। जो साधक ईश्वर प्राप्ति तथा तत्त्वज्ञान प्राप्ति के लिए सदैव प्रयासरत है, उसे किसी प्रकार का भय नहीं रहता। यहाँ तक कि उसे मृत्यु का भी भय नहीं रहता है। भय उसी को होता है जो स्वयं को आत्मा न मानकर सिर्फ स्थूल शरीर मान लेता है। तत्त्वज्ञानी पुरूष सुख-दुःख से परे निर्भय होकर इस संसार में रहता है।

तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिए जड़ प्रकृति से आसक्ति को अलग करना होगा। हमने अपने आपको शरीरात्मा, प्राणात्मा व अतांकरणात्मा समझ लिया है, यही अज्ञानता है। इसी कारण हम अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं पहचान पा रहे हैं। अज्ञानता के कारण ही हम शरीर व संसार को अपना समझे हुए हैं। सबसे पहले अपने मन को वज्र के समान कठोर बना लीजिए। अपने मन में एक ही लक्ष्य रखिए कि आपको तत्त्वज्ञान प्राप्त करना है। जब तक मन सशक्त नहीं होगा, तब तक लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता है। अब आप निर्ममता व वैराग्य रूपी तलवार ले लीजिए और इस तलवार से उन रिश्तों को बेरहमी से काट डालिए जो आपके अपने हों। इस संसार में अपने कहे जाने वाले रिश्ते ही तत्त्वज्ञान प्राप्ति के मार्ग में अवरोध हैं। इस संसार में किसी का कोई नहीं है, फिर भी यदि आप उन्हें अपना मान रहे हैं तो यह आपकी अज्ञानता है। इस संसार में जितने भी रिश्ते हैं, चाहे वह माता-पिता, भाई-बहन, पत्नी-पुत्र, चाचा-दादा आदि हो, तत्त्वदृष्टि से ये आपके कोई नहीं हैं। ये सब पूर्व जन्म के कर्म अनुसार आपके निकट सम्बन्धी बन करके अपना-अपना कर्म भोग रहे हैं। जब सभी जीव अपने-अपने कर्मानुसार फल भोग रहे हैं, तो फिर इनका सम्बन्ध किसी से कैसे हो सकता है? यदि कोई माता-पिता यह सोचे कि मैं अपने पुत्र का पालन-पोषण कर रहा हूँ अथवा किया है तथा यह मैंने अपने पुत्र पर एहसान किया है। इस विषय पर मैं यही कहूँगा कि उन माता-पिता की ऐसी सोच बहुत ही संकुचित है, क्योंकि सत्य तो यह है कि प्रत्येक प्राणी अपने प्रारब्ध के अनुसार जन्म ग्रहण करता है। फिर जन्म के बाद उसका पालन-पोषण कैसा होगा, इसकी व्यवस्था स्वयं प्रकृति करती है। इसी प्रकार यदि कोई पुत्र अपने माता-पिता की वृद्धावस्था में सेवा करता है तो यह सेवा स्वयं माता-पिता के संस्कारों के द्वारा मिल रही है, पुत्र केवल निमित्त मात्र है। ऐसा ही सभी के सम्बन्ध में समझना चाहिए। सभी मनुष्यों को निष्काम भाव से सदैव कर्तव्य करते रहना चाहिए।

मानव जीवन में तत्त्वज्ञान प्राप्त करना ही परम् लक्ष्य होना चाहिए। इसलिए साधक को किसी भी अवरोध के सामने हार नहीं माननी चाहिए। समस्त अवरोधों को उसे पार करना होगा। पहले इन अवरोधों को गौरपूर्वक समझें, फिर सुलझाने का प्रयास करना चाहिए। अगर अवरोध न सुलझ रहा हो तो उसका कर्तव्य है कि इन अवरोधों में उलझकर अपना बहुमूल्य समय बरबाद न करें, बल्कि उन अवरोधों को पार कर जाएँ और पीछे मुड़ कर न देखें, क्योंकि मुख्य बात यह है कि उसे इस मार्ग में कभी रुकना नहीं है, बल्कि आगे की ओर बढ़ते जाना है। माता-पिता का कर्तव्य है कि वह अपने पुत्र को तत्त्वज्ञान प्राप्ति के मार्ग पर जाने के लिए सहयोग करें। ज्यादातर माता-पिता की सोच यही होती है कि उसका पुत्र ईश्वर प्राप्ति के मार्ग पर न जाए, बल्कि वंश-परम्परा को आगे बढ़ाए। मैं तो यही कहूँगा कि तत्त्वज्ञान प्राप्ति के मार्ग पर चलना श्रेष्ठ है। पूर्वकाल में भी बहुत से ऐसे महापुरूष हो चुके हैं जिनकी वंश वृद्धि ही रुक गई, क्योंकि वे ईश्वर प्राप्ति के लिए कठोर साधना करने में लग गये।

किसी अनुभवी मार्गदर्शक की देख-रेख में योग का अभ्यास करना चाहिए। अभ्यास करते समय योग के नियमों का कठोरता के साथ पालन करना चाहिए। सफलता प्राप्त करने के लिए गुरू निष्ठ व ब्रह्म निष्ठ होना अति आवश्यक है। साधक को अपने मस्तिष्क में एक बात सदैव बनाए रखनी चाहिए कि उसे स्थूल पंचभूत से लेकर प्रकृति पर्यन्त सभी प्राकृतिक पदार्थों का त्याग करना अति आवश्यक है, क्योंकि प्रकृति आपकी नहीं है अर्थात् प्रकृति से आसक्ति का त्याग करना अनिवार्य है। इसका अर्थ यह नहीं है कि आप गृहस्थी को त्यागकर जंगल में अभ्यास करने चले जाएँ। सभी पुरूष घर में रहकर साधना कर सकते हैं, मगर यह समझ कर कि घर आपका नहीं है। आप सदैव कर्तव्य पालन करते रहें, कर्तव्यों का त्याग कभी न करें। यदि कहीं एकांत जगह मिल जाए तो ओर भी अच्छा है, क्योंकि एकांत में योग का अभ्यास करते समय भौतिक अवरोध नहीं आते हैं। जब साधक प्रकृति व उससे बने पदार्थों को अपना नहीं समझेगा, तब उसे किसी वस्तु के प्राप्त होने अथवा चले जाने पर किसी प्रकार का दुःख नहीं होगा। इसका अभ्यास दृढ़ता पूर्वक करना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य ने अपने आपको सांसारिक पदार्थों व संसार से इतना मजबूती से बाँध रखा है कि इसे त्यागने में सूक्ष्म रूप से दुःख की अनुभूति करता है। ऐसी अवस्था में वैराग्य के द्वारा आसक्ति का त्याग करना चाहिए। यदि फिर भी दुःखों की समाप्ति न हो तो धैर्यपूर्वक दुःखों को भोग कर समाप्त करते रहें। इन दुःखों को भोगते समय साधक के चित्त पर स्थित मलिनता नष्ट होने लगेगी। मलिनता जितनी नष्ट होगी चित्त उतना ही स्वच्छ होगा, क्योंकि चित्त को स्वच्छ करना आवश्यक है। चित्त के अत्यंत शुद्ध होने पर ही तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है।

तत्त्वज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है। परन्तु यह हर किसी को प्राप्त नहीं हो सकता है। साधक को अपना लक्ष्य प्राप्त करने के लिए दो प्रकार का अभ्यास करना चाहिए। **एक**– जब साधक अभ्यास करेगा तो इसकी जानकारी सभी को अवश्य हो जाएगी। कुछ समय बाद लोग उसके पास आकर अवरोध उपस्थित करेंगे। इन अवरोधों से बचने के लिए साधक को दूसरा तरीका उपयोगी होगा। **दूसरा**– योग के अभ्यास के विषय में किसी को न बताएं, बल्कि बहरूपियों के समान अपने स्वरूप को बदले रहें अर्थात् वह गुप्त रूप से रहें। मैंने अपने जीवन में गुप्त रूप से बहुत अभ्यास किया है, इसलिए आज सफलता की सीढ़ी पर बैठा हूँ। मैंने कई वर्ष पूर्व अपने एक मित्र से कहा था, "मैं इस संसार को जीतने आया हूँ, इसे जीत कर ही रहूँगा"। अर्थात् अपरा-प्रकृति को हमारे सामने घुटने टेकने होंगे। मैं इस प्रकृति का स्वामी बनूँगा। पूर्वकाल में मैं इसका स्वामी था। अज्ञानता से भ्रमवश इसके अधीन होकर बहुत जन्मों से इसे अपना समझता हुआ दर-दर की ठोकरें खा रहा था। उसने कभी भी मुझ पर रहम नहीं किया, सदैव ही नाना प्रकार के भोगों को भोगने के लिए लालच देती रही। इन भोगों को भोगने के परिणाम स्वरूप हमें दुःख ही मिला है, परन्तु अब ऐसा नहीं होगा। मैंने इसकी वास्तविकता को जान लिया है। पाठकों! इस प्रकृति की वास्तविकता को जानने का आप भी प्रयास करें। इससे आपका जीवन सफल हो सकेगा।

साधक को चाहिए कि वह दृढ़तापूर्वक योग का अभ्यास करता रहे तथा योग के द्वारा किसी का भी सांसारिक कार्य न करे। ऐसा नियम बना ले। अपने जीवन को ऐसे ढ़ाल ले कि समाज को लगे आप साधक बिल्कुल नहीं हैं। ऐसी अवस्था में आप अपनी योग्यता का परिचय कभी न दें। फिर संसार से गुप्त रूप में शिक्षा ग्रहण करने का प्रयास करना चाहिए। आप समाज में व्यवहार की दशा में संसारी पुरूषों की भाँति बन जाइए। मगर यह सदैव याद रखिऐ कि आप एक साधक हैं तथा ईश्वर प्राप्ति हेतु इस संसार से ज्ञान प्राप्त करना है। कभी भी ऐसा कार्य न करें जिससे आध्यात्मिक मार्ग पर प्रश्न चिन्ह लग जाए। नारदोपनिषद में एक जगह वर्णन मिलता है कि नारद जी ने सनतकुमार से पूछा- "भगवन् ब्रह्मज्ञान प्राप्ति का सरल उपाय क्या है"? सनतकुमार बोले– "नारद, गृहस्थियों के साथ सदैव ऐसा व्यवहार करें जिससे वह सदैव आपको शंका की दृष्टि से देखते रहें, मगर कभी भी ऐसा कार्य न करें जिससे आध्यात्मिक मार्ग कलंकित हो"। नारद ने पूछा– "भगवान् इससे क्या होगा"? सनतकुमार बोले– "गृहस्थ तुम्हारी निंदा करेंगे, निन्दा सुनने से चित्त शुद्धि होगी, ब्रह्मज्ञान प्राप्ति के लिए चित्त का अत्यन्त निर्मल होना अति आवश्यक है"।

समाधि के द्वारा जब किसी पदार्थ के विशेष स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है तब उस पदार्थ के प्रति आसक्ति समाप्त हो जाती है, क्योंकि ज्ञान के प्रकाश से पदार्थ का विशेष स्वरूप प्रकाशित हो जाता है। फिर उस पदार्थ के विशेष स्वरूप के प्रकाशित होने पर उस पदार्थ के प्रति अविद्या नष्ट हो जाती है। अविद्या के नष्ट होने पर वह पदार्थ नष्ट हुए के समान हो जाता है। साधक को संसार एवं सांसारिक पदार्थों से आसक्ति समाप्त करना आवश्यक है। आसक्ति समाप्त करने के लिए संसार के वास्तविक स्वरूप को जानना जरूरी है। जब तक वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं होगा, तब तक आसक्ति समाप्त नहीं हो सकेगी। जिस प्रकार दूध से घी प्राप्त करने के लिए दूध को विभिन्न प्रक्रियाओं से गुजार कर उसका मंथन करना आवश्यक है। बिना मंथन के घी की प्राप्ति नहीं हो सकती है। ठीक उसी प्रकार किसी भी प्रदार्थ का यथार्थ ज्ञान समाधि अवस्था में प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त साधक को सांसारिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए अपनी बुद्धि का मंथन करना होगा। यह कार्य सिर्फ वही साधक करे जिसका ब्रह्मरन्ध्र खुला हुआ हो, ताकि उसकी दिव्य दृष्टि भी इस कार्य में सहायता कर सके। दिव्य दृष्टि के द्वारा किसी भी मनुष्य का भूतकाल, वर्तमान काल व भविष्य काल देखा जा सकता है। परन्तु दिव्य दृष्टि के द्वारा मिली जानकारी से सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। इस प्रकार की जानकारी से किसी भी मनुष्य के प्रति पूर्णरूप से आसक्ति समाप्त नहीं हो सकती है। साथ में अनुभूति के द्वारा मिले ज्ञान से उसके प्रति आसक्ति समाप्त हो सकती है।

इस संसार में दो प्रकार के प्रवाह बह रहे हैं। एक प्रवाह सत्त्वगुण की प्रधानता वाला है तथा दूसरा प्रवाह तमोगुण की प्रधानता वाला है। जिन मनुष्यों की चित्त वृत्तियों का प्रवाह सत्त्वगुणी होता है, ऐसे मनुष्य संसार में बहुत कम पाये जाते हैं। जो इस स्वभाव वाले होते हैं, उनमें से कुछ मनुष्य अपने आपको छिपाए हुए अपना अभ्यास करते रहते हैं, तथा कुछ अपने को प्रकट भी किए रहते हैं। ऐसे मनुष्यों द्वारा इस संसार का कल्याण होता रहता है, क्योंकि सांसारिक मनुष्यों को ज्ञान प्रदान करते रहते हैं तथा समाज को ईश्वर परायण बनाने के प्रयास में लगे रहते हैं। ऐसे सात्विक मनुष्यों को महापुरूष की संज्ञा दी जाती है। ऐसे पुरूषों के विषय में जानना आवश्यक नहीं है क्योंकि वे अपना ज्ञान दूसरों को निःस्वार्थ भाव से बाँटते रहते हैं। ऐसे पुरूषों के द्वारा धर्म की व्यवस्था यथोचित बनी रहती है। साधकों को तमोगुण प्रधान मनुष्यों के विषय में ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए, क्योंकि इस संसार में ज्यादातर व्यवहार तमोगुण की प्रधानता से हो रहा है। जब इसकी वास्तविकता का ज्ञान होगा तब मन संसार की ओर बार-बार नहीं भागेगा। धीरे-धीरे अभ्यास के द्वारा संसार के प्रति सूक्ष्म रूप से वैराग्य होता जाएगा तथा आसक्ति समाप्त होने लगेगी। इससे निर्बीज समाधि अवस्था प्राप्त करने में सहायता मिलेगी। इस संसार से तब तक गुप्त

रूप से ज्ञान प्राप्त करते रहो जब तक आपका मन इस संसार की ओर जाना बन्द न कर दे। कुछ वर्षों बाद ऐसी भी अवस्था आएगी आपका मन शुद्ध व व्यापक होकर निरुद्ध होने लगेगा। यह शब्द मैंने अपने अनुभव के द्वारा लिखे हैं।

जिस साधक की इच्छा शक्ति चट्टान की तरह मजबूत होती है उसे संसार का आकर्षण प्रभावित नहीं कर सकता है। अगर कभी संसार का आकर्षण उसके सामने उपस्थित भी हो गया तो उस आकर्षण को ब्रह्म की रचना मात्र समझते हुए द्रष्टा रूप से अवलोकन करता रहेगा। इस भ्रम रूपी सत्ताहीन संसार में इतना सामर्थ्य कहाँ है जो तत्त्वज्ञानी को विचलित कर सके। पूर्वकाल में जितने योगी विचलित हुए हैं, तब तत्त्वज्ञान प्राप्ति से पूर्व की अवस्था रही होगी। उनका चित्त पूर्ण रूप से शुद्ध नहीं हुआ होगा। जिसके चित्त से अविद्या का नाश हो गया हो, उसके लिए सम्पूर्ण संसार नष्ट हुए के समान हो जाता है। ऐसे ब्रह्म स्वरूप महापुरूष अपनी लीला वश संसार को शिक्षा देने के लिए कार्य करते रहते हैं। वे संसार के नियमों के अधीन नहीं होते हैं। वे अपनी इच्छा शक्ति से प्रकृति को अपने अधीन किए रहते हैं। जब तक स्थूल शरीर रहता है, तब तक वे ईश्वरीय कार्य करते रहते है तथा पूर्ण स्वतन्त्र होते हैं। संसारी मनुष्य उन्हें पहचान नहीं सकता है, वे अपनी पहचान किसी को बताते नहीं है। उनके द्वारा किए गये कार्यों को देखकर संसारी मनुष्य भ्रमित बना रहता है। हो सकता है कि कुछ लोग हमारे इस तरीके से सहमत न हों। मैंने अपनी सफलता के आधार पर यह शब्द लिखे हैं। इस सफलता को प्राप्त करने के लिए मैंने सांसारिक सुखों का त्याग कर दिया था तथा घोर कष्टों को सहन करते हुए कठोर परिश्रम के द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त कर पाया।

अप्रैल 1993 में हमारी गुरुमाता जी ने हमें कहा था, "*हमें आपसे बहुत आशायें हैं, भविष्य में हम आपको आश्रम में कुछ जिम्मदारी देना चाहते हैं। आप यही रहकर साधकों का मार्गदर्शन कीजिए। हमारे बाद भी आप आश्रम में रह सकते हैं, क्योंकि यहाँ के साधक आपसे बहुत प्रेम करते हैं*"। मैं श्रीमाता जी से बोला कि हमारा उत्तर भारत जाना निश्चित है, वहीं पर हमारी शेष साधना पूर्ण होगी। भविष्य में प्रकृति हमसे कुछ कार्य करवायेगी। कुछ दिनों बाद मैं अपने घर (कानपुर उ.प्र.) आ गया। फिर फरवरी 1996 में मैं गुरुमाता जी के दर्शन करने मिरज गया था। वापस आने के बाद हमें श्रीमाताजी का पत्र मिला। उसमें लिखा था, "आप जलगाँव आश्रम में आ जाइए, वहीं पर रहिए"। इस पत्र का मैंने उत्तर नहीं दिया। जून 1997 में मैंने श्रीमाता जी से दूरी बना ली। 23 नवम्बर 2009 को उन्होंने स्थूल शरीर त्याग दिया। 24 नवम्बर 2009 को श्रीमाता जी ने हमसे सम्पर्क किया। हमारी उनसे 5-7 मिनट तक बातें हुई। मगर इस बार भी मैंने उनकी बात स्वीकार नहीं की, क्योंकि इस अवस्था में मैं मिरज आश्रम में कैसे सहयोग कर सकता था!

संसार

तत्त्वज्ञान की दृष्टि से यह जगत् न तो उत्पन्न होता है और न ही कभी लीन होता है। इस प्रकार केवल ब्रह्म ही सदा अपने आप में प्रतिष्ठित है। परम् आकाश रूप इस ब्रह्म का प्रकाश केवल अनुभव का विषय है। जो चित्त आदि के अन्दर अन्तर्यामी रूप से स्थित है, उसका अनुभव केवल वही करता है, दूसरा नहीं कर सकता है। समुद्र के जल में जिस प्रकार बड़ी-बड़ी लहरें स्थित रहती हैं, उसी प्रकार निराकार ब्रह्म में उसी के समान यह जगत् स्थित है। पूर्ण से पूर्ण का प्रसार होता है। जो पूर्ण में स्थित है वह पूर्ण ही है। प्रलय होने पर सम्पूर्ण कारणों का कारण ब्रह्म ही स्थित रहता है। समाधि में निरोध अवस्था के द्वारा जब वृत्तियों का क्षय होता है, तब मन के स्वरूप का नाश हो जाने पर अनिर्वचनीय स्वप्रकाश ब्रह्म रहता है। यह दृश्य जगत् प्रलय होने पर कहाँ रहता है? **उत्तर**– जैसे आकाश में कभी वन नहीं होते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् तीनों कालों में कभी अस्तित्व में नहीं आता है। जैसे सोने के कुण्डल में स्पष्ट दिखाई देने वाला कुण्डलत्व वास्तव में नहीं है, सोना ही उस रूप में भासित होता है, इसी प्रकार ब्रह्म में जगत् नाम की कोई वस्तु नहीं है। जिसे हम जगत् कहते हैं, वह ब्रह्म का ही स्वरूप है। आकाश में जो शून्यता है वह आकाश से भिन्न नहीं है। ब्रह्म ही व्यष्टि और समष्टि रूप में जगत् है। दृश्य वस्तुओं के दर्शन और मनन के जो प्रकार हैं, उन रूपों में स्वयं ब्रह्म उदित और विलीन होता रहता है।

यह जगत् समष्टि की इच्छा का कार्य होने के कारण इसकी सुदृढ़ एवं क्रमबद्ध प्रतीति होती है। सर्वात्मक ब्रह्म ही इस जगत् का अधिष्ठाता है। उसका सत्ता मात्र रूप ही यह जगत् है। पंचभूतों की तन्मात्राएँ ही जगत् का बीज हैं। पंच तन्मात्राओं का बीज माया शक्ति है। जिसका ब्रह्म से साक्षात् सम्बन्ध है तथा वही जगत् की स्थिति का कारण है। इस प्रकार सबका आदि भूत ब्रह्म ही माया द्वारा जगत् का बीज होता है। माया के हट जाने पर ब्रह्म ही विशुद्ध रूप से सदा अनुभव में आता है। जिस प्रकार स्वप्न में नगर, नदी, पहाड़ आदि बिना बनाए ही बन जाते हैं, उसी प्रकार महा आकाश में यह सम्पूर्ण जगत् रूपी सृष्टि बार-बार उत्पन्न और नष्ट होती है। जिस प्रकार स्वप्न देखने वाला पुरूष नगर, नदी, पहाड़ आदि का निर्माण कर लेता है, उसी प्रकार चेतन आत्मा भी सम्पूर्ण जगत् का निर्माण कर लेता है। वास्तव में इस जगत् के रूप में चेतन आत्मा ही होता है। जो स्वरूप कल्पित है, वह सत्य कैसे हो सकता है? जब पंच तन्मात्राएँ ब्रह्म स्वरूप हैं तो पंच तन्मात्राओं से उत्पन्न उसके कार्यरूप स्थूल पंचभूतों को भी ब्रह्म ही समझना चाहिए।

स्वप्न में निर्मित शहर असत् होता हुआ भी सत् सा प्रतीत होता है। इसी प्रकार ब्रह्माकाश रुपी परम् आकाशमय चेतन आत्मा में जीवाकाशत्व असत् होता हुआ भी सत् सा प्रतीत होता है अर्थात् ब्रह्ममय महा आकाश से अलग न होने पर भी अलग-सा दिखाई देता है। ब्रह्म में कल्पित समष्टि जीवकाशत्व अत्यन्त विचित्र होता हुआ भी, "मैं छोटा सा तेज कण हूँ", ऐसी भावना करने से वह अपने आपको वैसा ही अणु रूप में अनुभव करने लगता है। वह जिस स्थूलता का चिंतन करने लगता है, भावना द्वारा अपने को वैसा ही स्थूल समझने लगता है। जैसे मनुष्य स्वप्न में अपने को पथिक के रूप में देखता है वैसा ही वह चित्त की कल्पना से अपने में सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर की भावना को धारण करता है। जैसे कुँए के जल में प्रतिबिम्बित हुआ शरीर वह व्यवहार कर्ता-सा जान पड़ता है अर्थात् वह विषय बाहर होने पर भी अपने बाह्य रूप को त्याग कर ही शरीर के अन्दर अन्त:करण में भासित होता हैं। इसी प्रकार, "मैं छोटा सा तेज कण हूँ" की उपाधि में स्वरूपतः कल्पित जो सूक्ष्म शरीर है, उसके अन्दर स्थित हुआ जीवात्मा वासनामय देह आदि व्यवहार का अनुभव करता है। मनोमय सूक्ष्म शरीर वाला जीव अपने सूक्ष्म देहाकाश में ही स्थूलता की भावना करके स्थूल देहधारी हो गया है। वह अपनी कल्पना के अन्दर ही स्थित हुए ब्रह्माण्ड का दर्शन करता है। चित्त से अपने संकल्प के अनुसार ही अपने लिए देश, काल, कर्म आदि कल्पनाओं की भावना करता हुआ नाम आदि का निर्माता बन कर सूक्ष्म शरीरधारी जीव अपने द्वारा कल्पित विभिन्न नामों से उन-उन पदार्थों और अपने को असत्य जगत् रूपी भ्रम में बाँधता है। असत्य जगत् रूपी भ्रम में ही यह जीवात्मा मिथ्या विकास को प्राप्त होता जान पड़ता है।

कल्प के अन्त में ब्रह्मा के मुक्त हो जाने के कारण निश्चय ही वर्तमान कल्प के ब्रह्मा को कोई पूर्वजन्म की स्मृति नहीं रहती है। इसलिए वर्तमान कल्प में जैसे ब्रह्मा संकल्पमय है, वैसे ही उनसे उत्पन्न हुआ जगत् भी संकल्पमय ही है। जिस प्रकार स्वप्न में देखें गये पदार्थ जाग्रत अवस्था में मिथ्या सिद्ध होते हैं, उसी प्रकार साक्षी से उत्पन्न हुआ जगत् मिथ्या ही सिद्ध होगा। जिस प्रकार स्वप्न में अपना मरना दिखाई देता है, परन्तु जाग्रत अवस्था में वह मरना असत् ही सिद्ध होता है। उसी प्रकार अज्ञान अवस्था में प्रतीत होने वाला यह दृश्य जगत् तत्त्वज्ञान होने पर असत् ही सिद्ध होता है।

ब्रह्म में जगत् का तीनों कालों में अत्यन्त अभाव है। सच्चिदानन्द ईश्वर ही अपने आप में जगत् के रूप में विकसित हो जाता है। जब इस जगत् का अत्यन्त अभाव हो जाता है तब केवल एक ब्रह्म ही शेष रहता है। यदि जगत् प्रतीत होता है तो वह ब्रह्म ही है, ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जब अभ्यास के द्वारा निरूद्धावस्था आती है तभी इस जगत् का अभाव होता है, परन्तु चित्त के मौजूद रहते दृश्य जगत् का

अभाव होना सम्भव नहीं है। इसलिए तत्त्वज्ञान के बिना दृश्यता की शांति नहीं हो सकती है। तत्त्वज्ञानी के लिए जगत् शांत एवं अविनाशी ब्रह्म ही है, परन्तु वहीं अज्ञानी की बुद्धि से भासित हुआ नाना प्रकार के लोकों से युक्त है। इस सृष्टि को जब सृष्टि रूप समझा गया तो यह पतन की ओर ले जाती है, परन्तु जब इसी को ब्रह्म रूप से जान लिया गया तो यह मोक्ष की ओर ले जाती है। योग के अभ्यास के द्वारा इन्द्रिय समुदाय पर विजय प्राप्त कर इस जगत् को पार किया जा सकता है, अन्य किसी कर्म से इस जगत् को पार करना कठिन है। अभ्यास के द्वारा जो अभ्यासी विवेक युक्त हो गया हो, वही इन्द्रिय पर विजय प्राप्त कर सकता है। उसी को इस जगत् के अत्यन्त अभाव का ज्ञान होता है।

आत्मा स्वयं अपने संकल्प से जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्त नामक तीन अवस्थाओं को प्राप्त हुआ है, इन अवस्थाओं में शरीर कारण नहीं है। इस प्रकार जाग्रत आदि तीनों अवस्थाएँ आत्मा में ही जीवत्व हैं। आत्मा ही जीव रूप से स्फुरित हो रहा है, जैसे- जल ही लहर तथा भँवर आदि के रूप में प्रकट हो रहा है। तात्विक दृष्टि प्राप्त होने पर जल में जल से पृथक लहर आदि की सत्ता नहीं रहती है। इसी प्रकार तत्त्वज्ञानी पुरूष ज्ञान के द्वारा जगत् से निवृत्त हो जाता है, परन्तु जो अज्ञानी पुरूष है, वही सृष्टि में प्रवृत्त होता है। ब्रह्म का ही चिन्तन करना उचित है, दृश्य जगत् का चिन्तन करने से क्या लाभ है। बीज अपने स्वरूप का त्याग करके अंकुर आदि क्रम से फलस्वरूप में परिणित होता देखा जाता है परन्तु ब्रह्म ऐसा नहीं है। वह अपने स्वरूप का त्याग किए बिना ही जगत् रूप में प्रतीत का अधिष्ठान रूप से कारण होता है। इसलिए बीज और ब्रह्म की तुलना करना उचित नहीं है। अपने को दृश्य रूप में देखने वाला द्रष्टा अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं देख सकता है। जिसकी बुद्धि प्रपंच से आक्रान्त हो, ऐसे किसी भी पुरूष को अपनी यथार्थ स्थिति का ज्ञान नहीं होता है। जैसे– नेत्र बहिर्मुख होने के कारण अपने को नहीं देख पाता है, उसी प्रकार आकाश की भाँति निर्मल होता हुआ द्रष्टा भी बर्हिमुख होने के कारण अपने स्वरूप का साक्षात्कार नहीं कर पाता है।

इस संसार में व्यवहार करने वाले सभी मनुष्यों को विभिन्न प्रकार की आपदाऐं स्वाभाविक ही मिला करती हैं। ब्रह्म सत्य है, वह सदा सत्य ही है। दृष्य जगत् असत्य है, वह सदा असत्य ही है। इसलिए माया रूपी संसार में ऐसी दूसरी कौन सी वस्तु है जिसके विषय में शोक किया जाए। इस असत्य रूपी संसार में बिल्कुल भी आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। आसक्ति से मनुष्य अपने आपको स्वयं ही बाँध लेता है। यह सब ब्रह्म का ही स्वरूप है, ऐसा सोचकर आसक्ति रहित होकर इस संसार में व्यवहार करना चाहिए। यदि मनुष्य ने विवेकबुद्धि से कर्म नहीं किए तो भोग-पदार्थों से परिपूर्ण संसार की रचना रूपी माया

शक्ति आसक्त मनुष्यों को अनर्थ-गर्तों में ढकेल देती है। जब संकल्पों का भली-भाँति अवरोध कर दिया जाता है तब संसार रूपी चक्र रुक जाता है। संकल्पात्मक मन को राग-द्वेष आदि से क्षोभित करने पर यह संसार रूपी चक्र रोकने की चेष्टा करने पर भी वेग के कारण चलता ही रहता है। इसलिए मनुष्य को योग के अभ्यास द्वारा ज्ञान रूपी बल से चित्त रूपी संसार चक्र का अवश्य अवरोध करना चाहिए। अज्ञान रूपी चक्र के ऊपर स्थित हुआ जीवात्मा जिस देह को जन्म-मरण रूपी चक्र को देखता रहता है, वह अधिक भ्रांति देने वाला, स्वयं भ्रांति रूपी पतन उन्मुख स्वरूप से ग्रस्त, भली प्रकार अनर्थों में गिराया हुआ दिखाई पड़ता है। मिथ्याज्ञान के द्वारा संकल्प से उत्पन्न यह शरीर सत्य-सा होने पर भी वास्तव में असत्य ही हैं, क्योंकि जो वस्तु अज्ञान से उत्पन्न हुई हो वह कभी भी सत्य नहीं हो सकती है। अभ्यास के द्वारा चित्त को विलीन कर देने से अभ्यासी इस संसार से कभी नहीं डरता है।

यह जो संसार दिखाई दे रहा है वह अविद्या के कारण दिखाई दे रहा है। मगर समस्त संसार रूप प्रपंच मिथ्या ही हैं। विवेकी पुरूष वास्तविक तत्त्व को विवेचन पूर्वक ग्रहण कर लेते हैं, मगर अविवेकी मनुष्य तक-विर्तक और वाद-विवाद करते रहते हैं। इसलिए अभ्यास द्वारा प्रत्येक मनुष्य को अपना चित्त परम्-शुद्ध कर लेना चाहिए। यह जो संसार दिखाई देता है उसके मूल तथा अन्त में सत्ता का अभाव है। विचार करने पर मध्य में भी इसकी कोई सत्ता नहीं होने के कारण प्रतीति मात्र है। इसलिए तत्त्वज्ञानी पुरूष इस संसार में किसी प्रकार का विश्वास नहीं करते हैं, क्योंकि अनादि वासना के कारण यह संसार दिखाई देता है। यह संसार न तो आरम्भ में है और न ही अन्त में है, तब यह समझ लेना चाहिए कि यह मध्य में भी नहीं है। इस संसार में अविद्या रूपी वायु से उत्पन्न सबसे बड़ा अहम् है। अहम् के कारण मनुष्य इस संसार रूपी जाल में फँसता जाता है। इस संसार रूपी जाल में फँसने में राग-द्वेष और ममता आदि सहयोग करते हैं। परमात्मा रूपी जो सूक्ष्म तत्त्व है, वह अज्ञानी मनुष्यों के लिए अज्ञान से आवृत रहता है। संसार चक्र के आवर्त रूपी भ्रम में यदि भ्रमण नहीं करना चाहते हो तो संसार के भोग पदार्थों को प्राप्त करने वाले कर्मों को छोड़कर ब्रह्म में आसक्त हो जाओ। ब्रह्म से प्रेम न होकर जब तक बाह्य विषयों में आसक्ति है तभी तक संकल्प से उत्पन्न हुआ यह संसार दिखाई देता है।

यह संसार रूपी वृक्ष अहंकार रूपी बीज से उत्पन्न होता है। ज्ञान रूपी योगाग्नि से जब इसका बीज भुन जाता है तब संसार रूपी वृक्ष उत्पन्न नहीं होता है। यहाँ जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह सब असत्य है। संकल्प-विकल्प को त्याग देने मात्र से इस संसार का नाश हो जाता है। संसार सागर को पार करने की इच्छा वाले विरक्त श्रेष्ठ महापुरूषों तथा तत्त्वज्ञानी के साथ बैठकर इस संसार के विषय में विवेकी मनुष्य

को विचार करना चाहिए कि यह संसार क्या है, इसका परिणाम, मूल और सार क्या है तथा इससे मुक्त होने का उपाय कौन सा है? तत्त्वज्ञानी पुरूष का संग प्राप्त हो जाने पर साधक को श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त हो जाती है। यह तो संसार का आभास है, वह चेतन स्वरूप ब्रह्म का आभास रूप है, फिर इसमे एकत्व और द्वित्व की कल्पना कैसे की जा सकती है? सुख रूप दिखाई देने वाले सांसारिक विषय भोगों को दुःख रूप ही समझना चाहिए। इस संसार मार्ग में चलते-चलते जो थक कर चूर हो गया हो उस राहगीर के लिए तत्त्वज्ञान विश्राम स्थल है। इस संसार को जैसा तत्त्वज्ञानी समझता है, वैसा अज्ञानी नहीं जानता है और जैसा अज्ञानी जानता है, वैसा तत्त्वज्ञानी नहीं समझता है। अज्ञानी के लिए यह संसार दुःखमय है और तत्त्वज्ञानी के लिए आनन्दमय ब्रह्म है। जीवन्मुक्त ज्ञानी के लिए भ्रान्ति की शांति हो जाने पर संसार का स्वरूप भी नष्ट हो जाता है। उसकी दृष्टि में एक मात्र ब्रह्म ही विद्यमान दिखाई देता है। जैसे– जले हुए घास-फूस की राख का ढेर वायु के वेग से उड़कर न जाने कहाँ चली जाती है, वैसे ही आत्मस्वरूप में विश्राम प्राप्त हो जाने पर इस संसार का अस्तित्व न जाने कहाँ विलीन हो जाता है, क्योंकि जो समस्त प्राणियों के लिए रात्रि के समान है, उस परमानन्द में संयमी पुरूष जागता रहता है। जिस संसार में प्राणी जागते रहते हैं, वह तत्त्वज्ञानी के लिए रात्रि के समान है। जैसे अन्धे मनुष्य को रूप का अनुभव नहीं होता है वैसे ही तत्त्वज्ञानी को संसार का अनुभव नहीं होता है। अगर कभी होता भी है तो वह भ्रम रूप एवं असत् रूप में होता है। अज्ञानियों के लिए दुःख रूप जो लोक है, वह अज्ञानियों की दृष्टि में है परन्तु तत्त्वज्ञानी की दृष्टि में उसका कोई अस्तित्व नहीं है। तत्त्वज्ञानी की दृष्टि में दुष्ट बुद्धि का अस्तित्व नहीं रहता है वैसे ही तत्त्वज्ञानी की दृष्टि में अज्ञानी के संसार की सत्ता नहीं रहती है। अज्ञानी पुरूष तो तत्त्वज्ञानी को चिरकाल तक अज्ञानी ही समझता है।

स्वप्न तथा संकल्प के पदार्थ कभी देखे नहीं गये है, बल्कि भ्रम वश इनकी प्रतीति होती है। इस संसार को तत्त्व दृष्टि से देखने पर भी उपलब्ध ही नहीं होता है, इसलिए यह सर्वथा मिथ्या है। देश, काल, क्रिया, भेद, संकल्प और चित्त इन सबकी सत्ता अज्ञान मात्र ही है। अज्ञान से भिन्न इसकी सत्ता न पहले थी ओर न ही अब है। विवेकपूर्ण विचार करने से ज्ञानोदय होने पर पदार्थों में सकारता या स्थूलता की भावना शांत हो जाती है। ये सब के सब चिन्मय ब्रह्म स्वरूप हैं, ऐसा निश्चय हो जाता है। इसी प्रकार स्वप्न से जागने पर स्वप्न के पदार्थों में भी स्थूलता की भावना निवृत्त हो जाती है। वासना के क्षीण होने पर उसके लिए संसार की स्थिति स्वप्न के समान हो जाती है, फिर उसकी दृष्टि में संसार केवल संकल्प रूप ही हो जाता है। उस पुरूष की सूक्ष्म वासना क्रमशः धीरे-धीरे विलीन हो जाती है। इस तरह सर्वथा वासना शून्य होकर वह शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। तत्त्वज्ञान से जब यह भ्रम मात्र संसार चक्र स्थूल

रूपता से रहित अनुभव हो जाता है तब क्रमशः उसकी वासना का क्षय होने लगता है। स्थूलता का भ्रम मिट जाने पर जब संसार की चित्त मात्र रूपता अवगत हो जाती है, तब चित्त वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने पर इस संसार के प्रति होने वाली आस्था शांत हो जाती है। अज्ञानियों की दृष्टि में संसार का जो स्वरूप है, वह सत्य नहीं है। तत्त्वज्ञानी की दृष्टि में उसका जैसा स्वरूप है वह अद्वितीय ब्रह्ममय होने के कारण वाणी का विषय नहीं है। अतः यहाँ पर अज्ञानियों के संसार की सत्ता का निराकरण किया गया है। अज्ञानियों का जो संसार है, वह आदि अंत से युक्त है तथा द्वैत रूप है। मगर तत्त्वज्ञानी की दृष्टि से संसार की सत्ता सम्भव ही नहीं है।

यह माया ऐसी है जो अपने ही विनाश से हर्ष देने वाली है। इसके स्वभाव का पता नहीं लगता है। ज्ञान की दृष्टि से जब देखने का यत्न किया जाता है तब यह तत्काल नष्ट हो जाती है। संसार को बाँधने वाली यह माया बड़ी विचित्र है। यह माया असत्य है मगर सत्य की तरह इसने अपना ज्ञान कराया है। जो इस संसार के ब्रह्म रूप से सत्य है अथवा यह संसार मिथ्या होने के कारण असत्य है। इन दोनों बातों में से किसी एक को दृढ़ निश्चय के साथ अपना लेता है और मन में आसक्त न होकर संसार को स्वप्न की भाँति भ्रम रूप ही देखता है, उसको दुःख कभी प्रभावित नहीं करता है। इस मिथ्या भूत शरीर-संसार आदि रूप द्वैत भावनाओं में जिसकी अहम् बुद्धि है, वही दुःख के सागर में डूबता है अर्थात् उसे ही दुःख प्रभावित करता है। अपने निजस्वरूप से शून्य मिथ्यादर्शी मनुष्य के लिए सब ओर केवल अविद्या दिखाई देती है। जिस तरह सुदृढ़ खंभे मण्डप को धारण करते हैं, उसी तरह रजोगुणी व तमोगुणी जीव सदा इस विशाल संसार माया को धारण करते हैं। तत्त्वज्ञानियों के संग से, योग के अभ्यास से जिनके पाप नष्ट हो गये हैं, उन्हीं पुरूषों के अन्त:करण में प्रज्ज्वलित लौ के समान सार वस्तु का दर्शन कराने वाली उत्तम बुद्धि उत्पन्न होती है। जिन मनुष्यों का अंतःकरण मिथ्या वस्तु में आसक्त है, उन पशु तुल्य मनुष्यों के हृदय में किस उपाय से विवेक पैदा किया जा सकता है?

अविद्या कल्पित आकृति मात्र से भासित होती है। सत्यता का इसमें सर्वथा अभाव होता है। अविद्या अज्ञानी पुरूषों को धोखा देती है। प्रलयकाल की भीषण आँधी के समान अविद्या भी भयंकर रूप धारण करके विचरती है तथा रजोगुण की अधिकता से यह युक्त होती है तथा लोक-लोकान्तरों को अपने प्रभाव में रखती है। जैसे आकाश अकारण ही नीला दिखाई देता है, उसी प्रकार अविद्या भी किसी कारण के बिना प्रतीति का विषय होती है। जैसे रेल में बैठे हुए यात्री को वृक्षों में गतिशीलता प्रतीत होती है। यह अविद्या जब चित्त को दूषित कर देती है तब इससे व्याकुल हुए लोगों को दीर्घकाल तक संसार रूपी स्वप्न

का भ्रम बना रहता है। वासना रूपी प्रबल अविद्या मन को उसी तरह शीघ्र आक्रान्त कर लेती है जैसे जाल पक्षी को फाँस लेता है। जैसे विवेक बुद्धि से विषयों का विरोध किया जाता है, वैसे ही वासना रूपी अविद्या का भी शीघ्र निरोध करना चाहिए। जैसे स्रोत को रोक देने से नदी सूख जाती है, उसी प्रकार अविद्या के निरोध से अविद्या रूपी संसार नष्ट हुए के समान हो जाता है।

अविद्या, अविद्यमान होकर भी अत्यन्त तुच्छ है और मिथ्या भावना रूप है। इसने सारे जगत् के प्राणियों को अंधा बना रखा है। बड़े आश्चर्य की बात है कि इसका न कोई रूप है, न ही आकार है। यह चैतन्यता से भी रहित है तथा असत् होकर भी नष्ट नहीं हो रही है। यह सदा अत्यन्त दुःखों से व्याप्त, मृतक के तुल्य और संज्ञाहीन है। काम और क्रोध ही उसके सुदृढ़ अंग है। तमोगुण की अधिकता से यह प्राणियों को अपने प्रभाव में ले लेती है तथा तत्त्वज्ञान के उदय होने पर शीघ्र ही नष्ट हो जाती है। जैसे ओस की बूँद सूर्य के प्रकाश में क्षण भर में नष्ट हो जाती है, इसी प्रकार ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने से इस अविद्या का तत्काल नाश हो जाता है। यह अविद्या गहन दुःख रूपी काँटों से सुशोभित होती है तथा अपने साथ देहाभिमानी जीव को नीचे की ओर गिराने की कोशिश करती रहती है। जब उसका विनाश करने वाली ब्रह्म साक्षात्कार इच्छा स्वयं उत्पन्न हो जाती है तब अविद्या का धीरे-धीरे विनाश होना शुरू हो जाता है। बाह्य विषयों की इच्छा मात्र को ही अविद्या कहते हैं, क्योंकि अविद्या से ही इच्छा होती है। इच्छा मात्र का नाश होना मोक्ष कहलाता है। मोक्ष संकल्प के अभाव मात्र से सिद्ध कहलाता है। जिस प्रकार सूर्य के निकलने से रात न जाने कहाँ चली जाती है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान के उदय होने पर अविद्या न जाने कहाँ विलीन हो जाती है। तत्त्वज्ञानी की दृष्टि में अविद्या नहीं है, अविद्या अज्ञानी की दृष्टि में है। जो सत्य है, उस ब्रह्म को मनुष्य भूल गये है और जो असत्य अविद्या नामक वस्तु है, उसी का निरन्तर स्मरण हो रहा है।

अविद्या वास्तव में नहीं है मगर उसने सबको वश में कर रखा है। इस संसार में जड़ शरीर आदि कुछ भी नहीं है। सच तो यह है कि उसकी सत्ता भी नहीं है। जीव ने ही स्वप्न में दिखाई देने वाली वस्तुओं की भाँति इसकी कल्पना कर ली है। अज्ञानी जीवात्मा को शारीरिक सुख-दुःख होते हैं। तत्त्वज्ञानी महात्मा को ये बिल्कुल नहीं होते हैं, क्योंकि वह ब्रह्म के यर्थाथ स्वरूप को जान गये हैं। शरीर जड़ है, वह सुख-दुःख का अनुभव नहीं कर सकता है। जीवात्मा अविवेक के कारण दुःखी होता है, यह अविवेक अतिशय अविद्या के कारण होता है। अविद्या ही समस्त दुःखों की हेतु है, अविद्या के कारण जीवात्मा शुभ-अशुभ कर्मों के फल स्वरुप सुख-दुःख का भोक्ता है। जैसे रेशम का कीड़ा अज्ञान वश रेशम कोष में बँध जाता है।

विभिन्न प्रकार की अविद्या रूपी वृत्तियों से बँधा हुआ मन विभिन्न प्रकार की आकृतियों में विचरण करता हुआ चक्र के समान घूमता रहता है। तत्त्वज्ञान से शून्य उस मिथ्यादर्शी जीव के लिए सब ओर केवल अविद्या ही विद्यमान है। ब्रह्म प्राप्ति के बिना अविद्या रूपी नदी (संसार) से पार नहीं किया जा सकता है।

अविद्या जन्म से ही उत्पन्न होती है और बाद में जन्मान्तर रूपी फल प्रदान करती है। यह जन्म से संसार में अपना अस्तित्व प्राप्त करती है और बाद में स्थित रूपी फल प्रदान करती है। इस अविद्या की बुद्धि अज्ञान से होती है, बाद में अज्ञान रूपी फल देती है। जिस प्रकार जल में तरंगे उत्पन्न होती हैं वैसे ही ब्रह्म के संकल्प से कला रूपी प्रकृति प्रकट होती है। यह प्रकृति सत्त्व-रज-तम गुणों वाली है। सत्त्व आदि गुण स्वरूप धर्म से युक्त प्रकृति ही अविद्या (माया) है। प्रकृति से पार हो जाना मोक्ष की प्राप्ति है। जो दृश्य-जगत् दिखाई देता है, वह सब अविद्या के कार्य होने से उसी के आश्रित है। प्रकृति का जो शुद्ध सत्त्व अंश है वह विद्या है। विद्या से अविद्या उसी प्रकार उत्पन्न हाती है, जिस प्रकार जल से बुलबुले उत्पन्न होते हैं। यही बुलबुले फिर जल में लीन हो जाते हैं, उसी प्रकार विद्या में अविद्या विलीन हो जाती है। विद्या और अविद्या में दृष्टियों की भेद भावना से ही भिन्नता है, वस्तुत: नहीं है। जिस प्रकार जल और तरंग की एक रूपता है, उसी प्रकार विद्या और अविद्या एक रूप ही हैं, अलग-अलग नहीं हैं। वास्तव में एक ब्रह्म से भिन्न विद्या और अविद्या नाम की कोई वस्तु नहीं है। विद्या और अविद्या की दृष्टि का त्याग करने पर जो शेष रहता है, वह वास्तव में ब्रह्म ही विद्यमान है। जब ब्रह्म का यथार्थ ज्ञान नहीं रहता है तब यही अज्ञान ही अविद्या कहलाती है। जब यथार्थ ज्ञान हो जाता है तब ज्ञान ही अविद्या-क्षय नाम से कहा जाता है। धूप और छाया की तरह परस्पर विरूद्ध विद्या और अविद्या दोनों में से विद्या का अभाव होने पर अविद्या रूपी मिथ्या कल्पना प्रकट होती है। अविद्या का विनाश होने पर विद्या और अविद्या दोनों का विनाश हो जाता है। दोनों का अभाव होने पर एक मात्र ब्रह्म ही शेष रहता है। जैसे अनन्त घड़ों में एक ही आकाश अन्दर व बाहर परिपूर्ण है, उसी प्रकार समस्त जड़ चेतन वस्तुओं में अन्दर व बाहर ब्रह्म ही सदा-सर्वदा परिपूर्ण है।

अविद्या अत्यन्त बलवान होती है। यह पिछले असंख्य जन्मों से चली आ रही है, इसलिए यह दृढ़ हो गई है। शरीर की उत्पत्ति और विनाश में अन्दर -बाहर सर्वत्र समस्त इन्द्रियाँ इस अविद्या का ही अनुभव करती हैं, क्योंकि ब्रह्म के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान तो किसी भी इन्द्रिय का विषय नहीं है। मन सहित सभी इन्द्रिय का विनाश हो जाने पर सत्य स्वरूप ब्रह्म का यथार्थ ज्ञान ही स्थित रहता है। इन्द्रिय और वृत्तियों से अतीत होने के कारण ब्रह्म का स्वरूप प्राणियों के प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? प्राणी तो पदार्थों का अनुभव मन इन्द्रिय द्वारा ही करते हैं। सांसारिक पदार्थों के भोग की इच्छा का नाश हो जाने पर अविद्या नाश होने

लगती है। संतसंग के द्वारा, शास्त्रों के अर्थ का विवेकपूर्ण विचार करने से तथा योग के अभ्यास के द्वारा इन सब साधनों की एक साथ प्राप्ति होने पर क्रमशः धीरे-धीरे अविद्या रूपी मल का नाश होने लगता है। जब तक इस अविद्या के विषय में पूर्ण ज्ञान नहीं हो जाता है, तभी तक यह अनन्त सी प्रतीत होती है। अविद्या के विषय में पूर्ण रूप से जान लिए जाने पर इसका अस्तित्व मिट जाता है।

अज्ञानी पुरूष की अज्ञानता से शरीर में ही आत्म भावना उत्पन्न हो जाती है। ऐसे पुरूष को इन्द्रियाँ रोष-पूर्वक शत्रु बन कर पराजित कर देती हैं। मगर तत्त्वज्ञानी पुरूष की इन्द्रियाँ ज्ञानपूवर्क एक मात्र में स्थित रहती हैं। उस निर्दोष पुरूष की इन्द्रियाँ मित्र बनकर उसका सहयोग करती हैं और ज्ञानी पुरूष का कभी पतन नहीं कर सकती हैं। कठोपनिषद् में वर्णन किया गया है– *"जो पुरूष विवेकहीन बुद्धि वाला और चंचल मन से युक्त रहता है, उसकी इन्द्रियाँ असावधान सारथी के दुष्ट घोड़ों की भाँति वश में नहीं रहती हैं, परन्तु जो सदा विवेकयुक्त बुद्धि वाला और मन को वश में किए हुए मन से सम्पन्न रहता है, उसकी इन्द्रियाँ सावधान सारथी के अच्छे घोड़ों की भाँति वश में रहती हैं।"*

सभी प्राणियों में अविनाशी ब्रह्म रहता है। परन्तु जीवात्मा को इसका पूर्ण रूप से ज्ञान न होने के कारण उसमें दीनता आ जाती है। ऐसे अज्ञानी जीवों के शरीर से श्वाँस इस प्रकार निकलता है जैसे लोहार की धौंकनी से वायु निकलती है। अतः अज्ञानी का जीवन व्यर्थ है। अज्ञान ही परेशानियों का आश्रय स्थान है। कौन-सी आपत्ति अज्ञानी को प्राप्त नहीं होती है? अज्ञानी को दुःख और क्षणिक सुख बार-बार आते जाते रहते हैं। शरीर, धन, स्त्री-पुत्र आदि में आसक्ति रखने वाले अज्ञानी के लिए माया का प्रभाव कभी नष्ट नहीं होता है। अज्ञानी पुरूष संसार में बार-बार जन्मता-मरता रहता है। धन की जो अभिलाषा की जाती है, वह अज्ञान ही है। वासना रूपी जंजीरों से बँधी हुई अज्ञानियों की दृढ़ भावना युगों-युगों के आवागमन के दुःखों से छिन्न-भिन्न नहीं होती है। सुख-दुःख की परम्परा से युक्त संसार में गोता लगाना अज्ञान रूपी अंधकार ही है। "यह शरीर मैं नहीं हूँ", इस प्रकार जब ब्रह्म भावना उत्पन्न होती है, मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ, अपने वास्तविक स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होने पर अज्ञान विलीन हो जाता है। सबके हृदय में स्थित होते हुए भी अज्ञान के कारण ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता है।

अज्ञान से उत्पन्न होने वाली अहम् भावना ही अज्ञान की सत्ता का पूर्ण परिचय देने वाली है। हे अज्ञानी पुरूषो! मोक्ष प्राप्ति के लिए भोगों के त्याग, विवेक-विचार, मन और इन्द्रिय के निग्रह रूपी पुरूषार्थ इन तीनों का उपयोग करना है। अतः अनात्म वस्तु का त्याग करके शीघ्र आत्मा की शरण में आ जाना चाहिए। अज्ञानी पुरूष तो इस संसार में वासना रूप ही हैं। यह वासना तत्त्व दृष्टि से विचार करने पर

ठहरती नहीं है परन्तु कोई भी इस वासना के असल स्वरूप पर विचार नहीं करता है। इसी कारण यह संसार उपस्थित हुआ है। चित्त का जो बाह्य पदार्थों की ओर प्रसरण है, वह तो अज्ञान युक्त अनुभव से ही सिद्ध है। जब विद्या से उस अनुभव का बोध हो जाता है तब अभ्यासी को असत् पदार्थ का अनुभव नहीं होता है, बल्कि अज्ञान से अपने अंतःकरण में अहम् भाव रूपी कल्पना कर ली है, जो वास्तव में नहीं है। जैसे हाथ में दीपक लेकर ढूढ़ने वाले को अंधकार दिखाई नहीं देता है, उसी प्रकार विवेकवान पुरूष यदि देखे तो उसे अज्ञान की उपलब्धि नहीं हो सकती है। सृष्टि केवल अज्ञानियों के अनुभव में आती है, वास्तव में उसका कोई अस्तित्व नहीं है। अत्यन्त परम् शुद्ध ब्रह्म ही हमारे सामने सृष्टि रूप में विराजमान है। वास्तव में यहाँ सृष्टि नाम की कोई वस्तु नहीं है। ऐसी अवस्था में कहाँ से सृष्टि हुई, कहाँ से अविद्या आई, कहाँ से अज्ञान आदि की स्थिति है? सब शांत चेतन ब्रह्म ही है, क्योंकि यदि पूर्ण रुप से अज्ञान के विषय में जान लिया जाए तो इसका अस्तित्व नहीं रह जाता है, बल्कि सिर्फ चेतन ब्रह्म रह जाता है।

जिस मनुष्य को इस जगत् की पूर्ण सत्यता का निश्चय है, वह अत्यन्त मूढ़ है। उस अत्यन्त मूढ़ मनुष्य के प्रति यदि जगत् की असत्यता के विषय में कहा जाए तो यह उपदेश शोभा नहीं देता है, क्योंकि उस मनुष्य के मन को अच्छा नहीं लगता है। योग के अभ्यास के बिना जगत् की असत्यता का निराकरण नहीं हो सकता है। अज्ञानी को कितने ही प्रयत्न से क्यों न समझाया जाए, उसे अन्दर -बाहर जो संसार की सत्यता का अनुभव हो रहा है उसका वह सत्य ब्रह्म में उसी प्रकार बोध नहीं कर सकता है, जैसे मरा हुआ मनुष्य अपने पैरों से नहीं चल सकता है। इसलिए अज्ञानी मनुष्य को ब्रह्म-तत्त्व का उपदेश देना व्यर्थ है, क्योंकि उस अज्ञानी मनुष्य में तप और विद्या आदि के अनुभव से होने वाले संस्कारों का अभाव होने के कारण उसमें सदा देहात्म भाव का ही अनुभव किया है। उसे कभी असंसारी आत्म-भाव अनुभव नहीं हुआ। हमारा कहने का तात्पर्य यह है कि जो न अत्यन्त अज्ञानी हो और न ही पूर्ण ज्ञानी हो, वही जिज्ञासु ब्रह्म तत्त्व के उपदेश का अधिकारी है।

आसक्ति और ममता ही संसार में सभी प्राणियों के मोह और जन्म-मृत्यु का कारण है। जीवात्मा आसक्ति और ममता से युक्त है, वह संसार रूपी सागर में डूबा हुआ है। परन्तु जो ममता और आसक्ति से मुक्त हो गया है, वह मनुष्य संसार से पार हो गया है। जिस मनुष्य का चित्त विषयों की आसक्ति से रहित व निर्मल है, वह संसार में रहते हुए निःसंदेह मुक्त है। जिसका चित्त विषयों की आसक्ति से युक्त है, वह इच्छाओं के कारण सुदृढ़ बन्धन से बँधा हुआ है। आसक्ति और ममता से रहित हुआ पुरूष जीवन यात्रा के लिए न्याय युक्त कर्म करता हुआ भी कर्तृत्व से लिप्त नहीं होता है। वह बाहर से कुछ भी कार्य करे

अथवा न करे, किसी भी दशा में कर्ता व भोक्ता नहीं है। पूर्वजन्म में आसक्ति और ममता के द्वारा किए गऐ कर्मों के फल के कारण ही वर्तमान जन्म में सुख-दुःख की प्राप्ति होती है तथा शक्तिहीन दशा को प्राप्त हुए मनुष्य चलने-फिरने की शक्ति से शून्य बारम्बार मरते रहते हैं। आसक्ति दो प्रकार की होती है। **एक**–संसारी पुरूषों की आसक्ति, **दूसरी**– तत्त्वज्ञानी की आसक्ति। संसारी पुरूषों की आसक्ति तत्त्वज्ञान से शून्य, शरीर आदि असत्य वस्तुओं से और बारम्बार संसार से सुदृढ़ रूप में स्थित रहती है। इस आसक्ति के वशीभूत होने से मन विषय भोगों में व्यर्थ ही रमणीकता की कल्पना करके उन पर टूट पड़ता है। इसी आसक्ति से युक्त होकर देवता स्वर्ग में, असुर निम्न लोकों में, मनुष्य भूलोक में स्थित हैं। सभी असंख्य प्राणी आसक्ति के कारण ही बारम्बार उत्पन्न होकर नष्ट हो रहे हैं। दूसरे प्रकार की आसक्ति तत्त्वज्ञानियों की होती है। इस आसक्ति के कारण ही तत्त्वज्ञानी पुरूष अपने स्वरूप में स्थित है। यह आसक्ति आत्म तत्त्व के ज्ञान द्वारा विवेक से उत्पन्न होती है और यह पुनर्जन्म से रहित है।

इस संसार में आसक्ति पूर्ण मन से व्यवहार करने वाले मनुष्य सदैव दुःख की अनुभूति करते रहते हैं। मात्र कुछ समय के लिए सुख की अनुभूति हुई भी तो वह अन्त में दुःख रूप में ही परिवर्तित हो जाती है। ऐसा राग पूर्ण इच्छाओं के कारण होता है। भूलोक पर जो दुःख समूह दिखाई दे रहा है, उस सब की कल्पना विषयासक्त चित्त वाले मनुष्यों के लिए हुई है। इसलिए सारे दुःख विषयासक्त चित्त वाले मनुष्यों को आ घेरतें हैं। जो मन आसक्ति से शून्य, सभी प्रकार से शांत, निर्मल रूप से स्थित है, उस साधक के लिए सुख का हेतु होता है। सर्वत्र दृश्य पदार्थों में अनासक्त-सा होकर, दृश्य जगत् के आश्रय भूत ब्रह्म में स्थित होकर, ब्रह्म रस से युक्त मन वाला स्थित होकर रहना चाहिए। ब्रह्म में स्थित हुआ जीवात्मा सम्पूर्ण आसक्तियों से रहित होकर ब्रह्म-भाव को प्राप्त हो जाता है, फिर वह संसार में व्यवहार करे अथवा न करे, क्योंकि उसके लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता है। जिस प्रकार बादलों का आकाश के साथ कोई सम्पर्क नहीं रहता है, उसी तरह ब्रह्म में स्थित हुआ जीवात्मा क्रियाओं को करता हुआ अथवा न करता हुआ क्रियाजनित फलों से बिल्कुल सम्बद्ध नहीं होता है। पुरूष को चाहिए कि संसार के सम्बन्ध का भी परित्याग करके परम् शांत होकर ब्रह्म में स्थित रहे। जिसने अपने स्वरूप रूप में परम् विश्राम को प्राप्त कर लिया है वह मोक्ष को प्राप्त हो गया है।

जिस प्रकार स्वप्नावस्था में संग्रह की गई सम्पत्तियों के नष्ट हो जाने पर या न होने पर उससे उत्पन्न सुख-दुःख से संसारी पुरूष लिप्त नहीं होता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी पुरूष आसक्ति रहित मन से कर्म करता हुआ भी उससे उत्पन्न सुख-दुःख से लिप्त नहीं होता है तथा आसक्ति रहित मन वाला तत्त्वज्ञानी

आँखों से देखता हुआ भी उसका चित्त ब्रह्म में स्थित होने के कारण कुछ नहीं देखता है। जिसका चित्त ब्रह्म में तत्परता से लगा रहता है, वह विषय पदार्थों को कैसे देखेगा? आसक्ति रहित मन वाला तत्त्वज्ञानी पुरूष सुनता हुआ भी नहीं सुनता है, स्पर्श करता हुआ भी स्पर्श नहीं करता है, सूँघता हुआ भी नहीं सूँघता है, नेत्रों को बन्द करता हुआ व खोलता हुआ भी वह नेत्रों को न बन्द करता है और न ही नेत्रों को खोलता है। आसक्ति ही संसार का कारण है, आसक्ति ही वासनाओं की जड़ है, आसक्ति ही समस्त वृत्तियों की मूल है, आसक्ति के ही त्याग को मोक्ष कहते हैं। आसक्ति के त्याग से मनुष्य को जन्म-मृत्यु के चक्र से छुटकारा मिल जाता है।

अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थों की उत्पत्ति तथा विनाश में जो हर्ष और विषाद रूपी जो विकार प्रकट करने वाली वासना है, उसी का नाम संग (आसक्ति) है। जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञानियों के पुनर्जन्म का नाश करने वाली हर्ष और विवाद से रहित शुद्ध वासना ही आसक्ति रहित जो चित्त वृत्ति रहती है, वह भुने हुए बीज के समान आकृति मात्र ही है। शुद्ध वासना का दूसरा नाम असंग (आसक्ति का अभाव) है। यह शुद्ध वासना तब तक रहती है जब तक प्रारब्ध भोग संस्कार रूपी स्थूल शरीर रहता है। इस शुद्ध वासना से जो कुछ किया जाता है, वह संसार में पुनः जन्म-मरण रूपी बन्धन का कारण नहीं होता है। जो पुरूष तत्त्वज्ञानी नहीं है अर्थात् संसारी मनुष्य में वासना हर्ष और विषाद से युक्त रहती है। यह वासना जन्म-मरण रूपी बन्धन देने वाली होती है। इसी बन्धन कारक वासना का दूसरा नाम संग है, यह पुनर्जन्म का कारण होती है। जो दुःखों से घबराता नहीं है, सुखों में हर्षित नहीं होता है और सभी आशाओं से रहित है, वह असंग ही (आसक्ति से रहित) है।

तृष्णा हजारों कुटिलताओं से भरी होती है। विषय भोग सुख उसका स्वभाव है। विषमता रूपी सुख से सदा युक्त रहती है। तृष्णा का जरा-सा भी स्पर्श होने पर मनुष्य को पूरी तरह से अपने प्रभाव में ले लेती है, फिर वह दुर्गति को प्राप्त हो जाता है। वह पुरूषों के हृदय का भेदन करने वाली तथा मायारूपी जगत् को रचने वाली है, दुर्भाग्य प्रदान करने वाली तथा दीनता की मूर्ति है। वह मनुष्य के हृदय को अत्यन्त मलिन, परिणाम में घोर दुःख देने वाली, वासना रूपी अनन्त इच्छाओं से युक्त तथा विषयों में गहरा प्रेम करने वाली है। यह व्यर्थ में विस्तार को प्राप्त होने वाली अमंगलकारी तथा क्रूर होती है। यह मनुष्य को कभी सुख देने वाली नहीं होती है। यह मोह के आवरण से स्फुरित होती है। विवेक रूपी प्रकाश प्रकट हो जाने पर शांत होने लगती है तथा विवेकी और विरक्त पुरूषों को छोड़कर विषयासक्त पुरूष के पास चली जाती है। संसार में जितने भी दोष हैं, उनमे एक मात्र तृष्णा ही ऐसी है जो दीर्घ काल तक दुःख देती रहती

है। यह मनुष्य को भीषण संकट में डाल देती है तथा ज्ञान के प्रकाश को ढक देती है। सांसारिक व्यावहारों में फँसे मनुष्यों को बाँधने के लिए तृष्णा एक मजबूत रस्सी है, इसी ने सबके मन को बाँध रखा है। यह विवेक के प्रकाश को पाकर निर्मल हो जाती है, विवेक न होने पर अज्ञान से मलिन रहती है तथा मोह से आवृत्त हो जाती है। मनुष्य विषयों के चिन्तन को त्याग देने से दुःख को दूर कर सकते हैं। विषय चिंतन त्याग ही इसके निवारण का उपाय है। तृष्णा अन्दर से खोखली, कपट से युक्त, दुःख रूपी काँटों से परिपूर्ण, धन सम्पत्ति में अधिक प्रेम रखने वाली है। तत्त्वज्ञानी पुरूष विवेक रूपी तलवार से इस तृष्णा को काट डालते हैं। मनुष्यों के ह्रदय में रहने वाली तृष्णा तलवार की धार से भी ज्यादा पैनी है।

स्थूल शरीर हड्डी, रक्त, मांस आदि से बना हुआ आँतो, मल-मूत्र आदि से युक्त है। इसमे नाड़ियों का जाल बिछा हुआ है, नाना प्रकार के विकारों से युक्त, अन्त में मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। इसके द्वारा मनुष्य सांसारिक स्थूल पदार्थों को भोग करता हुआ सुख-दुःख का अनुभव प्राप्त करता है। थोड़े से खान-पान के द्वारा आनन्दित होने लगता है, थोड़ी सी शीत व धूप से दुःखी हो जाता है। इस शरीर के समान गुणहीन और शोचनीय दूसरा कोई नहीं है। यह तभी तक क्रियाशील अथवा जीवित रहता है, जब तक ह्रदय में प्राण वायु का स्पन्दन होता है। प्राण वायु का स्पन्दन रुकने पर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। इस स्थूल शरीर का सम्बन्ध स्थूल जगत् व स्थूल पदार्थों से रहता है। यह असमर्थ, दीन, क्षणभंगुर तथा प्रारब्ध आदि के अधीन है। यह स्थूल शरीर आभास मात्र ही है। अज्ञान के कारण यह भासित होता है, इसलिए इसे सत् कहते हैं। वास्तव में यह नहीं है, इसलिए यह असत् कहा गया है। जैसे स्वप्न काल में स्वप्निक पदार्थ सत् से प्रतीत होते हैं, मगर जब स्वप्न के बाद जाग्रत अवस्था में आते हैं तो स्वप्न में दिखाई देने वाले पदार्थ असत् मालूम पड़ते हैं, क्योंकि स्वप्न काल के पदार्थ का जाग्रत अवस्था में अत्यन्त अभाव हो जाता है। इसी प्रकार शरीर की प्रतीति होने पर सत्य-सा दिखाई देता है मगर तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जाने पर "यह शरीर असत्य है", ऐसी अनुभूति होने लगती है, क्योंकि तत्त्वज्ञान के समय इस शरीर का अत्यन्त अभाव हो जाता है। इसलिए यह शरीर आदि जो केवल आभास रूप है, ज्ञान काल में ही प्रतीत होते हैं।

शारीरिक और मानसिक व्याधियों से निरन्तर दुःखी इस स्थूल शरीर में किसी प्रकार की स्थिरता नहीं रहती है। यदि पत्थर की मुर्ति की भली-भाँति रक्षा की जाए तो वह बहुत साल तक वैसी ही सुन्दर बनी रहती है। स्थूल शरीर तो अनेक प्रकार से रक्षा करने के बाद भी शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। स्वप्नावस्था का शरीर संकल्प से उत्पन्न होने के कारण लम्बी अवधि तक सुख-दुःख से आक्रान्त नहीं रहता है, मगर स्थूल दीर्घकाल के संकल्प से उत्पन्न होने के कारण दीर्घकाल के दुःखों से आक्रान्त रहता

है। इस स्थूल शरीर का संकल्पमय होने के कारण इसका अस्तित्व ही नहीं है तथा आत्मा के साथ इसका कोई सम्बन्ध भी नहीं है। फिर भी स्थूल शरीर के लिए यह अज्ञानी जीव क्लेश की अनुभूति करता रहता है। इसका एक मात्र कारण अज्ञान ही है। जिस प्रकार स्वप्नावस्था में उत्पन्न शरीर आदि पदार्थों का विनाश हो जाने पर आत्मा की कुछ भी हानि नहीं होती है, उसी प्रकार एक मात्र संकल्प से उत्पन्न विनाशशील इस शरीर रूपी यन्त्र का विनाश हो जाने पर आत्मा की कुछ भी हानि नहीं होती है। अतः स्थूल शरीर के लिए शोक करना मूर्खता अथवा अज्ञानता के सिवाय कुछ भी नहीं है।

शरीर रूपी गाड़ी खींचने के लिए ईश्वर ने मन शक्ति व प्राण शक्ति रूपी दो बैल बनाए हुए हैं। इसी प्राण शक्ति व मनशक्ति से स्थूल शरीर जीवित तथा क्रियाशील रहता है। जीव जीवन धारण करता है और अज्ञान के कारण जीव को शारीरिक व मानसिक कष्टों का भोग करना पड़ता है। सर्वशक्ति मान होने पर भी वही चेतन जीवात्मा अज्ञान के कारण- "मैं चेतन नहीं हूँ", इस भावना से इस देह में परवशता प्राप्त करता है और अपने स्वरूप के ज्ञान से रहित हो जाता है। जब तक शरीर का ह्रदय रूपी यन्त्र चलता रहता है तब तक जीव अपने संकल्प वश प्रकृति के अधीन हुआ कर्म करता रहता है। ह्रदय रूपी यन्त्र रुक जाने पर तथा इसके शांत हो जाने पर यह स्थूल शरीर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। परन्तु योग के अभ्यास से चित्त की जो समता होती है, यही अवस्था अच्छी-बुरी दशाओं द्वारा प्राप्त दुःख से रहित होना है। तत्त्वज्ञानी पुरूष तो जब तक प्राप्त हुए अन्तिम शरीर की मृत्यु नहीं हो जाती है तब तक बुद्धि आदि की समता हाथ-पैर आदि के संचालन से ईश्वरीय विधान के अनुसार समय बिताते रहते हैं।

अहंकार के साथ कर्तापन आ जाता है। अच्छे कर्म करने का अहंकार होता है। बुरे कर्म करने का भी अहंकार होता है। "मैं तो कुछ नहीं करता हूँ, सब भगवान् करता है", यह अहंकार ही तो है। अपने चेतन्य स्वरूप का बोध नहीं है, इसलिए यह सब अपने में आरोपित कर लेता है। अहंकार के वशीभूत मनुष्य राग-द्वेष आदि दोषों में बने रहते है। अहंकार रूपी दोष के कारण संसार रूपी रात में जीव को मोहित करने वाली माया जाल बिछाए हुए उपस्थित रहती है। अहंकार के द्वारा ही शांति का विनाश हो जाता है तथा यह पुण्य व समदर्शिता का बहुत बड़ा दुशमन है। जब तक अंतःकरण में अहंकार रूपी बादल आच्छादित है, तब तक यथार्थ ज्ञान का विकास नहीं हो सकता है। ऐसी अवस्था में तृष्णा रूपी लता का विकास होता रहता है। यह अहंकार दूषित अतःकरण में मनुष्य को संसार बन्धन में डालने वाला व मोह को जन्म देता है। "मैं देह हूँ", इस प्रबल मोह से बढकर अज्ञान इस संसार में नहीं होगा। इस अहंकार रूपी वृक्ष को विवेकरूपी विचार से उखाड़ कर फेंक देना चाहिए। चेतन आत्मा दर्पण के समान शुद्ध है। इस संसार में

अनुराग से मेरा क्या प्रयोजन है, ऐसा मन में विचार करना चाहिए। मैं चैतन्यमय ब्रह्म हूँ, मेरे सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं है, ऐसा अहंकार जीवन्मुक्त पुरूष को मोक्ष प्राप्त करने के लिए बन्धन में नहीं डालता है। "मैं स्थूल शरीर हूँ", इस प्रकार का जो अभिमान है वह लौकिक एवं तुच्छ है। इस अहंकार को त्याग देना चाहिए। ऐसा अहंकार मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है। यही दुःख देने वाला भी है। "मैं देह नहीं हूँ", ऐसा विचार करने से सभी प्रतिबन्धकों के नाश होने से तत्त्वज्ञान से युक्त होकर पुरूष मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

अहंकार दो प्रकार का होता है। **एक**– सात्विक अहंकार, **दूसरा**– तामसिक अहंकार। सात्विक अहंकार की दृष्टियाँ अत्यन्त निर्मल हैं। इस सात्विक अहंकार से तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति होती है। मैं सबसे परे सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर और विनाशशील पदार्थों से अतीत हूँ। यह अहंकार की पहली दृष्टि है तथा जो कुछ हूँ वह सब मैं ही हूँ, यह भी सात्विक अहंकार की ही दृष्टि है। सांख्य योग के अभ्यासी के अहंकार की दृष्टि सदैव यही होती है- "मैं जड़ प्रकृति से परे चैतन्य स्वरूप ब्रह्म हूँ" अर्थात् मैं सबसे परे सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर हूँ। भक्ति योग के अभ्यासी के अहंकार की दृष्टि सदैव यही रहती है कि यह समस्त संसार ईश्वर का ही स्वरूप है। मैं ईश्वर का अंश हूँ अर्थात् मुझमें तथा अन्य प्राणियों में कोई फर्क नहीं है। हम सभी जीवभूत रूप से एक ही हैं। ये दोनों प्रकार की दृष्टि जीवन्मुक्त पुरूषों की होती है। मगर जो तमोगुणी अहंकार है उसकी दृष्टि यह होती है- "मैं देह हूँ, यह स्थूल संसार मेरा है, इसके भोग पदार्थ मेरे हैं"। इसी दृष्टि के कारण यह अहंकार दुःख स्वरूप, मोह, तृष्णा, राग-द्वेष व अज्ञान से युक्त होता है। इसी तमोगुणी अहंकार का अभ्यास के द्वारा त्याग करने का प्रयास करना चाहिए।

योग के अभ्यास से सांसारिक विषय भावना का त्याग कर फिर ब्रह्म की सत्ता का अनुभव करने से अहंकार का विनाश हो जाता है। जब तक सम्पूर्ण पदार्थों का त्याग नहीं किया जाता है तब तक यह अंहकार बना रहता है। जब अभ्यासी विवेकपूर्ण विचार से सबका परित्याग करके निश्चल होकर स्थित हो जाता है तब अहंकार का अभाव हो जाने पर अपने निजस्वरूप में स्थित हो जाता है अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। समस्त ऐश्वर्य का त्याग कर देने पर तथा भय से रहित हो जाने पर, समस्त धन आदि इच्छाओं का त्याग हो जाने पर, शत्रुओं के लिए भी मित्र भाव आ जाने पर, अहम् से निवृत्त हुआ जा सकता है। इस चित्त रूपी वृक्ष के बीज अहंकार का त्याग आसानी से नहीं किया जा सकता है, क्योंकि बार-बार त्याग करने पर भी इसका त्याग नहीं किया जा सकता है और इसका त्याग न हो पाने का कारण हैं– "मैं देह हूँ", यह जो अभिमान रूपी दोष है, यह शरीर आदि का ज्ञान ही है। यह स्त्री, पुत्र, धन आदि

सब मेरे हैं, इस प्रकार की अहंता ममता का सर्वथा अभाव होने पर कल्याण स्वरूप, शांत व बोध स्वरूप ब्रह्म में स्थिति हो जाती है। ब्रह्म के यथार्थ ज्ञान के द्वारा अहंकार का क्षय हो जाने पर ममता का आधार भूत सारा संसार ही नष्ट हुए के समान हो जाता है। अहंकार की भावना करने वाला जीवात्मा अहम् का त्याग कर देने मात्र से बिना किसी के विघ्न बाधा के शांत स्वरूप हो जाता है। तत्त्वज्ञान प्राप्त होने पर अहंकार आदि के साथ सम्पूर्ण जगत् शांत हो जाता है, तब तेल समाप्त होने पर बुझे हुए दीपक की भाँति सम्पूर्ण जगत् का त्याग सिद्ध होता है अन्यथा नहीं होता है। कर्मों का त्याग, त्याग नहीं कहा जाता है। जहाँ जगत् का मान ही नहीं है, एक मात्र विशुद्ध आत्मा ही अविनाशी है, इस प्रकार का ज्ञान ही वास्तविक त्याग कहा जाता है।

अहंकार के उन्मूलन हो जाने पर संसार की जड़ता अपने आप उखड़ जाती है। जिस प्रकार मुँह के भाप से दर्पण मलिन हो जाता है तथा भाप के मिट जाने से दर्पण पुनः स्वच्छ हो जाता है, इसी प्रकार अहंकार रूपी मल से आत्मा रुपी दर्पण मलिन-सा हो जाता है, किंतु अहंकार के शांत होते ही चित्त स्वच्छ रूप से प्रकाशित होने लगता है। अभ्यासी का अहम् भाव चेतन आत्मा में विलीन हो जाता है तब उसका कोई नाम रूप नहीं रह जाता है। ऐसी अवस्था में कोई कहे– "मैं विशुद्ध चैतन्य स्वरूप हूँ", तो इसे द्वैत भ्रम नहीं कहा जा सकता है। यह परमार्थ स्वभाव छोड़कर ओर कुछ भी नहीं है। जो मनुष्य अज्ञान द्वारा ही मोक्ष की खोज करता है वह पागलों के समान चेष्टा करता है। अहम् भावना ही अज्ञान रुपी सत्ता है। तत्त्वज्ञानी पुरुष सदैव शांत रहता है, उसमे ममता व अहम् भावना ही नहीं होती है। अहम् भावना का त्यागकर आकाश के समान निर्मल हुआ तत्त्वज्ञानी पुरूष सदैव के लिए अपने निज स्वरूप में स्थित हो जाता है।

आदि काल में सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा से जब मन रूपी तत्त्व उत्पन्न हुआ तभी उस मन के संकल्प के अनुसार जीवों का कर्म भी उत्पन्न हुआ। मन से ही कर्म की उत्पत्ति हुई है। इसलिए बीज और वृक्ष की भाँति कारण और कार्य रूपी मन और कर्म परस्पर अभिन्न हैं। इस संसार में क्रिया का होना कर्म बताया गया है। इस क्रिया का आश्रय भूत शरीर भी पहले मन ही था अर्थात् यह शरीर भी मन का संकल्प होने के कारण मनोरूप ही है। इसी प्रकार क्रिया भी मन का संकल्प होने के कारण मन का ही स्वरूप है। ऐसा कोई लोक नहीं है, जहाँ किए गये कर्मों का फल प्राप्त नहीं होता है। ज्ञान पूर्वक किया गया कर्म, चाहे पूर्व जन्म का हो अथवा इसी जन्म का, वह क्रिया रूप पुरूषार्थ ही पुरूष का परम् प्रयत्न है। वह कभी निष्फल नहीं

होता है। जो तत्त्वज्ञानी नहीं है उनके मन और कर्म का नाश बिल्कुल नहीं होता है। इन दोनों में एक का अभाव होने पर दोनों का अभाव हो जाता है।

ब्रह्म शक्ति से उत्पन्न जो संकल्पमय रूप है, उसे मन कहा गया है। मन स्वयं भी संकल्प शक्ति के सामर्थ्य से युक्त है। जैसे गुणी का गुण से हीन होना सम्भव नहीं है, उसी प्रकार मन का कल्पनात्मक क्रिया शक्ति से रहित होना असम्भव है। एक मात्र संकल्प ही जिसका शरीर है, जो नाना प्रकार के विस्तार से युक्त होने वाला तथा फल का जनक है, उस चित्तरूपी कर्म ने अपने ही स्वरूप से इस नाना विध विश्व का, जो माया भय और वासना की कल्पनाओं से व्याप्त है, विस्तार कर रखा है। मन जिसका अनुसंधान करता है उसी का सम्पूर्ण कर्मेन्द्रिय वृत्तियाँ सम्पादन करती हैं, इसलिए मन को कर्म कहा गया है। चित्त, अहंकार, मन, कर्म, वासना, अविद्या, प्रकृति, माया आदि संसार भ्रम की ही हेतु हैं। चित्त भाव को प्राप्त हुआ संसार पदवी को पहुँचा शुद्ध चेतन अपने ही सैकड़ों संकल्पों द्वारा भिन्न-भिन्न नाम को प्राप्त हुआ है। शुद्ध चेतन ब्रह्म ही संसार में जीव कहलाता है।

दृढ़ भावना से युक्त मन ने ही प्रकाश स्वरूप आत्मा पर आवरण डालने वाले जगत् को स्वीकार किया है। आकाश, नगर, पेड़-पौधे, शरीर आदि विविध प्रकार का रूप धारण करने वाली विचित्र आकृति के द्वारा मन ही अपने स्वरूप का विस्तार कर रहा है। सम्पूर्ण विस्तृत जगत् मन से ही व्याप्त है। मन से भिन्न तो केवल ब्रह्म ही शेष रहता है। ब्रह्म की शक्ति से ही मन सम्पूर्ण संसार में दौड़ लगाता है। मन के विलय होने मात्र से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। भ्रम उत्पन्न करने वाली मन नाम की क्रिया का क्षय होने पर जीव मुक्त कहा जाता है। फिर वह इस संसार में जन्म ग्रहण नहीं करता है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि मन को रोजाना प्रयत्नपूर्वक अपनी मुक्ति के लिए ब्रह्म में लगाए, क्योंकि ब्रह्म में लगाया हुआ मन वासना रहित एवं शुद्ध हो जाता है। तत्पश्चात वह कल्पना शून्य होकर ब्रह्म भाव को प्राप्त हो जाता है। ब्रह्म का चिन्तन करने से अभ्यास वश शांत हुआ मन फिर शोक नहीं करता है। मन के द्वारा ही नाना प्रकार के दुःख बढ़ते हैं। मन को वश में कर लेने से ज्ञान का उदय होने के कारण वे सारे दुःख उसी तरह नष्ट हो जाते हैं जैसे सूर्य के सामने बर्फ का ढेर गल जाता है। योग के अभ्यास के द्वारा निरोध अवस्था का आश्रय ले परम् शांति को प्राप्त हुआ, जन्म रहित जीवन्मुक्त पुरूष बड़ी-से-बड़ी आपत्तियों के आने पर भी कभी शोक नहीं करता है।

जिस अभ्यासी को तत्त्वज्ञान प्राप्त हो गया है, उसकी दृष्टि में उसका मन भी ब्रह्म स्वरूप ही है। अज्ञानी पुरूषों का मन ही संसार भ्रम का कारण है, जो जन्म-मरण हेतु संसार में भटकने का हेतु है। मन के

द्वारा ही जो महान आरम्भ हुआ है अर्थात् सृष्टि हुई है, वही संसार रूप से देखा जाता है। मन की कारणभूत आद्याशक्ति रूप चिन्मय परमात्मा का कभी नाश नहीं होता है। इष्ट वस्तु में राग और अनिष्ट वस्तु में द्वेष के कारण बन्धन में डालने वाली मन की ही शक्ति है। इसी के द्वारा व्यर्थ भ्रम से स्वप्न की भाँति इस संसार की कल्पना हुई है। ज्ञान के बिना इसका अन्त नहीं होता है। मन का नाश ही परम् पुरूषार्थ की प्राप्ति है और यही समस्त दुःखों के समूल का उपाय है। विवेकहीन मन ही बड़ी-बड़ी विपत्तियों का एक मात्र कारण है।

मन की वासना ही जीव के लिए एक मात्र मोह का कारण है। इसलिए यत्नपूर्वक उसकी जड़ को काट कर उखाड़ फैंकना चाहिए। मनुष्य का मन वासना रूपी जाल से आकृष्ट होकर बड़ी विवशता को प्राप्त हो जाता है। जीव की जिस विचार से ज्ञेय पदार्थ सम्बन्धी वासना कट जाती है, उसका प्रकाश आवरण से रहित हो प्रकाशित हो जाता है। मन ने जो कर दिया उसी को किया हुआ समझो। मन जिसे छोड़ दे उसे छोड़ा हुआ समझो। मन ही जगत् है, जिसका मन मोह को प्राप्त हो जाता है, वही मूढ़ कहलाता है। मन जब देखता है तो नेत्रेन्द्रिय बन जाता है और मन जब सुनता है तब कर्णेंद्रिय बन जाता है। सूंघने से मन घ्राणेन्द्रिय बन जाता है तथा रस का स्वाद लेने से रसनेन्द्रिय बन जाता है। स्पर्श का अनुभव करने से त्वचाइन्द्रिय बन जाता है। मन ही शत्रु को मित्र बना लेता है और मित्र को शत्रु बना लेता है। मन ने अपने में ही इन्द्रिय का निर्माण कर रखा है। इन्द्रियों से मन साकार होता है तथा मन से इन्द्रियाँ साकार होती हैं। इस प्रकार दोनों एक समान जैसे हैं। मगर इनमें मन ही उत्कृष्ट है, क्योंकि मन से इन्द्रियाँ उत्पन्न हुई हैं। इन्द्रियों से मन उत्पन्न नहीं हुआ है। मन जब कहीं आसक्त होता है अर्थात् किसी दूसरे काम से उलझा रहता है, अगर उस समय उससे कोई बात कही जाए तो वह सुन नहीं पाता है। स्वप्न में जब मन प्रसन्न होता है तब ह्रदय के अन्दर निर्मित हुए नगर, नदियाँ, पर्वत आदि अपने-अपने कार्य को करने में समर्थ दिखाई देते हैं। उसी प्रकार चित्त के अन्दर मन से ही स्वप्न के समान नगर, नदियाँ, पर्वत आदि प्रकट होते हैं। जैसे-पत्ते, लता, फूल और फल की शोभा अंकुर का ही स्वरूप हैं, उससे भिन्न नहीं हैं। इसी प्रकार जगत् और स्वप्न की विलास-भूमियाँ मन का ही विकास है, मन से भिन्न नहीं हैं।

वासना पर आरूढ़ हुआ मन विषयों के मनन से अतिशय मोह को प्राप्त हो अपने संकल्प के अनुसार विभिन्न प्रकार की योनियों में सुख-दुःख, भय-अभय को प्राप्त होता है। इसी मन के अन्दर सुख और दुःख रहते हैं। वे ही देश और काल का प्रभाव पड़ने पर कभी घनभूत हो जाते हैं तथा कभी अत्यन्त सूक्ष्म हो जाते हैं। मनोमय शरीर के संकल्प के सफल होने पर ही स्थूल शरीर शांत एवं उल्लास को प्राप्त

होता है। मन इस देह के अन्दर अपने संकल्पों द्वारा कल्पित अनेक प्रकार के बढ़े हुए उल्लास जनक भावों से क्रीड़ा करता है। जो मनुष्य अपने अन्त:करण में मन को चंचलता के लिए अधिक अवसर नहीं देता है, उसका मन स्थिर होकर लय को प्राप्त हो जाता है। इस संसार में कहीं भी चंचलता से रहित मन नहीं देखा गया है। जो मन चंचलता से रहित है वह सिद्धान्त भूत मोक्ष कहलाता है। मन के विनाश मात्र से सम्पूर्ण दु:खों की शांति हो जाती है तथा मन के संकल्प मात्र से परम् सुख की प्राप्ति होती है। मन की चंचलता अविद्या से उत्पन्न होने के कारण अविद्या कही जाती है। विषय चिन्तन का त्याग कर देने से अविद्या तथा वासनामयी चित्त सत्ता का अन्त:करण में लय हो जाता है, ऐसा होने से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

मन मोह का जनक और जगत् की स्थिति का कारण है। मन ही व्यष्टि और समष्टि रूप से इस जगत् की कल्पना करता है। संसार की समस्त विभूतियाँ एक मात्र मन को जीतने से ही प्राप्त होती हैं। चित्त जिसकी भावना में तन्मय होता है, उसे निःसंदेह प्राप्त कर लेता है अर्थात् चंचल हुआ मन जिस-जिस वस्तु की भावना करता है तथा जिस-जिस वासना से युक्त होकर भाव को अपनाता है, उसी स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। ज्ञानेन्द्रियों के अपने-अपने विषय में प्रवत्त होने पर उनसे कर्मेंद्रिय स्वरूप स्वतः स्फुरित होती हैं, जैसे धूल, मिश्रित वायु, पृथ्वी अपने आप धूल कणों के रूप में स्फुरित होती है। कर्मेंद्रिय क्षुब्ध होकर जब अपनी क्रिया शक्ति प्रकट करती है, तब मन में प्रचुर कर्म सम्पादित होता है। इस प्रकार मन से कर्म की उत्पत्ति हुई है और मन की उत्पत्ति में कर्म ही कारण है। फूल और सुगंध की भाँति इन दोनों की सत्ता भिन्न नहीं है। मन जिस-जिस भाव को अपनाता है, उसी-उसी को वस्तु रुप में पाता है। अपने-अपने भावों द्वारा ही दृढ़तापूर्वक भिन्नता को प्राप्त हुए मनुष्यों के मन धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष का प्रयत्न करते रहते हैं।

जो अभ्यासी विवेक-ख्याति अवस्था से युक्त है, जिसके चित्त की वृत्तियाँ ब्रह्म में लीन होती जा रही है, जो ज्ञान प्राप्त करके संकल्पों का त्याग कर रहा है, जिसका मन ब्रह्म स्वरूप में परिणित हो गया है, जो नाशवान जड़ दृश्य का त्याग कर रहा है तथा ब्रह्म का ध्यान का रहा है, दृश्य जगत् का अनुभव नहीं करता है, वह परम् तत्त्व में जाग रहा है। मन और अहंकार इन दोनों में से किसी एक का विनाश हो जाने पर मन और अहंकार दोनों का विनाश हो जाता है। इसलिए इच्छाओं का परित्याग करके अपने वैराग्य और आत्मा-अनात्मा के विवेक से केवल मन का ही विनाश कर देना चाहिए। जैसे- वायु के शांत होने से समुद्र शांत हो जाता है, वैसे ही प्रसन्न, गम्भीरता से युक्त, क्षोभ शून्य तथा राग-द्वेश आदि दोषों से रहित, वश में

किया हुआ मन सम हो जाता है। ब्रह्म प्राप्ति रूप अमृत प्रवाह से पूर्ण तथा अविनाशी आनन्द से सम्पन्न पुरूष शांति से युक्त रहता है।

मन ही कर्म रूप वृक्ष का अंकुर है। मन के नष्ट हो जाने पर संसार रूपी वृक्ष भी नष्ट हो जाता है तथा सम्पूर्ण दुःखों का अन्त हो जाता है। मन से भिन्न तो यह शरीर भी नहीं होता है। मन के होने से शरीर का अस्तित्व भासित होता है। यदि मन नष्ट हो गया है तो शरीर भी भासित नहीं होगा। विषयों के चिंतन से प्रसार को प्राप्त हुए मन में यह सारा जगत् स्फुरित हो रहा है। मन ही जगत् है, यह सारा जगत् ही मन है अतः दोनों एक साथ रहते हैं। निर्मल सत्त्व-स्वरूप मन जिस पदार्थ के विषय में जैसी भावना करता है, वह वस्तु वैसी ही हो जाती है। संसार के सभी पदार्थ संकल्प रूप ही हैं, इसलिए विवेकी पुरूष उनकी कभी कामना नहीं करता है। स्वयं मन भी संकल्प रूप है। ब्रह्मज्ञान हो जाने पर मन और पदार्थ दोनों की शांति हो जाती है। यह संसार मन से उत्पन्न होता है। तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जाने पर मन शांत हो जाता है, परंतु मनुष्य संसार भ्रम में पड़कर बेकार में ही दुःख की अनुभूति करता रहता है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को तत्त्वज्ञान प्राप्ति के लिए प्रयास करना चाहिए।

ईश्वर प्राप्ति में मन की भूमिका मुख्य रूप से होती है। मन ही इसकी प्राप्ति में बाधक है। इसका जिसमें अनुराग हो जाता है, वही भाव ग्रहण कर लेता है। संसारी मनुष्यों का मन बर्हिमुखी होकर इन्द्रियों के विषयों में आसक्त बना रहता है। अज्ञान के कारण उन्हीं को सुख प्राप्ति का साधन समझ रहा होता है, जबकि ये विषय भोग वास्तव में परिणाम में दुःखदायी ही हैं। पदार्थों को भोगने के लिए हिंसा, असत्य तथा शास्त्र विरूद्ध कार्य करने की चेष्टा की जाती है, जिससे मन मलिन हो जाता है। परन्तु फिर भी मन को शांति नहीं मिलती है तथा मन चंचल हो जाता है। मन का अज्ञान और भोग भोगने की इच्छाओं के कारण उत्पन्न राग-द्वेष, मलिनता और चंचलता दूर कर मन को शुद्ध और शांत बनाना आवश्यक है। इसके बिना मन आत्मा की ओर उन्मुख नहीं हो सकता है। इसके लिए ज्ञान के अतिरिक्त वैराग्य और अभ्यास की भी आवश्यकता है।

इच्छाओं की पूर्ति में लग जाना, छोटी-छोटी वस्तुओं की ओर आकर्षित हो जाना तथा छोटी-छोटी बातों में उलझ जाना पतन का कारण होता है। इन्द्रियों के द्वारा सांसारिक सुख लेने की इच्छा ही हमें छोटा बना देती है। ये तुच्छ इच्छाएँ जितनी प्रकट होती हैं, मनुष्य उतना ही अन्दर से छोटा होता जाता है। जितना इच्छाओं का त्याग करता है उतना ही वह महान होता जाता है। किसी वस्तु की इच्छा हुई, वह वस्तु मिल गई तो इच्छा पूरी हो गई। ये इच्छाएँ पूरी नहीं होती है, बल्कि चित्त में इसके संस्कार गहराई से विद्यमान हो

जाते हैं। अगर मनुष्य की इच्छा पूर्ण नहीं हुई तो उसके भी संस्कार चित्त पर पड़ते हैं। ऐसी अवस्था में वह सुख और दुःख की अनुभूति करता है। मनुष्य चाहे तो अभ्यास करके अपने विवेक को जाग्रत कर सकता है, विवेक से इच्छाओं की निवृत्ति हो जाती है। इससे वह अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, इसलिए मनुष्य को अपनी बुद्धि का विकास करके विवेक को जाग्रत कर लेना चाहिए। अगर ऐसा नहीं किया तो क्षणभंगुर पदार्थों की प्राप्ति के लिए उसकी यात्रा लम्बी होती जाएगी। अन्त:करण में जितनी अधिक वासनाएँ होगी, उतना ही वह अन्दर से कमजोर होगा। जो मनुष्य अन्दर से कमजोर होगा वह अवश्य ही बाहर से भी कमजोर होगा। चित्त से इच्छाओं की जितनी निवृत्ति होती जाएगी उतना ही वह महान बनता जाएगा।

इच्छाएँ दो प्रकार ही होती हैं। **एक**– शुद्ध इच्छा और **दूसरी**– मलिन इच्छा। मलिन इच्छा के जन्म का कारण है। इसके द्वारा जीव जन्म-मृत्यु के चक्कर में पड़ता है, अज्ञान ही घनीभूत आकृति है। जो इच्छा शुद्ध होती है वह भुने हुए बीज के समान पुनर्जन्म रूपी अंकुर को उत्पन्न करने की शक्ति को त्याग कर केवल शरीर धारण मात्र के लिए स्थित रहती है, वह अज्ञान और अहंकार से रहित होती है। जो महापुरूष शुद्ध इच्छाओं से युक्त हैं, वे जन्म रूप अनर्थ में नहीं पड़ते हैं। ऐसे परम् बुद्धिमान पुरूष परमात्मा के तत्त्व को जानने वाले जीवन्मुक्त कहलाते हैं।

मुनष्य के अन्त:करण से जो यह प्रकट होता है– "मुझे यह मिल जाए", इसी को इच्छा कहते हैं। यही इच्छा शोक और मोह आदि विकारों को उत्पन्न करने में लगी रहती है। इच्छा ही इन्द्रियों के समूह से शुभ-अशुभ कर्म करवाती है। चारों ओर दूर-दूर तक फैले हुऐ इच्छाओं के समूह ही मद हैं, संसार ही इसका कर्म क्षेत्र है। इसी कर्म क्षेत्र में हर पुरूष कभी हारता है और कभी जीतता है। इसी हार-जीत का अनुभव करता हुआ अज्ञानी पुरूष अपने बहुमूल्य जीवन को व्यर्थ में व्यतीत करता रहता है तथा दुःख की अनुभूति करता रहता है। सारे पदार्थों में निवास करने वाली इस इच्छा को धैर्य के द्वारा जीत लेना चाहिए। विषयों के स्मरण का त्याग कर देने से संसार का अंकुर उत्पन्न नहीं होता है। इच्छा से युक्त मनुष्य दीनता को कभी नहीं छोड़ सकता है। तीव्र इच्छा को ही संकल्प कहा जाता है। संसार के पदार्थों का भावना से रहित होने को संकल्प त्याग कहते हैं। संकल्प के अभाव को कल्याण रूप कहा जाता है। संकल्प को ही स्मरण समझना चाहिए। संकल्प में पहले के अनुभव किए हुए पदार्थों तथा भविष्य में होने वाले पदार्थों की भावना की जाती है, संकल्प त्याग ही परम्-श्रेय का सम्पादक है। संसार का संकल्प ही सबसे बड़ा बन्धन है तथा संकल्प का अभाव ही मोक्ष है।

समस्त कामनाओं से रहित जीवन्मुक्त पुरूष को शरीर का अनुसंधान कैसे हो सकता है, क्योंकि वह तो ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार कर चुका होता है। समस्त वस्तुओं की इच्छाएँ ही बन्धन हैं तथा उनकी उपेक्षा मोक्ष है। जो मोक्ष में विश्राम कर रहा है, उसे किस वस्तु की इच्छा हो सकती है। तत्त्वज्ञानी केवल अपने स्वरूप में स्थित रहता है। उसकी इच्छाएँ व चेष्टाएँ शांत हो जाती हैं। उसे अपने शरीर का भान नहीं रहता है। जीवन्मुक्त पुरूष को इस संसार का जीवन बाँस के समान अन्दर -बाहर से शून्य, रसहीन व वासना रहित प्रतीत होता है। अंतःकरण का इच्छा रहित हो जाना अर्थात् इच्छाओं के त्याग देने से शांति प्राप्त होती है। इच्छा के उत्पन्न होने से जो दुःख प्राप्त होता है, वैसा दुःख तो मृत्यु के पश्चात नरक में भी प्राप्त नहीं होता है। मनुष्य के अन्त:करण में जैसी-जैसी, जितनी इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं, वैसे-वैसे उसके दुःख बढ़ते जाते हैं। विवेक विचार से जैसे-जैसे इच्छाएँ शांत होती जाती है, वैसे-वैसे दुःखों की मात्रा कम होती जाती है तथा शांति की अनुभूति बढ़ने लगती है। यदि एक ही साथ सम्पूर्ण इच्छाओं का त्याग न किया जा सके तो धीरे-धीरे, थोड़ा-थोड़ा करके ही उसका त्याग करते रहना चाहिए। जो पुरूष अपनी इच्छाओं को क्षीण करने का प्रयास नहीं करता है, वह अपने आप को दिन-पर-दिन दुःख के गड्ढे में फेंक रहा है। इच्छा मात्र ही संसार है, इच्छाओं का अभाव मोक्ष है। इसलिए यथाशक्ति इच्छाओं को जीतना चाहिए। इसी तरह जहाँ-जहाँ इच्छा का सम्बन्ध है, वहाँ-वहाँ पाप-पुण्यमयी दुःख राशि व पीड़ाओं से युक्त बन्धन उपस्थित हो जाता है।

तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जाने पर इच्छा उत्पन्न होती ही नहीं है। यदि किसी को तत्त्वज्ञानी की इच्छा उत्पन्न दिखाई दे तो वह ब्रह्म स्वरूप ही होती है। ब्रह्म के अतिरिक्त यहाँ कोई दूसरी वस्तु विद्यमान हो तो उसे प्राप्त करने की चेष्टा की जाए। जब ब्रह्म के सिवाय किसी दूसरी वस्तु की सत्ता ही नहीं है, तब ब्रह्म से भिन्न किस पदार्थ को प्राप्त करने की इच्छा की जाए। ब्रह्म स्वयं परम् आकाश स्वरूप है और स्वयं आकाश ही आकाश रुपी विषय का ज्ञाता है। इस संसार का आभास भी आकाश स्वरुप ही है। ऐसी अवस्था में इच्छा का विषय ही नहीं है। जहाँ संसार दृश्य आदि है, वहाँ मोक्ष नहीं है तथा जहाँ मोक्ष है, वहाँ संसार-दृश्य आदि नहीं हैं। छाया और धूप की भाँति इन दोनों का आपस में सहयोग का अनुभव नहीं होता है। यदि ये दोनों एक साथ रहते तो आपस में बाधित होने के कारण असत्य हो जाते; असत्य में मोक्ष नहीं रहता है। मोक्ष का अनुभव चेतनमय तथा दुःख रहित रूप से होता है। यह संसार जीवात्मा को बन्धन में डालने वाला है, इसलिए इन सांसारिक इच्छाओं को योग के अभ्यास द्वारा भस्म कर देना चाहिए। इन सांसारिक इच्छाओं के भस्म होते ही धीरे-धीरे तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होने लगती है।

जब तत्त्वज्ञान का उदय होने लगता है तब इच्छाएँ समाप्त होने लगती हैं तथा वैसे-वैसे द्वैत की शांति व वासना का विनाश होने लगता है। ऐसी अवस्था में इच्छा उत्पन्न कैसे हो सकती है? सम्पूर्ण दृश्य पदार्थों से वैराग्य हो जाने के कारण उस अभ्यासी की अविद्या भी शांत हो जाती है, तब मोक्ष का उदय होता है। मोक्ष के उदय होने पर वैराग्य और अनुराग दोनों नष्ट हो जाते हैं। उस समय अभ्यासी का स्वभाव ऐसा हो जाता है कि उसे दृश्य जगत् अच्छा नहीं लगता है। ऐसी अवस्था में तत्त्वज्ञानी की इच्छा और अनिच्छा दोनों ही ब्रह्मस्वरूप हो जाती हैं। जैसे प्रकाश और अंधकार दोनों एक साथ नहीं रह सकते हैं, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान और इच्छा एक साथ नहीं रह सकते हैं। इच्छाओं के अत्यन्त क्षीण हो जाने पर आत्मानन्द का अनुभव होने लगता है। जब तत्त्वज्ञानी को भोग पदार्थ में स्वाद का अनुभव न होने लगे, सारा दृश्य जगत् फीका लगने लगे, तब उसकी इच्छाएँ रुक जाती हैं तथा वह एकता-अनेकता अर्थात् द्वैत-अद्वैत से मुक्त होकर शांत हो जाता है।

अज्ञानी जीव को अपने ही संकल्प से द्वैत की प्रतीति होती है, तब उसकी अद्वैत की भावना नष्ट हो जाती है। संकल्प से ही एक वस्तु में द्वैत की प्रतीति होती है, परन्तु अद्वैत की भावना से इस जगत् का स्वरूप नष्ट हो जाता है। विशुद्ध आत्मा में द्वैत नहीं रहता है। जो वस्तु अपने संकल्प से बनाई गई है वह वस्तु संकल्प के अभाव में नष्ट हो जाती है। जीवात्मा को जो दुःख प्राप्त हुआ है, उसका कारण स्वयं का संकल्प ही है। जब समाधि के अभ्यास द्वारा उसमें संकल्प का अभाव होने लगता है, तब उसका सांसारिक दुःख भी कम होने लगता है। जितना दुःख कम होगा उतनी ही ज्यादा सुख की प्राप्ति होगी। इसलिए अविवेक के कारण जो संकल्पों का प्रवाह है, इसको रोक देना चाहिए। संकल्पों का प्रवाह रुकने से चित्त में स्थिरता आएगी तथा चित्त की स्थिरता से शांति प्राप्त होती है। जब निरूद्धावस्था में संकल्पों का अभाव हो जाता है, तब यह संसार न जाने कहाँ (ब्रह्म में) विलीन हो जाता है। मनुष्य मोह और तृष्णा के कारण सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति हेतु संकल्प करता रहता है, इसलिए मोह और तृष्णा रूपी संकल्प को निरुद्ध कर देना चाहिए। जीवात्मा अज्ञान के कारण ही अपने संकल्पों के द्वारा सांसारिक बन्धन में फँस गया है, वास्तव में वह ब्रह्म से अभिन्न है। अभ्यास के द्वारा परमात्म-स्वरूप की अनुभूति करके संसार रूपी बन्धन से सदैव के लिए मुक्त हो जाता है।

तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में यह सम्पूर्ण संसार भ्रम रूपी ही है, मगर अज्ञानियों की दृष्टि में यह सत्य दिखाई दे रहा है, परन्तु सत्य दिखाई देने का कारण स्वयं उसके चित्त की वृत्तियाँ हैं। जब चित्त से वृत्ति स्पन्दित होकर प्रकट होती है, तब संसार का स्वरूप धारण कर लेती है। अपने निजस्वरूप में स्थित होने के

लिए चित्त का विनाश करना आवश्यक है। चित्त के विनाश के लिए दो प्रकार के उपाय हैं। इनमें से एक उपाय है– अभ्यास के द्वारा प्राणों का स्पन्दन रोक दिया जाए तो चित्त का विनाश हो जाएगा। जिस प्रकार जल पृथ्वी में सभी ओर से प्रवेश करके व्याप्त होता है, उसी प्रकार इस शरीर में विद्यमान असंख्य नाड़ियों में सभी ओर से प्राण वायु प्रवेश करके व्याप्त होती है। शरीर के समस्त अंग प्राण के स्पन्दन से कार्य करते हैं। प्राण के स्पन्दन से ही चित्त का स्पन्दन होता है। चित्त के स्पन्दन से ही सांसारिक पदार्थों की अनुभूतियाँ होती हैं अर्थात् चित्त का स्पन्दन प्राण के स्पन्दन के अधीन है। अभ्यास के द्वारा प्राण का स्पन्दन रोक दिया जाए तो चित्त पर स्थित वृत्तियाँ (मन) अवश्य निरुद्ध हो जाएँगी। मन अथवा संकल्प के अभाव में संसार की अनुभूति नहीं होगी, फिर यह संसार नष्ट हुए के समान हो जाएगा।

प्राणायाम के अभ्यास से प्राण वायु निरुद्ध होने लगती है। किसी अनुभवी पुरूष के मार्गदर्शन में ही प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। प्राणों का स्पन्दन समाधि द्वारा रुक जाता है, इसलिए साधक को ईश्वर के अर्थ स्वरूप का चिंतन करना चाहिए। समाधि में जब शब्द और ज्ञान का प्रवाह रुककर अर्थ में विलीन हो जाता है, तब अर्थ में स्थिति होने पर चित्त का स्पन्दन रुकने लगता है। जब साधक का ब्रह्मरन्ध्र खुल जाता है, तब प्राण और मन दोनों एक साथ ब्रह्मरन्ध्र के अन्दर चले जाते हैं। उस समय निर्विकल्प समाधि लगती है, तब प्राणों का स्पन्दन रुक जाता है। समस्त संकल्प विकल्प रहित होने पर कोई नाम रूप नहीं रहता है। अत्यन्त सूक्ष्म चिन्मय आकाश स्वरूप ब्रह्म का ध्यान करने पर सारे विषय विलीन हो जाते हैं, तब प्राण वायु का स्पन्दन निरुद्ध होने लगता है।

इस जगत् का निर्माण प्राण तत्त्व से हुआ है। प्राण तत्त्व से बना हुआ जगत् आकाश तत्त्व में अधिष्ठित है। प्रलय के अन्त में यह जगत् आकाश तत्त्व में विलीन हो जाता है। प्राण तत्त्व आकाश तत्त्व को अधिष्ठित कर जगत् की रचना करता है। आकाश सर्वव्यापक व सर्वशक्तिमान है, इसी तरह प्राण वायु भी इस जगत् की सर्वसमर्थ व सर्वव्यापक अभिव्यंजिका शक्ति है। जगत् में जो गुरूत्व शक्ति, आकर्षण शक्ति, संकल्प शक्ति, नाड़ी प्रवाह आदि जितनी भी शक्तियाँ हैं, वे सब-की-सब प्राण नामक शक्ति की भिन्न-भिन्न अभिव्यंजिका शक्तियाँ हैं। प्राण विश्व की मानसिक और शारीरिक तथा सभी प्रकार की शक्तियों की समष्टि हैं। प्राण ही प्रत्येक जीव की जीवन-शक्ति है तथा वह विचारों के प्रवाह में, नाड़ियों के प्रवाह में, श्वाँस के आवागमन में, शारीरिक क्रिया के रूप में व्यक्त हो रही है। जो मनुष्य सारे दुःखों से छुटकारा प्राप्त करना चाहते हैं तथा आनन्द की अनुभूति करना चाहते हैं, उन्हें प्राणों को अपने

अधीन करना होगा। प्राणों को अपने अधीन करने से चित्त के आवरण व मल नष्ट हो जाएँगे। चित्त के निर्मल होने पर आलौकिक ज्ञान की प्राप्ति होती है तथा सारे दुःखों से निवृत्ति मिल जाती है।

अभ्यासी पुरूष की जब संसार से विरक्ति होने लगती है तब सांसारिक पदार्थों के भोगों की तृष्णा नष्ट होने लगती है तथा भोग पदार्थ नीरस लगने लगते हैं और श्रेष्ठता का उदय होने लगता है। अन्त:करण में ईश्वर प्राप्ति की श्रद्धा जाग्रत हो जाती है। उस समय विवेकी पुरूष धन आदि की कामना नहीं करता है। यदि ऐसे पुरूष के पास सम्पत्ति हो भी तो वह उसको भी त्याग देता है। इन्द्रियों के भोग रूपी विषय बार-बार उसकी इन्द्रियों के सम्पर्क में आते हैं मगर उनकी अनुभूति नहीं होती है, क्योंकि उसका मन सर्वथा शांत बना रहता है। विवेकी पुरूष इस संसार में जहाँ कही भी जाता है, ठहरता है एवं रहता है, वहाँ-वहाँ तत्त्वज्ञान अथवा ज्ञान से सम्बन्धित खोज करता रहता है। सांसारिक पुरूषों को उसका हाव-भाव, व्यवहार आदि चाहे जैसा लगे अथवा कुछ संदिग्ध या पागलों जैसा लगे, मगर उस संसार से वह सार-वस्तु की खोज करता रहता है। इसे साधारण पुरूष नहीं समझ सकते हैं। धीरे-धीरे अभ्यास के बल से शांत विवेकी पुरूष स्वयं ही परम् पद स्वरूप परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

साधक के अभ्यास काल में एक समय ऐसा भी आता है जब परमात्मा अपने विवेक नामक दूत को साधक के पास भेजता है। विवेक नामक दूत साधक को ज्ञान का उपदेश भी देता है। यह दूत साधक को सदा आनन्द देने वाला होता है, फिर यह हृदय गुफ़ा में (हृदय गुफ़ा) ऐसे स्थित हो जाता है जैसे आकाश में चन्द्रमा स्थित रहता है। यही विवेक वासना युक्त अज्ञानी जीव को ज्ञान प्रदान करता रहता है। धीरे-धीरे वह संसार सागर से पार कर देता है। यही ज्ञान स्वरूप अन्तरात्मा ही सबसे बड़ा परमात्मा है। यही परमात्मा सर्वत्र विचरण करता है, जागता है, देखता है, इसलिए कहा गया है कि इसके आँख, कान, हाथ, पैर, सर्वत्र व्याप्त हैं। इसका वर्णन गीता के 13वें अध्याय के 13वें श्लोक में भी किया गया है। विवेक द्वारा चित्त को नष्ट हुए के समान करके जीव को अपनी दिव्य अनिर्वचनीय स्थिति तक पहुँचा देता है। इसलिए अभ्यासी को सम्पूर्ण संकल्प-विकल्पों, विचारों तथा अर्थ-संकटों को छोड़कर अपने अभ्यास के बल पर अर्थात् अपने पुरूषार्थ से परामात्मा को प्राप्त कर लेना चाहिए।

यह संसार सागर तृष्णा रूपी तरंगों से चंचल हो रहा है। मन रूपी प्रचण्ड वायु थपेड़े मार रही हैं। सम्पूर्ण भूत रूप जल कणों से व्याप्त हैं। इन्द्रियाँ रूपी मगरमच्छ इसमें रहने के कारण यह ओर भी गहन हो गया है। इस संसार सागर को पार करने के लिए विवेक ही जहाज रूपी साधन है। ईश्वर पहले विवेक रूप दूत भेजता है फिर परमार्थ वस्तु के उत्तम ज्ञान से जीव को सर्वोच्च पद तक पहुँचा देता है। जिनका विवेक

पुष्ट हो गया हो तथा जिन्होंने वासना रूपी बुराई का त्याग कर दिया हो, उनके अन्दर ब्रह्मानुभूति होने लगती है। वैराग्यवान पुरूष का ही विवेक युक्त विचार सफल होता है। विवेक से पहले राग-द्वेष का नाश होता है, इसके पश्चात विषय भोगों के लिए प्रयत्न सर्वथा क्षीण हो जाता है। जिस अभ्यासी का विवेक जाग्रत है, वही पुरूष परम्-पवित्र है।

परमात्मतत्त्व का यथार्थ ज्ञान आशारूपी घास-फूस भस्म करके के लिए अग्नि स्वरूप है। परमात्मा के तत्त्व को जानने वाले तत्त्वज्ञानी अचल परा-प्रज्ञा को ही समाधि कहते हैं। वह एकाग्र, सदैव तृप्त, सत्य और अर्थ को ग्रहण करने वाली है। प्रज्ञा क्षोभ रहित, अहंकार शून्य, सुख-दुःख आदि से परे रहने वाली स्थिरता से युक्त है। चिंता से शून्य, अभिष्ट पदार्थों को प्राप्त करने वाली तथा परमात्मा भाव से पूर्ण रहती है। मन जब तत्त्वज्ञान के साथ सदा के लिए अन्तर्मुखी हो जाता है, तब तत्त्वज्ञानी की समाधि सदा बनी रहती है। जैसे सूर्य दिन भर प्रकाश देता रहता है उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी की प्रज्ञा जीवनपर्यन्त परमार्थतत्त्व के पदार्थ दर्शन से विश्राम नहीं लेती है अर्थात् सदैव परमात्मज्ञान से परिपूर्ण रहती है। जैसे नदी के पानी की धारा निरन्तर बहती रहती है, उसी तरह तत्त्वज्ञानी की दृष्टि क्षणमात्र के लिए परमात्मा के स्वरूप ज्ञान से अलग नहीं होती है, बल्कि सदैव एक रस बनी रहती है। तत्त्वज्ञानी की बुद्धि कभी अपने स्वरूप को भूलती नहीं है।

निर्विकल्प समाधि के फलस्वरूप साधक को ऋतम्भरा-प्रज्ञा प्राप्त होती है। विशेष अर्थ वाली होने के कारण यह प्रज्ञा श्रुति और अनुमान जन्य प्रज्ञा से अन्य विषय वाली होती है। साधारण बुद्धि के द्वारा अनुमान किए हुए विषयों से भी इस बुद्धि के द्वारा विशेष अर्थ का अर्थात् यथार्थ अर्थ का अनुभव होता है। ऋतम्भरा-प्रज्ञा के द्वारा उत्पन्न हुए ज्ञान से संसार के पदार्थों में वैराग्य उत्पन्न होकर चित्त में स्थित विक्षेपों का अभाव हो जाता है। ऋतम्भरा-प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार अन्य दृश्य जन्य संस्कारों के बाधक होते हैं। प्रज्ञा के संस्कारों द्वारा विषय सहित चित्त की समस्त वृत्तियों को भूल जाने का अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार अभ्यास करते-करते दृश्य का अत्यन्त अभाव हो जाता है। दृश्य के अत्यन्त अभाव करने वाली वृत्ति का भी अभाव (स्वमेव निरोध) हो जाता है। इस प्रज्ञा के विषय में व्यास जी कहते हैं- *"अध्यात्म प्रसाद की परिपक्व अवस्था के लाभ होने पर प्रज्ञा का लाभ होता है। यह प्रज्ञा 'अन्वर्थ है' के सत्य को ही विषय करने वाली है। इसमें अविद्या की गन्ध का नाम नहीं रहता है। यह प्रज्ञा अद्वितीयत्व-असंगत्वादि, विशेष-विषयक होने से श्रुति और अनुमान जन्य प्रज्ञा से अन्य विषयक है। इस तत्त्व साक्षात्कार रूपी प्रज्ञा*

के लाभ होने से पुन: नवीन संस्कार पैदा होता है। यह तत्त्व साक्षात्कार जन्य संस्कार, व्युत्थान संस्कार आशय का बोध कराता है''।

शरीर विज्ञान के अनुसार हर पुरूष के अन्दर स्त्री तत्त्व छिपा रहता है तथा हर स्त्री के अन्दर पुरूष तत्त्व छिपा रहता है। पुरूष में स्त्री तत्त्व कितना होता है अथवा स्त्री में पुरूष तत्त्व कितना होता है, यह निश्चित रुप से कहना मुश्किल है, क्योंकि हर पुरूष में स्त्री तत्त्व की मात्रा भिन्न-भिन्न होती है। यदि किसी पुरूष में स्त्री का प्रतिशत ज्यादा पाया जाता है तो स्त्री तत्त्व की झलक उसके स्वभाव में दिखाई देने लगती है। इसी प्रकार स्त्रियों में यदि पुरूष तत्त्व का प्रतिशत निश्चित मात्रा से अधिक विद्यमान है तो स्त्री के स्वभाव में पुरूषत्व झलकने लगता है। मैंने अपनी पिछली पुस्तक **'योग कैसे करें'** में कई अनुभव लिखे हैं। ध्यानावस्था में मैं सुन्दर स्त्री बना गया, फिर स्त्री बन कर इधर-उधर घूम रहा हूँ आदि। ऐसे अनुभव आने का कारण यह है कि उस समय हमारे ध्यान की अवस्था उस कोष में पहुँच गई थी जो स्त्री तत्त्व से सम्बन्धित था। इसलिए हमें स्त्री से सम्बन्धित अनुभव आते थे। जिसका ह्रदय विवेक से व्यापक हो गया है, उस तत्त्वज्ञानी पुरूष को नारी शरीर में कोई आर्कषण नहीं होता है। अतः विवेक बुद्धि से सम्पन्न कोई भी पुरूष आसक्ति से प्रेरित होकर कभी स्त्री मोह में नहीं फंसेगा। स्त्री का शरीर पंचभूतों का पिण्ड मात्र है। इस स्त्री शरीर रूपी पिण्ड में पुरूषों को कौन-सी विशेषता प्रतीत होती है जिससे पुरूषों के विकारों में गिरने की चेष्टा को उचित कहा जाए? स्त्री की सुन्दरता, रूप लावण्यता और शरीर संगठन को लेकर जो विलक्षणता दिखाई देती है, उससे तो केवल अज्ञानी ही आनन्दित होता है। ज्ञानी पुरूषों को वह पंचभूतों का पिण्ड ही दिखाई देता है। जिस प्रकार पत्थर की दो प्रतिमाओं का आपस में आलिंगन होने पर भी उसमें राग नहीं होता है, उसी प्रकार चित्त और शरीर का आपस में आलिंगन होने पर आपस में राग नहीं होना चाहिए। जिस प्रकार पत्थर की प्रतिमाओं में आपस में स्नेह नहीं हो सकता है, वैसे ही देह इन्द्रियों और प्राणों में भी आपस में स्नेह सम्बन्ध नहीं है। जीवात्मा चित्ताकृत को प्राप्त कर देह और प्राणियों से संयोग करता है। जिस समय जीवात्मा यथार्थ ज्ञान के द्वारा विषय रुपता का परित्याग करके स्वयं ही विशुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है, उस समय सम्पूर्ण भूत प्राणियों में आसक्ति से रहित जीवात्मा साक्षी हुआ देह को आत्मा से भिन्न देखता है तथा भूत समूह को अपने से पृथक देखकर अविनाशी आत्मा देहातीत हो जाता है।

तत्त्वज्ञानी पुरूष को विषयोपभोग आनन्द नहीं पहुँचा सकते हैं। जिस तत्त्वज्ञानी के प्रति सुन्दर स्त्रियाँ अनुरक्त हैं, ऐसे उदार बुद्धि तत्त्वज्ञानी पुरूष के अन्त:करण में काम वासना के बाण छिन्न होकर धूल के

समान हो जाते हैं। उन सुन्दर स्त्रियों का उस पर कोई असर नहीं होता है। तत्त्ववेत्ता पुरूष रूप लावण्य युक्त स्त्री को मिट्टी की प्रतिमा की तरह समझते हैं, क्योंकि मिट्टी की प्रतिमा में स्त्री के अवयव, रंग-रूप पंचभूतों को छोड़कर और कुछ भी नहीं होते हैं। इसलिए मिट्टी की प्रतिमा और जीवित सुन्दर स्त्री में तत्त्वतः समानता है। तत्त्व को जानने वाले विवेकशील पुरुष का जीवित सुन्दर स्त्री के उपयोग में आग्रह कैसे हो सकता है? विशुद्ध ब्रह्म तत्त्व में स्थित तत्त्वज्ञानी पुरूष उस परमात्म स्वरूप में ही मग्न रहता है।

कुछ संसारी पुरूष थोड़ा-सा धन एकत्र करके मदान्ध हो जाते हैं। उनकी सोच होती है कि हमारे जैसा श्रेष्ठ पुरूष इस संसार में नहीं है। हमने धन को एकत्र करके अपने जीवन की उन्नति कर ली है। इसे वे अपने जीवन का लक्ष्य प्राप्त करना समझते हैं। ऐसे पुरूष समाज में अपना अधिपत्य स्थापित करने के लिए खूब हाथ-पैर पटकते रहते हैं। वह यह भूल जाते हैं कि यदि धनवान पुरूष ही श्रेष्ठ होता तो वह परम् शांति को प्राप्त कर लेता। परन्तु जो जितना धनवान होता है वह उतना ही अशांत होता है। तो फिर ऐसे अशांत पुरूष को श्रेष्ठ कैसे कहा जा सकता है? ऐसे पुरूषों को याद रखना चाहिए कि धन तो विभिन्न प्रकार से (अधर्म आदि) एकत्र किया जाता है, तो क्या उन्हें श्रेष्ठ पुरूष की संज्ञा दी जाए? कुछ ऐसे धनवान होते हैं जिनमें श्रेष्ठ होने के गुण भी नहीं होते हैं। बाहर से वह जैसे दिखाई देते हैं, अन्दर से वह कुछ और ही होते हैं। धन चाहे जिस प्रकार से एकत्र किया गया हो वह अज्ञानता के अन्तर्गत आता है। कुछ महापुरूषों के जीवन पर ध्यान दें तो शिक्षा मिलेगी कि उन्होंने परम् शांति प्राप्त करने के लिए अपना राज्य भी त्याग दिया था। उसके बाद कठोर साधना के द्वारा परम् शांति को प्राप्त हुए। धन एकत्र करने की तृष्णा जीवन में कभी समाप्त नहीं होती है, बल्कि सांसारिक बन्धन और भी मजबूत होता जाता है।

ईश्वर ने स्पन्दन शक्ति सम्पन्न सृष्टि के आदि में सुख-दुःख आदि प्रारब्ध भोग रूपी कर्म का इस रूप में विधान कर दिया है कि जीव को उसके कर्मानुसार इतने समय तक भोगने के लिए सुख-दुःख प्राप्त होगा। उसी के अनुसार प्रकृति में व्यवस्थापूर्वक क्रिया हो रही है। जिस समय नाड़ियों में प्रवेश की हुई वायु बाहर नहीं निकलती है और बाहर निकली हुई वायु अन्दर प्रवेश नहीं करती है, उस समय स्पन्दन शक्ति रुक जाती है अर्थात् हृदय स्पन्दन करना बन्द कर देता है। तब नाड़ी शून्य हो जाने के कारण प्राणी की मृत्यु हो जाती है। जब तक मुनष्य में अविद्या रहेगी तब तक जन्म मृत्यु के चक्र में घूमता रहेगा तथा इस चक्र का घूमना बन्द नहीं होगा। जीवात्मा न जन्मता है और न ही मरता है। वह स्वप्न के समान केवल भ्रम से ही जन्म मृत्यु को देखता हैं क्योंकि जीवात्मा तो केवल चेतन मात्र है। चेतन के अतिरिक्त ओर कुछ माना नहीं जा सकता है। चेतन तत्त्व की कभी मृत्यु नहीं होती है, वह तो अविनाशी है। मृत्यु तो केवल शरीर की

होती है, परन्तु चेतन अविनाशी ही बना रहता है। वास्तव में न कोई जन्म लेता है और न ही कोई मरता है। जीव केवल वासना रूपी आर्वत के गड्ढ़ों में गोते लगाता रहता है। जगत् से भयभीत होकर जीव जब अभ्यास द्वारा भ्रम वश प्रतीत होते हुए संसार के वास्तविक स्वरूप को सम्यक रूप से समझ लेता हैं कि वास्तव में संसार का अस्तित्व ही नहीं है, वह अविद्या के कारण प्रतीत हो रहा है, तब वह पूर्णतया वासनाओं से रहित होकर मुक्त हो जाता है। इसलिए आत्म-स्वरूप ही सत्य है, बाकी सब असत्य है।

अगर किसी को मारना या नष्ट करना है तो अवश्य मारो, मगर वह है अज्ञानता। अज्ञानता की मृत्यु कर दो। जीव को कब तक अज्ञानता की गहरी नींद में सुलाते रहोंगे, इसे नींद से जगा दो। जीव से कहो- जागो कब तक सोते रहोंगे, तुम अनन्त काल से सो रहे हो, अब तुम्हें जागना होगा। अपनी सोने की आदत को सदैव के लिए त्याग दो। अज्ञान रूपी अंधकार नष्ट हो गया है, ज्ञान रूपी प्रकाश फैल चुका है। तुम्हारी निद्रा का समय अब समाप्त हो चुका है, तुम्हें अब कभी भी निद्रावस्था में जाने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। अपने निजस्वरूप में स्थित होने के लिए तैयार हो जाओ। तुमने अज्ञानता का आवरण क्यों ओढ़ रखा है? इस आवरण को सदैव के लिए फेंक दो। इस आवरण के दूर होते ही अपने आपको एक ऐसे ज्ञान रूपी प्रकाश में पाओंगे जहाँ कभी अज्ञान रूपी अंधकार उपस्थित नहीं होता है। जैसे ही जीव अज्ञानरूपी निद्रा से जागेगा, उसे अपने स्वरूप का भान होने लगेगा कि वह ईश्वर का पुत्र होने के कारण ईश्वर के ही समान स्वरूप वाला है। उसकी अज्ञानता नष्ट हो जाने पर उसके अन्दर व्यापकता आ जाएगी, फिर वह जीव से जीवेश्वर स्वरूप में स्थित हो जाएगा। यह सदैव याद रखना चाहिए कि जीव कभी भी ईश्वर के समान नहीं बन सकता है, क्योंकि जीव का सम्बन्ध अपरा-प्रकृति से है अर्थात् जीव का चित्त अपरा-प्रकृति द्वारा बना होता है। इसमें गुण परिणाम अवस्था में रहते हैं, इसलिए जीव की यह अवस्था परिणाम द्वारा प्राप्त हुई है। जीव को ज्ञान भी परिणाम द्वारा प्राप्त हुआ है। ईश्वर का सम्बन्ध परा-प्रकृति से है अर्थात् ईश्वर का चित्त परा-प्रकृति के द्वारा बना हुआ है। परा-प्रकृति में गुण साम्यावस्था में रहते हैं, इसलिए ईश्वर का ज्ञान नित्य है। नित्य ज्ञान होने के कारण ईश्वर जीव पर शासन करता है। ईश्वर के अन्दर शक्तियाँ पूर्ण रूप से विद्यमान रहती है। जीव (जीवेश्वर) की शक्तियाँ अंश रूप में होती हैं, वैसे ईश्वर और जीव मूलरूप से (चेतन रूप से) एक ही हैं। ईश्वर का सम्बन्ध परा-प्रकृति से तथा जीव का सम्बन्ध अपरा-प्रकृति से होने के कारण ईश्वर का अंश कहा जाता है, क्योंकि अपरा-प्रकृति परा-प्रकृति की अंश मात्र है। इसलिए ईश्वर पिता है और जीव पुत्र है।

बहुत से जिज्ञासुओं ने हमारे अगले जन्म ग्रहण करने के विषय में ढेरों प्रश्न किए। उन्होंने हमसे पूछा कि आपने अपनी दूसरी पुस्तक के अन्तिम अनुभव में लिखा है– **अगला जन्म लेना अनिवार्य है**, मगर वर्तमान समय में आपने ब्रह्म साक्षात्कार कर लिया है अर्थात् तत्त्वज्ञान से युक्त हैं और तत्त्वज्ञानी जन्म ग्रहण नहीं करते हैं, क्योंकि वे आवागमन से मुक्त हो परम्पद को प्राप्त कर लेते हैं। दोनों बातें आपस में विरोधी हैं, फिर सत्य क्या है? इस प्रश्न का उत्तर मैं नहीं देना चाहता था मगर हमसे बहुत से लोगों ने यह प्रश्न किया है। इनमें से बहुत से पी.एच.डी. के छात्र व वैज्ञानिक हैं। यहाँ पर मैं उत्तर देने का प्रयास कर रहा हूँ। यह अनुभव मैंने सन् 1999 में लिखा था। उस समय योग में हमारी जो अवस्था थी, उसके अनुसार तो जन्म लेना आवश्यक था। मगर अब वर्तमान में मेरी जो अवस्था है, उसके अनुसार जन्म लेने का प्रश्न ही नहीं उठता है। स्थूल शरीर त्यागने के पश्चात मैं निर्गुण ब्रह्म में लीन नहीं होना चाहता हूँ, अपरा-प्रकृति का त्याग करके ईश्वर के लोक में (परा-प्रकृति में) अनन्त काल तक रहूँगा। यदि आदि शक्ति ने (परा-प्रकृति) जीवों के कल्याण हेतु इस लोक में आने के लिए कहा तो अवश्य ही इस लोक में अपरा-प्रकृति को अपने अधीन करके जन्म धारण कर लूँगा। ऐसा होगा अथवा नहीं होगा, यह मुझे निश्चित रूप से स्थूल शरीर त्यागने से पहले ज्ञात हो जाएगा। इन पंक्तियों को लिखते समय हमारी यही सोच है कि यदि जीवों के कल्याण हेतु भूलोक पर आना पड़ा तो अवश्य आऊँगा।

प्रकृति

अद्वैतवादी प्रकृति की सत्ता को ब्रह्म से अलग नहीं मानते हैं, बल्कि उसी में आरोपित मानते हैं। जैसे– रस्सी में साँप और सीप में चाँदी की सत्ता आरोपित है। प्रकृति को अनिर्वचनीय माया या अविद्या मानते हैं, जो न सत्य है और न असत्य है। सत्य इसलिए नहीं कि मोक्ष अवस्था में प्रकृति का नितांत अभाव हो जाता है। असत्य इसलिए नहीं क्योंकि सारा व्यवहार प्रकृति में ही चल रहा है। द्वैतवाद में प्रकृति को एक स्वतन्त्र तत्त्व मानते हैं। मोक्ष की अवस्था में इसका नाश केवल मोक्ष वालों के लिए होता है। इसका अपने स्वरूप से अभाव नहीं होता है। जो मोक्ष अवस्था को प्राप्त नहीं हुए हैं, उनके लिए प्रकृति बनी रहती है। अद्वैतवाद और द्वैतवाद में प्रकृति के विषय में सिर्फ शब्दों का उलटफेर ही है, क्योंकि जगत् का उपादान कारण प्रकृति ही सिद्ध होती है। इसे चाहे सत्य कहो, चाहे असत्य कहो, चाहे सत्य और असत्य से विलक्षण कहो।

प्रकृति ने अपने आपको दो भागों में अलग-अलग रूप में विभक्त कर लिया है। इन दोनों प्रकृतियों का स्वभाव भी आपस में भिन्न-भिन्न व असमानता से युक्त हैं। प्रकृति का जो मूलस्वरूप है उसे परा-प्रकृति कहते हैं। प्रकृति के दूसरे स्वरूप को अपरा-प्रकृति कहते हैं। परा-प्रकृति में तीनों गुण साम्यावस्था में रहते हैं। गुणों की साम्यावस्था के कारण परा-प्रकृति में किसी प्रकार का परिणाम नहीं होता है, क्योंकि गुण आपस में समान रूप से रहते हैं तथा एक दूसरे पर दबाव नहीं देते हैं। परा-प्रकृति ईश्वर का विशुद्ध सत्त्वमय चित्त है। परा-प्रकृति को कारण जगत् (महाकारण जगत्), कारण लोक, आदित्य लोक आदि विभिन्न नामों से जाना जाता है। अपरा-प्रकृति में तीनों गुण विषमावस्था में रहते हैं। विषमावस्था के कारण तीनों गुण आपस में एक दूसरे को दबाते रहते हैं। इसी विषमावस्था के कारण अपर प्रकृति में सदैव परिणाम होता रहता है। यह परिणाम प्रतिक्षण बिना रूके सदैव होता रहता है। इसलिए यह संसार परिणामी कहा गया है। इस अपरा-प्रकृति के अन्तर्गत ब्रह्मलोक से लेकर पाताल लोक तक आता है। ब्रह्मलोक से लेकर पाताल लोक तक जितने भी प्राणी आते हैं, वह सभी जन्म-आयु और मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

चेतन तत्त्व की निकटता से ही जड़तत्त्व प्रकृति में ज्ञान व व्यवस्था पूर्वक क्रिया हो रही है। इस प्रकृति में एक प्रकार का क्षोभ भी हो रहा है, जिससे प्रकृति में चित्त, चित्त में अहंकार, अहंकार में तन्मात्राओं और इन्द्रियों का और तन्मात्राओं में सूक्ष्म पंचभूत व सूक्ष्म पंचभूत में स्थूल पंचभूतों तक परिणाम हो रहा है। जड़ में इन सब परिणामों का निमित्त कारण जीवात्मा है। इन सारे परिणामों का प्रयोजन भी जीवात्मा के लिए भोग व अपवर्ग है। गीता के तीसरे अध्याय के सत्ताइसवें व अट्ठाइसवें श्लोक में

भगवान् श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं– *''सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किए जाते हैं। फिर भी अहंकार से मोहित हुआ जीवात्मा ऐसा मान लेता है कि 'मैं कर्ता हूँ'। परन्तु हे महाबाहो! गुण विभाग (स्थूल पंचभूत से लेकर चित्त तक) और कर्म विभाग (स्थूल पंचभूत से लेकर चित्त तक की चेष्टाएँ) के तत्त्व को जानने वाले ज्ञानी पुरूष सम्पूर्ण गुण गुणों में वर्त रहे हैं, ऐसा जानकर आसक्त नहीं होता है''।*

परा-प्रकृति (मूल-प्रकृति) की सत्ता साम्य परिणाम वाली है अर्थात् सत्त्वगुण का सत्त्वगुण में, रजोगुण का रजोगुण में और तमोगुण का तमोगुण में परिणाम हो रहा है। इस मूल प्रकृति का प्रत्यक्ष न होने के कारण जीवात्मा के लिए प्रयोजन से रहित है। जीवात्मा का प्रयोजन भोग और अपवर्ग है। भोग गुणों के परिणामों का यथार्थ रूप से साक्षात्कार होता है। अपवर्ग जीवात्मा की अपने स्वरूप में अवस्थिति है, बिना गुणों का साक्षात्कार किए जीवात्मा का अपने स्वरूप में अवस्थिति होना बिल्कुल असम्भव है। परा-प्रकृति के साम्य परिणामों का प्रत्यक्ष न होने से सिर्फ अनुमान द्वारा जाना जा सकता है। परा-प्रकृति विकृति नहीं है, केवल प्रकृति है। इसे समष्टि, अव्यक्त व प्रधान भी कहते हैं। अपरा-प्रकृति में गुणों का परिणाम हो रहा है। परिणामों का प्रत्यक्ष होने के कारण यह व्यक्त रूप में है। गीता में भगवान् श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं–

> *''प्रकृति में स्थित हुआ जीवात्मा प्रकृति उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक पदार्थों को भोगता है और इन गुणों का संग ही इस जीवात्मा के अच्छी बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण है। जब जीवात्मा के साथ सत्त्वगुण प्रधान रूप में होता है तब रजोगुण व तमोगुण गौण रूप में रहते हैं, तब उनका जन्म देव योनियों में होता है। जब जीवात्मा के साथ रजोगुण प्रधान रूप में रहता है तब सत्त्वगुण व तमोगुण गौण रूप में रहता है, तब जीवात्मा का जन्म मनुष्य योनि में होता है। जब जीवात्मा के साथ तमोगुण प्रधान रूप में रहता है तब सत्त्वगुण व रजोगुण गौण रूप में रहते हैं, तब उसका जन्म पशु-पक्षी, कीट-पतंगे आदि निम्न कोटि की योनियों में होता है''।*

अपरा-प्रकृति में अनुलोम और प्रतिलोम दो प्रकार के स्वाभाविक परिणाम होते हैं, जो पुरूषार्थ कर्तव्यता कहलाते हैं। यह परिणाम रूप शक्ति प्रकृति में स्वाभाविक हैं। अपरा-प्रकृति का बर्हिमुखी रूप से चित्त से लेकर पंच-महाभूत तक अनुलोम परिणाम है, फिर अपने कारण प्रवेश द्वारा चित्त तक प्रतिलोम परिणाम है। प्रतिलोम परिणाम में पृथ्वी का जल में, जल का अग्नि में, अग्नि का वायु में, वायु का आकाश में, इन्द्रियों का मन में, मन का बुद्धि में, बुद्धि का अहंकार में तथा अहंकार का चित्त में प्रवेश हो जाता है। इस विषय में आप हमारे अनुभवों को पढ़िए, तब भली प्रकार समझ में आ जाएगा। जीवात्मा के

भोगों की समाप्ति हो जाने से प्रकृति की दोनों शक्तियाँ स्वाभाविक ही (अनुलोम परिणाम व प्रतिलोम परिणाम) नष्ट हो जाती हैं, तब मुक्त जीवात्मा के प्रति प्रकृति कृतार्थ (अपने कार्य को समाप्त करने वाली) हुई। फिर परिणाम को आरम्भ नहीं करती है।

सृष्टि और प्रलय के समय तीनों गुणों की अवस्था विशेष होती है। स्थूल भूतों से लेकर तन्मात्राओं तक एक विशेष प्रकार की सूक्ष्म अवस्था होती है। स्थूल भूतों, सूक्ष्म भूतों और तन्मात्राओं का सदैव विशेष प्रकार का सूक्ष्म सम्बन्ध बना रहता है, इसी के अन्तर्गत सारे सूक्ष्म लोक आते हैं। प्रलय काल में केवल पृथ्वी का जल में, जल का अग्नि में तथा अग्नि का वायु में स्वरूप से लय हो जाता है। सृष्टि के समय ये सभी अपने स्वरूप से क्रमशः प्रकट हो जाते हैं। इसी प्रकार प्राणियों के सम्बन्ध में भी है। पाँचों स्थूल-भूत सूक्ष्म-भूतों में, पाँचों सूक्ष्म-भूत तन्मात्राओं में, तन्मात्राएँ अहंकार में, दसो इन्द्रियाँ मन में, मन बुद्धि में तथा बुद्धि अहंकार में क्रमशः लीन हो जाते हैं। प्रलय के समय रजोगुण पर तमोगुण का प्रभाव अधिक पड़ता है। फिर वर्तमान स्थूल रूप छोड़ कर क्रमशः अपने-अपने कारण में लीन हो जाते हैं। फिर सृष्टि के समय ये सभी (अहंकार से लेकर पंच-महाभूत तक) अपने कारण से क्रमशः विकृति रूप में प्रकट होने लगते हैं। प्रकट होते समय तमोगुण पर रजोगुण का प्रभाव अधिक हो जाता है। सृष्टि के बाद प्रलय और प्रलय के बाद सृष्टि यही क्रम प्रवाह अनादि काल से चला आ रहा है।

प्रकृति को जड़ तत्त्व भी कहते हैं। इस प्रकृति के मुख्य रूप से कई भाग किए जा सकते हैं। यही अपने आप को आठ प्रकृतियों के रूप में तथा सोलह विकृतियों के रूप में उत्पन्न किए हुए है। इसी प्रकृति से विकृति के रूप में चित्त उत्पन्न हुआ है, चित्त से विकृति रूप में अहंकार उत्पन्न हुआ है, अहंकार से विकृति रूप में तन्मात्राएँ, मन तथा दसों इन्द्रियाँ उत्पन्न हुई हैं तथा तन्मात्राओं से पंच-भूत उत्पन्न हुए हैं। मन, दसों इन्द्रियों व पंच-भूतों से विकृति के रूप में कोई नया तत्त्व उत्पन्न नहीं हुआ है, इसलिए ये सभी सोलह तत्त्व विकृति रूप में ही है। परा-प्रकृति किसी की विकृति नहीं है। चित्त प्रकृति की विकृति है मगर चित्त से विकृति के रुप में अहंकार उत्पन्न हुआ है। इसलिए चित्त अहंकार की प्रकृति है। अहंकार चित्त से विकृति रूप में उत्पन्न हुआ है, इसलिए अहंकार चित्त की विकृति है। मगर अहंकार से पंच तन्मात्राएँ उत्पन्न हुई है, इसलिए अहंकार पाँचों तन्मात्राओं की प्रकृति है। पाँचों तन्मात्राएँ अहंकार से उत्पन्न होने के कारण अहंकार की विकृति है। पाँचों तन्मात्राओं से विकृत रूप में पंच-महाभूत उत्पन्न हुए हैं, इसलिए पाँचों तन्मात्राएँ पंच-महाभूतों की प्रकृति है। पंच-महाभूत पाँचो तन्मात्राओं की विकृति है। अहंकार से दुसरे विकृति के रूप में मन व दसों इन्द्रियाँ उत्पन्न हुई है। इसलिए अहंकार मन व दसों इन्द्रियों की प्रकृति

है। चित्त, अहंकार, पाँचों तन्मात्राएँ प्रकृति व विकृति दोनों हैं। सोलह विकृतियों (मन, दसों इन्द्रियाँ व पंच-महाभूत) से कोई नया तत्त्व उत्पन्न नहीं हुआ, इसलिए ये सिर्फ विकृति है अर्थात् परा-प्रकृति सिर्फ वास्तव में प्रकृति है। सातों (चित्त, अहंकार और पाँचो तन्मात्राएँ) प्रकृति और विकृति हैं, सोलह विकृतियाँ (मन, दसों इन्द्रियाँ और पंच-महाभूत) हैं, इसलिए प्रकृति अपने आपको चौबीस मुख्य भागों में विभक्त किए हुए है। मैं एक बात स्पष्ट कर दूँ- कि परा-प्रकृति से ईश्वर के चित्त का निर्माण हुआ है, इसलिए ईश्वर का चित्त समष्टि रूप वाला है। व्यष्टि रुप से (अपरा-प्रकृति से) जीवों के चित्त का निर्माण हुआ है। सोलह विकृतियाँ सिर्फ विकृतियाँ इसलिए हैं, क्योंकि वह किसी की प्रकृति नहीं हैं, जबकि सारी स्थूल वस्तुएँ इन्हीं स्थूल भूतों के कार्य हैं। किन्तु पाँचों स्थूल-भूत अपने विकृति परिणाम से आगे कोई नया तत्त्व कारण रूप होकर नहीं बनाते हैं।

योग में काल और दिशा को जड़ तत्त्व नहीं माना है, क्योंकि ये वास्तविक तत्त्व नहीं हैं। काल और दिशा न प्रकृति हैं और न ही विकृति, और न ही इन दोनों को आत्मा के समान चेतन तत्त्व कहा जा सकता है अर्थात् काल और दिशा न तो जड़ तत्त्व है और न ही चेतन तत्त्व है। योग के अनुसार ये दोनों एक क्रम से दूसरे क्रम में और एक स्थान से दूसरे स्थान में आगे-पीछे, निकटता और दूरी बतलाने के लिए चित्त की निर्माण की हुई वस्तुएँ हैं। ये स्वयं अपना कोई अस्तित्व नहीं रखते हैं। मैं अपने अनुभव के द्वारा बता रहा हूँ कि साधक को चित्त का साक्षात्कार होने तक अनुभव के समय दिशाओं का ज्ञान बना रहता है।

यह सृष्टि चौदह प्रकार के प्राणियों से युक्त है। इनमें से प्रथम आठ प्रकार के प्राणियों की सृष्टि दैवी प्रकार की है। इस दैवी सृष्टि में सत्त्वगुण प्रधान रहता है। फिर मनुष्य की सृष्टि आती है जिसमें रजोगुण प्रधान रहता है। निचली पाँच प्रकार की सृष्टि तिर्यक योनियों की है, इसमें तमोगुण प्रधान रहता है। ऊपर की जो आठ प्रकार की सृष्टि है, वह भिन्न-भिन्न कर्मों व उपासना का फल है। ये आठों प्रकार की दैवी सृष्टि मनुष्यों से सूक्ष्म होने के कारण इनका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। मनुष्य से जो पाँच प्रकार की निम्न श्रेणी की तिर्यक सृष्टि है, उसका प्रत्यक्ष होता है। जो साधक वितर्कानुगत से (पंच-महाभूत साक्षात् के बाद) ऊँची प्रकाशमय विचारानुगत (सूक्ष्म महाभूत व तन्मात्राओं के अन्तर्गत) समाधि का अभ्यास कर रहे हैं, उन्हें (साधकों को) उनकी योग्यता के अनुसार इन आठ प्रकार की दैवी सृष्टि का साक्षात्कार होता है अथवा हो सकता है। अब यह बात ध्यान देने योग्य है कि विचारानुगत समाधि के अन्तर्गत सूक्ष्मता के स्तर में अंतर है, क्योंकि इस सूक्ष्मता के अन्तर्गत सूक्ष्म पंच-महाभूत व तन्मात्राएँ आती है। आपस में इनकी सूक्ष्मता में भारी अंतर है। इसी अंतर के अनुसार ही आनन्द की अनुभूति होती है अर्थात् सूक्ष्मता के

अनुसार ही आनन्द की अनुभूति में अंतर है। इस दैवी सृष्टि में पहले के छः प्रकार की सृष्टि में परस्पर काफी अंतर है। इसी अंतर के अनुसार आपस में आनन्द की अनुभूति तथा आयु में भी अंतर है। इन सभी छः प्रकार की सृष्टि में सारा कार्य संकल्पमय होता है। इन संकल्पों में परस्पर सूक्ष्मता और आनन्द के अनुसार अंतर है। ये सभी प्राणी भुवर्लोक, स्वर्ग लोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक और ब्रह्मलोक के अन्तर्गत आते हैं। चौदह प्रकार की सृष्टि के नाम इस प्रकार हैं–

1. ब्राह्म, 2. प्रजापत्य, 3. ऐन्द्र, 4. देव, 5. गन्धर्व, 6. पित्र्य, 7. विदेह, 8. प्रकृतिलय, 9. मनुष्य, 10. पशु, 11. पक्षी, 12. रेंगने वाले जन्तु, 13. कीट, 14. स्थावर।

विदेह और प्रकृतिलयों का आनन्द और सूक्ष्मता पहले के छः प्रकार की सृष्टि से अधिक हैं। इनकी आयु भी इनसे अधिक है, क्योंकि विदेह विचारानुगत से ऊँची आनन्दानुगत समाधि (अहंकार की भूमि) को सिद्ध किए हुए है तथा शरीर से अभिमान छोड़े हुए है। दूसरे शब्दों में निर्विचार (निर्विकल्प) समाधि की उच्चतर अवस्था प्राप्त किए होते हैं। प्रकृतिलय इनसे भी ऊँची अस्मितानुगत समाधि को सिद्ध किए हुए होते हैं, मगर प्राकृतिक बन्धन समाप्त नहीं हुआ होता है। इन्हें तत्त्वज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है। ऐसे योगियों को अपने स्वरूप में स्थित होने के लिए अगला जन्म ग्रहण करना अनिवार्य होता है। ये दोनों अवस्थाएँ सिर्फ योगियों को ही प्राप्त होती हैं। इस विषय में व्यास जी लिखते हैं- "विदेह और प्रकृतिलय नामक अवस्था कैवल्य की तुल्य स्थिति में है, इसलिए ये किसी दिव्य लोक में निवास करने वाले के साथ सम्मिलित नहीं किए गये हैं"। गीता में भगवान् श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं–

"ब्रह्मलोक से लेकर सब लोक (ब्रह्म लोक से लेकर पाताल लोक तक) पुनरावृर्ती स्वभाव वाले हैं, किन्तु हे अर्जुन! मुझ (शुद्ध चेतनतत्त्व पर ब्रह्म) को प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता है"।

प्रकृतिलय योगी का प्राकृतिक बन्धन समाप्त न हो पाने के कारण अपरा-प्रकृति के आवरण में विद्यमान रहते हैं, इसलिए ये किसी लोक (चौदह लोकों के) के निवासी नहीं कहे जाते हैं, क्योंकि सभी चौदह लोकों में स्थित प्राणियों से प्रकृतिलय की सूक्ष्मता व व्यापकता अधिक होती है।

अपरा-प्रकृति में ब्रह्मलोक से लेकर पाताल लोक तक चौदह लोक आते हैं, इनका अधिपति हिरण्यगर्भ होता है। हिरण्यगर्भ को प्रजापति व ब्रह्मा भी कहते हैं। सृष्टि का कार्य यही प्रजापति भगवान् ब्रह्मा ही करते हैं। इनका लोक ब्रह्म लोक कहा जाता है। साधना काल में जिस साधक की दिव्य दृष्टि अत्यन्त शक्तिशाली हो, वे ब्रह्म लोक का मध्य वाला भाग अवश्य देखें, क्योंकि इस लोक के मध्य वाले भाग का दृश्य बहुत अच्छा है। यहीं से सूक्ष्म वायु का प्रकट होना शुरू होता है। यहाँ पर शीतल सुगन्धित

वायु का प्रवाह सदा समान रूप से बहता रहता है। ब्रह्मा का स्थान लोक के ऊपरी भाग पर है। जितने लोक अपरा-प्रकृति के अन्तर्गत आते हैं, उनमें स्थित सभी प्रकार की जीवात्माएँ किसी-न-किसी की वासनाओं से युक्त होती हैं। चाहे वह प्राणी सूक्ष्म लोक में समाधि ही क्यों न लगाता हो, उन्हें भी बहुत अन्तराल के बाद भूख-प्यास लगती है। इस भूख और प्यास की अत्यन्त सूक्ष्म रूप से अनुभूति होती है। ऐसी जीवात्माएँ (स्वर्गलोक से लेकर ब्रह्मलोक तक ही) स्वयं अपने योगबल से अपनी इच्छानुसार पदार्थ प्रकट कर लेती हैं, फिर उसी को खा लेती हैं। यह पदार्थ (वस्तु) योग बल का बदला हुआ स्वरूप होता है अर्थात् सूक्ष्म लोक में स्थित जीवात्माएँ अपना पुण्य अथवा योगबल ही खाया करती हैं।

इन चौदह लोकों में स्थित विभिन्न प्रकार की जीवात्माएँ अपने-अपने कर्मानुसार दुःख और आनन्द की अनुभूति करती हैं। ऊपर के लोकों में दिव्य जीवात्माएँ रहती हैं। वे अपने लोकों में सूक्ष्मता के अनुसार आनन्द की अनुभूति करती हैं तथा इनकी आयु भी बहुत ज्यादा होती है। इन्हीं लोकों में साधक व भक्त रहते हैं मगर साधक व भक्तों का क्षेत्र अलग होता है। साधक व भक्त उन लोकों में समाधि लगाते हैं अथवा ईश्वर चिन्तन करते हैं। फिर उचित समय आने पर भूलोक पर जन्म ग्रहण करते हैं। जन्म ग्रहण करने के बाद ऐसी जीवात्माएँ योग का अभ्यास अथवा भक्ति करने लगती हैं। भूलोक से नीचे जो निम्न श्रेणी के लोक हैं, उन लोकों में ज्यादातर जीवात्माएँ कष्ट ही भोगा करती हैं, क्योंकि इन लोकों में जीवात्माओं को कष्ट भोगने के लिए ही भेजा जाता है। ये लोक प्रकाश से रहित अथवा धुँधले प्रकाश से युक्त होते हैं। धुँधले प्रकाश के कारण इनमें अधिक दूर का दृश्य दिखाई नहीं देता है। भूलोक से ऊपर के लोक (स्वर्ग लोक से लेकर ब्रह्म लोक तक) प्रकाशमान हैं। भुवर्लोक में कुछ क्षेत्र में प्रकाश रहता है, कुछ क्षेत्र घोर अंधकार से युक्त रहता है। ऊपर के लोकों में प्रकाश एक समान नहीं रहता है। ऐसा घनत्व के कारण होता है, क्योंकि इन लोकों का घनत्व क्रमशः कम होता जाता है। कम घनत्व होने के कारण सत्त्वगुण की मात्रा बढ़ने लगती है। जैसे-जैसे सत्त्वगुण की मात्रा बढ़ती जाएगी वैसे-वैसे प्रकाश बढ़ता जाएगा। यहाँ पर मैं एक महत्वपूर्ण बात लिख रहा हूँ कि ये सभी लोक न कहीं ऊपर हैं, न ही कहीं नीचे हैं। इन लोकों की भिन्नता घनत्वस्तर कम ज्यादा होने के कारण है। जैसे-जैसे घनत्व कम होता जाता है, वैसे-वैसे उर्ध्वता की अनुभूति होती है। जैसे-जैसे घनत्व का स्तर ज्यादा होता जाता है, वैसे-वैसे निम्नता की अनुभूति होती है। जितना घनत्व स्तर कम होगा उतना ही तमोगुण की मात्रा घटेगी और सत्त्वगुण की मात्रा बढ़ेगी। इसलिए उर्ध्व लोकों में प्रकाश स्थित रहता है। जितना घनत्व स्तर बढ़ेगा उतना ही तमोगुण की मात्रा सूक्ष्म रूप से बढ़ेगी तथा सूक्ष्म रूप से सत्त्वगुण कम होता जाएगा। इसलिए प्रकाश धीरे-धीरे घनत्व स्तर के अनुसार घटता जाता है। भूलोक स्थूल-लोक है, इसे मध्य में माना गया है। नीचे के जो सात लोक

हैं, वह पृथ्वी के नीचे नहीं है अथवा पृथ्वी के अन्दर नहीं है। इन लोकों में क्रमशः घनत्व कम होता जाता है तथा निम्न श्रेणी के कर्म भोगने के लिए जीवात्माओं को यहाँ भेजा जाता है। इन लोकों में स्थित प्राणियों को सदैव दुःख की अनुभूति होती रहती है। इसलिए ये नीचे के लोक कहे गये हैं। मृत्यु के पश्चात प्राणी का सूक्ष्म शरीर कर्मानुसार जिस घनत्व वाला होता है अर्थात् जितना व्यापक होता है उसी के अनुसार उसे लोक की प्राप्ति होती है। जीवन्मुक्त योगी का सूक्ष्म शरीर भौतिक देह त्यागने के पश्चात योगाग्नि द्वारा भस्म हो जाता है। सूक्ष्म शरीर में ही प्राणियों के कर्माशय विद्यमान रहते हैं। ऐसी अवस्था में जीवन्मुक्त पुरूष सूक्ष्म शरीर से रहित हुआ अपने अत्यन्त व्यापक कारण शरीर द्वारा अपरा-प्रकृति को पारकर परा-पकृति (ईश्वर के लोक में) में विद्यमान हो जाते हैं। अब मैं क्रमशः चौदह लोकों को लिख रहा हूँ, जो निम्न प्रकार हैं–

1. पाताल लोक 2. रसातल लोक 3. महातल लोक 4. तलातल लोक 5. सुतल लोक 6. वितल लोक 7. अतल लोक 8. भूलोक 9. भुवर्लोक 10. स्वर्ग लोक 11. महर्लोक 12. जनलोक 13. तपलोक 14. ब्रह्मलोक।

सन् 1996 के आरम्भ में ध्यानावस्था में हमें प्रलय और सृष्टि का अनुभव आया था, मैं उसे लिख रहा हूँ। ध्यानावस्था में ऐसा लगा मानों भंयकर विस्फोट हुआ हो और सारा अंतरिक्ष हिल गया, फिर ओंकार की ध्वनि आने लगी। ऐसा लग रहा था मानों बहुत दूर से ओंकार की ध्वनि आ रही है। यह ओंकार ध्वनि धीरे-धीरे तीव्र होती चली गई। समस्त अंतरिक्ष में तीव्र ध्वनि सुनाई देने लगी। ओंकार की ध्वनि के साथ ही अंतरिक्ष में स्थित ग्रहों में कंपन होने लगा। जैसे-जैसे ओंकार की ध्वनि तीव्र होती जाती, वैसे-वैसे अंतरिक्ष में स्थित ग्रहों में कंपन भी बढ़ता जाता था। कुछ क्षणों में जोरदार विस्फोट हुआ और विस्फोट की आवाज के साथ समस्त ग्रह टूट-टूट कर छोटे-छोटे टुकड़ों में बिखर गये। ऐसा लग रहा था मानों अंतरिक्ष में ग्रहों का मलबा बिखरा हो। फिर यह मलबा जैसा बिखरा पदार्थ ओंकार की ध्वनि की ओर चुम्बक की भाँति खिचकर जाने लगा। कुछ क्षणों में यह मलबा जैसा पदार्थ धीरे-धीरे तेज अग्नि के रूप में परिवर्तित हो गया और धीरे-धीरे अग्नि का स्वरुप पिण्ड आकार में बदल गया। यह अग्नि पिण्ड ओंकार की ध्वनि की ओर जा रहा था। फिर अग्नि पिण्ड धीरे-धीरे वायु पिण्ड के रूप में परिवर्तित होता दिखाई दिया, तभी ओंकार की ध्वनि धीरे-धीरे धीमी होकर शांत हो गई। इस दृश्य में नष्ट होते हुए पृथ्वी भी दिखाई दे रही थी। ओंकार की ध्वनि अनन्त दूर से आ रही थी। सृष्टि के समय प्रलय से ठीक उल्टी क्रिया होती है, यह भी ध्यानावस्था में दिखाई दिया था। शुरूआत में विस्फोट के साथ ओंकार की ध्वनि

प्रकट होती है। छोटा-सा वायु पिण्ड कुछ क्षणों में विशाल अग्नि पिण्ड के रूप में परिवर्तित हो गया। वही दहकता हुआ अग्नि पिण्ड भयंकर विस्फोट के साथ असंख्य टुकड़ों जैसे रूप में परिवर्तित हो गया। ये टुकड़े गति कर रहे थे तथा आपस में टूटते जा रहे थे। ये अग्नि के टुकड़े धीरे-धीरे स्थूल पिण्ड के रुप में परिवर्तित हो गये। जिस गति से ये टुकड़े टूटकर बिखरे उसी गति से स्थूल पिण्ड गति करने लगे। सृष्टि और प्रलय के अनुभव में मुझे जल तत्त्व दिखाई नहीं दिया था। हो सकता है कि अग्नि पिण्ड और स्थूल पिण्ड के बीच की अवस्था हमें समझ में न आई हो, क्योंकि जब हमें अंतरिक्ष में पृथ्वी दिखाई दी थी, उस समय हमें पृथ्वी का समुद्र दिखाई नहीं दिया था।

एक अनुभव हमें 22 अगस्त 2001 को आया था। यह दृश्य मैंने सिर्फ आँखें बन्द करने पर देखा था। मैंने देखा कि अंतरिक्ष में एक गोलाकार विशाल जगह है। इस गोलाकार जगह में प्रकाश (प्रकाश जैसा तत्त्व) उबलता रहता है तथा उसी में विलीन होता रहता है। प्रकाश उबलने और उसी में विलीन होने की क्रिया अत्यन्त तीव्र गति से होती रहती है। इस गोलाकार प्रकाशमान जगह के बाहर रिंग के आकार में काफी चौड़ी पट्टी नुमा क्षेत्र अपने ही जगह पर अत्यन्त तीव्र गति से घूम रहा है। यह रिंगनुमा क्षेत्र उस गोलाकार प्रकाशवान जगह को चारों ओर से घेरे हुए है। यह रिंगनुमा जगह जो चौड़ी पट्टी के आकार में है, इसी क्षेत्र में असंख्य आकाश-गंगाएँ हैं। असंख्य शब्द इसलिए प्रयोग किया गया, क्योंकि मैं उनकी गिनती नहीं कर सकता हूँ। वह गोलाकार प्रकाशमान क्षेत्र व इसके बाहर का क्षेत्र जो रिंग के आकार में है अर्थात् दोनों क्षेत्र अत्यन्त विशाल अंतरिक्ष में अंडाकार रूप में एक साथ मिलकर चक्कर लगा रहे हैं। अत्यन्त विशाल अंतरिक्ष में दो प्रकार की गति हो रही है। **एक**– गोलाकार काफी बड़ा क्षेत्र जिसमें प्रकाश उबलता और विलीन होता है उसके चारों ओर रिंग आकार में पट्टीनुमा चौड़ा क्षेत्र अपनी ही जगह पर तीव्र गति से घूम रहा है। **दूसरा**– गोलाकार मध्य वाला क्षेत्र व बाहर का रिंग आकार वाला क्षेत्र जिस में आकाश-गंगाएँ हैं। दोनों एक साथ मिलकर अत्यन्त विशाल अंतरिक्ष में अंडाकार गति कर रहे हैं। दोनों मिलकर किस केन्द्र का चक्कर लगा रहे हैं, यह मेरी दिव्य दृष्टि से दिखाई नहीं दिया। सिर्फ अत्यन्त विशाल अंतरिक्ष में ये दोनों एक साथ मिलकर गति करते दिखाई दिए। छल्लाकार पट्टी अपनी जगह पर एन्टी क्लॉक-वाईस गति कर रही थी, दोनों क्षेत्र एक साथ मिलकर क्लॉक-वाईस गति कर रहे थे। इस दृश्य के समय वायु तत्त्व के घर्षण की आवाज आ रही है।

गोलाकार प्रकाशवान क्षेत्र ज्वालामुखी के लावे के समान उबल रहा था तथा वहीं पास में उबला हुआ तत्त्व विलीन होता दिखाई दे रहा था। पदार्थ का उबलना और विलीन होना यह क्रिया कई जगह हो

रही थी। उबलता हुआ गोलाकार क्षेत्र इतना बड़ा था कि आकाश-गंगाओं वाले क्षेत्र को बड़े आराम से निगल लेगा ओर मालूम भी नहीं पड़ेगा कि आकाश-गंगाएँ व उनका क्षेत्र कहाँ चला गया। लावा के समान उबलते पदार्थ से ही आकाश-गंगाओं का निर्माण हुआ है। इसलिए सम्पूर्ण आकाश-गंगाएँ व उनका क्षेत्र अपने केन्द्र का चक्कर लगा रहे हैं तथा ये दोनों मिलकर (मध्य वाला क्षेत्र) अपने केन्द्र का चक्कर लगा रहे हैं। यह केन्द्र दृश्य में दिखाई नहीं दिया। ये दोनों क्षेत्र (मध्य वाला क्षेत्र तथा आकाश-गंगाओं वाला) जिस अंतरिक्ष में विद्यमान है, उस अंतरिक्ष का घनत्व कम है, ऐसा स्पष्ट दिखाई दे रहा था। कुछ दिनों बाद ज्ञान के द्वारा उस केन्द्र की जानकारी प्राप्त करने का प्रयास किया तो मालूम हुआ कि वह स्थान अत्यन्त सूक्ष्म है तथा उस दृश्य को प्रकृति दिखाना नहीं चाहती है। इसलिए वह स्थान आपकी दिव्य दृष्टि में नहीं आया। फिर मैंने भी उस क्षेत्र को जानने की हठ नहीं की।

जिस प्रकार प्रत्येक आकाश-गंगा अपने केन्द्र का चक्कर काट रही है, उसी प्रकार प्रत्येक आकाश-गंगा में बड़े-बड़े ग्रहों का चक्कर उनके उपग्रह काट रहे हैं अर्थात् चारों ओर गति कर रहे हैं। ये उपग्रह एक बार में दो प्रकार के चक्कर काटते हैं। **एक-** स्वयं अपना अर्थात् अपनी धुरी पर गति कर रहे हैं तथा **दूसरा**– अपने ग्रह का अर्थात् जिस ग्रह से उसका निर्माण हुआ है। ग्रह से उपग्रह का जब निर्माण हुआ, तो पहले विस्फोट हुआ फिर उससे गति उत्पन्न हुई, इसलिए उपग्रह गुरूत्वाकर्षण के कारण गति करने लगा। आकाश-गंगा असंख्य ग्रहों तथा उपग्रहों का समूह है। इन आकाश-गंगाओं में विशेष प्रकार के कई चुम्बकीय क्षेत्र हैं। इन चुम्बकीय क्षेत्रों का मानव शरीर में स्थित नाड़ियों के समान जाल बिछा हुआ है। छोटे-छोटे चुम्बकीय क्षेत्रों का सम्बन्ध बड़े-बड़े चुम्बकीय क्षेत्रों से होता है। प्रत्येक ग्रह-उपग्रह का सम्बन्ध चुम्बकीय क्षेत्र से अवश्य होता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि ग्रहों व उपग्रहों में तथा इन दोनों के बीच अंतरिक्ष में चुम्बकीय क्षेत्र बनते व समाप्त होते रहते हैं। यह चुम्बकीय क्षेत्र बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। कुछ चुम्बकीय क्षेत्र अत्यन्त विशालकाय होते हैं, तो कुछ बिल्कुल छोटे होते हैं। कुछ विशालकाय चुम्बकीय क्षेत्र ग्रहों को निगल जाने का सामर्थ्य रखते हैं। कुछ वर्ष पूर्व मैंने अंतरिक्ष में कई चुम्बकीय क्षेत्र देखे थे। पहले तो इन्हें मैं समझ नहीं पाया कि यह क्या है, फिर इनके विषय में जानकारी हो गई। जब यह अनुभव आया था तब चुम्बकीय क्षेत्रों के विषय में ज्यादा जानकारी नहीं हुई थी। कुछ दिनों तक मैंने ध्यानावस्था में इन चुम्बकीय क्षेत्रों के विषय में बहुत खोज की। ये खोज ज्यादातर अपने ही सौर मण्डल में की थी। पृथ्वी पर भी इन चुम्बकीय क्षेत्रों का प्रभाव है। कुछ छोटे-छोटे चुम्बकीय क्षेत्र पृथ्वी की भूमि पर भी बनते व समाप्त होते रहते हैं। समुद्र में बड़े-बड़े चुम्बकीय क्षेत्र हैं, ये चुम्बकीय क्षेत्र मानव जाति के लिए हानिकारक हैं। विशालकाय चुम्बकीय क्षेत्र केन्द्र में स्थित हैं जहाँ पदार्थ उबलता-सा रहता है। इन

चुम्बकीय क्षेत्रों का सम्बन्ध आकाश-गंगाओं से होता है। यह दृश्य सिर्फ उच्च कोटि का साधक ही देख सकता है, जिसने ऋतम्भरा-प्रज्ञा द्वारा पदार्थ के विशेष स्वरूप का साक्षात्कार किया है, क्योंकि आकाश-गंगाओं का केन्द्र अत्यन्त सूक्ष्म व कम घनत्व वाला होता है।

अब मैं प्रकृति देवी के (अपरा-प्रकृति) विषय में कुछ शब्द लिख रहा हूँ। हमारा और प्रकृति देवी का सन् 1995-1996 में काफी निकटता से सम्बन्ध रहा था। मुझे सन् 1995 में माता कुण्डलिनी शक्ति का वरदान प्राप्त हुआ। मैं इस वरदान का प्रयोग सिर्फ आध्यात्मिक कार्यों के लिए कर सकता था, तभी प्रकृति देवी ने हमसे सम्पर्क स्थापित किया ओर बोली- "योगी पुत्र! अब तुम्हें प्रकृति के ढेरों कार्य करने हैं"। मैंने सोचा मैं प्रकृति के ढेरों कार्य कैसे कर सकता हूँ? फिर प्रकृति देवी बोली– "योगी, तुम्हें तो शक्ति का वरदान प्राप्त है, फिर डरते क्यों हो? निडर होकर हमारे कार्य करो"। मैं बोला-"माता, मैं जो कार्य करूँगा, उसके कर्माशय हमारे चित्त पर स्थित होंगे, हमारे ऊपर कर्म बढ़ जाएँगे"। प्रकृति देवी बोली– "तुम्हारे कर्म नहीं बढ़ेंगे क्योंकि तुम हमारा कार्य करोगे। यदि किसी कारण से थोड़े कर्म बन भी जाएँ तो यह कर्म योगबल के द्वारा तुरन्त जल जाएँगे। इसलिए कर्मों के विषय में चिन्तित न हो और यह आश्चर्य भी न करो कि यह कर्म तुम से कराए जा रहे है। वर्तमान समय में तुम एक ऐसे योगी हो जो हमारे कार्य कर सकते हो, इसलिए हमारे कार्य सम्पन्न करो। इस समय अनेक दिव्य शक्तियों की दृष्टि तुम्हारी ओर है। तुम्हारे अध्यात्म मार्ग में कोई अवरोध नहीं डाल पायेगा"।

अब मैं ढेरों कार्य प्रकृति देवी के सूक्ष्म रूप से करने लगा। प्रकृति देवी हमें आकर बता देती थी कि अमुक कार्य करना है और मैं उस कार्य को करने के लिए तैयार हो जाता था। कार्य चाहे जितना कठिन क्यों न हो, पर हमारे असीमित योगबल व माता कुण्डलिनी के वरदान के कारण कार्य तुरन्त हो जाता था। कुछ दिनों बाद सूक्ष्म कार्यों के अलावा भौतिक कार्यों की भी सूची लम्बी होती जा रही थी। इसलिए अब ध्यान करने में भी अवरोध आने लगा था, क्योंकि ध्यान करने के लिए अब समय कम मिलता था तथा ऐसे कार्यों को करके मन ऊब-सा गया था। मैंने अपनी बात माता प्रकृति से कही– "माता, अब हमारा मन ऐसे कार्यों में नहीं लगता है, मैं ऊब-सा गया हूँ"। प्रकृति देवी बोली, "मैं तुम्हें आशीर्वाद देती हूँ, तुम भविष्य में महान बनोगे तथा हमारे आध्यात्मिक कार्य करोगे। तुम्हें भविष्य में बहुत कार्य करने हैं"। फिर हमें कई दिव्य शक्तियों के आशीर्वाद मिले– "तुम भविष्य में महान बनोगे"। फरवरी 1996 के प्रथम सप्ताह में हमें जानकारी मिली कि प्रकृति द्वारा बताई गई एक बात गलत निकली। मैं समझ गया कि हमें धोखा दिया गया है। जब मैंने यह शिकायत प्रकृति देवी से की तो वह चुप रही और कोई उत्तर नहीं दिया।

मैं बोला- "माता, जब आप ही झूठ बोलेंगी तो हम जैसे संसारी पुरूषों का क्या होगा? मैं आपसे कितना प्रेम करता था तथा कितना विश्वास करता था"। मेरे इस प्रकार कहने पर प्रकृति देवी नाराज हो गई और बोली, "मुझे क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए, यह मुझे कहने वाले तुम कोई नहीं हो। तुम्हारे किसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए मैं बाध्य नहीं हूँ। इसलिए तुम्हें जो करना हो करो, मुझे जो करना था वह मैंने किया", यह कह कर प्रकृति देवी अदृश्य हो गई। मैंने तपलोक निवासी स्वामी शिवानन्द जी से पूछा– हमारे साथ ऐसा क्यों हुआ है? स्वामी शिवानन्द जी बोले– "इस विषय में मैं कुछ नहीं कह सकता हूँ। प्रकृति देवी सर्वोच्च शक्ति हैं, उसके लिए मैं तुच्छ प्राणी हूँ।" फिर स्वामी शिवानन्द जी कुछ नहीं बोले, शांत होकर आँखें बन्द कर ली। अन्य सूक्ष्म शक्तियों ने भी इस विषय में कुछ भी बताने से इन्कार कर दिया। (यह स्वामी शिवानन्द जी ऋषिकेश वाले हैं, इनका आश्रम ऋषिकेश में बना हुआ है। इन्होंने सन् 1963 में समाधि ले ली थी। वर्तमान समय में ये तपलोक में समाधि लगाए रहते हैं। इन्होने सन् 1995-1996 मे हमारा मार्गदर्शन किया था।)

कुछ दिनों बाद हमें योग मार्ग के अपने आदर्श विश्वामित्र जी की याद आई। काफी परिश्रम के बाद हमारा विश्वमित्र जी से सम्पर्क स्थापित हो गया। वह आसन पर बैठे हमारी ओर देख रहे थे। मैंने उन्हें प्रणाम किया। उन्होंने हाथ उठाकर आर्शीवाद दिया और बोले, "महान बनो, मुझे कैसे याद किया"। मैं बोला– "प्रभु! मैं आपको अपना आदर्श मानता हूँ"। वह बोले, "यह मुझे मालूम है"। मैं बोला, "प्रभु! मैंने आपको इसलिए याद किया है कि आप हमारे आदर्श हैं और आप हमारी समस्या हल कर सकते हैं। ब्रह्माण्ड में कोई भी दिव्य शक्ति हमारी समस्या हल करने को तैयार नहीं है, क्योंकि वे सभी प्रकृति से डरते हैं। मुझे मालूम है कि आप अत्यन्त निडर स्वभाव वाले हैं। आपने अपनी साधना काल में अपने इष्ट गायत्री देवी को भी श्राप दे दिया था। आपको तो मालूम होगा कि प्रकृति देवी ने हमारे साथ क्या व्यवहार किया है"। वह बोले– "हाँ, मुझे मालूम है"। मैं बोला, 'क्या आप प्रकृति देवी से डरते नहीं है'? वह बोले– "मैं उनकी परवाह नहीं करता हूँ, तुम्हें क्या पूछना है– पूछो, मैं बताने को तैयार हूँ"। मैं बोला- "प्रभु! इसने हमारे साथ ऐसा व्यवहार क्यों किया"। वह बोले– "यह मैं नहीं बता सकता हूँ कि उसने ऐसा व्यवहार क्यों किया? परन्तु इसमें दुःखी होने की क्या बात है? वह ज्यादा-से-ज्यादा आपको नरक में फेंक सकती है, इससे ज्यादा ओर कुछ नहीं कर सकती है। तो भी आप डरो नहीं, नरक का कष्ट भोग कर फिर आ जाओ। फिर प्रकृति देवी से कहो– माता, मैं आ गया। अब आपकी क्या आज्ञा है? वे कितनी बार आपको नरक में फैंकेंगी। आप कष्टों को भोगने से डरो नहीं, फिर एक समय ऐसा आएगा जब तुम्हारा कोई कुछ नहीं बिगाड़ पायेगा। जब तुम महान बन जाओगे तब सभी तुम्हें सम्मान की दृष्टि से देखेंगे, मगर इसके लिए

तुम्हें कठोर योग का अभ्यास करना होगा। कष्टों से डरों नहीं, कष्ट प्रत्येक योगी के जीवन में आते हैं, तुम्हें इन कष्टों को पार करना होगा। मैंने भी अपने जीवन में बहुत कष्ट उठाये थे तथा अत्यन्त कठोर तप किया था। तुम दुःखी मत हो, भविष्य में महान बनोगे तथा प्रकृति के बहुत से कार्यों को करोंगे और भूलोक पर महान योगी के रूप में जाने जाओगे। क्या तुम कुछ ओर जानना चाहते हो"? मैं बोला, "नहीं प्रभु"। वह बोले– "तुम्हारा कल्याण हो, महान बनो"। फिर वे अदृश्य हो गये और फिर धीरे-धीरे हमारा दुःख भी समाप्त हो गया।

हमसे जो बात करती थी वह अपरा-प्रकृति थी, जिसके अन्तर्गत चौदह लोक आते हैं। साधकों को यह ध्यानावास्था में अत्यन्त सुन्दर स्त्री के रूप में दिखाई देती है। सिर पर ऊँचा-सा मणियों से युक्त मुकुट, हरे रंग की साड़ी व ब्लाउज तथा इसमें चमकीले सितारे लगे होते हैं। इन सितारों से झिलमिलता हुआ प्रकाश निकलता रहता है। यह शरीर पर विभिन्न प्रकार के आभूषण धारण किए रहती है। यह अपरा-प्रकृति परा-प्रकृति की अंश मात्र ही है। इन पंक्तियों को लिखते समय इस प्रकृति की मैं बिल्कुल भी परवाह नहीं करता हूँ, क्योंकि मैंने तत्त्वज्ञान के द्वारा इसके वास्तविक स्वरूप को पहचान लिया है। यह प्रकृति हमें किसी प्रकार से अपने अधिकार में नहीं ले सकती है। जब मैं व्यवहार की दशा में होता हूँ, उस समय हमें प्रकृति के नियम मानने अनिवार्य होते हैं। मगर जब मैं अपने स्वरूप में स्थित होता हूँ, तब यह प्रकृति मेरे लिए तुच्छ होती है। यह अवस्था मैंने कठोर परिश्रम करके व ढेरों कष्टों को भोगकर प्राप्त की है। जब हमें जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त हुई उस समय तक मैं प्रकृति के विषय में पूर्ण रूप से जान चुका था। मैंने यह भी देखा था कि जीवात्माएँ किस प्रकार अपने-अपने भोगों को भोगने के लिए जन्म लेने के लिए चल देती हैं। यह जीवात्माएँ किस क्षेत्र में प्रलय काल से सुषुप्तावस्था में बनी रहती है। अब प्रकृति के महत्वपूर्ण भेद हमसे छिपे नहीं हैं, क्योंकि सम्पूर्ण अपरा-प्रकृति को कभी-कभी मैं अपने उदर के अन्दर देखता हूँ। उसी अवस्था में प्रकृति के मुख्य रूप से क्रियाकलाप देखता रहता हूँ। ऐसा ध्यानावस्था में अथवा आँखें बन्द होने पर देखता हूँ।

इस अपरा-प्रकृति का प्रवाह नीचे की ओर है अर्थात् यह नीचे की ओर बहिर्मुखी है। इसका वर्णन गीता के पन्द्रहवें अध्याय के प्रथम श्लोक में किया गया है- जो सर्वोपरी है अर्थात् ईश्वर संसार रूपी वृक्ष के 'उर्ध्वमूल' हैं। उस ईश्वर से ही प्रकट होने वाले ब्रह्मा संसार वृक्ष के तना हैं। ब्रह्मा से प्रकट होने वाले देवता, मनुष्य आदि अनेक स्थावर योगी संसार वृक्ष की अवान्तर छोटी-छोटी शाखाऐं हैं जो नीचे की ओर फैली हुई हैं। कभी स्थिर न रहने के कारण अर्थात् क्षणभुंगर होने से संसार वृक्ष को 'अश्रवत्थ' कहते हैं।

उस वृक्ष के आदि अन्त का पता न होने तथा प्रवाह रूप से नित्य रहने के कारण उसे 'अव्यय' कहते हैं। परन्तु वास्तव में वह अव्यय (नित्य) नहीं हैं क्योंकि उसका निरन्तर परिवर्तन प्रत्यक्ष देखने में आता है। वेदों में आए हुए सकाम अनुष्ठानों का वर्णन इस संसार वृक्ष के पत्ते कहे गये हैं। ऐसे उस 'अश्रवत्थ' वृक्ष रूपी संसार को यथार्थ रूप से जो कोई जानता है, वही वास्तव में वेद के यथार्थ तत्त्व को जानने वाला है। इस ब्रह्माण्ड (अपरा-प्रकृति) की तुलना एक घड़े के रूप में की गई है। जब साधक का ब्रह्मरन्ध्र खुलने वाला होता है, तब ब्रह्मरन्ध्र उल्टे घड़े के रूप में दिखाई देता है। यह उल्टा घड़ा ही ब्रह्माण्ड का स्वरूप है। जब ब्रह्मरन्ध्र खुल जाता है तब साधक को अत्यन्त तेजस्वी प्रकाश दिखाई देता है। ऐसा लगता है जैसे इस उल्टे घड़े के अन्दर प्रकाश ही प्रकाश भरा हुआ है। समझाने के लिए यही कहा जाता है कि यह ब्रह्म का प्रकाश है। मगर सत्य यह है कि ये अत्यन्त तेजस्वी प्रकाश अहंकार की अत्यन्त शक्तिशाली सात्विक वृत्ति ही है जो इस रूप में दिखाई दे रही है। अधिक सात्विकता के कारण अत्यन्त तेज प्रकाश दिखाई देता है, क्योंकि सत्त्वगुण प्रकाशशील है। गौर करने वाली बात है कि इस अवस्था में ब्रह्म का दर्शन कैसे हो सकता है जबकि अपनी दोनों पुस्तकों "सहज ध्यान योग" और "योग कैसे करे" में साधकों को यह समझाने के लिए मैंने उस जगह ब्रह्म का प्रकाश लिख दिया है। साधकों को यह समझना चाहिए कि ब्रह्मरंध खुलने पर उसकी गति ध्यानावस्था में अहंकार की भूमि तक हो गई है। अभी अहंकार की भूमि तक सिर्फ गति हुई है, स्थिति तो बहुत समय तक अभ्यास करने के बाद आती है।

अपरा-प्रकृति जिसके द्वारा समस्त ब्रह्माण्ड की रचना हुई है, यह किसी भी जीवात्मा की वास्तविक माता नहीं हो सकती है। परा-प्रकृति (मूल-प्रकृति) ही हम सभी की वास्तविक माता है। मगर अज्ञानता वश हम अपरा-प्रकृति को ही वास्तविक माता समझने की भूल कर लेते हैं। यह तो परिणाम गामिनी है, इसमे हर क्षण परिणाम होता रहता है। इस कारण इसे क्षणभंगुर भी कहा गया है। हर क्षण परिणाम होने के कारण किसी भी वस्तु का स्वरूप स्थिर नहीं रह सकता है अर्थात् कोई भी वस्तु किसी की नहीं हो सकती है। मनुष्य अज्ञानता के कारण इस जगत् की वस्तुओं को अपना समझ रहा है, इसी कारण से वह जीवन भर दुःख उठाता रहता है। जब प्रकृति व प्रकृति से बने पदार्थ किसी के नहीं हो सकते हैं, तो फिर प्रकृति किसी की माता कैसे हो सकती है? मैं भी अपने साधना काल में पहले इसे माता कह कर सम्बोधित करता था मगर तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जाने के बाद तत्त्व दृष्टि से यह भ्रम रूप ही भासित होती है। आपने पढ़ा होगा कि पहले मैं इससे बहुत प्रेम करता था तथा इसके कार्य भी करता था, मगर इसने झूठ बोल कर हमें धोखा दिया, इस कारण मुझे कुछ दिनों तक बहुत क्लेश सहना पड़ा। इस प्रकृति को माया या भ्रम भी कहते हैं। यह साधकों को सुन्दर ममतामयी माता के रूप में दिखाई देती है। मगर इन से कभी भी प्रेम नहीं करना

चाहिए, बल्कि कठोर योग के अभ्यास के द्वारा इसके बन्धनों को पार करके अपने स्वरूप में स्थित होने का प्रयास करना चाहिए।

परा-प्रकृति ईश्वर का चित्त व कारण जगत् (महाकारण जगत्) के नाम से जानी जाती है। यही मूल प्रकृति कही जाती है। परा-प्रकृति में गुण साम्यावस्था में रहते हैं, इसलिए परा-प्रकृति में किसी प्रकार का परिणाम नहीं होता है। यही परा-प्रकृति जीवों की वास्तविक माता है। यह परा-प्रकृति जड़ तत्त्व ही है, मगर सत्त्वगुण की विशुद्धता को लिए हुए है। सत्त्वगुण प्रकाशशील होने के कारण परा-प्रकृति का क्षेत्र सदैव प्रकाशवान बना रहता है। योगी परा-प्रकृति का चित्त द्वारा साक्षात्कार नहीं कर सकते हैं, क्योंकि जीवों के चित्त अपरा-प्रकृति द्वारा बने होते हैं। मुझे याद आ रहा है कि समाधि अवस्था में मैंने परा-प्रकृति का प्रवेश द्वार देखा है। जैसे ही मैंने प्रवेश द्वार के अन्दर अपना पैर रखा, तभी अनुभव समाप्त हो गया। उस क्षेत्र में तीव्र प्रकाश विद्यमान था। वहाँ का घनत्व अत्यन्त कम था तथा वहाँ के विषय में कुछ भी नहीं जान सका। परा-प्रकृति का प्रवेश द्वार अपरा-प्रकृति व परा-प्रकृति का संधि स्थल है। अपरा-प्रकृति परा-प्रकृति के अन्दर ही विद्यमान है। अपरा-प्रकृति और परा-प्रकृति के बीच में कोई भी प्रवेश द्वार नहीं है। मगर अपरा-प्रकृति की आखिरी सीमा के बाद जब परा-प्रकृति का क्षेत्र आता है, तब योगियों को समाधि अवस्था में इस जगह अर्थात् संधि-स्थल प्रवेश द्वार के रूप में दिखाई देता है। वास्तव में यहाँ पर घनत्व का बहुत ज्यादा अंतर होता है। अभ्यासी के चित्त की मलिनता नष्ट होने पर जब शुद्धता बढ़ती है, तब चित्त अत्यन्त व्यापक होने लगता है। अन्त में साधक का चित्त ईश्वर के चित्त में व्यापक होकर अन्तर्मुखी होने लगता है। ईश्वर के चित्त में अन्तर्मुखी होने के कारण उसे दिखाई देता है कि मैं परा-प्रकृति के क्षेत्र में जा रहा हूँ। परा-प्रकृति के क्षेत्र में प्रवेश करने का अर्थ यह नहीं है कि साधक को परा-प्रकृति का साक्षात्कार हो रहा है। परा-प्रकृति को सिर्फ अनुमान के द्वारा जाना जा सकता है, इसीलिये इसे अनुमानगम्य कहा गया है।

ईश्वर के शरीर की संरचना परा-प्रकृति के द्वारा हुई है। परा-प्रकृति में गुण साम्यावस्था में रहने के कारण ईश्वर के चित्त में किसी प्रकार का परिणाम नहीं होता है। ईश्वर के विशुद्ध स्वरूप का प्रत्यक्ष ज्ञान योगी के चित्त के द्वारा नहीं हो सकता है। चित्त वृत्ति ईश्वर के विशुद्ध स्वरूप का तदाकार होकर ज्ञान नहीं करा सकती है। जिस प्रकार भौतिक पदार्थों का ज्ञान साधारण मनुष्यों को बाह्य प्रत्यक्ष से (भौतिक पदार्थों के सामान्य रूप का) होता है, उसी प्रकार साधकों को सूक्ष्म पदार्थ के विशेष स्वरूप का ज्ञान समाधि के द्वारा होता है। इस प्रकार ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान समाधि के द्वारा नहीं हो सकता है, क्योंकि ईश्वर के शरीर

का निर्माण गुणों की साम्यावस्था से हुआ है। ईश्वर तो परा-प्रकृति का भी नियन्ता है, इसलिए ईश्वर का शुद्ध स्वरूप प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता है। ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा ज्ञान स्वरूप वाला है। ईश्वर की ज्ञान शक्ति से प्रकृति में सारे जीवात्माओं के कल्याण के लिए सृष्टि, स्थिति और प्रलय की व्यवस्थापूर्वक क्रिया हो रही है।

ईश्वर कभी भी जन्म ग्रहण नहीं करता है। वह तो जीवात्माओं का कल्याणकर्ता, नियन्ता व कर्मों का अध्यक्ष है। उसके द्वारा बनाए गये नियमों के अनुसार ही प्रकृति अपना कार्य करती है। जो जीवन्मुक्त योगी अपना स्थूल शरीर त्यागकर परा-प्रकृति (ईश्वर के लोक) में चले जाते हैं, वे परा-प्रकृति में अनन्त काल तक समाधि में लीन रहते हैं तथा अन्त समय में निजस्वरूप में स्थित हो जाते हैं। ईश्वर के अन्त:करण में वही विलीन होता है, जो ईश्वर प्राप्ति की इच्छा रखता है। जो योगी अपने चेतन स्वरूप को प्राप्त करना चाहते हैं वे अन्त में अपने आत्मस्वरूप में स्थित हो जाते हैं। जिन योगियों के अन्त:करण में जीवों के प्रति कल्याण की भावना होती है, समय आने पर ऐसे योगी ईश्वर की प्रेरणा अथवा परा-प्रकृति के कहने पर जीवों के कल्याण हेतु भूलोक पर जन्म ग्रहण करते हैं। इस प्रकार के जन्म ग्रहण करने को **अवतार** कहते हैं। ऐसे अवतारी पुरूष ईश्वरीय शक्तियों से सम्पन्न होकर ही जन्म ग्रहण करते हैं। उनकी शक्तियाँ अंश रूप में होती हैं, इसलिए ऐसे अवतारी पुरूष को ईश्वर अथवा भगवान् कहते हैं। ईश्वरीय शक्तियों से सम्पन्न होने के कारण ही इन्हें **अवतार** कहा जाता है। जैसे- नरसिंह, वराह्, श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि। भगवान् श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं–

> *"हे अर्जुन, पूर्व काल में हम और तुम एक साथ रह चुके हैं, उस समय तुम नर नाम के ऋषि थे और मैं नारायण नाम का ऋषि था। दोनों एक साथ ही योग का अभ्यास किया करते थे। जीव होने के कारण तुम्हें पूर्वकाल का याद नहीं है, परन्तु मुझे ईश्वर होने के कारण सब कुछ याद है"।*

अवतारी पुरूष अपना कार्य समाप्त करने के पश्चात अपने लोक को वापस चले जाते हैं, फिर दुबारा भूलोक पर जन्म ग्रहण करने के लिए कभी नहीं आते हैं। इसी प्रकार का क्रम चलता रहता है, क्योंकि अवतारी पुरूष के चित्त में किसी प्रकार की वृत्ति (इच्छा) शेष नहीं रह जाती है।

आपने पढ़ा होगा कि ईश्वर कहते हैं, "मैं अपने अंश से अवतार लूँगा"। जो योगी अवतार ग्रहण करने के लिए ईश्वर के लोक (अन्त:करण) से आता है, वह ईश्वर का अंश ही कहा जाएगा। ईश्वर के लोक में रहने वाले योगी को जीवेश्वर कहा जाता है। ईश्वर और जीव मूलरूप से एक ही चेतन तत्त्व है मगर ईश्वर का सम्बन्ध परा-प्रकृति से है अर्थात् ईश्वर का चित्त परा-प्रकृति से बना है। जीव का सम्बन्ध

अपरा-प्रकृति से है अर्थात् जीव का चित्त अपरा-प्रकृति से बना है। परा-प्रकृति और अपरा-प्रकृति के सम्बन्ध से जीव ईश्वर का अंश रूप ही हुआ। ईश्वर के लोक में स्थित योगी तत्त्वज्ञानी होता है अर्थात् ब्रह्मज्ञान से युक्त रहता है। यह ज्ञान नष्ट नहीं होता है, क्योंकि उसने अपने स्वरूप को अभ्यास के द्वारा जान लिया है। इसलिए कहा जाता है कि ऐसा योगी ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। जिस योगी के चित्त में जीवों के कल्याण हेतु इच्छा बनी रही तथा स्थूल शरीर त्याग दिया, ऐसा योगी ईश्वर के लोक में बहुत समय तक रहता है। उचित समय आने पर ईश्वर की प्रेरणा अथवा परा-प्रकृति के कहने पर वह भूलोक पर जन्म ग्रहण कर लेता है। जन्म ग्रहण करने से पूर्व वे अपनी सम्पूर्ण ईश्वरीय शक्तियाँ अंश रूप में लेकर आते हैं। ऐसे अवतारी पुरूष तो पहले से ही ब्रह्मज्ञान से युक्त होते हैं तथा अपनी संकल्प शक्ति से सम्पूर्ण अपरा-प्रकृति को अपने अधीन किए रहते है। ऐसे पुरूषों की इच्छा शक्ति से ही सम्पूर्ण कार्य होते रहते हैं।

ईश्वर का शरीर परम् आकाश तत्त्व से बना हुआ है। परम् आकाश को ब्रह्म का (ईश्वर का) स्वरूप कहते हैं। यह आकाश परा-प्रकृति ही है। सांख्य योगी और कर्म योगी को ईश्वर परम्-शिव के रूप में दिखाई देते हैं, भक्ति योगी को ईश्वर नारायण के रूप में दिखाई देते हैं। ऐसा उनकी भावनाओं के अनुसार होता है। ईश्वर का चित्त परा-प्रकृति द्वारा बना है, इस परा-प्रकृति के अन्दर ही ढेरों अपरा-प्रकृतियाँ विद्यमान हैं। इसलिए कहा जाता है कि सम्पूर्ण अपरा-प्रकृति अथवा सृष्टि ईश्वर के अन्दर विद्यमान है तथा ईश्वर कण-कण में स्थित है। एक बार अनुभव में हमें दिखाई दिया कि भगवान् नारायण के शरीर में अनन्त ब्रह्माण्ड हैं। मगर ईश्वर के रुप में परम्-शिव का दर्शन हमें जनवरी 2007 में हुआ। तत्त्वज्ञान प्राप्त करते समय एक बार ईश्वर के स्वरूप का साक्षात्कार अवश्य होता है। इस साक्षात्कार के समय ईश्वर स्वयं साधक का सूक्ष्म शरीर नष्ट करते दिखाई देते हैं। इस अनुभव के बाद तथा स्थूल शरीर त्यागने के पश्चात ईश्वर की प्राप्ति होना निश्चित हो जाता है। अब पाठक गण कह सकते हैं कि परा-प्रकृति का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता है, ऐसा मैंने लिखा है, फिर परम्-शिव का साक्षात्कार कैसे हुआ? समाधान- जब साधक को जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त होने लगती है अर्थात् जीवन्मुक्त अवस्था को अभ्यास के द्वारा परिपक्व कर रहा होता है। यह उसकी निर्बीज समाधि के अभ्यास की अवस्था होती है। निर्बीज समाधि में चित्त का बाह्य परिणाम होना रुक जाता है अर्थात् चित्त की वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं, तब तमोगुण सत्त्वगुण का सहयोग करने लगता है। सत्त्वगुण व तमोगुण मिलकर रजोगुण को दबा लेते हैं। इस अवस्था में तमोगुण व रजोगुण लेशमात्र ही होते हैं, तब चित्त अत्यन्त व्यापक होकर ईश्वर के चित्त (परा-प्रकृति) में अन्तर्मुखी हो जाता है। चित्त की व्यापकता के अनुसार सत्त्वगुणी वृत्तियाँ भी अत्यन्त व्यापक हो जाती हैं। व्यापकता इतनी बढ़ जाती है कि उनमे सगुण ब्रह्म (ईश्वर) के स्वरूप धारण करने की शक्ति

आ जाती है। यह साक्षात्कार चित्त की अत्यन्त सात्विक वृत्ति के द्वारा होता है। उस समय साधक को ईश्वर का स्वरूप अपने ही अनन्त व्यापक चित्त के अन्दर दिखाई देता है।

परम्-शिव के तीसरे नेत्र से ग्यारह रूद्र प्रकट हुए हैं, इन रूद्रों को भगवान् शंकर भी कहा जाता है। इन ग्यारह रूद्रों के अलग-अलग नामों का वर्णन शास्त्रों में भी मिलता है। श्री नारायण के ह्रदय से भगवान् विष्णु प्रकट हुए हैं, इनका स्वरूप नारायण के ही समान है। श्री नारायण की नाभि कमल से ब्रह्मा जी प्रकट हुए हैं। भगवान ब्रह्मा, भगवान विष्णु, एवं भगवान शंकर इस अपरा-प्रकृति के सृष्टिकर्ता, पालन-कर्ता व संहार-कर्ता हैं अर्थात् इन तीनों की प्रेरणा से ये तीनों कार्य होते हैं। महा प्रलय के समय अपरा-प्रकृति समस्त जीवों (प्राणियों) को अपने अन्दर सूक्ष्म रूप से स्थित करके स्वयं परा-प्रकृति में बीज रूप से विद्यमान हो जाती है। उस समय ये तीनों देवता अपने मूल स्वरूप में (परम्-शिव व नारायण) विलीन हो जाते हैं अर्थात् ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं। सृष्टि के समय दूसरे ब्रह्मा, रूद्र व विष्णु प्रकट होते हैं, इन तीनों की आयु का हमें सही-सही ज्ञान नहीं है। इन तीनों में ब्रह्मा की आयु कम होती है। ग्यारह रूद्रों में आठवें रूद्र अन्य रूद्रों की अपेक्षा ज्यादा शांत स्वभाव वाले हैं। मगर ग्यारहवें रूद्र का स्वरूप अत्यन्त भयंकर है अर्थात् स्वभाव से तेज हैं, यह एक बार स्वयं भगवान् शंकर ने हमें बताया था। श्री हनुमान जी ग्याहरवें रूद्र के अंशावतार हैं। ब्रह्मा, विष्णु व महेश (शंकर) का शरीर आकाश तत्त्व से बना है। किसी-किसी जगह लेख मिलता है कि सृष्टि के आरम्भ में भगवान् ब्रह्मा के मस्तक से रूद्र प्रकट हुए तथा उनके ह्रदय से भगवान् विष्णु प्रकट हुए हैं। यह जो लिखा है वह सत्य है। भगवान् ब्रह्मा के शरीर से ही ये दोनों सृष्टि के आरम्भ में प्रकट होते हैं। सच ये है कि श्री विष्णु व रूद्र ईश्वर से प्रकट होकर फिर ब्रह्मा के शरीर से प्रकट हो जाते हैं। भगवान् ब्रह्मा को सृष्टि-कर्ता की उपाधि दी गई है। श्री गणेश जी, श्री कार्तिकेय जी, श्री हनुमान जी व वायु देवता आदि वायु तत्त्व से उत्पन्न हुए हैं। जब मैं समाधि द्वारा पदार्थों के विशेष रूप का साक्षात्कार कर रहा था, तब मालूम हुआ कि वायु देवता व हनुमान जी से श्री गणेश जी निश्चय ही श्रेष्ठ हैं। इन्द्र व अन्य देवता आदि अग्नि तत्त्व की प्रधानता से उत्पन्न हुए हैं। इन देवताओं की उम्र का ज्ञान हमें नहीं हैं। सन् 1995 में हमारी इन्द्र देवता से बात हुई थी। उस समय उन्होंने बताया था कि इन्द्र पद पर बैठने वाले देवता की उम्र 72 से 74 युगों तक की होती है। ईश्वर के लोक (परा-प्रकृति) में जो जीवात्माएँ रहती हैं, वे मुक्त होने के कारण कभी जन्म ग्रहण नहीं करती हैं।

परा-प्रकृति को मूल प्रकृति, समष्टि प्रकृति, अव्यक्त, ईश्वर का लोक, ईश्वर का चित्त, आदित्य लोक तथा नित्य लोक आदि कहते हैं। इसे ईश्वर की शक्ति भी कहते हैं। परा-प्रकृति द्वारा ईश्वर के लोक

की रचना हुई है। अपरा-प्रकृति को व्यष्टि प्रकृति, व्यक्त आदि कहते हैं। यह निम्नमुखी अर्थात् निम्नगमन करने वाली और क्रियाशक्ति वाली है। यह यंत्र सामग्री मात्र है जो विकास के लिए व अज्ञान को गति देने के लिए प्रस्तुत की गई है, मगर यांत्रिकता और विकास के लिए अज्ञान को गति देने के लिए इसके पीछे परा-प्रकृति का अंश हैं, जो विकास क्रम साधने के लिए बनाए हुए हैं। परा-प्रकृति जो कुछ है, वह अज्ञान की शक्ति नहीं है, बल्कि भगवान् की चैतन्यमय शक्ति है। विषयासक्ति वाली व नीचे को गमन करने वाली अपरा-प्रकृति और साधना के मार्ग में पड़ने वाली बाधाओं के सोच में बने रहना सभी की बहुत बड़ी भूल है। इन बाधाओं को देखना, समझना और हटाना अवश्य ही कठिनाई भरा कार्य है। इसी अपरा-प्रकृति को सब कुछ समझकर इसी में सदा लगे रहना ठीक नहीं है। परा-प्रकृति के अवतरण का अनुभव करना मुख्य बात है। परा-प्रकृति के अवतरण का अनुभव उसी साधक होता है जो समाधि की उच्चतम अवस्था का अभ्यास कर रहा है। जब अविद्या आदि क्लेशात्मक कर्माशय विवेक-ख्याति के द्वारा जलकर भुने हुए बीज के समान होने लगते हैं, तो इसके बाद ही परा-प्रकृति के अवतरण की अनुभूति की जा सकती है। साधक को समाधि अवस्था में अपरा-प्रकृति व परा-प्रकृति की संधि होते हुए दिखाई देती है। इस संधि के बाद परा-प्रकृति की संधि होते हुए दिखाई देती है। इस संधि के बाद परा-प्रकृति का अवतरण होना शुरू हो जाता है। अपरा-प्रकृति जितनी शुद्ध होगी, उतना ही परा-प्रकृति का अवतरण होगा। इसका अवतरण एक ही बार में नहीं होता है, बल्कि धीरे-धीरे अभ्यास के अनुसार होता रहता है।

चेतन तत्त्व जड़ तत्त्व से सर्वथा विलक्षण है। परा-प्रकृति के सम्बन्ध से चेतन तत्त्व की संज्ञा ईश्वर है, तो अपरा-प्रकृति के सम्बन्ध से चेतन तत्त्व की संज्ञा जीव है। चेतन तत्त्व कूटस्थ नित्य है, परा-प्रकृति परिणामी नित्य है। चेतन तत्त्व निष्क्रिय है तथा जड़ तत्त्व सक्रिय है। जड़ तत्त्व में ज्ञान, नियम व व्यवस्था पूर्वक क्रिया चेतन तत्त्व के सानिध्य मात्र से हो रही है। चेतन तत्त्व क्रिया का निमित्त कारण है तथा जड़ तत्त्व उपादान कारण है। ईश्वर सर्वव्यापक, सर्वज्ञ व सर्व शक्तिमान है। उसके स्वाभाविक ज्ञान द्वारा जीवों के कल्याण के लिए गुणों में विषम परिणाम हो रहा है, जिससे सारी सृष्टि की रचना हो रही है। साधारण मनुष्यों के लिए परा-प्रकृति सुषुप्तावस्था में रहती है। ऐसे मनुष्यों के लिए परा-प्रकृति का अवतरण होना सर्वथा असम्भव है। अपरा-प्रकृति का विकास मनुष्य किसी-न-किसी रुप में करता रहता है। साधक अभ्यास के द्वारा अन्तर्मुखी होकर विकास-क्रम में आगे बढ़ते रहते हैं। इस अभ्यास द्वारा चित्त का रजोगुणी व तमोगुणी मैल साफ होता रहता है। जैस-जैसे मैल साफ होता जाता है, वैसे-वैसे चित्त में सत्त्वगुण की मात्रा बढ़ती जाती है। सत्त्वगुण के प्रकाश में अपरा-प्रकृति की विकृतियों का साक्षात्कार

होता जाता है। निर्मल प्रज्ञा के प्रकट होने पर प्रकृति-पर्यन्त सारे पदार्थों का एक ही समय में साक्षात्कार हो जाता है।

परा-प्रकृति के अवतरण के लिए आवश्यक है कि साधक के चित्त में विवेक-ख्याति का प्रवाह निरन्तर बहता रहे, इस निरन्तर प्रवाह से पर-वैराग्य उत्पन्न होगा। पर-वैराग्य से अपरा-प्रकृति के प्रति आसक्ति समाप्त होती जाएगी तथा परा-प्रकृति का अवतरण धीरे-धीरे बढ़ता जाएगा। परा-प्रकृति का अवतरण एकदम एक साथ नहीं होगा, बल्कि धीरे-धीरे होगा। जब जीव की आसक्ति अपरा-प्रकृति से समाप्त होने लगेगी, उस समय अपरा-प्रकृति का सम्बन्ध परा-प्रकृति से हो जाएगा। इस सम्बन्ध को संधि अथवा आलिंगन भी कहते हैं। इसका अनुभव साधक को दिखाई देता है। अनन्त काल से चिर निद्रा में सोई हुई परा-प्रकृति जाग्रत होते हुऐ दिखाई देती है। अपरा-प्रकृति नीचे की ओर बहिर्मुखी है, यह जीवों के भोग के लिए प्रस्तुत रहती है। परा-प्रकृति उर्ध्वमुखी है। इसका प्रवाह कैवल्य की ओर होता है, यह जीव के भोग का विषय नहीं है। अपरा-प्रकृति मनुष्य को अविद्या युक्त विज्ञान के विकास को साधने के लिए प्रस्तुत की गई है। अविद्या युक्त विज्ञान का विकास मनुष्य के लिए बन्धन से युक्त होता है। परा-प्रकृति का अवतरण इस बन्धन से मुक्ति दिलाता है तथा मनुष्य को कैवल्य मोक्ष देने वाली है। इसलिए हम सभी को कैवल्य मोक्ष की प्रार्थना परा-प्रकृति से करनी चाहिए। परा-प्रकृति मोक्ष दायनी होने के कारण हम सभी की वास्तविक माता भी है। माता उसी को कहते हैं जो अपने बच्चे का सही पालन-पोषण करे तथा सदमार्ग दिखाए। उसे उसके लक्ष्य तक पहुँचा दे अर्थात् परम्-पिता (ब्रह्मा) से मिला दे। अपरा-प्रकृति हमारी वास्तविक माता नहीं हो सकती है, क्योंकि यह भ्रम में डाले रहती है तथा बन्धन में बाँधे रहती है। इसी कारण जीव भ्रम वश इसी प्रकृति को अपनी माता समझे रहता है और यहीं पर भटकता हुआ जन्म-आयु-मृत्यु को प्राप्त होता रहता है।

परा-प्रकृति ईश्वर की शक्ति होने के कारण भगवती स्वरूपा है। चण्डी, दुर्गा, काली, पार्वती, गायत्री, लक्ष्मी आदि देवियाँ परा-प्रकृति की अंशमात्र हैं। ये देवियाँ अपने कार्य हेतु परा-प्रकृति से प्रकट होती हैं। कार्य सम्पन्न करने के बाद फिर परा-प्रकृति में ही लीन हो जाती हैं। परा-प्रकृति ही आदि शक्ति महाकुण्डलिनी है। मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी इस महाकुण्डलिनी की अंश मात्र है। मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी का स्वरूप अग्नि तत्त्व से बना है। योग के अभ्यास द्वारा उर्ध्व हुई कुण्डलिनी पूर्ण यात्रा करके हृदय में स्थित हो जाती है, तब वायु तत्त्व में विलीन होकर साधक के सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाती है। महाकुण्डलिनी का स्वरूप सत्त्वगुण की विशुद्धता से युक्त परम् आकाश तत्त्व से बना हुआ है।

महाकुण्डलिनी में वायु तत्त्व बीज रूप में विद्यमान रहता है, इसलिए मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी महाकुण्डलिनी की अंश मात्र ही है।

परा-प्रकृति (ईश्वर का लोक) में स्थित होने के लिए साधक को निर्बीज समाधि का अभ्यास करना अति आवश्यक है। जिन साधकों ने निर्बीज समाधि की परिपक्व अवस्था प्राप्त कर ली है अर्थात् जो सदैव अपने आत्मा में स्थित रहता है, उसे स्थूल शरीर त्यागने के पश्चात किसी भी लोक में जाने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। स्थूल शरीर त्यागते ही वह ब्रह्म में स्थित हो जाता है। जो साधक निरूद्धावस्था (निर्बीज समाधि) का अभ्यास कर रहे हैं अर्थात् जिस अभ्यासी के चित्त पर व्युत्थान के संस्कार कभी-कभी प्रकट हो जाते हैं, ऐसी अवस्था वाला साधक स्थूल शरीर त्यागने के पश्चात परा-प्रकृति में स्थित हो जाता है। फिर वहाँ पर अनन्त काल तक समाधि का अभ्यास करने के पश्चात निर्गुण ब्रह्म में विलीन हो जाता है। परा-प्रकृति में स्थित जीवों को भूख-प्यास की अनुभूति नहीं होती है तथा श्वाँस लेने की आवश्यकता भी नहीं पड़ती है। जीवों को भूख-प्यास और श्वाँस लेने का कारण उनके चित्त में प्राण का स्पन्दन होता है। जब तक चित्त में प्राणों का स्पन्दन होगा, तब तक जीवो को भूख-प्यास की अनुभूति होती रहेगी। यह अनुभूति चाहे कुछ क्षणों में हो अथवा सैकड़ों वर्षों में हो। देवता आदि भी प्राण के सहारे श्वाँस-प्रश्वाँस की क्रिया करते हैं। चित्त रूपी वृक्ष के दो बीज हैं। **एक**– प्राण स्पन्दन अर्थात् प्राणों की निरन्तर क्रिया, **दूसरा**– वासना (कर्माशय)। इन दोनों में एक के क्षीण होने पर दूसरा भी शीघ्र ही क्षीण हो जाता है। निर्बीज समाधि (निरूद्धावस्था) के समय दोनों ही क्षीण हो जाते हैं। परा-प्रकृति में वायु तत्त्व का अभाव है। वहाँ पर वायु तत्त्व बीज रूप में विद्यमान रहता है। हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) की सृष्टि में स्थित जीवों को प्राणी कहा जाता है। प्राणी उसे कहते हैं जो प्राणों के सहारे जिन्दा रहते हैं। प्राणी की अपरा-प्रकृति व उससे बने पदार्थों से आसक्ति रहती है और यही जीव का जीवत्व है। अभ्यास के द्वारा जीव का जीवत्व नष्ट होने पर तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है, तब जीव जीवेश्वर बन जाता है। परा-प्रकृति में वही जीव स्थूल शरीर त्यागने के पश्चात जा सकता है अथवा स्थित हो सकता है जिसका जीवत्व पूर्ण रूप से नष्ट हो चुका है। भूख-प्यास व श्वाँस-प्रश्वाँस सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत होता है। तत्त्वज्ञानी पुरूषों का सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर त्यागने के पश्चात ही जलकर नष्ट हो जाता है।

जब सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में प्रलय हो जाती है, उस समय सभी जीवों के चित्त बीज रूप में अपरा-प्रकृति के अन्दर स्थित हो जाते हैं। प्रलयावस्था के समय जीव की अवस्था गहरी निद्रा जैसी होती है। सभी जीवों के चित्त बीज रूप में समेट कर अपरा-प्रकृति परा-प्रकृति में बीज रूप में स्थित हो जाती है। अनन्त काल

बाद जब सृष्टि का समय आता है, तब अपरा-प्रकृति परा-प्रकृति से प्रकट हो जाती है। सृष्टि के समय बीज रूप में विद्यमान जीवों के चित्त कर्मानुसार जन्म ग्रहण करने के लिए प्रकट होने लगते हैं। प्रलय के समय जीवों के चित्त बीज रूप में प्रकृति के अन्दर जिस स्थान पर विद्यमान हो जाते हैं तथा फिर जन्म ग्रहण करने के लिए प्रकट होकर चल देते हैं, वह स्थान समाधि के माध्यम से मैंने देखा हुआ है। इसका वर्णन मैंने अनुभवों में नहीं किया है। गीता में भगवान् श्री कृष्ण अपने लोक (परा-प्रकृति) के विषय में कहते हैं–

"न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः। यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम"।

गुण

प्रकृति जो अपने आपको कई भागों में (आठ प्रकृतियाँ और सोलह विकृतियाँ) किए हुए है। ये सत्त्वगुण, रजोगुण व तमोगुण का ही रूप हैं। तीनों गुण प्रकृति से ही उत्पन्न हुए हैं। सत्त्वगुण का स्वभाव हल्का, प्रकाशक व सुख स्वरूप है। रजोगुण का स्वभाव चंचल, क्रिया करना व दुःख स्वरूप है। तमोगुण का स्वभाव भारी, अवरोध डालना (रोकना या स्थिति बनाए रखना) व मोह स्वरूप है। ये तीनों गुण प्रत्येक वस्तु में पाये जाते हैं तथा तीनों गुण सदैव एक साथ रहते हैं, कभी भी अलग नहीं होते हैं। ऐसा नहीं होता है कि एक गुण ना हो सिर्फ दो ही रह जाएँ अथवा दो गुण ना हों एक ही रह जाए। तीनों गुण एक-दूसरे के आश्रित रहते हैं तथा तीनों गुण एक-दूसरे को प्रकट करते हैं। ये तीनों गुण सदैव समान रूप से नहीं रहते हैं, बल्कि सदैव एक गुण दूसरे गुण को दबाता रहता है। जब सत्त्वगुण प्रधान रहता है, तब रजोगुण व तमोगुण को दबाकर सुख, प्रकाश और शांति की वृत्ति उत्पन्न करता है। जब रजोगुण प्रधान होता है, तब सत्त्वगुण और तमोगुण को दबाकर दुःख, चंचलता और असन्तोष की वृत्ति उत्पन्न करता है। जब तमोगुण प्रधान होता है, तब सत्त्वगुण और रजोगुण को दबाकर आलस्य, सुस्ती और मोह की वृत्ति उत्पन्न करता है। ये तीनों गुण एक दूसरे के विरोधी होते हुए भी दीपक के समान अपने उदेश्य में लगे रहते है। जिस प्रकार तेल, बत्ती और अग्नि एक दूसरे के विरोधी होते हुए भी एक साथ मिलकर प्रकाश का कार्य करते हैं, उसी प्रकार तीनों गुण एक साथ मिलकर अपने कार्य में लगे रहते हैं।

प्रत्येक पदार्थ में तीनों गुणों का स्वभाव उपस्थित रहता है। जब कोई वस्तु स्थिर रहती है, तब उस समय उस वस्तु में तमोगुण प्रधान रूप में रहता है। सत्त्वगुण व रजोगुण गौण रूप में रहते हैं अर्थात् सूक्ष्म रूप में रहते हैं। जब उचित समय आता है, तब ये दोनों अपने-अपने समय में प्रकट हो जाते हैं। जब कोई वस्तु क्रियाशील होती है, तब उस वस्तु में उस समय रजोगुण प्रधान रूप में रहता है। इसके दोनों साथी सत्त्वगुण और तमोगुण गौण रूप में रहते हैं। जब कोई वस्तु प्रकाश वाली हो जाती है तब उसमें उस समय सत्त्वगुण प्रधान रूप में रहता है। रजोगुण व तमोगुण गौण रूप में रहते हैं। जब कोई वस्तु स्थिर होती है तब उसमें तमोगुण प्रधान रूप में रहता है तथा जब कोई वस्तु गतिशील या क्रियाशील होती है, तब उसमें रजोगुण प्रधान रूप में हो जाता है। जब वही वस्तु प्रकाशशील हो जाती है, तब उस वस्तु में सत्त्वगुण प्रधान रूप में हो जाता है। इस प्रकार सभी वस्तुओं में तीनों गुण प्रधान व गौण रूप में उपस्थित रहते हैं।

सत्त्वगुण का स्वभाव हल्का व प्रकाशक होने के कारण सत्त्वगुण प्रधान पदार्थ हल्के होते हैं। जैसे– आग हल्की होने के कारण ऊपर की ओर जलती है, वायु तिरछी चलती है, इन्द्रियाँ शीघ्रता से कार्य

करती हैं। सत्त्वगुण की प्रधानता के कारण आग में प्रकाश है, मन व इन्द्रियाँ प्रकाशशील हैं। सत्त्वगुण व तमोगुण स्वयं अपना कार्य नहीं कर सकते हैं। रजोगुण क्रिया वाला होने के कारण अपने काम को करवाता है। जब शरीर में रजोगुण प्रधान होगा तब शरीर के अन्दर उत्तेजना और चंचलता बढ़ जाती है। रजोगुण चंचल स्वभाव का होने के कारण सत्त्वगुण को (हल्का होने के कारण) कार्य के लिए प्रवृत्त कराता है। लेकिन तमोगुण भारी व अवरोधक होने के कारण रजोगुण को रोकता है। जब शरीर में तमोगुण प्रधान होता है, तब शरीर में आलस्य व भारीपन होता है तथा काम करने की इच्छा नहीं होती है।

प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुण परिणामी होते हैं, ये तीनों गुण एक क्षण भी बिना परिणाम के नहीं रहते हैं। परिणाम का अर्थ परिवर्तन है। परिणाम का लक्षण एक धर्म को छोड़कर दूसरा धर्म धारण करना है। यह परिणाम दो प्रकार का होता है। एक सरूप परिणाम होता है तथा दूसरा विरूप परिणाम होता है। जब दूध अपने स्वरुप दूध की ही अवस्था में बना रहता है तब भी दूध के परमाणु स्थित नहीं रहते हैं, बल्कि चलते ही रहते हैं। इस अवस्था में दूध का दूध बने रहने का परिणाम हो रहा है। यह सरूप परिणाम कहा जाता है। मगर जब दूध का दही बनने का परिणाम होता है अथवा एक निश्चित समय के बाद दूध के बिगड़ने या खट्टा होने का परिणाम होता है, तब विरूप परिणाम कहा जाता है। विरूप परिणाम तो प्रत्यक्ष होता है तथा प्रत्यक्ष होता दिखाई पड़ता है। मगर सरूप परिणाम सिर्फ अनुमान के द्वारा जाना जाता है। इसी प्रकार तीनों गुणों के अलग-अलग अपने समय में परिणाम होने को अर्थात् सत्त्वगुण का सत्त्वगुण में, रजोगुण का रजोगुण में तथा तमोगुण का तमोगुण में जो परिणाम होता है, उसे सरूप परिणाम कहते हैं। यह गुणों की साम्यावस्था है। इस परा-प्रकृति को अव्यक्त तथा प्रधान कहते हैं, यही सारे जड़ तत्त्वों का मूल कारण है। जब तीनों गुण एक दूसरे को दबाने का कार्य करते हैं तब विरूप परिणाम होता है, इसे गुणों का विषम परिणाम कहते हैं। चित्त से लेकर पाँचों स्थूल महाभूतों तक जो तेईस (23) तत्त्व हैं (चित्त, अहंकार, पाँचों तन्मात्राएँ, मन, दसो इन्द्रियाँ, पाँचों स्थूल महाभूत), ये सभी तीनों गुणों के विषम परिणाम हैं। ये सब प्रकृति के कार्य (तेईसों तत्त्व) प्रकृति की अपेक्षा विकृति और व्यक्त हैं।

अपनी-अपनी विकृतियों की अपेक्षा चित्त, अहंकार व पाँचों तन्मात्राएँ अव्यक्त और प्रकृति हैं, परन्तु परा-प्रकृति की अपेक्षा ये सभी व्यक्त और विकृतियाँ है। जिस-जिस विकृति का समाधि के द्वारा साक्षात्कार होता जाता है, उस-उस साक्षात्कार से उसकी प्रकृति का अनुमान किया जाता है। समाधि द्वारा अन्त में गुणों का सबसे पहला परिणाम चित्त का विवेक-ख्याति द्वारा साक्षात्कार होता है। उस साक्षात्कार से गुणों की सबसे प्रथम साम्य परिणाम वाली अवस्था का अनुमान ज्ञान द्वारा होता है। ये सारी सृष्टि गुणों

का ही परिणाम है, इसलिए तीनों गुण ही सारी सृष्टि की उत्पत्ति का उपादान कारण हैं। त्रिगुणात्मक प्रकृति और आत्मा दोनों ही अनादि है, इसलिए प्रकृति का आत्मा के साथ सानिध्य मात्र संयोग साम्य परिणाम अनादि है, विषम परिणाम तथा जीव का भोग और अपवर्ग का प्रयोजन भी अनादि है। अनादि का अभिप्राय काल की सीमा से परे होना है। काल कोई वास्तविक वस्तु नहीं है। विषम परिणाम के क्रमों की आगे-पीछे, निकटता और दूरी बतलाने के लिए केवल चित्त का निर्माण किया हुआ पदार्थ है।

गुणों की साम्य परिणामों वाली अवस्था का नाम परा-प्रकृति है। परा-प्रकृति जड़, अलिंग तथा त्रिगुणमयी कही गई है। गुण अपने स्वरूप से परिणाम स्वभाव वाले हैं, इसलिए इनका साम्य परिणाम अनुमान गम्य है। इस प्रकृति का समाधि के द्वारा साक्षात्कार नहीं किया जा सकता है। समाधि के द्वारा योगी सिर्फ चित्त तक साक्षात्कार कर सकता है। परा-प्रकृति गुणों की साम्यावस्था होने के कारण तथा किसी की विकृति न होने के कारण जीवात्मा के लिए निष्प्रयोजन है। जीवात्मा का प्रयोजन भोग और अपवर्ग है। भोग गुणों के परिणाम का यथार्थ रूप से साक्षात्कार तथा अपवर्ग जीवात्मा की स्वरूपावस्थिति अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति है। बिना गुणों के परिणाम के यथार्थ रूप का साक्षात्कार किए स्वरूपावस्थिति प्राप्त नहीं की जा सकती है। चेतन तत्त्व अपने शुद्ध स्वरूप में जड़ तत्त्व से सर्वथा भिन्न व विलक्षण है। प्रकृति में गुणों के विषम परिणाम के कारण सृष्टि की रचना हुई है। विषमावस्था वाली प्रकृति को अपरा-प्रकृति कहते हैं। गुणों का पहला विषम परिणाम सत्त्वगुण में रजोगुण का क्रिया मात्र तथा तमोगुण का स्थिति मात्र विषम परिणाम चित्त है। यह सत्त्वगुण में रजोगुण व तमोगुण की सूक्ष्म मात्रा ही सृष्टि के नियमों का बीज है। इसी चित्त से सारी सृष्टि की उत्पत्ति होती है। गीता के चौदह वें अध्याय में भगवान् श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं–

> *"हे अर्जुन! मेरी योनि (गर्भ रखने का स्थान) चित्त है, उसी में मैं गर्भ रखता हूँ। (अपने ज्ञान का प्रकाश डालता हूँ) और उसी (जड़-चेतन) संयोग से सब भूतों की उत्पत्ति होती है। उसमें बीज डालने वाला मैं (चेतन तत्त्व) पिता हूँ"।*

चित्त ग्राह्य और ग्रहण सब प्रकार के विषयों का जीवात्मा को प्रत्यक्ष कराने के लिए दर्पण रूप है। चित्त में ही सुख-दुःख, मोह आदि सत्त्वगुण, रजोगुण व तमोगुण का परिणाम होता है। चित्त की वृत्ति मात्र से सूक्ष्म शरीर के साथ स्थूल शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाना मृत्यु और जन्म कहलाता है। चित्त में पाँच प्रकार की अवस्थाएँ होती है– **एक**– मूढ़ावस्था, **दूसरी**– क्षिप्तावस्था, **तीसरी**– विक्षिप्तावस्था, **चौथी**– एकाग्रावस्था, **पाँचवी**– निरूद्धावस्था।

मूढ़ावस्था में तमोगुण प्रधान होता है, सत्त्वगुण व रजोगुण गौण रूप में रहते हैं। यह अवस्था काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि के कारण होती है। मनुष्य की इस अवस्था में प्रवृत्ति अज्ञान, अधर्म तथा राग आदि में होती है। यह अवस्था निम्न कोटि के मनुष्यों की होती है।

क्षिप्तावस्था में रजोगुण प्रधान रहता है, सत्त्वगुण व तमोगुण गौण रूप में रहते हैं। इस अवस्था में मनुष्यों की प्रवृत्ति ज्ञान-अज्ञान, धर्म-अधर्म की होती है। यह अवस्था साधारण सांसारिक मनुष्यों की होती है।

विक्षिप्तावस्था में सत्त्वगुण प्रधान होता है, रजोगुण व तमोगुण दबे हुए गौण रूप में रहते हैं। यह अवस्था मनुष्यों के राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह छोड़ने से होती है। इससे उसकी प्रवत्ति ज्ञान, धर्म, वैराग्य आदि में होती है लेकिन रजोगुण चित्त को विक्षिप्त करता रहता है। यह अवस्था उच्च कोटि के मनुष्यों तथा जिज्ञासुओं की होती है। ये तीनों अवस्थाएँ चित्त की स्वाभाविक नहीं हैं, क्योंकि बाहर के विषयों का चित्त पर प्रभाव पड़ता रहता है।

एकाग्रावस्था में एक ही विषय में समान वृत्तियों का प्रवाह निरन्तर बहता रहता है। जब चित्त में बाह्य विषयों के रजोगुण व तमोगुण का प्रभाव न रह जाए, तब चित्त निर्मल स्वच्छ चमकते हुए स्फटिक के समान हो जाता है। उस समय स्थूल पंच-महाभूतों से लेकर चित्त तक ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीता विषयों का यथार्थ साक्षात्कार होता है। इसकी अन्तिम सर्वोच्च अवस्था विवेक-ख्याति है, यह चित्त की स्वाभाविक अवस्था है। इसमें प्रकृति के सभी कार्यों का पूर्णतया साक्षात्कार होता है। एकाग्रावस्था में विवेक-ख्याति द्वारा चित्त और आत्मा के भेद का साक्षात्कार होता है। यह विवेक-ख्याति भी चित्त की एक वृत्ति है। इस वृत्ति के बाद पर-वैराग्य उदय हो जाता है।

निरूद्धावस्था में यह विवेक-ख्याति वृत्ति भी निरुद्ध हो जाती है। इस अवस्था में सर्ववृत्तियों के निरोध होने से अब सभी प्रकार के संस्कारों की समाप्ति हो जाती है, मगर पर-वैराग्य के संस्कार शेष रहते हैं। निरूद्धावस्था में किसी प्रकार के संस्कारों की वृत्ति न रहने पर कोई भी पदार्थ जानने में नहीं आता है तथा अविद्या आदि क्लेशात्मक कर्माशय जो जन्म-आयु तथा मृत्यु के बीज हैं, वह भी नहीं रहते हैं। इसलिए इसको निर्बीज समाधि भी कहते हैं। जब सभी प्रकार की वृत्तियों का निरोध हो जाता है, तब जीवात्मा की अवस्थिति शुद्ध चेतन तत्त्व में हो जाती है।

गुणों के विषम परिणाम से चित्त का निर्माण हुआ है, इसी चित्त में अहंकार बीज रूप में रहता है। जब सत्त्वगुणी चित्त में रजोगुण व तमोगुण की मात्रा बढ़ने लगती है, तब अहंकार बहिर्मुखी होने लगता है। यह

अहंकार तीनों गुणों का द्वितीय विषम परिणाम है। इस अहंकार में जो रजोगुण व तमोगुण है यही अहम् भाव उत्पन्न करता है। अहम् भाव एकत्व व बहुत्व आदि सभी प्रकार की भिन्नता प्रकट करता है। अहंकार में दो प्रकार के विषम परिणाम हो रहे हैं। **एक**–ग्राह्य रूप में, **दूसरा**– ग्रहण रूप में। ग्राह्य रूप में पाँच तन्मात्राएँ उत्पन्न हो रही हैं, ये तन्मात्राएँ शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध हैं। इन्हीं पाँचों तन्मात्राओं से पाँच सूक्ष्म महाभूत उत्पन्न हो रहे हैं। इन पाँचों सूक्ष्म महाभूतों से पाँच स्थूल महाभूत उत्पन्न हुए हैं। ये वही आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी हैं। इन पाँचों तन्मात्राओं के सूक्ष्म व स्थूल ग्राह्य विषम परिणाम हैं। ग्रहण रूप में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ व पाँच कर्मेन्द्रिया तथा मन हैं। पाँचों ज्ञानेन्द्रिया-कान, त्वचा, नेत्र, जीभ और नाक हैं तथा पाँचों कर्मेन्द्रियाँ हाथ, पैर, मुँह, जननेन्द्रिय और गुदा हैं। इन विषम परिणामों में सत्त्वगुण, रजोगुण व तमोगुण की मात्रा बढ़ती जाती है। चित्त की अपेक्षा अहंकार में रजोगुण व तमोगुण अधिक है। अहंकार की अपेक्षा मन, दसों इन्द्रिय व तन्मात्राओं में रजोगुण व तमोगुण अधिक है। इन तन्मात्राओं की अपेक्षा सूक्ष्म पंचभूत में रजोगुण व तमोगुण की मात्रा अधिक है। स्थूल पंचभूतों में रजोगुण व तमोगुण की मात्रा इतनी अधिक बढ़ जाती है कि ये भौतिक नेत्रों से दिखाई देने लगते हैं। सत्त्वगुण में जितना रजोगुण व तमोगुण बढ़ेगा उतनी ही अधिक स्थूलता आने लगती है।

गुणों के प्रथम विषम परिणाम में (चित्त में) सत्त्वगुण प्रधान रूप से होता है। रजोगुण व तमोगुण सिर्फ नाम मात्र का होता है, इसलिए चित्त अति सूक्ष्म है। अति सूक्ष्मता के कारण चित्त विभु (व्यापक) है। जैसे-जैसे रजोगुण व तमोगुण की मात्रा क्रमशः बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे सूक्ष्मता कम होती जाती है। जैसे-जैसे सूक्ष्मता कम होती जाती उसी के अनुसार व्यापकता भी कम होती जाती है। इसी कारण प्रकृति के अन्दर चित्त व्याप्त है तथा चित्त के अन्दर अहंकार व्याप्त है। अहंकार के अन्दर पाँचों तन्मात्राएँ, मन व दसों इन्द्रियाँ व्याप्त हैं। इन्हीं तन्मात्राओं के अन्दर सूक्ष्म पंचभूत व्याप्त हैं। सूक्ष्म पंचभूतों के अन्दर स्थूल पंचभूत व्याप्त है। रजोगुण व तमोगुण की मात्रा तन्मात्राओं की अपेक्षा सूक्ष्म पंचभूतों के अन्दर अधिक है। सूक्ष्म पंचभूतों की अपेक्षा स्थूल पंचभूतों में रजोगुण व तमोगुण की मात्रा बहुत अधिक है। इसलिए स्थूल पंचभूत दृष्टिगोचर हो रहे हैं। शुरूआत में सत्त्वगुण प्रधान था, रजोगुण व तमोगुण सिर्फ नाम मात्र थे। मगर जैसे-जैसे गुणों का परिणाम क्रम बढ़ता गया, वैसे-वैसे सत्त्वगुण कम होता गया तथा रजोगुण व तमोगुण बढ़ता गया। इसी के साथ व्यापकता कम होती गई। अन्त में जब स्थूल पंचभूतों में सत्त्वगुण नाम मात्र का रह गया और तमोगुण प्रधान हो गया तब व्यापकता इतनी कम हो गई कि मनुष्य ने अपने आपको सिर्फ स्थूल शरीर तक ही सीमित कर लिया तथा भौतिक जगत् को ही पूर्ण रूप से अपना समझने लगा। इस भौतिक जगत् में सारा व्यवहार तमोगुण का ही चल रहा है। पहले सत्त्वगुण प्रधान था, तमोगुण सिर्फ नाम

मात्र का था मगर अब तमोगुण प्रधान है, सत्त्वगुण सिर्फ नाम मात्र का है। सत्त्वगुण की प्रधानता वाला चित्त जड़ होते हुए भी ज्ञान स्वरूप आत्मा से प्रतिबिम्बित है। आत्मा का प्रकाश चित्त पर पड़ता है, इसलिए चित्त में ज्ञान दिलाने की योग्यता है। आत्मा का प्रकाश जो चित्त पर पड़ता है, इसी के द्वारा (प्रकाश या ज्ञान के द्वारा) चित्त के विषयों का अपने आप ज्ञान होता रहता है। इसलिए आत्मा को द्रष्टा तथा चित्त को दृश्य कहते हैं। चित्त में प्रतिबिम्बित चेतन तत्त्व भी रजोगुण व तमोगुण की अधिकता बढ़ जाने के कारण, इन्हीं दोनों गुणों के आवरणों से आच्छादित होकर स्थूल शरीर व भौतिक जगत् में झलक मात्र ही दिखाई दे रहा है।

दिव्य शरीर व देवताओं के शरीर उत्पन्न होने के समय सत्त्वगुण प्रधान होता है, अन्य दोनों गुण गौण रूप में रहते हैं। मनुष्य का शरीर उत्पन्न होने के समय रजोगुण प्रधान रहता है, अन्य दोनों गुण गौण रूप में रहते हैं। पशु, पक्षी, कीट आदि का शरीर उत्पन्न करते समय तमोगुण प्रधान रहता है, अन्य दोनों गुण गौण रूप में रहते हैं। मनुष्य जो भी कर्म करता है, वह रजोगुण के द्वारा करता है, क्योंकि रजोगुण का स्वभाव क्रिया करना है। रजोगुण जब सत्त्वगुण के साथ मिलकर कर्म करता है तो वह कर्म पुण्य वाले हो जाते हैं। जब रजोगुण तमोगुण से मिलकर कर्म करता है तो वह कर्म पाप वाले होते हैं। इस प्रकार तीनों गुणों द्वारा जो भी परिणाम हो रहा है, वह जीवात्मा के भोग-अपवर्ग के लिए है। स्थूल पंचभूतों से लेकर विवेक-ख्याति तक जो भी परिणाम का रूप है उसकी अनुभूति ही भोग है, क्योंकि विवेक-ख्याति से रहित जीवात्मा के साथ गुण संयुक्त रहते हैं। समाधि के द्वारा विवेक-ख्याति प्राप्त करने पर ये गुण जीवात्मा के लिए परिणाम (भोग रूप में) बन्द कर देते हैं। अपवर्ग उसे कहते हैं– जब जीवात्मा सारे भोगों को भोगकर अपने शुद्ध स्वरूप में (आत्मा में) अवस्थित हो जाए, यह अवस्था विवेक-ख्याति के पश्चात आती है।

गुणों की चार प्रकार की अवस्थाएँ अर्थात् परिणाम हैं– **1. विशेष, 2. अविशेष, 3. लिंग मात्र 4. अंलिग।** विशेष अवस्था में सोलह विकृतियाँ आती हैं, अविशेष अवस्था में पाँचों तन्मात्राएँ और अहंकार आता है। लिंगमात्र अवस्था में चित्त आता है तथा अंलिग अवस्था में अव्यक्त, परा-प्रकृति आती है, यह गुणों की साम्यावस्था हैं। परा-प्रकृति जीवात्मा के लिए निष्प्रयोजन है। चित्त को बनाने वाले गुण जीवात्मा के लिए भोग और अपवर्ग का कार्य करने के पश्चात अपने कारण में (प्रकृति में) लीन हो जाते हैं।

चित्त में दो प्रकार का परिणाम सदैव होता रहता है। पहले प्रकार का परिणाम स्वयं चित्त में होता रहता है, इसे चित्त का आंतरिक परिणाम भी कहते हैं, क्योंकि चित्त का अस्तित्व ही गुणों के विषम

परिणाम द्वारा है। सत्त्वगुण में नाम मात्र का रजोगुण व तमोगुण ही चित्त का आंतरिक परिणाम है। दूसरे प्रकार का परिणाम बाह्य परिणाम कहा जाता है। यह परिणाम चित्त में स्थित विभिन्न प्रकार की वृत्तियों में होता रहता है। इन्हीं वृत्तियों के कारण मनुष्य वैसा ही कर्म करता है जिस प्रकार की (सत्त्वगुणी, रजोगुणी व तमोगुणी) उसकी वृत्ति होती है। चित्त का बाह्य परिणाम दो प्रकार के दृश्यों द्वारा दिखाई देता है। **एक**– कबूतरों के रूप में, **दूसरा**– बच्चों के रूप में। कबूतरों वाला अनुभव अपनी पिछली पुस्तक **"योग कैसे करें"** में लिखा है। इस प्रकार के अनुभव जनवरी 1996 में बहुत आए थे, उस पुस्तक में पढ़ा जा सकता है। ऐसे अनुभव तब आते हैं जब साधक अहंकार की भूमि पर समाधि का अभ्यास कर रहा होता है। इस अनुभव को संक्षेप में लिख रहा हूँ। तीन कबूतर आपस में एक दूसरे को जबरदस्ती दबाते रहते हैं तथा नीचे वाले कबूतर के सिर पर चोंच का प्रहार करते रहते हैं। सत्त्वगुण के प्रतीक वाला कबूतर सबसे ऊपर होता है, बीच में रजोगुण के प्रतीक वाला कबूतर होता है तथा सबसे नीचे तमोगुण के प्रतीक वाला कबूतर होता है। इन तीनों कबूतरों के बाह्य स्वरूप की स्वच्छता में भिन्नता होती है। सत्त्वगुण के प्रतीक वाला कबूतर अत्यन्त स्वच्छ होता है तथा कभी-कभी सम्पूर्ण अंतरिक्ष में भी उड़ता दिखाई देता है। उड़ने के बाद कबूतर के ऊपर बैठ कर नीचे वाले कबूतर के सिर पर जबरदस्त चोंच का प्रहार करता है। यह चित्त की एकाग्रावस्था के समय होता है। इस अवस्था में एक ही विषय में समान वृत्तियों (सत्त्वगुणी) का प्रवाह निरन्तर बहता रहता है। सत्त्वगुण अपने दोनों साथी रजोगुण व तमोगुण का दबाए रहता है। दूसरे प्रकार का अनुभव तब आता है जब ऋतम्भरा-प्रज्ञा द्वारा प्रकृति के पदार्थों के विशेष स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है। इस दृश्य में तीन छोटे-छोटे बच्चे दिखाई देते हैं। दो बच्चे एक साथ मिलकर तीसरे बच्चे को नीचे दबाकर बड़े आराम से सोते रहते हैं। दृश्य बहुत अच्छा दिखाई देता है। ऊपर वाले दोनों बच्चे सत्त्वगुण व तमोगुण के प्रतीक हैं, नीचे वाला बच्चा रजोगुण का प्रतीक है। विवेक-ख्याति के पश्चात जब साधक निरूद्धावस्था का अभ्यास करता है तब इस प्रकार के अनुभव आते हैं। निरूद्धावस्था में चित्त का बाह्य परिणाम रुक जाता है तथा चित्त का आन्तरिक परिणाम होता रहता है। जब बाह्य परिणाम रुकता है तब चित्त में लेश मात्र स्थित तमोगुण सत्त्वगुण का सहयोग करके रजोगुण को दबा लेता है, तब चित्त की वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं। चित्त का आन्तरिक परिणाम चित्त का स्वरूप नष्ट होने पर ही बन्द होता है। दोनों प्रकार के अनुभव चित्त के बाह्य परिणाम से सम्बन्धित है। कबूतर वाला अनुभव एकाग्रावस्था का है। बच्चों वाला अनुभव निरूद्धावस्था का संकेत है। निरूद्धावस्था में किसी प्रकार के अनुभव नहीं आते हैं। कभी-कभी साधक को ऐसे अनुभव योगनिद्रा में दिखाई देते हैं।

गुणों की प्रवृत्ति जीवात्मा के भोग और अपवर्ग के लिए है। इसी कारण चित्त, अहंकार, इन्द्रिय, शरीर आदि का स्वरूप धारण किए है, जिससे जीवात्मा के प्रति इन गुणों का कार्य समाप्त हो जाता है। फिर गुण अपने कारण प्रकृति में लीन हो जाते हैं। जब गुण अपने कारण में लीन होते हैं, तब वे प्रतिलोम परिणाम से लीन होते हैं अर्थात् निरोध के संस्कार मन में, मन अहंकार में, अहंकार चित्त में, चित्त को बनाने वाले गुण प्रकृति में लीन हो जाते हैं। गुणों का अपने कारण में लीन हो जाना अर्थात् गुणों का जीवात्मा से अलग हो जाना ही कैवल्य है।

गुणों के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता है। मानव शरीर द्वारा समाधि अवस्था में चित्त तक ही साक्षात्कार हो सकता है। चित्त का साक्षात्कार होने पर साधक के लिए प्राकृतिक बन्धन समाप्त हो जाता है, क्योंकि गुण फिर उस जीवात्मा के लिए सृष्टि उन्मुख (अनुलोम परिणाम) और प्रलय उन्मुख (प्रतिलोम परिणाम) दोनों प्रकार के परिणाम क्रम समाप्त कर देते हैं।

चित्त

गुणों का सर्वप्रथम विषम परिणाम चित्त है, सत्त्वगुण में लेशमात्र रजोगुण व तमोगुण चित्त कहलाता है। सत्त्वगुण में क्रियामात्र रजोगुण तथा इस क्रिया को रोकने मात्र तमोगुण होता है, इसे व्यष्टि चित्त कहते हैं। इस व्यष्टि चित्त में सत्त्वगुण अपनी विशुद्धता को छोड़े हुए हैं, क्योंकि सत्त्वगुण में रजोगुण व तमोगुण मिला हुआ है। व्यष्टि चित्त में व्यष्टि अहंकार रहता है, ये जीवों के चित्त हैं जो संख्या में असंख्य हैं। यह गुणों की विषमावस्था है। गुणों की साम्यावस्था में जो चित्त बनता है, उसे समष्टि चित्त कहते हैं। समष्टि चित्त में सत्त्वगुण का सत्त्वगुण में, रजोगुण का रजोगुण में, तमोगुण का तमोगुण में परिणाम होता है अर्थात् इस चित्त में गुण समान रूप से रहते हैं, एक दूसरे को दबाते नहीं है। इस चित्त में सत्त्वगुण विशुद्धता लिए हुए है, इसलिए इसे विशुद्ध सत्त्वमय चित्त कहते हैं। जबकि व्यष्टि चित्त में सत्त्वगुण अपनी विशुद्धता छोड़े हुए होता है। विशुद्ध सत्त्वमय चित्त में समष्टि अहंकार बीज रूप से रहता है, यह ईश्वर का चित्त है। चेतन तत्त्व के ज्ञान का प्रकाश चित्त पर प्रतिबिम्ब के रूप में पड़ता है। यही ज्ञान का प्रकाश चित्त पर पड़ने के कारण चेतन तत्त्व (आत्मा) चित्त का द्रष्टा है तथा चित्त दृश्य है। चित्त में उसके ज्ञान के प्रकाश में जो कुछ भी हो रहा है वह उसे (आत्मा को) ज्ञात रहता है। व्यष्टि चित्त के सम्बन्ध से चेतन तत्त्व (आत्मा) का नाम जीव है। समष्टि चित्त के सम्बन्ध से चेतन तत्त्व (आत्मा) का नाम ईश्वर है। समष्टि का अर्थ सरूप परिणाम से है जिसमे गुण समान रूप में रहते हैं, एक दूसरे को दबाते नहीं हैं। व्यष्टि का अर्थ विरूप परिणाम से है, इसमे गुण सदैव एक दूसरे को दबाते रहते हैं।

चित्त में रजोगुण व तमोगुण की मात्रा जैसे-जैसे बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे अहंकार, तन्मात्राएँ, मन, इन्द्रियाँ, सूक्ष्म पंच-महाभूत बहिर्मुखी होते जाते हैं। अन्त में स्थूल शरीर व भौतिक जगत् में रजोगुण व तमोगुण का व्यापार पूर्ण रूप से हो जाता है। सत्वगुण की मात्रा इतनी कम हो जाती है कि वह केवल प्रकाश मात्र रह जाता है। सत्वमय चित्त में रजोगुण व तमोगुण का आवरण पूरी तरह से आच्छादित हो जाता है। जीव अपने वास्तविक स्वरूप को रजोगुण व तमोगुण से आच्छादित आवरण के कारण भूल जाता है। जीव अपने आपको स्थूल शरीर तक सीमित कर लेता है तथा भौतिक जगत् को अपना समझने लगता है। इसी कारण जीव अपने निज स्वरूप को भूलकर अज्ञान से युक्त कर्मों के कारण इसी भौतिक जगत् में बार-बार जन्म, आयु और मृत्यु के चक्र में बना रहता है। समाधि के अभ्यास के द्वारा जितनी अन्तर्मुखता बढ़ती जाएगी, चित्त में स्थित रजोगुण व तमोगुण का आवरण उतना ही धीरे-धीरे कम होता जाएगा। तब सत्त्वगुण का प्रकाश बढ़ता जाएगा और जीव अपने निज स्वरूप में स्थित हो जाएगा।

चित्त सभी प्रकार के दृश्यों से युक्त होता है, इसलिए हम इसे दृश्य भी कहते हैं तथा यह चेतन तत्त्व के ज्ञान के प्रकाश से भी युक्त होता है, क्योंकि चित्त पर चेतन तत्त्व का प्रतिबिम्ब ज्ञान के प्रकाश के रूप में पड़ता है। इस प्रकार चित्त सभी अर्थों वाला होता है। **एक**– ग्रहीता स्वरूप वाला, **दूसरा**– ग्रहण स्वरूप वाला, **तीसरा**– ग्राह्य स्वरूप वाला। **एक**– चेतन तत्त्व से (आत्मा से) प्रतिबिम्बित हुआ चित्त ज्ञान वाला प्रतीत होता है। इसी ज्ञान वाला प्रतीत होने के कारण चित्त को चेतन तत्त्व होने की भ्रान्ति होने लगती है, यह उसका ग्रहीता स्वरूप है। **दूसरा**– चित्त गुणों का विषम परिणाम है, यह परिणामी व जड़ है। यह मन व इन्द्रियों के रूप में ग्रहण स्वरूप है। **तीसरा**– बाह्य विषयों से प्रतिबिम्बित होकर चित्त उस जैसा भासित होने लगता है, यह इसका ग्राह्य स्वरूप है। ग्राह्य स्वरूप में तन्मात्राएँ, सूक्ष्म व स्थूल पंच-महाभूत आते हैं। चित्त केवल ग्रहण रूप में व ग्राह्य रूप में प्रतीत होता है। मैंने यहाँ पर जो ग्रहीता स्वरूप का उल्लेख किया है, यहीं भ्रान्ति होती है। मगर यह भ्रान्ति समाधि द्वारा विवेक-ख्याति के पश्चात समाप्त हो जाती है। जब ऋतम्भरा-प्रज्ञा का उदय होता है तब चित्त की वास्तविकता का पता चल जाता है। चित्त का अपना एक स्वरूप है। **दूसरा**– चेतन तत्त्व से प्रतिबिम्बित होकर ज्ञान वाला प्रतीत होता है, **तीसरा**– बाह्य विषयों से प्रतिबम्बित होकर उन जैसा भासित होता है।

चित्त में प्रतिक्षण बाहरी तथा आन्तरिक गुणों का परिणाम हो रहा है। चित्त राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह, भय आदि रूप से बदलता रहता है। जिस प्रकार वायु के वेग से जल में तरंगे उठती हैं, उसी प्रकार चित इन्द्रिय द्वारा बाह्य विषयों से आकर्षित होकर उन जैसे विकारों में परिणित होता रहता है। यह सब चित्त की वृत्तियाँ कहलाती हैं जो प्रतिक्षण प्रकट होती रहती हैं। जैसे- जल, वायु के अभाव में तरंगों का स्वरूप त्याग कर अपने स्वभाव में अवस्थित हो जाता है, इसी प्रकार चित्त अपने बाह्य और आंतरिक परिणामों को त्याग कर अपने कारण में (प्रकृति में) अवस्थित हो जाता है। चित्त में पाँच प्रकार की अवस्थाएँ होती हैं, जिन्हें पहले लिखा जा चुका है। साधक को समाधि में चित्त नदी के रूप में दिखाई देता है, उस नदी में बहता हुआ पानी चित्त की अनन्त वृत्तियाँ होती हैं। इसलिए चित्त को नदी का रुप कहा जाता है जिसमे वृत्तियों का प्रवाह बहता है। इसकी दो धाराएँ होती हैं। **एक**– संसार रूपी सागर की ओर बहती है, **दूसरी**– कल्याण रूपी सागर की ओर बहती है। जिन मनुष्यों ने पूर्व जन्म में सांसारिक विषयों के भोगों से सम्बन्धित कार्य किए हैं उनकी वृत्तियों की धारा उन संस्कारों के कारण विषय भोगों के मार्ग से बहती हुई संसार सागर में जाकर मिलती है। जिन मनुष्यों ने पूर्व जन्म में मोक्ष से सम्बंधित कार्य किए हैं, उनकी वृत्तियों की धारा उन संस्कारों के कारण विवेक मार्ग से बहती हुई कल्याण रुपी सागर में जाकर मिलती है। साधारण मनुष्यों अथवा संसारी मनुष्यों की विषय भोग वाली धारा जन्म से ही खुली रहती है,

इनकी दूसरी धारा बन्द रहती है। दूसरी धारा खोलने के लिए योग के अभ्यास का सहारा लिया जाता है। योग का जितना कठोर अभ्यास किया जाता है, उतने ही अधिक प्रवाह से यह अपना मार्ग बना कर विवेक के स्त्रोत में पहुँचती है। फिर कल्याण रूपी सागर में जाकर मिल जाती है। इस अवस्था में पहली वाली धारा को योग के अभ्यासी उसके स्त्रोत पर (विषय भोग की धारा पर) वैराग्य का बन्ध लगा देते हैं। इस प्रकार योग का अभ्यास और वैराग्य दोनों ही एक साथ मिलकर चित्त की वृत्तियों को निरुद्ध कर देते हैं। सिर्फ योग का अभ्यास अथवा वैराग्य किसी एक के सहारे चित्त के वृत्तियों को निरुद्ध नहीं किया जा सकता है।

मनुष्य के चित्त में कई प्रकार के मलों का आवरण होता है। इन्हीं मलों के कारण योग के अभ्यास में शीघ्र सफलता नहीं मिलती है। इन मलों को जब भी समय मिले (जाग्रत अवस्था में व्यवहार के समय) तब साफ करते रहना चाहिए। ये मल इस प्रकार है– अपनी इच्छानुसार प्राप्त वस्तु की अनुभूति में सुख मिलता है। यह सुख सदैव बना रहे, यह इच्छा ही राग है। राग चित्त का मल है। दूसरों को सम्पत्ति वाला आदि देखकर चित्त में एक प्रकार की जलन होती है। इसे इर्ष्या कहते हैं। यह ईर्ष्या चित्त को गन्दा कर देती है। दूसरे की बुराई और दुःख पहुँचाने की इच्छा चित्त को मलिन कर देती है। दूसरों के गुणों में दोष आरोपित करने से चित्त में मल का आवरण चढ़ने लगता है, दूसरे से द्वेष करने पर भी चित्त मलिन होने लगता है। किसी से अपमानित होकर तथा कठोर वचन सुनकर सहन न कर पाने पर बदले की भावना से चित्त मलिन होता है। इन सभी मलों से युक्त होकर चित्त पर पूरी तरह से गन्दगी चढ़ जाती है, जिससे योग के अभ्यास में चित्त शीघ्रता से एकाग्र नहीं हो पाता है। चित्त के इस मल रूपी आवरण से छुटकारा पाने के लिए निम्नलिखित उपाय करने चाहिएं। अपने विरोधी मनुष्य को देखकर भी उससे ईर्ष्या की भावना न रखें, बल्कि मित्रता की भावना रखनी चाहिए। अपने विरोधी अथवा अपने मित्र के सुख को अपना सुख समझकर प्रसन्न रहना चाहिए। जब अपने विरोधी अथवा अपने मित्र का सुख अपना सुख समझोगे तो राग और द्वेष की भावना समाप्त हो जाएगी तथा ईर्ष्या भी समाप्त हो जाएगी। दूसरे मनुष्य पर परोपकार व दया की भावना रखनी चाहिए, इससे घृणा आदि समाप्त हो जाती है। इसलिए विवेकी मनुष्य सब पर दया करते हैं। जैसे मुझे अपने प्राण प्रिय हैं, वैसे अन्य प्राणियों को भी प्राण प्रिय हैं, ऐसा वह सोचते हैं। इस प्रकार का व्यवहार जब मनुष्य दूसरों पर करता है तो उसके चित्त से मलों का आवरण हट जाता है अर्थात् मल धुल जाते हैं। चित्त के निर्मल होने से प्रसन्नता प्राप्त होती है। इससे समाधि अवस्था में चित्त शीघ्र एकाग्र हो जाता है।

जिन अभ्यासी साधकों ने सांसारिक विषयों की इच्छा पूरी तरह से छोड़ दी है, ऐसे साधकों के चित्त से अज्ञान आदि क्लेशात्मक कर्माशय समाप्त हो जाते हैं, जिससे समाधि अवस्था में चित्त में सात्विक संस्कार उदय होते हैं। इन संस्कारों से चित्त शीघ्रता से एकाग्र हो जाता है। चित्त की एकाग्रता प्राप्त हो जाने पर उसे जहाँ चाहो लगा सकते हो। जब चित्त में एकाग्र होने की योग्यता प्राप्त हो जाती है, तब चित्त योगी के वश में हो जाता है। फिर चित्त को जहाँ चाहो, जिस पदार्थ में चाहो लगा सकते हो। इस अवस्था में चित्त की रजोगुणी व तमोगुणी वृत्तियाँ क्षीण हो चुकी होती है तथा चित्त का स्वरूप अति निर्मल स्फटिक के समान हो जाता है। जिस प्रकार अति निर्मल स्फटिक के सामने जिस रंग का फूल रख दिया जाए, स्फटिक उसी रंग का दिखाई देने लगता है। इसी प्रकार रजोगुणी व तमोगुणी वृत्तियों के क्षीण होने पर सत्त्वगुण के प्रकाश की सात्विकता बढ़ने पर चित्त इतना स्वच्छ हो जाता है कि फिर उसे जिस भी पदार्थ में लगावें उस पदार्थ का साक्षात्कार करा देता है, चाहे वह ग्रहीता, ग्रहण व ग्राह्य विषय हो। चित्त के इस प्रकार वस्तु का आकार धारण करने को चित्त की एकाग्रता व सबीज समाधि कहते हैं। समाधि से पहले चित्त में रजोगुण व तमोगुण से युक्त वृत्तियाँ रहती हैं, फिर समाधि की अवस्था में जो अनुभव आते हैं उनके भी संस्कार चित्त पर पड़ते हैं। ये समाधि के संस्कार पहले वाले रजोगुणी व तमोगुणी से शक्तिशाली होते हैं, क्योंकि समाधि के संस्कारों का ज्ञान रजोगुणी व तमोगुणी संस्कारों के ज्ञान से अधिक निर्मल होता है। समाधि वाले ज्ञान की निर्मलता में पदार्थ के तत्त्व का अनुभव होता है।

समाधि अवस्था में अभ्यासियों को जो चित्त चैतन्य-सा दिखाई देता है। जब विवेक-ख्याति के द्वारा आत्मा और चित्त में भिन्नता का ज्ञान हो जाता हैं, तब चित्त एक जड़ वस्तु दिखाई देती है। तब लगने लगता है कि चित्त मुझसे भिन्न है। अविद्या के नाश हो जाने पर चित्त अभिमान से रहित रजोगुण व तमोगुण के आवरण से शून्य हो जाता है। तब सत्त्वगुण के प्रकाश में जो चेतन तत्त्व का प्रतिबिम्ब चित्त पड़ रहा है, जिसके कारण चित्त चैतन्यमय-सा प्रतीत होता था, तब चित्त से भिन्न उसका (चेतन तत्त्व के प्रतिबिम्ब का) साक्षात्कार होता है। यह साक्षात्कार चित्त की एक सात्विक वृत्ति के कारण होता है। विवेक-ख्याति में जो साक्षात्कार होता है उससे चित्त इतना सात्विक हो जाता है कि विवेक-ख्याति भी चित्त की एक सात्विक वृत्ति प्रतीत होने लगती है। आत्मा और चित्त का भेद जानने वाला साधक सवर्ज्ञता को प्राप्त कर लेता है, क्योंकि चित्त गुणों का प्रथम विषय परिणाम है। चित्त ग्रहीता स्वरूप भी है, इसी के द्वारा गुणों के परिणाम का यथार्थ ज्ञान भी प्राप्त होता है। आत्मा चित्त का स्वामी तथा ज्ञान स्वरूप है, परन्तु अविवेक के कारण चित्त में आत्मा को आरोपित करते हैं, यही अज्ञान का कारण है। गुणों के परिणामों का सम्पूर्ण ज्ञान होने पर साधक सर्वज्ञ हो जाता है।

सत्त्व प्रधान चित्त सूर्य के समान प्रकाशवान है। जैसे वर्षा ऋतु में सूर्य के प्रकाश को बादल ढक लेते हैं, उसी प्रकार रजोगुणी व तमोगुणी अविद्या से युक्त कर्माशय भी चित्त के प्रकाश को ढक लेते हैं अथवा आवरण डाले रहते हैं। जिस प्रकार बादलों के हट जाने पर सूर्य का प्रकाश चारों ओर फैल जाता है, उसी प्रकार रजोगुणी व तमोगुणी वृत्तियों के मल का आवरण हटने पर चित्त का ज्ञान स्वरूप प्रकाश चारों ओर फैल जाता है। फिर जानने योग्य कुछ भी शेष नहीं रह जाता है, क्योंकि ज्ञान का प्रकाश अनन्त तथा ज्ञेय वस्तुएँ अल्प रह जाती है।

आत्मा दृष्टा है, चित्त दृश्य है। आत्मा के साथ चित्त भी चैतन्य-सा हो जाता है। जब चित्त विषयों के साथ सम्बन्ध करता है, तब वही चित्त सब वस्तुओं को ग्रहण करने की शक्ति से सम्पन्न होता है। रजोगुण और तमोगुण के आवरण से रहित शुद्ध सत्त्वचित्त ही आत्मा का प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में समर्थ होता है। रजोगुण और तमोगुण अशुद्ध होने के कारण प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में असमर्थ है। चित्त रजोगुण और तमोगुण को दबाता हुआ सत्त्वगुण प्रधान बन कर स्थिर दीपशिखा के (जलती हुई लौ के समान) आकार-सा चेतन प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की शक्ति के कारण सदा एक रूप से परिणित होता हुआ मोक्ष तक रहता है। अब उन साधकों को यह बात समझ में आ जानी चाहिए कि जो इस जलती हुई लौ के आकार को आत्मा कहते हैं, यह चित्त का ही एक स्वरूप है जो इस प्रकार दिखाई देता है। चित्त के अन्दर आत्मा को आरोपित करना अज्ञानता के सिवाय कुछ भी नहीं है। यह अज्ञानता जो आत्मा को दीप शिखा के समान समझा रही है, विवेक-ख्याति की प्राप्ति के बाद समाप्त हो जाती है, क्योंकि विवेक-ख्याति के द्वारा आत्मा और चित्त की भिन्नता का ज्ञान हो जाता है।

चित्त में जो तमोगुण लेश मात्र है, उसी तमोगुण में अविद्या बीज रूप में विद्यमान रहती है। इस तमोगुण की मात्रा जब चित्त में बढ़ती है, तब अविद्या बहिर्मुखी होने लगती है। इसी अविद्या से क्रमशः अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश और क्लेश उत्पन्न होते हैं, इसलिए अविद्या पाँच गाँठो (अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश और क्लेश) वाली कही गई है। अनित्य में नित्य, अपवित्र में पवित्र, अनात्मा में आत्मा का ज्ञान अविद्या है। इसी अविद्या के कारण मनुष्य सकाम कर्म करता है, इन्हीं सकाम कर्मों से चित्त में उसी प्रकार के (सकाम कर्मों के अनुसार) कर्माशय बनते हैं। फिर कर्माशयों के अनुसार जन्म-आयु तथा भोग को प्राप्त होता है। इन्हीं भोगों के अनुसार सुख-दुःख उत्पन्न होते हैं। जहाँ अविद्या होती है, वहाँ पर अस्मिता आदि क्लेशों की उत्पत्ति देखी जाती है। मगर अविद्या जब शिथिल कर दी जाती है अथवा

शिथिल हो जाती है, तब अस्मिता आदि की उत्पत्ति नहीं होती है। इससे स्पष्ट होता है कि इन सबका कारण अविद्या ही है।

अविद्या के कारण मनुष्य को यह सम्पूर्ण जगत् नित्य दिखाई देता है तथा धन आदि सब कुछ वह अपना समझता है। चोरी, अन्याय, हिंसा आदि से कमाए हुए धन को उचित समझना, हिंसा, पाप और अधर्म से युक्त चित्त को पवित्र समझना अविद्या है। सभी मनुष्य इन सांसारिक विषयों में लिप्त होकर सदैव सुख ढूंढा करते हैं, जबकि इस अनित्य सांसारिक विषय में सुख बिल्कुल नहीं है। गुणों के कारण सभी पदार्थ परिवर्तनशील हैं, फिर परिवर्तनशील पदार्थ से सुख कैसे मिल सकता है? जो वस्तु आज आपकी है वह कल दूसरों की हो जाएगी, इसलिए सभी पदार्थ दुःख स्वरूप ही हैं। शरीर, इन्द्रिय और चित्त ये सभी जड़ तत्त्व हैं, इन्हें आत्मा समझना ही अविद्या है। यही अविद्या बन्धन का मूल कारण है।

अविद्या को मिथ्या ज्ञान भी कहते हैं। मनुष्य में विवेक न होने से आत्मा और चित्त में अभिन्नता दिखाई देती है। चित्त की सुख-दुःख और मोह रूपी वृत्तियों का आत्मा पर आरोप लगाया जाता है। मनुष्य कहता है- आज हमें आत्मिक दुःख है, आज हमें आत्मिक सुख है, अपने आत्मा से निर्णय करना आदि। आत्मा न दुःखी होता है और न सुखी होता है। मनुष्य ये सब आत्मा पर ही आरोपित करता है। यही मनुष्य की अज्ञानता अथवा अविद्या है, क्योंकि सारे धर्म चित्त के है न कि आत्मा के। आत्मा चैतन्यमय द्रष्टा के स्वरूप में है। मिथ्या ज्ञान से युक्त जो चित्त है वह अपने अधिकार को समाप्त नहीं कर सकता है। वह अधिकार से युक्त रहने के कारण आवागमन से युक्त रहता है, मगर विवेक-ख्याति को प्राप्त हुआ चित्त अपने अधिकारों की समाप्ति पर अज्ञान से रहित हो जाता है तथा बन्धन से भी मुक्त हो जाता है, जिससे वह आवागमन से रहित हो जाता है। अविद्या के विरोधी विशुद्ध ज्ञान से अविद्या की समाप्ति (अभाव) हो जाती है तथा अविद्या की समाप्ति पर अविद्या के कार्य चित्त और आत्मा को अभिन्न रूप में देखने के अभाव को मोक्ष कहते हैं अर्थात् दुःखों का अपने कारण सहित नाश हो जाता है।

मनुष्य का चित्त चंचल होता है। उसे पाप मार्ग से हटा दिया जाए तो पुण्य की ओर चला जाता है और यदि पुण्य मार्ग से हटा दिया जाए तो पाप मार्ग में लग जाता है। इसलिए इसे पाप मार्ग से हटा कर दृढ़ता पूर्वक पुण्य मार्ग पर लगा देना चाहिए। मनुष्य के लिए उचित है कि चित्त को शीघ्र ही समता रूपी सांत्वना देकर योग के अभ्यास के प्रयत्न के द्वारा धीरे-धीरे आत्म स्वरूप के चिंतन में लगाना चाहिए, हठपूर्वक एकाएक उसका विरोध न करें। जैसे एक दीपक से सैकड़ों दीपक जल जाते हैं, उसी तरह एक ही चेतन आत्मा अपने संकल्प से मानों नानात्व को प्राप्त हुआ है। मनुष्य चित्त मात्र ही है, चित्त के निरुद्ध हो

जाने पर यह जगत् शांत हो जाता है। जिसका चित्त शांत है उसके लिए सारा जगत् शांत हो जाता है। चित्त ही विकास रूप से जगत् को प्राप्त हुआ है। जैसे बालू के अन्दर तेल नहीं है, उसी तरह ब्रह्म में शरीर आदि की सत्ता नहीं है। राग-द्वेष आदि कलेशों से युक्त यह चित्त ही संसार है। उन राग आदि दोषों से जब छुटकारा मिल जाता है तभी संसार बन्धन का नाश हो पाता है। सम्पूर्ण लोकों की कल्पना का आकाश स्वरूप चित्त सम्पूर्ण दृश्यों को अपने अन्दर धारण करता है। जिस पुरूष का चित्त विषयों में बंधा हुआ है, वह बन्धन में पड़ता है तथा जिसका चित्त कर्म वासना के बन्धन से रहित है, वह मोक्ष को प्राप्त होता है। मन के एक मात्र ब्रह्माकार होने पर संसार का लय हो जाता है। चित्त के सहयोग के बिना मनुष्य इस संसार को नहीं देख सकता है। मन द्वारा ही मनुष्य अच्छी बुरी वस्तु को छूकर, सुनकर, देखकर, सूंघकर अपने अन्दर हर्ष या विषाद का अनुभव करता है। राग के विषयाभूत बाह्य विषयों का परित्याग करके परमात्म चिन्तन रूपी पुरूषार्थ मय प्रयत्न से चित्त पर विजय पाई जाती है। जो बाह्य विषयों को त्याग कर चित्त के राग आदि रोग से रहित रहता है, उसने अपने मन को जीत लिया है। चित्त की शांति के सिवाय मुक्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं है। ज्ञान का उदय हो जाने पर मन के लय हो जाने से परम् शांति प्राप्त हो जाती है।

जब साधक अभ्यास के द्वारा संकल्पों का परित्याग करके चित्त रूपी वृक्ष को समूल से नाश कर देता है, तब साधक सर्वव्यापी ब्रह्म स्वरूप हो जाता है। परमार्थ वस्तु अर्थात् अधिष्ठान रूप ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर चित्त की सत्ता नहीं रहती है। चित्त की सत्ता ही जगत् तथा जगत् की सत्ता ही चित्त है। एक के अभाव से दोनों का अभाव हो जाता है। इन दोनों का अभाव सत्य स्वरूप परमात्म विषयक चिंतन करने से सम्भव है। शुद्ध चित्त का अनुभव सत्य होता है। बहुत समय तक परमात्मा के चिन्तन स्वरूप दृढ़ अभ्यास से चित्त की शुद्धि होती है। जिसका चित्त संकल्पों से आक्रान्त नहीं होता है उसके चित्त में ज्ञान का उदय होता है। वासना से मलिन चित्त में ब्रह्माकार रूपी एक दृष्टि स्थिर नहीं होती है, चित्त का वासना से रहित होना ही उसकी शुद्धि है। जगत् के ज्ञान से शून्य और एक ब्रह्माकार होना ही वासना से रहित होना है। चित्त की शुद्धि से अभ्यासी शीघ्र ही ज्ञान सम्पन्न हो जाता है। चित्त का चिन्मय ब्रह्म में लय हो जाना ही उसकी वास्तविक शुद्धि है। जब चित्त सिद्धि को प्राप्त होता है, तब जीवात्मा जगत् के सम्पर्क से युक्त हो चेतनमय आत्मस्वरूप में स्थित हो जाता है। चेतन आत्मा विशुद्ध एवं सर्वव्यापी है, इसलिए चित्त के विषय में पूर्ण रूप से ज्ञान रहता है तथा सर्वव्यापी होने के कारण वह कहीं भी तत्काल प्रकट हो जाता है। जैसे बीज के अन्दर सूक्ष्म रूप से पत्ते, वृक्ष, फूल और फल रूपी अणु रहते हैं, उसी प्रकार चेतन अणु के अन्दर समस्त सूक्ष्म अनुभव विद्यमान हैं। जिस मनुष्य के अन्दर यह विचार नहीं उठता है कि "मैं कौन हूँ",

"यह संसार क्या है", वह संसार के बन्धन से मुक्त नहीं हुआ है। जिस शुद्ध चित्त वाले मनुष्य की विषय-वासना प्रतिदिन क्षीण होती जाती है, उस वैराग्यवान का ही विवेक युक्त विचार सफल होता है।

जो अभ्यासी नित्य-अनित्य वस्तु से सम्पन्न है, जिसके चित्त की वृत्तियाँ चेतन तत्त्व में लीन होती जा रही हैं, जो ज्ञान प्राप्त करके संकल्पों का त्याग कर रहा है, जो नाशवान जड़ पदार्थ का त्याग कर रहा है, जो ब्रह्म का ध्यान कर रहा है अर्थात् चेतन तत्त्व की अनुभूति कर रहा है, वह जागने के योग्य परम्-तत्त्व में जाग रहा है। जैसे वायु के शांत होने पर समुद्र में निश्चलता रूपी समता आ जाती है, उसी प्रकार चित्त के शांत हो जाने पर सब जगह सर्वोत्तम शांति पैदा करने वाली अज्ञान रूपी मल से रहित समता का उदय होता है। जिसका चित्त रूपी गर्व नष्ट हो गया हो, इन्द्रियाँ रूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली हो, उस अभ्यासी की भोग वासनाएँ क्षीण हो जाती हैं। जब तक योग के अभ्यास के द्वारा मन पर विजय प्राप्त नहीं कर ली जाती है तब तक चित्त में वासनाएँ प्रकट होकर सांसारिक भोग में लिप्त कराती हैं। मनुष्य को चाहिए वह चिन्तन करें कि यहाँ इस क्षण भंगुर संसार में कोई प्रयोजन नहीं है, बल्कि यह सब माया का मिथ्या आडम्बर है। इसका मन से त्याग करके गहरे समुद्र की भाँति शांत रहने का अभ्यास करना चाहिए। चित्त को समझाना चाहिए कि उसकी बार-बार भोगों में वेग पूर्वक जो प्रकृति हो रही है, वह बड़ी घृणित है, अतः इससे दूर हो जा। सांसारिक विषयों को भोगने के कारण ही जड़ता के समूह रूपी कीचड़ में पड़ा हुआ है। जिन-जिन अवस्थाओं में भ्रमित होकर सुख देखता है उसी सुख से महान दुःख की प्राप्ति भी होगी। इसलिए तुच्छ भोग चिन्तन से कोई लाभ नहीं है।

संसार रूपी माया-चक्र भ्रमणशील तथा भ्रान्ति स्वरूप है। इस माया चक्र की नाभि चित्त है। जब योग के अभ्यास द्वारा चित्त वृत्ति को रोक दिया जाता है तब यह माया चक्र शीघ्र ही आगे बढ़ने से रुक जाता है। इस चित्त वृत्ति की निरोधरूपी युक्ति के बिना जीवात्मा को अनन्त दुःखों की प्राप्ति होती है। जब अभ्यास के द्वारा चित्त वृत्ति निरोध कर दी जाती है तब सारे दुःख क्षण भर में नष्ट हो जाते हैं। यह संसार दुःख का स्वरूप है, ऐसा समझना चाहिए। इस दुःख रूपी रोग का निवारण चित्त वृत्ति निरोध ही है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रयत्न से इस दुःख का निवारण नहीं हो सकता है। जिस प्रकार घट के अन्दर घटाकाश रहता है, परन्तु घट के नष्ट होने पर घटाकाश नहीं रह जाता है, उसी प्रकार चित्त के अन्दर यह संसार है। अतः चित्त का विनाश होने पर संसार का भी विनाश हो जाता है। चित्त की वृत्तियाँ तभी तक रहती हैं, जब तक संकल्प की कल्पना बनी रहती है। जैसे बादलों का विस्तार तभी तक रहता है, जब तक आकाश में जल के कण विद्यमान रहते हैं। कल्पना तभी तक रहती है जब तक जीवात्मा मन के साथ है।

यदि ऐसी भावना की जाए कि चेतन जीवात्मा मन से अलग है, तो सिद्ध पुरूषों में मूल अविद्या सहित वासनाओं का ज्ञान द्वारा जलकर अत्यन्त अभाव हो जाता है। शून्य हुआ चित्त ही चेतन जीवात्मा शुद्ध जीवात्मा कहा जाता है।

चित्त का विनाश दो प्रकार से होता है। **एक-** सरूप विनाश, **दूसरा-** अरूप विनाश। सरूप विनाश जीवनमुक्त अवस्था प्राप्त होने पर होता है तथा अरूप विनाश विदेह मुक्त होने पर प्राप्त होता है। इस संसार में चित्त का अस्तित्व दुःख का कारण और चित्त का विनाश मोक्ष का कारण है। अतः पहले चित्त के अस्तित्व का भुने हुए बीज के समान विनाश करके फिर चित्त के स्वरूप का विनाश कर देना चाहिए। अज्ञान से उत्पन्न हुई वासनाओं से व्याप्त जो जन्म का कारण मन है, उस विद्यमान मन के बल से दुःख का कारण होता है। इसलिए जब तक मन का अस्तित्व है तब तक दुःख का विनाश कैसे हो सकता है? मन जब विलीन हो जाता है तब साधक का संकल्पमय संसार भी विलीन हो जाता है, फिर साधक को सुख-दुःख रूपी दशाएं विचलित नहीं कर सकती हैं। तब वह सम स्वभाव से युक्त रहता है तथा पूर्ण आनन्द एक रस ब्रह्मनिष्ठा से विचलित नहीं होता है। तब समझना चाहिए कि अभ्यासी का चित्त भुने हुए बीज के समान नष्ट हो गया है। यह "जड़ देह मैं हूँ", "संसार का अमुक पदार्थ मेरा है", इस प्रकार की तुच्छ भावना जिस पुरूष के अन्दर विकार पैदा नहीं करती है, ऐसे पुरूष का चित्त नष्ट हुए के समान हो गया होता है, यही जीवन्मुक्त पुरूष का चित्त होता है। ब्रह्मवासना से ओतप्रोत, पुनर्जन्म से रहित जो जीवन्मुक्त पुरूष के मल की सत्ता है वह सत्त्व नाम से जानी जाती है। अरूप चित्त की दशा विदेह-मुक्त पुरूष की होती है, वह अवयव आदि विकार से रहित है। उस परम् पवित्र विदेह मुक्त रूपी निर्मल पद में समस्त श्रेष्ठ गुणों का आश्रय रूप मन भी विलीन हो जाता है। विदेह मुक्त पुरुष के सत्त्व विनाश रुप-सरुप चित्त नाश में किसी भी दृश्य पदार्थ का अस्तित्व नहीं रहता है अर्थात् संकल्प सहित सम्पूर्ण संसार का अत्यन्त अभाव हो जाता है।

यह चित्त भाव-अभाव, दुःखों तथा वासनाओं का खजाना है तथा शरीर का कारण चित्त ही है। यह प्रतीत होने के कारण सत् तथा विनाशशील होने के कारण असत् रूप है। ये शरीर समूह चित्त से ही उत्पन्न हुए हैं। यह मिथ्या जगत् जो दृश्य को प्राप्त है, वह चित्त से उसी प्रकार उत्पन्न होता है, जैसे मिट्टी से घड़े उत्पन्न होते हैं। विभिन्न प्रकार की वृत्तियों को धारण करने वाले चित्त रूपी वृक्ष के दो बीज होते हैं। **एक**– प्राणों का स्पन्दन, **दूसरा**– कर्माशय। जब चित्त में प्राण वायु स्पन्दन करती है अथवा जब शरीर की नाड़ियों में प्राण वायु संचरण करने लगती है तब चित्त की वृत्तियाँ तत्काल उत्पन्न होने लगती है। किन्तु

जब प्राण वायु स्पन्दन नहीं करती अथवा नाड़ियों में प्राण संचरण नहीं करता तब चित्त से वृत्ति उत्पन्न नहीं होती है। यह प्राणवायु संचरण रूपी जगत् चित्त के द्वारा दिखाई पड़ता है। जीवात्मा का विषयों से रहित होने पर उसका परम् कल्याण होता है, किन्तु प्रकट हुआ जीव ही तत्काल बाह्य विषयों की ओर राग वश चला जाता है। उन विषयों के भोग के अनुभव से चित्त में अत्यन्त दुःख उत्पन्न होता है। योग के अभ्यासी चित्त की शांति हेतु समाधि के अभ्यास द्वारा वृत्तियों का निरोध करते हैं अथवा प्राणों का निरोध करते हैं। एक का निरोध करने से दोनों का निरोध हो जाता है, उस समय जीवात्मा को जगत् का भान नहीं रहता है। अतः वह अपने निज स्वरूप में स्थित हो जाता है।

अभ्यास के द्वारा जब तक मन विलीन नहीं हो जाता है तब तक वासना का सर्वथा नाश नहीं होता है। चित्त को शांत करने के लिए वासना का शांत होना अति आवश्यक है। जब तक वासना पूर्ण रूप से नष्ट नहीं हो जाएगी तब तक चित्त भी पूर्ण रूप से शांत नहीं होगा। जब चित्त शांत होगा तभी ब्रह्म का यथार्थ ज्ञान अर्थात् तत्त्वज्ञान होगा। जब तक तत्त्वज्ञान नहीं होगा तब तक पूर्ण रूप से वासना का नाश नहीं होगा। योग के अभ्यास के द्वारा यह कार्य क्रमशः धीरे-धीरे ही होना सम्भव होगा, इस कार्य के लिए कई वर्ष लग जाएँगे। ऐसे कार्यों के लिए (अवस्था प्राप्त होने के लिए) एक समय निश्चित नहीं होता है, बल्कि साधक के अभ्यास के अनुसार ही होता है। तत्त्वज्ञान कभी भी एक साथ पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं होता है, बल्कि धीरे-धीरे ही क्रमशः प्राप्त होता है। जैसे-जैसे तत्त्वज्ञान प्राप्त होगा, वैसे-वैसे वासनाओं का धीरे-धीरे क्षय होगा। ऐसी अवस्था में अभ्यासी कभी तत्त्वज्ञान से तो कभी वासनाओं से युक्त होगा, मगर अभ्यास के द्वारा तत्त्वज्ञान बढ़ता जाएगा और वासनाएँ कम होती जाएँगी तथा मन भी धीरे-धीरे थोड़े-थोड़े समय के लिए विलीन होना शुरू हो जाएगा। अभ्यास के अनुसार विलीनता का समय बढ़ता जाएगा। इसलिए परमात्मा का यथार्थ ज्ञान, मनोनाश तथा वासना क्षय ये तीनों ही एक दूसरे के कारण हैं। दुस्साध्य अवश्य है, किन्तु असाध्य नहीं है। कठोर अभ्यास तथा संयम करने से ये तीनों कार्य सिद्ध हो जाते हैं। वासना परित्याग के लिए प्राणायाम एक अच्छा उपाय है, इसलिए प्राणों के निरोध का भी अभ्यास करना अति आवश्यक है। वासनाओं के भली-भाँति परित्याग से चित्त भुने हुए बीज के समान हो जाता है। इसलिए अभ्यासी को चाहिए कि दोनों का अभ्यास एक साथ करता रहे, इससे अपने स्वरूप में शीघ्र स्थित हो जाएगा।

जब परमात्मा के यथार्थ रूप का अनुभव होता है, तब अनुभव के प्रभाव से इस संसार की वासना शिथिल पड़ जाती है। जब तक पूर्णता का उदय नहीं होता है तभी तक चित्त का प्रवाह पतन की ओर

जाता रहता है तथा चित्त आदि की प्रतीति होती है। जब तक विषय वासना की अभिलाषा रहती है तथा मूर्खतावश मोह और आसक्ति रहती है, तभी तक चित्त आदि की कल्पना रहती है। जिसके अन्तःकरण में भोगों की आस्था नहीं है तथा इच्छाओं का जाल छिन्न-भिन्न हो चुका है, उसका चित्त रूपी भ्रम नष्ट हो जाता है। परमात्मा के ज्ञान रूपी सूर्य का उदय होने पर चित्त विनष्टता को प्राप्त हो जाता है। जो अभ्यासी ब्रह्म के सगुण व निर्गुण स्वरूप का साक्षात्कार किए हुए हैं, ऐसे तत्त्वज्ञानी पुरूष का चित्त सत्त्व नाम से कहा जाता है, क्योंकि ऐसी अवस्था में चित्त पर सत्त्वगुण का प्रकाश फैला रहता है, रजोगुण व तमोगुण लेश मात्र रहते हैं। जो समरूप ब्रह्म पद में नित्य स्थित है तथा चित्त रहित तत्त्वज्ञानी पुरूष हैं वे सत्त्व चित्त की उपेक्षा से लीला मात्र व्यवहार करते हैं। शुद्ध हुए सत्त्व चित्त में मोह रूपी फल उत्पन्न नहीं होता है। तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जाने पर वासना रहित सत्त्व रूप होकर पुनर्जन्म का बाधक हो जाता है। जिनका चित्त शुद्ध है, ज्ञान रूपी अग्नि से दग्ध हो चुका है, वह जन्म का कारण नहीं हो सकता है अर्थात् जन्म-मरण को प्राप्त नहीं हो सकता है।

जो मनुष्य अपने स्वरूप में स्थित होने के लिए अथवा ईश्वर प्राप्ति के लिए अपना घर-द्वार, धन-सम्पत्ति, स्त्री-पुत्र आदि त्याग देते हैं तथा भगवे वस्त्र धारण कर लेते हैं, ऐसे मनुष्य समझते हैं कि मात्र इसी से ईश्वर प्राप्त हो जाएगा, यह उनकी महान भूल है। भगवे वस्त्र धारण करने या दाढ़ी रख लेने से ईश्वर प्राप्त नहीं होगा। ईश्वर को प्राप्त करना है तो चित्त का त्याग करो, चित्त को ही भ्रम समझो, क्योंकि चित्त ही संसार रूपी जाल है। चित्त के साथ सम्बन्ध रखने वाले मनुष्य को जीवन भर दुःख-ही-दुःख प्राप्त होता है। जिसका चित्त के साथ सम्बन्ध विच्छेद हो गया हो उसके पास दुःख कभी नहीं आता है, वह स्वयं परम् सुख स्वरूप हो जाता है। चित्त ही संकल्प द्वारा संसार और शरीर आदि का आकार धारण करके सर्वत्र व्याप्त हो रहा है, इसलिए चित्त त्याग को ही सर्वत्याग कहा जाता है। चित्त के सिद्ध हो जाने पर सत्य का अनुभव (सगुण व निर्गुण) अपने आप हो जाता है। चित्त का अभाव हो जाने पर द्वैत-अद्वैत आदि सभी भावनाओं का सर्वथा विनाश हो जाता है।

चित्त रूपी वृक्ष का बीज अथवा मूल (जड़) अहंकार ही है। ईश्वर की माया ही यह मायामय संसार है, इसलिए चित्त भी ईश्वर की माया रूपी क्षेत्र है। विभिन्न प्रकार की वासनाएँ चित्त रूपी वृक्ष की शाखाएं हैं। तीव्र विवेक तथा वैराग्य के द्वारा वासना रूपी शाखाएं नष्ट हो जाती है, क्योंकि जिसका मन किसी विषय में आसक्त नहीं है, जो तर्क-वितर्क से रहित है, वह अभ्यासी पुरूष अपने पुरूषार्थ से चित्त रूपी वृक्ष की शाखाओं का काटता रहता है तथा वह चित्त रूपी वृक्ष की जड़ को भी काटने में सामर्थवान हो

जाता है। चित्त रूपी वृक्ष की शाखाओं को काटना गौण है, उसकी मूल (जड़) को काटना प्रधान है। इसलिए अभ्यासी को अहंकार रूपी जड़ को काटने के लिए तत्पर हो जाना चाहिए।

जीवन्मुक्त पुरूष का चित्त व्यापार शून्य हो जाता है, क्योंकि पुनर्जन्म में सहायक जो वासना होती है वह तत्त्वज्ञानी में नहीं रहती है। तत्त्वज्ञानी पुरूष जिस वासना द्वारा सांसारिक कर्मों का व्यवहार करते हैं उसे सत्त्व नाम से कहा जाता है। यह सत्त्व वासना पुनर्जन्म से रहित होती है। जो सत्त्व में स्थित है, जिनकी इन्द्रियाँ तत्त्वज्ञान के द्वारा वश में हैं, ऐसे जीवन्मुक्त पुरूष आसक्ति रहित होकर इस संसार में रहते अथवा विचरण करते हैं। जो पुरूष चित्त में स्थित हैं, वह ऐसा नहीं करते हैं अर्थात अज्ञान से आच्छादित चित्त को **'चित्त'** कहते हैं तथा ज्ञान से युक्त चित्त को सत्त्व कहा जाता है। अज्ञानी चित्त में स्थित रहते हैं तथा तत्त्वज्ञानी सत्त्व में स्थित रहते हैं। चित्त बारम्बार उत्पन्न होता है तथा बन्धन में पड़ता है, परन्तु **'सत्त्व'** पुनः उत्पन्न नहीं होता अर्थात् जन्म ग्रहण नहीं करता है तथा बन्धन में नहीं पड़ता है। तत्त्वज्ञानी सत्त्व सम्पन्न होकर महात्यागी बनकर स्थित रहता है, क्योंकि उसकी सारी वासनाएँ नष्ट हो चुकी है। जिनका चित्त ब्रह्म में रम गया है, प्राण उसी में लीन हो गये हैं, वह परम् पद को प्राप्त हो जाते हैं।

चित्त के संकल्प से असत्-जगत् सत् सा दिखाई देता है। चित्त और संकल्प एक दूसरे से मिले हुए अभिन्न रूप है, उनके भेद की कल्पना करना मिथ्या समझना चाहिए, क्योंकि यदि चित्त है तो संकल्प है और संकल्प है तो चित्त है। चित्त की प्राण वायु आधार है, प्राण के स्पन्दन से चित्त का स्पन्दन होता है और चित्त के स्पन्दन से ही सांसारिक पदार्थों की अनुभूतियाँ होती हैं। चित्त का स्पन्दन प्राण के स्पन्दन के अधीन है। इसलिए प्राणो का निरोध करने से मन का निरोध हो जाता है। मन के संकल्प का आभाव हो जाने पर यह संसार विलीन हो जाता है। यह संसार आदि-अन्त से रहित प्रकाश स्वरूप ब्रह्म ही है। इस प्रकार का जो दृढ़ निश्चय है, इसी को ब्रह्म के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान कहते हैं। यथार्थ ज्ञान न होने से मनुष्य जन्म-मृत्यु के चक्र में घूमता रहता है। इसका ज्ञान हो जाने पर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। मोक्ष में संकल्प से सर्वथा रहित, समस्त विषयों से सर्वथा रहित केवल ब्रह्म रहता है। चित्त का संकल्प-विकल्प विवेक बुद्धि के द्वारा यत्नपूर्वक किए गये विवेक विचार रूपी अभ्यास से विनष्ट हो जाता है, फिर संकल्प विकल्प रूपी अज्ञान भावना प्रवत्त नहीं होती है। अज्ञान के विनाश से क्षीण मन में रूप, आलोक और मनन कोई भी एक दूसरे से संघटित नहीं होते हैं। ऐसी अवस्था में चित्त विनष्ट हुए के समान हो जाता है।

चित्त के दो स्वरूप होते हैं– **पहला** सरुप तथा **दूसरा** अरूप। चित्त के सरूप में ही सभी प्रकार के कर्माशय विद्यमान रहते हैं अर्थात् वृतियाँ इसी सरूप में विद्यमान रहती हैं, इसी को सूक्ष्म शरीर कहते हैं।

जब तक साधक का सूक्ष्म शरीर विद्यमान रहता है, तब तक सभी प्रकार के कर्माशयों का भोग कर्म फल के रूप में करना पड़ता है तथा कर्माशयों के नष्ट होने पर सूक्ष्म शरीर अर्थात् चित्त का सरूप नष्ट हो जाता है, फिर जन्म-मृत्यु से रहित जीवन्मुक्त अवस्था उसे प्राप्त हो जाती है। जीवन्मुक्त पुरूष का शरीर प्रारब्ध वेग के अनुसार चलता रहता है। इस प्रकार चित्त में दो प्रकार से परिणाम होता रहता है– **एक**– बाह्य परिणाम, **दूसरा**– आन्तरिक परिणाम। बाह्य परिणाम वृत्तियों में होता रहता है। जब साधक की चित्त वृतियाँ निरुद्ध हो जाती हैं तब गुणों का बाह्य परिणाम होना रुक जाता है। इस बाह्य परिणाम के द्वारा संसार का भान होता है तथा संसार में व्यवहार होता है, क्योंकि इनका सम्बन्ध वृत्तियों से होता है। जीवन्मुक्त पुरूष के चित्त का स्वरूप नष्ट हो जाता है। ध्यानावस्था में चित्त का सरूप दो रूपों में दिखाई देता है।

पहला: यह भूमि के रूप में दिखाई देता है। यह भूमि भौतिक जगत् की भूमि के समान होती है, यह चित्त की भूमि होती है। इसी में साधक के अनन्त जन्मों के कर्माशय विद्यमान रहते हैं। चित्त की चार प्रकार की भूमियाँ होती है, इन भूमियों के अनुसार उनके कर्माशय विद्यमान रहते हैं।

दूसरा: साधक को अनुभव में घड़ा दिखाई देता है। सबसे पहले यह ब्रह्मरंध्र खुलने से पहले दिखाई देता है। इस घड़े तथा भूमि का सम्बन्ध अपरा-प्रकृति से होता है, इसे सूक्ष्म शरीर भी कह सकते है। ब्रह्मरंध्र खुलते समय इस घड़े का मुँह नीचे की ओर होता है। इसका कारण है अपरा-प्रकृति निम्नमुखी अथवा निम्नगामिनी होती है अर्थात् इसका प्रवाह नीचे की ओर होता है। इसलिए साधक को यह घड़ा नीचे की ओर मुँह किए हुए दिखाई देता है। ऐसे साधक का चित्त सृष्टि उन्मुख होता है। सृष्टि उन्मुख होने से जीव अज्ञान में पड़ा हुआ संसार को अपना समझता रहता है तथा सांसारिक पदार्थों का भोग करता रहता है।

जब तक चित्त की भूमि विद्यमान रहेगी अथवा घड़े का स्वरूप विद्यमान रहेगा अर्थात् चित्त का स्वरूप रहेगा, तब तक जीव प्राकृतिक बन्धन में बंधा रहेगा। इसलिए प्राकृतिक बन्धन को नष्ट करने तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिए साधक को चित्त का स्वरूप नष्ट करना होगा। दूसरे शब्दों में चित्त की भूमि को नष्ट करना होगा। चित्त की भूमि एक बार में नष्ट नहीं हो सकती, बल्कि इसके नष्ट होने की प्रक्रिया अभ्यास के अनुसार कई वर्षों तक चलती है। चित्त की भूमि नष्ट होते समय साधक को घोर क्लेशात्मक कर्म भोगने पड़ते हैं, क्योंकि इसके नष्ट होते समय घड़े का स्वरूप तुरन्त नष्ट नहीं होता है। पहले निर्विचार समाधि की प्रवीणता अभ्यास के द्वारा प्राप्त की जाती है, तत्पश्चात चित्त के निर्मल होने पर ऋतम्भरा-प्रज्ञा का उदय होता है, फिर उसके क्रम विकास के लिए कुछ वर्षों तक अभ्यास करते रहना पड़ता है। जब ऋतभ्मरा प्रज्ञा के द्वारा प्रकृति के पदार्थों के विशेष रूप का साक्षात्कार हो जाता है अर्थात् स्थूल पंच

महाभूत से लेकर प्रकृति पर्यन्त तक उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, तब विवेक-ख्याति की अवस्था में साधक अपने आपको चैतन्य स्वरूप में स्थित हुआ देखता है। जड़ प्रकृति नीचे की ओर उससे भिन्न दिखाई देती है। उस समय यह घड़ा ऊपर की ओर मुँह किए हुए पूर्ण रूप से खाली नीचे से ऊपर की ओर आता हुआ दिखाई देता है। घड़े का मुँह ऊपर की ओर होने का अर्थ है– साधक का चित्त उर्ध्वमुखी हो गया है। उसके लिए अपरा-प्रकृति उर्ध्वमुखी हो जाती है। उर्ध्वमुखी का अर्थ है- कैवल्य उन्मुख होना, निम्नमुखी का अर्थ होता है– सृष्टि उन्मुख होना। अभ्यास के द्वारा पहले चित्त का प्रवाह कैवल्य उन्मुख करना चाहिए, तभी चित्त का सरूप नष्ट हो पायेगा।

चित्त की भूमि नष्ट होते हुए साधक को समाधि अवस्था में दिखाई देता है। साधक जब गहरी समाधि में होता है, तब उसे भयंकर विस्फोट की आवाज सुनाई देती है। इस विस्फोट की आवाज सुनकर उसकी समाधि भंग हो जाती है। समाधि भंग होने के बाद वह नहीं समझ पाता है कि विस्फोट कहाँ हुआ अथवा ध्वनि का अर्थ क्या है? यह पहला अनुभव होता है। कुछ दिनों बाद फिर ऐसी ही आवाज सुनाई देती है, तब साधक अनुभव में देखता है कि चित्त की भूमि में छिद्र हो गया है। इस छिद्र के नीचे स्वच्छ आकाश है। इस अनुभव को देखकर साधक को आश्चर्य होता है कि भूमि के नीचे स्वच्छ आकाश है। ऐसा दृश्य जीवन में पहली बार दिखाई देता है। जब छिद्र होता है तब नीचे की ओर स्वच्छ आकाश तो दिखाई देता है, मगर छिद्र के बीच में मोटी-मोटी लकड़ियों का जाल दिखाई देता है। दृश्य बिल्कुल ऐसा होता है, जैसे सीमेंट (आर.सी.सी.) की छत में लोहे के छड़ों का जाल होता है। छड़ तो पतली होती है मगर टूटी हुई भूमि में बने छिद्र के अन्दर की लकड़ी जो दिखाई देती है वह काफी मोटी होती है, क्योंकि चित्त की भूमि भी बहुत मोटी होती है। छिद्र का मलबा अदृश्य हो जाता है। इसी प्रकार धीरे-धीरे अभ्यास के अनुसार भूमि में छिद्र होते हैं। साधक की दृष्टि उन छिद्रों के अन्दर झाँक कर देखती रहती है। अभ्यास के अनुसार यही क्रम चलता रहता है।

चित्त की भूमि के अन्दर जो मोटी-मोटी लकड़ियों का जाल-सा बना होता है, वास्तव में वह लकड़ी के रूप में साधक के अत्यन्त क्लेशात्मक कर्माशय होते हैं जिन्हें भोग कर समाप्त करना होता है। इसका भोग एक साथ नहीं हो सकता है, बल्कि क्रमशः धीरे-धीरे होता रहता है। कर्माशय भोग के समय साधक को संसार से निन्दा, अपमान, कष्ट व दुर्गति की प्राप्ति होती है। कोई भी साधक इसे भोगे बिना मुक्त नहीं हो सकता है। यह क्रम तब तक चलता रहता है, जब तक चित्त की भूमि पूर्ण रूप से नष्ट नहीं हो जाती है। ऐसा क्यों होता है, उसका समाधान किए दे रहा हूँ। ईश्वर का अंश रूप जीव ईश्वर के शरीर से उत्पन्न

होता है। उत्पन्न होते ही ईश्वर की आज्ञानुसार अपरा-प्रकृति के भोग के लिए चल देता है। तभी ईश्वर के शरीर में विद्यमान अपरा-प्रकृति को देखते ही जीव इसको अपना समझते हुऐ नीचे की ओर मुँह करके सम्पूर्ण अपरा-प्रकृति के ऊपर स्थित हो जाता है तथा अपने स्वरूप (शरीर) से सम्पूर्ण अपरा-प्रकृति को अपने नीचे दबा लेता है। तभी उसके अन्दर भाव आ जाता है– "यह प्रकृति मेरी है" अर्थात् "यह संसार मेरा है"। उसमें यह अहम् भाव आ जाता है तथा जीव के अन्दर अहम् भाव आते ही उसका पतन हो जाता है। फिर जीव अपने स्वरूप को ही भूल जाता है तथा अहंकार बहिर्मुखी हो जाता है। अहंकार के बहिर्मुखी होते ही चित्त की भूमि का निर्माण होने लगता है। भौतिक संसार में जन्म लेने के बाद फिर सदैव अविद्या द्वारा कर्म करता रहता है। इन्हीं कर्मों के अनुसार चित्त की भूमि पर कर्माशय एकत्र होते रहते हैं तथा उसका चित्त रजोगुण व तमोगुण के आवरण से आच्छादित हो जाता है। योग के अभ्यास के द्वारा कर्माशयों व भूमि को जब नष्ट किया जाता है, उस समय साधक को बहुत कष्ट सहने पड़ते हैं।

चित्त की भूमि नष्ट होते समय ईश्वर का (सगुण ब्रह्म का) साक्षात्कार होता है। यह साक्षात्कार चित्त की अत्यन्त व शक्तिशाली वृत्ति के द्वारा होता है। साक्षात्कार के समय चित्त की भूमि दिखाई नहीं देती है, बल्कि सर्वत्र आकाश ही आकाश दिखाई देता है। जैसा ऊपर की ओर आकाश दिखाई देता है वैसा ही नीचे की ओर अनन्त गहराई तक आकाश ही आकाश दिखाई देता है। इसी सम्पूर्ण आकाश में नीचे से लेकर ऊपर तक ईश्वर परम् शिव खड़े हुए दिखाई देते हैं। उस समय साधक एक बार में ईश्वर का सम्पूर्ण शरीर नहीं देख सकता है अर्थात् दृष्टि को ऊपर से नीचे की ओर ले जाना पड़ता है। ईश्वर का कमर से लेकर ऊपर तक का भाग स्पष्ट दिखाई देता है, किंतु कमर से नीचे का भाग अनन्त गहरे आकाश में विद्यमान होने के कारण दिखाई नहीं देता है। परम् शिव (ईश्वर) अपने एक हाथ में घड़ा लिए होते हैं, इस घड़े को वहीं नीचे की ओर पटक कर फोड़ देते है। जिस पर घड़ा पटक कर फोड़ा जाता है वह खड़े आकार में लोहे की साफ्ट जैसी वस्तु होती है। यह घड़ा साधक के चित्त का स्वरुप होता है, इसे ईश्वर के द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। इस अनुभव के कुछ समय बाद साधक के चित्त की भूमि पूर्ण रूप से नष्ट हो जाती है। जैस-जैसे चित्त की भूमि नष्ट होती जाती है, वैसे-वैसे चित्त सूक्ष्म व व्यापक होता जाता है। भूमि नष्ट हो जाने पर चित्त की सूक्ष्मता व व्यापकता बहुत ज्यादा बढ़ जाती है। अन्त में चित्ताकाश चिदाकाश में अन्तर्मुखी हो जाता है।

अभ्यास के द्वारा चित्त के बाह्य परिणाम का होना बन्द हो जाता है। मगर चित्त में आन्तरिक परिणाम होता रहता है, इसी को चित्त का अरूप कहते हैं। निर्गुण ब्रह्म में जब चितिशक्ति सदैव के लिए स्थित हो

जाती है, तब चित्त को बनाने वाले गुण भी अपने कारण में लीन हो जाते हैं। जैसे नदी समुद्र में मिलने के बाद अपना नाम व स्वरूप खो देती है, वह समुद्र रूप ही हो जाती है, वैसे ही योगी ब्रह्माण्ड में सदैव के लिए स्थित हो ब्रह्म स्वरूप हो जाता है।

चित्त की भूमि टूटने का अनुभव अर्थात् ईश्वर का अनुभव सिर्फ उसी साधक को आएगा जिसके चित्त में ऋतम्भरा-प्रज्ञा का क्रम-विकास हो रहा होगा तथा जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त होनी होगी। चित्त की भूमि जो टूटती हुई सी दिखाई देती है उसका कारण ऋतम्भरा-प्रज्ञा ही होता है, क्योंकि वह ज्ञान का प्रकाश भरती रहती है। जैस-जैसे प्रज्ञा का विकास होगा वैसे-वैसे अधिक ज्ञान के प्रकाश से चित्त प्रकाशित होगा। ज्ञान के प्रकाश से अविद्या के संस्कार नष्ट होते रहते हैं, इसी कारण चित्त की भूमि टूटती हुई दिखाई देती है। ऋतम्भरा-प्रज्ञा का क्रम विकास वर्षों तक चलता रहता है। इसी प्रकार चित्त की भूमि नष्ट होने का क्रम भी वर्षों तक चलता रहता है। जब प्रज्ञा का पूर्ण विकास हो जाता है तब पर-वैराग्य द्वारा प्रज्ञा के संस्कार भी निरुद्ध होने लगते हैं। निरूद्धावस्था में चित्त का सरूप नष्ट हो जाता है मगर समाधि भंग होने पर व्युत्थान के संस्कार फिर प्रकट हो जाते हैं। अभ्यास द्वारा धीरे-धीरे व्युत्थान के संस्कार नष्ट होते रहते हैं तथा पर-वैराग्य के संस्कार पुष्ट होते रहते है। यही क्रम चलता रहता है। अन्त में व्युत्थान के संस्कार पूर्ण रूप से बन्द हो जाते हैं। इस अवस्था में योगी के व्युत्थान संस्कार भोजन करने आदि के समय प्रकट होते हैं, मगर ऐसी अवस्था में योगी स्थित-प्रज्ञ ही कहा जाएगा।

दुःख

छोटे-से-छोटे प्राणी से लेकर बड़े-से-बड़े राजा तक हर समय तीनों प्रकार के दैहिक, दैविक व भौतिक दुःखों में से किसी-न-किसी दुःख की निवृत्ति का प्रयत्न करते रहते हैं। फिर भी दुःखों से छुटकारा नहीं मिलता है। तृष्णा के कारण मनुष्य विषयों के पीछे सुख समझकर दौड़ता है और जब उन विषयों को प्राप्त कर लेता है तब यही विषय मनुष्य के लिए दुःख ही सिद्ध होते हैं, क्योंकि जहाँ से उत्पत्ति होती है वह जड़ तत्त्व है, जिसे प्रकृति कहते हैं। जड़ तत्त्व व चेतन तत्त्व में आसक्ति तथा अविवेकपूर्ण संयोग ही दुःख का वास्तविक स्वरूप है। चेतन तत्त्व और जड़ तत्त्व का विवेकपूर्ण ज्ञान ही दुःख का वास्तविक स्वरूप है। चेतन तत्त्व और जड़ तत्त्व में आत्मा का विवेकपूर्ण ज्ञान ही दुःख से निवृत्ति का मुख्य साधन है। जड़ तत्त्व में आत्म-तत्त्व का अभ्यास या जड़ तत्त्व को भूल से चेतन तत्त्व मान लेना; चित्त, अहंकार, बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ, शरीर में अहम् भाव और उसके विषय में ममत्व पैदा कर लेना ही दुःखों में फँसना है तथा जड़ तत्त्व से (प्रकृति से) अपने को सर्वथा अलग करके निर्विकार निर्लेप शुद्ध आत्मा में अवस्थित होना ही दुःखों से निवृत्ति है।

दुःख अपने इच्छित विषय के वियोग या अनिष्ट की प्राप्ति पर होता है। यह अतीत विषयों की स्मृति में तथा भविष्य के विषयों के संकल्प में होता है। दुःख में चेहरा मुरझा जाता है तथा मनुष्य में दीनता आ जाती है। तत्त्वों के ज्ञान से मिथ्या ज्ञान अर्थात् अविद्या का नाश होता है। मिथ्या ज्ञान के नाश से दोषों (राग-द्वेष-मोह) का नाश होता है। दोषों के नाश से प्रवृत्ति का नाश होने से जन्म लेना रुक जाता है। जन्म ग्रहण न करने से सब दुःखों का अभाव हो जाता है अर्थात् सब प्रकार के दुःखों का अभाव ही अपवर्ग (ब्रह्म प्राप्ति) है।

मुक्तावस्था में दुःखों का अभाव होता है। विषय सुख के भोग काल में भी परिणाम दुःख, ताप दुःख और संस्कार दुःख बना रहता है, इसलिए विवेकी पुरूष के लिए सब कुछ (सुख भी) दुःख ही है। त्रिगुणात्मक प्रकृति व रजोगुण में दुःख है तथा सत्त्वगुण में सुख है। इसलिए सुख में बने रहने पर गुणातीत अवस्था नहीं रह सकती है। सुख विषय और विषयभोक्ता दोनों की अपेक्षा रखता है, इसके कारण मुक्त अवस्था में सुख के मानने से निर्गुण शुद्ध अद्वैत की सिद्धि न हो सकेगी। संसार में प्रत्येक प्राणी की यही इच्छा होती है– "मैं सुखी रहूँ", "दुःखी कभी न हूँ"। किन्तु सुख की प्राप्ति किए बिना दुःख की निवृत्ति असम्भव है, क्योंकि दुःख की निवृत्ति का नाम सुख है। इसलिए सुख के अभिलाषियों को दुःख की जड़ ही काट देनी चाहिए, क्योंकि दुःख की जड़ ही अज्ञान है। जितना अधिक अज्ञान होगा उतना ही अधिक

दुःख होगा। ज्ञान और अज्ञान पदार्थ के तत्त्व के सम्बन्ध से है। जिस तत्त्व से अज्ञान होगा उसी से दुःख होगा। जिस तत्त्व का जितना यथार्थ ज्ञान होता जाएगा उससे उतना ही दुःख निवृत्ति रूपी सुख की प्राप्ति होती जाएगी। जब सारे तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान होता जाएगा तब सारे तत्त्वों से अभय रूपी सुख का लाभ होगा। इसलिए तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान सारे दुःखों की जड़ काटना है। सभी प्रकार के दु:खों तथा बन्धनों का मूल कारण पाँच क्लेश हैं, जो इस प्रकार हैं– **1. अविद्या 2. अस्मिता 3. राग 4. द्वेष 5. अभिनिवेश।** इन्हें हम इस प्रकार से समझ सकते हैं–

1. **अविद्या-** अनित्य में नित्य, अशुद्ध में शुद्ध, दुःख में सुख और अनात्मा में आत्मा समझना अविद्या है। अविद्या रूपी क्षेत्र में ही अन्य चारों क्लेश होते हैं।
2. **अस्मिता-** इस अविद्या के कारण जड़ चित्त और चेतन आत्मा में भेद ज्ञान नहीं रहता है। यह अविद्या में उत्पन्न हुआ चित्त और चिति (चेतन्य) में अविवेक अस्मिता क्लेश कहलाता है।
3. **राग-** चित्त और चिति (चेतन तत्त्व) में विवेक न रहने से जड़ तत्त्व में सुख की वासना उत्पन्न होती है। अस्मिता क्लेश से उत्पन्न हुई चित्त में सुख की वासना का नाम राग है।
4. **द्वेष-** इस राग से सुख में विघ्न पड़ने पर दुःख के संस्कार उत्पन्न होते हैं। राग से उत्पन्न हुए दुःखों के संस्कारों का नाम द्वेष है।
5. **अभिनिवेश-** दुःख पाने के भय से स्थूल शरीर को बचाए रखने की वासना उत्पन्न होती है, उसे अभिनिवेश कहते हैं।

क्लेश से कर्म वासनाएँ उत्पन्न होती हैं और कर्म वासना से जन्म रूपी वृक्ष उत्पन्न होता है। उस वृक्ष में जाति (विभिन्न प्रकार की योनियाँ), आयु और भोग रूपी तीन प्रकार के फल लगते हैं। इन तीनों फलों में सुख-दुःख रूपी दो प्रकार के स्वाद होते हैं। जो पुण्य कर्म अर्थात् दूसरों के लिए कल्याणार्थ कर्म किए जाते हैं, उनसे जाति, आयु और भोगों का सुख मिलता है। जो पाप कर्म करता है अर्थात् दूसरों को दुःख पहुँचाने के लिए कर्म करता हैं, उससे जाति, आयु और भोग में दुःख पहुँचता है। किन्तु यह सुख भी तत्त्वज्ञानी की दृष्टि में दुःख ही हैं, क्योंकि विषयों में परिणाम दुःख, ताप दुःख और संस्कार दुःख मिला होता है। तीनों गुणों के सदा अस्थिर रहने के कारण उनकी सुख-दुःख और मोह रूपी वृत्तियाँ भी बदलती रहती है, इसलिए सुख के पीछे दुःख का होना आवश्यक है।

पाँच भेद वाली उपर्युक्त वृत्तियाँ सत्त्वगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी होने से सुख-दुःख और मोह स्वरूप हैं। यही सुख-दुःख और मोह स्वरूप वृत्तियाँ क्लेश स्वरूप हैं, इसलिए ये सब वृत्तियाँ ही निरोध करने योग्य हैं। मोह स्वयं अविद्या रूप होने से सर्व दुःखों का मूल है तथा दुःख की वृत्तियाँ स्वयं दुःख रूपी हैं। सुख की वृत्तियाँ सुख के विषयों और उनके साधनों में राग उत्पन्न करती हैं। सुख भोग के पश्चात जो उनकी वासना रहती है, वह राग होता है। इसलिए ये क्लेश जनक सुख-दुःख और मोह स्वरूप होने से सब प्रकार की वृत्तियाँ त्याज्य हैं।

सृष्टि में तीन प्रकार के भेद हैं। इसी प्रकार मनुष्य भी तीन प्रकार के दुःखों में से किसी-न-किसी दुःख से छुटकारा पाने का प्रयत्न करता रहता है। ये तीनों भेद इस प्रकार है– **1. दैहिक 2. भौतिक 3. दैविक।**

1. दैहिक– जो सीधे अपने साथ सम्बन्ध रखने वाले हैं, जैसे-चित्त, अहंकार, मन, इन्द्रियाँ व शरीर। आध्यात्मिक सुख-दुःख दो प्रकार का होता है। **एक-**शारीरिक, **दूसरा-**मानसिक। शरीर का बलवान, फुर्तीला और स्वस्थ होना शारीरिक सुख है। शरीर का दुर्बल, अस्वस्थ और रोगी होना शारीरिक दुःख है। इसी प्रकार शुभ संकल्प, शांति व वैराग्य मानसिक सुख है। ईर्ष्या, तृष्णा, शोक, राग-द्वेष मानसिक दुःख हैं।

2. भौतिक– जो अन्य प्राणियों की सृष्टि से सम्बन्ध रखने वाले हैं, जैसे-गाय,घोड़ा, पशु-पक्षी आदि से मिलने वाला सुख अर्थात् दूसरे प्राणियों से मिलने वाला सुख भौतिक सुख है। जैसे-गाय से दूध-घी का, घोड़ा आदि से सवारी का सुख मिलता है। भौतिक दुःख वह है, जो शेर आदि हिंसक जानवरों से शरीर को हानि पहुँचाने तथा सर्प-बिच्छु आदि के काटने से होता है।

3. दैविक– जो दिव्य शक्तियों की सृष्टि से सम्बन्ध रखने वाले है। जैसे-पृथ्वी, सूर्य आदि। दैविक दुःख प्रकाश व वर्षा से होता है। जैसे-अधिक वर्षा होना, बिजली गिरना, अग्नि व तूफान आदि से दुःख मिलना।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश क्लेश है। ये पाँचों बन्धन-रूपी-पीड़ा उत्पन्न करते हैं और चित्त में विद्यमान रहते हुए संस्कार रूपी गुणों के परिणाम को दृढ़ करते हैं, इसलिए क्लेश नाम से हो गये हैं। ये सभी मिथ्या ज्ञान ही हैं, क्योंकि इन सब का कारण अविद्या है अर्थात् अविद्या ही सभी क्लेशों का मूल कारण है। ये चित्त के भूमि पर कई अवस्थाओं में (क्लेश) विद्यमान रहते है जो इस प्रकार हैं–

एक- कुछ क्लेश ऐसे भी होते हैं जो चित्त की भूमि पर अवस्थित तो हैं परन्तु अभी जागे नहीं हैं, क्योंकि अपने विषय आदि के अभाव काल में अपने कार्यों को आरम्भ नहीं कर सकते हैं। ऐसे क्लेश प्रसुप्त कहलाते हैं। जिस प्रकार बाल्यावस्था में विषय भोग की वासनाएँ बीज रूप से दबी रहती है तथा किशोरावस्था में जाग्रत होकर फल दिखाती हैं।

दूसरी- कुछ क्लेश ऐसे होते हैं जो योग के अभ्यास से शिथिल कर दिए गये हैं। इस कारण विषय होते हुए भी अपने कार्य को आरम्भ करने में समर्थ नहीं होते हैं, बल्कि सिर्फ शांत रहते हैं। परन्तु इनकी वासनाएँ चित्त में सूक्ष्म रूप से बनी रहती हैं।

तीसरी- कुछ क्लेश ऐसे होते हैं जो किसी बलवान क्लेश से दबे हुए शक्ति रूप से रहते हैं और उनके अभाव में वर्तमान हो जाते हैं। जैसे- राग की अवस्था में द्वेष छिपा रहता है और द्वेष की अवस्था में राग।

चौथी- कुछ क्लेशों की यह भी अवस्था होती है जो अपने सहायक विषयों को पाकर अपने कार्य में प्रवृत्त हो जाते हैं। जैसे-व्युत्थान की अवस्था में साधारण मनुष्यों में होते हैं।

पाँचवीं- इन सब क्लेशों का मूल कारण अविद्या है। अविद्या के नाश होने से सभी प्रकार के क्लेश समूल नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि विवेक-ख्याति रूपी अग्नि में दग्ध बीज भाव को प्राप्त होते हैं, जो पुनः अंकुर देने में तथा फल देने में असमर्थ हो जाते हैं।

समाधि के अभ्यास से सूक्ष्म किए गये क्लेश जब विवेक-ख्याति रूपी अग्नि से दग्ध बीज के समान हो जाते हैं, तब निर्बीज समाधि द्वारा समाप्त अधिकार वाले चित्त के अपनी प्रकृति में लीन होते समय वे क्लेश भी उनके साथ लीन होकर निवृत्त हो जाते हैं। अपने कारण में लीन होने के अतिरिक्त इन क्लेशों के निरोध के लिए अन्य किसी प्रयत्न की आवश्यकता नहीं रहती है, क्योंकि धर्मों के नाश के बिना संस्कार रूपी सूक्ष्म धर्मों का नाश नहीं होता है। इसलिए वे दग्ध बीज रूप पाँचवी अवस्था वाले क्लेश चित्त के अपने कारण में लीन होने से त्यागने योग्य हैं। क्लेशों की सूक्ष्म वृत्तियाँ जो समाधि के द्वारा शिथिल कर दी गई हैं, जब तक सूक्ष्म होते-होते भुने हुए बीज के समान न हो जाएँ अर्थात् शिथिल हुए क्लेशों को विवेक-ख्याति द्वारा तब तक यत्न करते रहना चाहिए, जब तक भुने हुए बीज के समान न हो जाएँ। जैसे वस्त्र का स्थूल मैल पानी में वस्त्र रगड़ने मात्र से सुगमता से दूर किया जा सकता है, परन्तु सूक्ष्म मैल विशेष यत्न करके दूर करना पड़ता है। उसी प्रकार कलेशों की स्थूल वृत्तियाँ कम दुःख देने वाली होती हैं, किन्तु क्लेशों की सूक्ष्म वृत्तियाँ अधिक दुःख देने वाली होती है अर्थात् समाधि द्वारा शिथिल किए गये क्लेशों

की सूक्ष्म वृत्तियाँ स्थूल वृत्तियों से अधिक दुःख देने वाली व महान शत्रु हैं। इसलिए इनकी निवृत्ति के लिए विशेष प्रयत्न की आवश्यकता है। इन सूक्ष्म वृत्तियों को विवेक-ख्याति रूपी अग्नि से दग्ध बीज के समान कर देना चाहिए। फिर ये दग्ध बीज के समान होकर निर्बीज समाधि में चित्त के विलीन होने पर उसके साथ स्वयं ही विलीन हो जाती हैं।

इस संसार का जीवन दुःखों से भरा हुआ है। दुःख प्रथम सत्य है। जन्म, मरण, जरा, व्याधि ये सभी दुःख हैं। अप्रिय वस्तु का साथ मिलना भी दुःख है तथा प्रिय वस्तु का वियोग भी दुःख है। अपनी इच्छा के अनुसार वस्तु का न मिलना भी दुःख है। दुःख का वास्तविक कारण तृष्णा है जो बारम्बार प्राणियों को उत्पन्न करती है तथा राग से युक्त है। यहाँ और वहाँ सर्वत्र तृष्णा अपने विषयों को खोजती रहती है। तृष्णा तीन प्रकार की होती है। **एक-** जो नाना प्रकार के विषयों की कामना करती है। **दूसरी-** जो संसार की सत्ता को बनाए रखना चाहती है। **तीसरी-** जो संसार के वैभव की इच्छा रखती है। तृष्णा की वृत्तियाँ प्राणियों को बड़ी प्रिय व अच्छी लगती हैं। सुख के फेर में पड़े हुए मनुष्य तृष्णा की वृत्तियों की धारा में पड़ते हैं तथा बारम्बार जन्म-मृत्यु के चक्र में आते हैं। यही तृष्णा जगत् के समस्त विद्रोह व विरोध की जननी है। इसी के कारण राजा से राजा, क्षत्रिय से क्षत्रिय, ब्राह्मण से ब्राह्मण, माता पुत्र से और पुत्र माता से लड़ता है। धनी पुरूष तृष्णा के कारण गरीबों को चूसता है। सभी दुःखों का कारण तृष्णा ही है, इसलिए तृष्णा का समुचित विच्छेद करना प्रत्येक प्राणी का कर्तव्य है।

दुःख का कारण वासनाएँ हैं, वासनाओं का कारण अविद्या आदि क्लेश हैं जो पुण्य कर्म, पाप कर्म व पुण्य और पाप दोनों मिश्रित सकाम कर्म हैं। इन वासनाओं का फल जाति (विभिन्न प्रकार की योनियाँ), आयु और भोग हैं। वासनाओं का आश्रय चित्त है। वासनाओं का आलम्बन इन्द्रियों के विषय हैं। यद्यपि वासनाएँ अनादि और अनन्त हैं तथापी ये वासनाएँ अपने फल, आश्रय और आलम्बन के सहारे रहती हैं। इनकी स्थिति में वासनाओं की उत्पति है और अभाव में नाश है। विवेक-ख्याति द्वारा तत्त्वज्ञान से अविद्या क्लेशों का उनके फल, आश्रय और आलम्बन सहित अभाव हो जाता है। जब योगी को विवेक-ख्याति की आवस्था प्राप्त होती है तथा अभ्यास के कारण जब निरन्तर विवेक ज्ञान का प्रवाह बहने लगता है तब व्युत्थान के संस्कारों के बीज नितांत भस्म हो जाते हैं। इस कारण व्युत्थान की वृत्तियाँ बीच-बीच में उत्पन्न नहीं होती हैं। ज्ञान की इस परिपक्व अवस्था को धर्ममेघ समाधि कहते हैं। यह अवस्था (धर्ममेघ समाधि) सबीज समाधि की सबसे ऊँची अवस्था है। धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति पर अविद्या आदि पाँचों क्लेश, पुण्य कर्म, पाप कर्म, पुण्य और पाप कर्म (दोनों मिश्रित कर्म) तीनों प्रकार के सकाम कर्म और

उनकी वासनाएँ मूल सहित नाश हो जाती है। इस प्रकार क्लेश और कर्मों के अभाव में योगी जीवन्मुक्त होकर विचरण करता है तथा शरीर त्यागने के पश्चात मुक्ति को प्राप्त होता है और पुनः जन्म धारण नहीं करता है, क्योंकि मिथ्या ज्ञान अर्थात् अविद्या ही संसार का कारण है। इसलिए जिसकी अविद्या आदि नष्ट हो गई है, ऐसा कोई भी योगी किसी कारण से कही भी उत्पन्न हुआ नहीं देखा जाता है।

मनुष्य जब सत्त्वगुण प्रधान के अन्तर्गत सकाम कर्म करता है, तब इस कर्म से चित्त में जो कर्माशय रूपी वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं वह अक्लिष्ट वृत्तियाँ कहलाती है। ऐसी वृत्तियाँ शास्त्रों के पढ़ने तथा धार्मिक व आध्यात्मिक कर्मों से उत्पन्न होती हैं। मगर जब-जब तम-प्रधान कार्य करता है, तब-तब चित्त में क्लिष्ट वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, ये क्लिष्ट तम-प्रधान होती हैं। अक्लिष्ट वृत्तियाँ सत्त्व प्रधान होती हैं। ये सत्त्व प्रधान अक्लिष्ट वृत्तियाँ अविद्या और कलेशों की विरोधी विवेक-ख्याति रूपी होती है। तम प्रधान क्लिष्ट वृत्तियाँ, क्लेश व दुःख आदि की जड़ रूपी है। चित्त में स्थित दोनों प्रकार की वृत्तियों का आपस में विरोधाभास होता है। पहले अक्लिष्ट वृत्तियों को ग्रहण करके क्लिष्ट वृत्तियों का निरोध करना चाहिए, फिर पर-वैराग्य के द्वारा इन अक्लिष्ट वृत्तियों का भी निरोध किया जाता है।

क्लिष्ट वृत्तियों के संस्कार चित्त में अनन्त गहराई तक होते हैं तथा उनके छिद्रों में (रिक्त-स्थान में) शास्त्र, अध्यात्म, गुरू उपदेश, अभ्यास और वैराग्य रूपी सात्विक वृत्तियाँ विद्यमान रहती हैं। वृत्तियों का स्वभाव होता है कि वह अपने समान संस्कारों को उत्पन्न करती हैं। इसलिए क्लिष्ट वृत्तियाँ क्लिष्ट संस्कारों को और अक्लिष्ट वृत्तियाँ अक्लिष्ट संस्कारों को उत्पन्न करती हैं। इसी प्रकार छिपी हुई अक्लिष्ट वृत्तियाँ अक्लिष्ट संस्कारों को और अक्लिष्ट संस्कार अक्लिष्ट वृत्तियों को उत्पन्न करते हैं। इधर योग के निरन्तर अभ्यास होने से अक्लिष्ट वृत्तियों की अधिकता होने लगती हैं। यदि यही क्रम बराबर चलता रहे तो क्लिष्ट वृत्तियों का निरोध हो जाता है, परन्तु इनके संस्कार सूक्ष्म रूप से अक्लिष्ट वृत्तियों के छिद्र में बने रहते हैं। इनका नाश निर्बीज समाधि के अभ्यास से होता है। ऊपरी तरीके से जब क्लिष्ट वृत्तियाँ सर्वथा दब जाती हैं, तब अक्लिष्ट वृत्तियों का भी निरोध पर-वैराग्य से हो जाता है। इन सब वृत्तियों का निरोध निर्बीज समाधि है।

साधक को अच्छी तरह से ज्ञान होना चाहिए कि स्थूल वृत्तियाँ मनुष्य की साधारण शत्रु हैं, क्योंकि इन्हें शीघ्र भोग लिया जाता है। सूक्ष्म वृत्तियाँ (संस्कार) प्रबल शत्रु हैं, क्योंकि वृत्तियों से ही संस्कार बनते हैं तथा वृत्तियों से सूक्ष्म रूप में होते हैं। स्थूल से सूक्ष्म पदार्थ अधिक शक्तिशाली होता है, इसलिए मनुष्य जब ऐसे संस्कारों का भोग करता है, तो अधिक कष्टदायी होते हैं। योग में साधक को अपना लक्ष्य प्राप्त

करने के लिए स्थूल वृत्तियाँ इतनी बाधक नहीं होती जितने कि संस्कार बाधक होते हैं। काम, क्रोध आदि की स्थूल वृत्तियों से छूटना इतना बाधक नहीं है, मगर सूक्ष्म संस्कारों के हाथों छूटना अत्यन्त मुश्किल होता है। इसलिए साधक को समाधि की उच्चावस्था में घोर क्लेश व दुःख भोगना पड़ता है, मगर निरूद्धावस्था के समय सभी प्रकार के दुःखों का अन्त हो जाता है।

शास्त्रों में वर्णन मिलता है कि देह धारण की अवस्था में प्रिय-अप्रिय विषयों से ग्रहण होने वाली व्याकुलता कभी नहीं मिटती है। देह-धारी होना ही दुःख का मूल है। उस समय जो कभी क्षणिक सुख का अनुभव होता है, वह भी दुःख से सम्बन्ध रखने के कारण दुःख ही है। अतः सम्पूर्ण दुःखों का मूलभूत जो शरीर ग्रहण करता है उसका अभाव हो जाना ही परम् पुरूषार्थ रूप मोक्ष है। जीव का सारा व्यवहार दुःख की निवृत्ति और आनन्द प्राप्ति के लिए है। मनुष्य से लेकर कीड़े-पतंगे तक सबकी इन्द्रियों और अन्त:करण की सतत् चेष्टा का यही एक मात्र हेतु है। परन्तु दुःख की अत्यन्त निवृत्ति और आनन्द की प्राप्ति अकेले मनुष्य देह वाले जीव को ही प्राप्त हो सकती है। जीव जो विषय सुख भोगता है वह तो इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किया हुआ ग्राह्य विषय है, मगर जो आनन्द है वह चित्त ग्राह्य है।

मिथ्या ज्ञान से प्राप्त हुआ चित्त ही सारे अनर्थों की जड़ है। मोह आदि के कारण देह आदि में प्रकट चित्त अहंकार के द्वारा जब तक "मैं कर्ता हूँ", "मैं भोक्ता हूँ", "मैं दुःखी हूँ", "सब कुछ मेरा है", व पाप-पुण्य के व्यवहार होते रहते हैं, तब तक इसी व्यवहार में बंधे रहने के कारण जन्म, आयु और मृत्यु के संसार से जीव का बिल्कुल छुटकारा नहीं हो सकता है। इसलिए प्रिय-अप्रिय विषयों की वेदना से चिंतित रहने के कारण जीव अत्यन्त दुःखी रहा करता है। जब तक शरीर धारण करेगा, तब तक स्वप्न में भी जरा सी भी शांति का अनुभव नहीं कर सकता है, यह निश्चित है।

मनुष्य मानसिक और शारीरिक दुःखों का भोग करता है। इस प्रकार के दुःख मानसिक व शारीरिक रोग लग जाने से भोगने पड़ते हैं। कभी-कभी ये दोनों दुःख परस्पर एक दूसरे के कारण बनकर उत्पन्न होते हैं अर्थात् शारीरिक दुःख से मानसिक दुःख, मानसिक दुःख से शारीरिक दुःख तथा कभी-कभी दोनों एक साथ होते हैं। कभी सुख के बाद ये दोनों क्रमशः उत्पन्न होते हैं। इन्द्रिय निग्रह के अभाव से राग-द्वेष में फँस जाने से तथा "यह प्राप्त हो गया है", "यह प्राप्त होना अभी शेष है", इस प्रकार की सोच से चिंताएँ उत्पन्न होने से मानसिक दुःख उत्पन्न होता है। मानसिक दुःख का कारण बार-बार इच्छाओं के उत्पन्न होने से, अज्ञानता व चित्त की मलिनता के कारण होता है। शारीरिक दुःख रोग लग जाने के कारण होता है। शरीर में जब विभिन्न प्रकार की बीमारियाँ लगती हैं तो दुःख की अनुभूति होती है। इन बिमारियों के

कई कारण हो सकते हैं। छोटी-छोटी बीमारियों से उत्पन्न दुःख तो औषधि आदि से शीघ्र दूर हो जाता है। मगर कुछ बीमारियों के दुःख ऐसे होते हैं जो मनुष्य को बहुत समय तक प्रभावित किए रहते हैं। कभी-कभी ऐसे दुःख मृत्यु का कारण भी बन जाते हैं। अगर ऐसे दुःख पूर्वजन्म के कर्माशयों के कारण प्राप्त हो रहे हैं अर्थात् प्रारब्ध के कारण प्राप्त हो रहे हैं, तो काफी समय तक प्रभावित करते हैं। प्राण वायु का उचित रूप से शरीर में क्रिया न हो पाने से रोग उत्पन्न हो जाते हैं, ऐसे रोग बहुत समय तक दुःख की अनुभूति कराते हैं। ऐसे रोग प्राणायाम के द्वारा ठीक किए जा सकते हैं। सच तो यह है कि यदि प्राणायाम नियमित रूप से तथा उचित विधि द्वारा किया जाए तो रोग रूपी शारीरिक दुःख ज्यादातर ठीक किए जा सकते हैं अर्थात् दुःखों का अन्त किया जा सकता है। इस प्रकार के दुःखों का मूल कारण अज्ञान ही है। यथार्थ ज्ञान के द्वारा इनका समूल नाश हो जाता है। तत्त्वज्ञान और इन्द्रिय निग्रह के अभाव से अज्ञानता के द्वारा किए गये कर्मों से चित्त में मलिनता आ जाती है, यह मलिनता दुःखों का कारण बनती हैं। जब इस मलिनता को अभ्यास के द्वारा नष्ट किया जाता है तब चित्त निर्मल होने लगता है। मलिनता नष्ट होते समय अभ्यासी को विभिन्न प्रकार के दुःखों की अनुभूति होती है। इस प्रकार के दुःखों से अभ्यासी को घबराना नहीं चाहिए, बल्कि धैर्य पूर्वक दुःखों का भोग कर लेना चाहिए। जब चित्त निर्मल हो जाएगा, तब दुःखों की प्राप्ति नहीं होगी। उस समय ब्रह्म में स्थिति होने के कारण आनन्द की अनुभूति होगी तथा जन्म-मृत्यु के दुःख से भी रहित होकर मोक्ष को प्राप्त हो जाएगा।

मनुष्य को लोक और परलोक का दुःख बहुत ही कष्टदायी होता है, क्योंकि इन दोनों से पीड़ित होकर सभी मनुष्य बहुत दुःख भोगते हैं। अज्ञानी मनुष्य इस लोक में व्याधिग्रस्त होकर उसके निवारण के लिए औषधि द्वारा जीवनपर्यन्त यथाशक्ति प्रयत्न करते हैं, मगर परलोक में मिलने वाले दुःखों के लिए वे कुछ भी उपाय नहीं करते हैं। जो श्रेष्ठ पुरूष होते हैं वे परलोक रूपी महा दुःख से बचने के लिए अपने स्वरूप में स्थित होने अथवा ईश्वर प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं। ऐसे पुरूष परलोक रूपी दुःखों से बचने के लिए सदा सावधान रहते हैं तथा मोक्ष की इच्छा उत्पन्न होने पर कठोर अभ्यास के द्वारा परिश्रम करते हुए विजयी होते हैं। जो पुरूष इस लोक में नरक रूपी दुःखों का उपाय नहीं कर लेता है, वह पुरूष दुःखों से युक्त होकर उपाय रहित स्थान यानी नरक में पहुँचता है। इसलिए मनुष्य को इस लोक के दुःखों के उपायों में ही जीवन नष्ट नहीं करना चाहिए, क्योंकि सम्पूर्ण जीवन में विभिन्न प्रकार के दुःख प्राप्त होते ही रहते हैं। इसके साथ-साथ तत्त्वज्ञान रूपी उपाय से परलोक के दुःखों का निवारण करते रहना चाहिए। जीवन क्षणभंगुर है, अतः पूर्ण प्रयत्न पूर्वक शीघ्र ही परलोक रूपी दुःख के निवारण में लग जाना चाहिए। परलोक रूपी दुःख के निवारण कर लेने पर इस लोक के दुःखों का तत्काल अन्त हो जाएगा। सुख के

प्राप्त होने से दुःख का और दुःख के प्राप्त होने से सुख का नाश हो जाता है, अतः दोनों नाशवान हैं। जिसका नाश नहीं होता है वह अविनाशी आत्मा है। जिसके मन में इच्छाओं की परम्परा बनी हुई है उसे सुख-दुःख अवश्य प्राप्त होते रहते हैं, इसलिए इस दुःख का निवारण करना आवश्यक है। इसका निवारण सभी प्रकार की इच्छाओं का परित्याग करने से होता है। जब साधक के अन्त:करण में किसी प्रकार की इच्छाएँ ही नहीं होगी, तब उसे किसी प्रकार का दुःख भी प्राप्त नहीं होगा। जब अभ्यास के द्वारा निरूद्धावस्था प्राप्त हो जाती है उस समय अभ्यासी को किसी प्रकार के दुःख की अनुभूति नहीं होती है। ऐसी अवस्था में दुःख का अस्तित्व नष्ट हो जाता है। यह तत्त्वज्ञान की अवस्था है, जिसे जीवन्मुक्त अवस्था भी कहते हैं।

मनुष्य को अपने जीवन में उत्थान के लिए अपने स्वार्थ को त्याग कर दूसरे के साथ अच्छा व्यवहार करना चाहिए। जो दूसरे के दुःखों को देखकर प्रसन्न होता है, दूसरे का सुख देखकर दुःखी होता है, ऐसा मलिन चित्त वाला पुरूष कभी भी सुख को प्राप्त नहीं कर सकता है। ईश्वर प्राप्ति की बात तो बहुत दूर है। इसलिए दूसरे के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझना चाहिए। जिस प्रकार वह स्वयं अपने सुख की वृद्धि करना चाहता है, उसी प्रकार दूसरों के सुख की वृद्धि करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। जिस प्रकार वह स्वयं अपने दुःखों की निवृत्ति के लिए प्रयत्न करता है, उसी प्रकार उसे दूसरों के दुःखों की निवृत्ति का प्रयत्न करना चाहिए। मनुष्य के दुःखों का मूल कारण यह है कि वह सांसारिक पदार्थों से ममत्व रखता है। इस कारण उसे विभिन्न प्रकार के दुःखों का भोग करना पड़ता है। यदि ममत्व का पूर्ण रूप से त्याग कर दिया जाए तो दुःखों की अनुभूति नहीं होगी, बल्कि ऐसे सुख की प्राप्ति होती है जो कभी समाप्त नहीं होता। ऐसा सुख जीवन में किसी भी भोग पदार्थ को भोगने से प्राप्त नहीं किया जा सकता है। ममत्व को त्यागने से वैराग्य उत्पन्न होता है। पर-वैराग्य व अभ्यास के द्वारा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है तथा तत्त्वज्ञान के द्वारा योगी को मोक्ष प्राप्त होता है।

कर्म

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं– *"वास्तव में सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किए हुए हैं। अहंकार से मोहित हुआ अन्त:करण वाला जीवात्मा 'मैं करता हूँ', ऐसा मान लेता है"।*

कर्म का अर्थ है– 'चलना या हरकत करना'। ये पाँच प्रकार के होते हैं, **एक**– ऊपर फेंकना, **दो**– नीचे गिराना, **तीन**– सिकोड़ना, **चार**– फैलाना, **पाँच**– गमन करना। मनुष्य के कर्म पाप और पुण्य से युक्त होते हैं। सभी प्रकार के कर्म रजोगुण द्वारा किए जाते हैं, बिना रजोगुण के कोई क्रिया नहीं होती है। रजोगुण का जब सत्त्वगुण के साथ सम्बन्ध होता है तब ज्ञान, धर्म, वैराग्य आदि में प्रवृत्ति होती है। जब रजोगुण का तमोगुण के साथ सम्बन्ध होता है, तब अज्ञान, अवैराग्य और अधर्म आदि कर्मों में प्रवृत्ति होती है। यही दोनों प्रकार के कर्म शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य कहलाते हैं। जब रजोगुण का सत्त्वगुण और तमोगुण दोनों से सम्बन्ध होता है, तब दोनों प्रकार के कर्मों की प्रवृत्ति होती है, ऐसे कर्म पाप और पुण्य से मिश्रित कहे जाते हैं। इन्हीं कर्मों के अनुसार चित्त में संस्कार पड़ते हैं और इन्हीं को वासनाएँ कहते हैं। पुण्य कर्मों से देवताओं के रूप में जन्म मिलता है अर्थात् जिनके चित्त में सिर्फ पुण्यमय कर्माशय ही हैं, वे देवताओं के कुल में जन्म लेते हैं। जिनके चित्त में पाप और पुण्य दोनों मिश्रित कर्माशय हैं, उन्हें मनुष्य के रूप में जन्म मिलता है। जिनके चित्त में सिर्फ पाप के कर्माशय हैं, वे मनुष्य से नीचे पशु पक्षी आदि के रूप में जन्म लेते हैं।

सभी जीवात्माएँ अपने कर्मों के अनुसार भोग करती हैं। जिनके चित्त में जैसे कर्माशय होते हैं, उन्हें कर्माशयों के अनुसार उसी योनि में जाना पड़ता है, ताकि वह अपने कर्माशयों का भोग कर सकें अर्थात् सभी जीवात्माओं को अपने कर्मों के अनुकूल शरीर धारण करना पड़ता है। मनुष्य शरीर ही एक ऐसा शरीर है जो अपने पूर्वजन्मों के कर्माशयों को भोगता हुआ भी अपनी इच्छानुसार कर्म कर सकता है। मनुष्य के अलावा इस जगत् में जितने भी शरीरधारी हैं, चाहे वह सूक्ष्म शरीरधारी हों अथवा स्थूल शरीरधारी हों, वे कर्म नहीं कर सकते हैं, बल्कि सिर्फ अपने पूर्वजन्मों में किए हुए कर्मों का भोग कर सकते हैं। मनुष्य से देवता श्रेष्ठ होते हैं, क्योंकि देवताओं के चित्त में पाप से रहित पुण्य कर्माशय होते हैं, इसलिए वे सदैव कर्मों का भोग किया करते हैं। इनके शरीर में सत्त्वगुण की प्रधानता होती है। जब देवता अपने पुण्य कर्मों का भोग कर लेते है तब पुण्य क्षीण हो जाने पर उन्हें फिर नये कर्म करने के लिए पृथ्वी पर मनुष्य शरीर धारण करना होता है। सभी प्रकार के शरीर धारियों में मनुष्य शरीर श्रेष्ठ माना गया है। मनुष्य शरीर

के द्वारा योग का अभ्यास करके जीव इस संसार में जन्म-मृत्यु के आवागमन से मुक्त हो सकता है तथा अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित हो सकता है, जिसे वह अविद्या के कारण भूल चुका है।

मनुष्य योग के अभ्यास के द्वारा अपने चित्त पर स्थित कर्माशयों से छुटकारा पा सकता है। अविद्या से युक्त क्लेशात्मक कर्माशयों को समाप्त करते समय साधक को घोर दुःख व क्लेश सहना पड़ता है। समाधि की उच्चतर अवस्था में योगी का चित्त कर्माशयों से रहित हो जाता है। जिन महान योगियों ने चित्त में स्थित क्लेशात्मक कर्माशयों को निर्बीज समाधि द्वारा समाप्त कर दिया है, ऐसे योगियों के कर्म निष्काम अर्थात् वासना से रहित केवल कर्तव्य मात्र रहते हैं। योगियों के कर्म पाप-पुण्य से रहित होते हैं। योगी के लिए पाप कर्म करना सर्वथा त्याज्य है तथा कर्तव्य रूपी पुण्य कर्म वह आसक्ति, ममता और अहम् भाव छोड़कर निष्काम भाव से करता है। योगी के कर्म बन्धन रूप नहीं होते हैं, लेकिन साधारण मनुष्य के कर्म तीन प्रकार के होते हैं। **एक**– पाप से युक्त कर्म, **दूसरा**– पुण्य से युक्त कर्म, **तीसरा**–पाप और पुण्य दोनों प्रकार के मिश्रित कर्म। साधारण मनुष्य के कर्म बन्धन से युक्त होते हैं।

पुण्य कर्म अर्थात् हिंसा रहित कर्म जो परोपकार रूप में किए जाते हैं या दूसरों के कल्याण हेतु किए जाते हैं, ऐसे कर्मों के भोगों में मनुष्य को सुख मिलता है। जो कर्म पापमय होते हैं अर्थात् हिंसात्मक या दूसरों को दुःख पहुँचाने के लिए किए जाते हैं, ऐसे कर्मों के भोग से मनुष्य को दुःख मिलता है। परन्तु तत्त्वज्ञानी की दृष्टि में सुख भी दुःख स्वरूप ही है। तीनों गुणों के सदा अस्थिर रहने के कारण उनकी सुख-दुःख और मोह रूपी वृत्तियाँ भी बदलती रहती हैं। इसलिए सुख के पीछे दुःख का होना अनिवार्य है। चित्त में दो प्रकार के कर्माशय रहते हैं। **एक**– जो कर्माशय चित्त की ऊपरी सतह पर होते हैं उन्हें प्रारब्ध कहते हैं। ये कर्माशय वर्तमान जन्म में भोगे जाते हैं अर्थात् जिन कर्माशयों ने जन्म, आयु और भोग का कार्य आरम्भ कर दिया है। **दूसरा**– कुछ कर्माशय चित्त की निचली भूमि पर रहते हैं। ऐसे कर्माशय प्रारब्ध कर्माशयों के सामने अपना कार्य आरम्भ नहीं कर सकते हैं, क्योंकि प्रारब्ध कार्माशय इन्हें दबाए रखते हैं। इसलिए यह कर्माशय चित्त की निचली भूमि पर दबे पड़े रहते हैं, इन्हें संचित कर्म भी कहते हैं। मनुष्य जो वर्तमान में कर्म करता है उन्हें क्रियमाण कर्म कहते हैं। क्रियमाण कर्म से जो कर्माशय बनते है उनमें से कुछ कर्माशय प्रारब्ध कर्माशयों के साथ मिल जाते हैं, वे प्रारब्ध रूप बन जाते हैं। कुछ कर्माशय चित्त की निचली भूमि पर चले जाते हैं और संचित कर्माशयों के साथ मिलकर संचित कर्माशय बन जाते हैं। कभी-कभी संचित कर्माशय भी अपने किसी जगाने वाले का सानिध्य पाकर निचली भूमि से ऊपर आकर

प्रारब्ध कर्माशयों के साथ मिल जाते हैं। निचली भूमि पर जो कर्माशय रहते हैं, वे कर्माशय सोये हुए रहते हैं। मनुष्य इन कर्माशयों को इस जन्म में नहीं भोगता, बल्कि अगले जन्मों में भोगता है।

मृत्यु के समय प्रारब्ध कर्माशय पूरे वेग के साथ जाग जाते हैं तथा अपने समान ही उन कर्माशयों को भी जगा देते हैं, जो संचित कर्माशयों में सुषुप्तावस्था में होते हैं। फिर इन सब जागे हुए संस्कारों के अनुसार ही अगला जन्म देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि योनि में होता है, जिससे उन जागे हुए कर्माशयों को भोगा जा सके। उन्हीं कर्माशयों के अनुसार (जागे हुए संस्कारों का) उनका भोग निश्चित होता है ताकि जागे हुए संस्कार अगले जन्म में भोगे जा सके। अगले जन्म के लिए मृत्यु के समय ही शरीर, आयु और भोग निश्चित हो जाता है। इस अवस्था में जो कर्माशय नहीं जाग पाते हैं अर्थात् सुषुप्तावस्था में रहते हैं, उनका फल अभी निश्चित नहीं हुआ है। ऐसे कर्माशय अगले जन्म में नहीं भोगे जा सकेंगे, क्योंकि उनका फल अभी मृत्यु के समय निश्चित नहीं हुआ है।

चित्त में संस्कार जन्म-जन्मान्तरों से संचित होते आ रहे हैं। जब तक अविद्या आदि क्लेश रूपी जड़ चित्त में विद्यमान रहती हैं, तब तक कर्माशयों का ढेर चित्त में बना रहता है। इन कर्माशयों से शरीर, आयु और भोग रूपी फल प्राप्त होता रहेगा। इन संस्कारों की जड़ अविद्या ही है, मगर जब योगी अभ्यास के द्वारा विवेक-ख्याति की प्राप्ति कर लेता है, तब विवेक-ख्याति के द्वारा अविद्या, क्लेश, सुख-दुःख आदि से निवृत हो जाता है जिससे जन्म, आयु और भोग का स्वाद स्वयं समाप्त हो जाता है।

संचित कर्माशय चित्त की निचली भूमि पर प्रारब्ध कर्माशयों द्वारा दबे पड़े रहते हैं। ये प्रारब्ध कर्माशय संचित कर्माशयों के विरोधी होते हैं, क्योंकि प्रारब्ध कर्माशय चित्त की ऊपरी सतह पर प्रधान रूप से रहते हैं, इसलिए ये कर्माशय शक्तिशाली होते हैं। मगर संचित कर्माशय सुषुप्तावस्था में सूक्ष्म रूप में दबे रहते हैं, इसलिए ये शक्तिशाली नहीं होते। साधक जब अभ्यास के द्वारा उच्चतर अवस्था में पहुँचता है, तब प्रारब्ध कर्माशय अवरोधक के रूप में ऊपर रहते हैं। समाधि के माध्यम से यह अवरोध हटाकर एक ओर कर दिया जाता है, जिससे चित्त की निचली सतह पर सुषुप्तावस्था वाले संचित कर्म जागकर ऊपरी भूमि पर आ जाते हैं और प्रधान रूप धारण कर लेते हैं। फिर भोग का कार्य शुरू कर देते हैं। यह सब कर्माशय साधक के लिए क्लेशात्मक कर्माशय होते हैं। इन कर्माशयों को भोगना आवश्यक होता है। इस प्रकार योगी के चित्त में संचित कर्माशय नहीं रह जाते। सभी कर्माशय प्रधान बनकर भोग कार्य शुरू कर देते हैं। यदि निचली भूमि वाले कर्माशय अत्यन्त पाप से युक्त हैं, जब ऐसे कर्माशय प्रारब्ध कर्माशय बन जाते हैं, तब साधक अपने कर्माशयों के कारण अधर्मी बन जाता है। मगर ये कर्माशय भोग लेने के

बाद फिर अपने मार्ग पर आ जाते हैं। इसलिए कभी-कभी देखा गया है कि उच्च श्रेणी का साधक भी कभी-कभी अधर्म वाले कार्य करने लगता है, ऐसा उसके पूर्वजन्मों के कर्माशयों के कारण होता है।

साधक को जब विवेक-ख्याति के द्वारा चित्त और आत्मा की भिन्नता का ज्ञान होता है, तब विवेक-ख्याति की परिपक्व अवस्था पर धर्ममेघ समाधि लगती है। धर्ममेघ समाधि से अविद्या, क्लेश, सकाम कर्मों की तथा उनकी वासनाएँ मूल सहित नष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार अविद्या, क्लेश और सकाम कर्मों के अभाव में साधक जन्म-मृत्यु के आवागमन से मुक्त होकर इस लोक में नहीं रहता है तथा पुनः स्थूल शरीर धारण नहीं करता अर्थात् स्थूल शरीर त्यागने के पश्चात इस लोक में नहीं आता है। रजोगुण व तमोगुण युक्त क्लेश कर्मों की समाप्ति पर चित्त में स्थित मलों का आवरण पूर्ण रूप से समाप्त हो जाता है, इससे चित्त पूरी तरह से स्वच्छ हो जाता है। चित्त पर जो चेतन का प्रतिबिम्ब (ज्ञान-स्वरूप प्रकाश) पड़ रहा है, वही ज्ञान-स्वरूप प्रकाश अनन्त हो जाता है तथा ज्ञेय पदार्थ (जड़ पदार्थ) अल्प हो जाता है, फिर जानने योग्य कुछ भी नहीं रह जाता है। यही अनन्त ज्ञान-स्वरूप प्रकाश प्रकृति के दोषों को दिखलाने लगता है, फिर सकाम कर्म की वासनाएँ मूल सहित नष्ट हो जाती हैं। अब यह कहा जा सकता है कि योगी भी कभी-कभी साधारण मनुष्यों की भाँति कर्म करते देखें गये हैं। यह सच है कि योगी की सकाम कर्म वासनाएँ समाप्त होने के बाद भी योगी कर्म करते देखे गये हैं। मगर फर्क यह होता है कि साधारण मनुष्य जब कर्म करता है तो उसका कर्म वासनाओं (फल) से युक्त होता है। मगर योगी जब कर्म करता है तो बाहर से साधारण मनुष्यों की भाँति कर्म करते दिखाई देता है, मगर उसके द्वारा किया गया कर्म वासनाओं से रहित अर्थात् निष्काम कर्म होता है, क्योंकि उसने अविद्या आदि को मूल से उखाड़ कर फेंक दिया है। ऐसे निष्काम कर्म करने वाले के कर्माशय नहीं बनते हैं। जो योगी जीवन मुक्त हो गया है वह अपना कर्म कर्तव्य मात्र समझकर करता है। सभी प्रकार के कर्मों से निवृत्ति के बाद (अविद्या और क्लेशात्मक कर्मों के बाद) गुण अपना परिणाम क्रम समाप्त कर देते हैं, फिर उस योगी के लिए गुण प्रवृत्त नहीं होते बल्कि अपने कारण में लीन हो जाते हैं। यही कैवल्य है।

मनुष्य को वही कर्म करने चाहिए जो शास्त्रों द्वारा बताऐ गये हैं। शास्त्रों के द्वारा बताऐ गये कर्मों को करने से मनुष्य जाति का उत्थान होता है। शास्त्रों में मनुष्य के कर्तव्यों के विषय में विस्तार से लिखा गया है। यह सब इसलिए लिखा गया है कि मनुष्य जाति का उत्थान हो सके तथा मनुष्य ईश्वर की प्राप्ति कर सके व अपने वास्तविक स्वरूप की पहचान कर सके। साधारण मनुष्यों को अविद्या से युक्त कर्मों के विषय में सही ज्ञान न होने के कारण उसके द्वारा किए गये कर्मों से ज्यादातर पतन का मार्ग ही प्रशस्त होता

है और जब इन कर्मों का फल भोगना पड़ता है, तब मनुष्य अपने भाग्य अथवा ईश्वर को दोष देने लगता है। वह सोचता है कि मेरे भाग्य में ईश्वर ने दुःख ही दुःख लिख दिए हैं, जबकि ये दुःख स्वयं उसी के कर्मों का फल हैं। परन्तु अज्ञानता वश वह इस बात को मानने को तैयार नहीं होता है। इसलिए शास्त्र मनुष्यों को उसके कर्तव्यों के विषय में शिक्षा देते हैं, जिससे उनका पतन नहीं बल्कि उत्थान का मार्ग प्रशस्त हो।

गीता में कई जगह अलग-अलग संक्षेप में कर्मों के विषय में समझाया है। एक जगह भगवान् श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं– *"तुम क्षत्रिय हो अतः तुम्हें युद्ध करना चाहिए, क्योंकि इस वक्त यही तुम्हारा धर्म है। यदि तुम युद्ध क्षेत्र से भागोगे तो पाप के भागी हो जाओगे"।*

यहाँ पर भगवान् श्री कृष्ण स्वयं अर्जुन को युद्ध करने के लिए प्रेरित कर रहे हैं तथा यह भी कह रहे हैं कि यह तुम्हारा धर्म है अर्थात् युद्ध करना भी कभी-कभी योद्धाओं के लिए स्वधर्म हो जाता है। जबकि हम सभी जानते हैं कि जहाँ तक सम्भव हो सके युद्ध से बचना चाहिए, क्योंकि युद्ध का परिणाम सभी को ज्ञात है। जब कभी-कभी युद्ध भी स्वधर्म हो जाता है तब अन्य कर्मों के विषय में कैसे जाना जा सकता है कि अमुक कर्म करना कब उचित है अथवा कब अनुचित। इसलिए हम सभी को कर्म करने के विषय में ज्ञान होना जरूरी है। भगवान् श्री कृष्ण हमें शास्त्र के अनुसार कर्म करने की आज्ञा देते हैं। बिना किसी अतीन्द्रिय ज्ञान के यह नहीं बताया जा सकता है कि अमुक जाति में जन्म से पूर्व कौन से कर्मों का फल है और यह भी नहीं कहा जा सकता है कि इस जन्म में किस प्रकार के कर्म करने से पूर्व जन्म में किए कर्मों के दुष्परिणाम से बच सकते हैं।

गीता में यह भी कहा गया है कि कर्म करते समय हमें आत्मा के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान होना चाहिए अर्थात् इस बात का ज्ञान होना चाहिए कि आत्मा हमारे शरीर, मन व इन्द्रियों आदि से भिन्न है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सारे कर्म मन, इन्द्रियों व शरीर के द्वारा किए जाते हैं, मगर अज्ञानी मनुष्य यह समझता है कि आत्मा ही सारे कर्म करवाता है। इस अज्ञान का कारण अहंकार है, इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह अहंकार का त्याग करने का प्रयास करे। कर्म करते समय किसी प्रकार की आसक्ति नहीं होनी चाहिए और न ही कर्तापन का अभिमान होना चाहिए। साधारणतया जो मनुष्य अधिक उत्साही होता है, उसके कर्म में अधिक आसक्ति देखी जाती है मगर आसक्ति और कामना उसके कार्य के फल की प्राप्ति में सहायक होने की बजाय बाधक सिद्ध होते हैं।

जो मनुष्य कर्म मात्र को स्वरूप से छोड़ने के पक्ष में हैं, उनका कहना होता है कि प्रत्येक कर्म बन्धन का कारण होता है। इसलिए कर्म को त्याग दिया जाए, क्योंकि जब कर्म ही नहीं किया जाएगा तो फल भी

नहीं भोगना पड़ेगा। इसलिए वे कर्म को छोड़ने के पक्षपाती है। परन्तु गीता में कहा गया है कि कर्म का सर्वथा त्याग सम्भव नहीं है, क्योंकि सर्वथा निश्चेष्ट हो जाने से जीवन भी असम्भव हो जाएगा। इसके अलावा कर्म के त्याग से कोई भी मनुष्य कर्म फल से मुक्त नहीं हो सकता है। यदि भोजन करना छोड़ दिया जाए तो उसका मन भोजन के चिंतन में लगा रहेगा। यह चिन्तन भी एक कर्म ही हो जाएगा जिसका फल उसे अवश्य मिलेगा अर्थात् मनुष्य को उसके कर्मों का फल तो भोगना ही पड़ता है। शास्त्रोक्त पद्धति से किए गये कर्म से अन्त:करण शुद्ध हो जाता है। जब धीरे-धीरे अभ्यास के द्वारा अन्तः करण पूर्ण रुप से शुद्ध हो जाता है, तब इस प्रकार किए गये कर्मों का फल मनुष्य को नहीं भोगना पड़ता, बल्कि इस प्रकार के कर्म हमें पिछले कर्म के बन्धन से भी मुक्त कर देते हैं अर्थात् शास्त्रों के अनुसार कर्म करना चाहिए। आसक्ति व फल की इच्छा को त्याग कर कर्म करना चाहिए तथा कर्म करते समय सदैव याद रखना चाहिए कि कर्म शरीर, इन्द्रियों व मन द्वारा ही किए जा रहे हैं, परन्तु आत्मा का इससे कुछ लेना देना नहीं है।

मनुष्य के जीवन में उत्थान और पतन उसके कर्मानुसार ही होता है। प्रारब्ध और संचित कर्म वह अपने जन्म ग्रहण करने से पूर्व ही लेकर आता है। कुछ मनुष्य भाग्य को महत्व देते हैं, ऐसे मनुष्यों के जीवन में प्रारब्ध कर्मों का महत्व होता है। कुछ मनुष्य भाग्य को बिल्कुल महत्व नहीं देते, बल्कि स्वयं अपने कर्मों पर विश्वास करते हैं। ऐसे स्वभाव वाले मनुष्य अधिक परिश्रमशील होते हैं। दोनों प्रकार के मनुष्यों को प्रारब्ध तो भोगना ही होता है, मगर उनके सोचने का ढंग भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। कुछ मनुष्यों को थोड़े से परिश्रम से ही उन्नति कर लेते हैं, मगर कुछ ऐसे भी हैं जिन्हें परिश्रम के अनुसार फल की प्राप्ति नहीं होती है, इसका कारण प्रारब्ध कर्म ही हैं। मनुष्य के जीवन में प्रारब्ध सदैव प्रभावित करता रहता है, इसलिए सभी को सदैव अच्छे कर्म करने चाहिए। जिसके फल स्वरूप मनुष्य को भविष्य में प्रारब्ध के द्वारा सफलता मिलती रहे।

साधकों! भले ही आप अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कठोर परिश्रम कर रहे हों, मगर आपके प्रारब्ध कर्म तमोगुणी हैं। इसलिए यह कर्म सदैव आपके मार्ग में किसी-न-किसी रूप में अवरोध डालते रहेंगे। अब प्रश्न उठता है कि लक्ष्य कैसे प्राप्त किया जाए? समाधान- प्रकृति का सिद्धान्त है कि प्रारब्ध नष्ट नहीं किया जा सकता है। संचित कर्मों को योगाग्नि के द्वारा जलाया जा सकता है। परन्तु प्रारब्ध भोगना ही होगा, क्योंकि जन्म ग्रहण करने से पूर्व ही प्रारब्ध कर्मों का भोग निश्चित हो जाता है। ऐसी अवस्था में साधकों के लिए मेरी व्यक्तिगत राय है कि अगर आप महान बनना चाहते हैं तो अवश्य बन

सकते हैं, आपको कोई रोक नहीं पायेगा। परन्तु पहले आप किसी श्रेष्ठ महापुरूष के शिष्य बने, जिसने ईश्वर का साक्षात्कार किया हो, क्योंकि ऐसा महापुरूष ही योग का सही मार्गदर्शन कर सकता है। गुरू सिर्फ मार्गदर्शक होता है, मगर मार्ग आपको स्वयं अभ्यास के द्वारा तय करना होगा। फिर आप अपनी शिक्षा, सम्मान और अहंकार को एक ओर फेंक दीजिए। आप पूर्ण रूप से अपने शरीर, सांसारिक पदार्थों व उनसे बनी वस्तुओं से आसक्ति को त्याग दीजिए। आपका सिर्फ एक ही लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति का होना चाहिए। सम्मान और स्तुति से सदैव दूर रहें। आपके हर श्वाँस में ईश्वर के नाम का स्मरण होना चाहिए। फिर कर्म से कहो कि मुझे आगे बढ़ने का मार्ग दे दो, नहीं तो तुम्हें नीबू की तरह निचोड़ कर रख दूँगा। कठोरता के साथ प्राणायाम करो, मंत्र सिद्ध करो तथा सिद्ध मंत्रों का प्रहार चित्त पर स्थित कर्मों पर करों। ऐसे कार्यों के लिए **"ॐ मंत्र"**, "**कुण्डलिनी मंत्र"** तथा **"शक्ति मंत्र"** अधिक उचित होंगे, क्योंकि इन मंत्रों से शक्तियाँ निकलती हैं। जब सिद्ध मंत्रों का प्रयोग साधक अपने चित्त पर स्थित कर्माशयों पर करेगा, तब इन कर्मों के द्वारा निश्चय ही सूक्ष्म गन्दगी (तमोगुण) निकलेगी, परन्तु यह गन्दगी अन्य सूक्ष्म लोकों को प्रभावित करेगी, तब साधक के सामने एक समस्या आ जाएगी कि सूक्ष्म शक्तियाँ व सिद्ध पुरूष साधक को ऐसा करने में मना करेंगे। तब उनसे कहिए कि मेरा उदेश्य सिर्फ ईश्वर प्राप्ति का है, आपको कष्ट देना नहीं, इसलिए हमें माफ करें। हो सकता है ऐसी अवस्था में साधक को दण्ड भी मिले, परन्तु कभी भी कष्टों से न डरो। यदि कष्ट आ भी जाएँ तो उनका स्वागत करो और उनसे कहो- हे कष्टों! मैं तुम्हें स्वीकार करता हूँ। साधकों सदैव ध्यान रखें कि जिस समय कष्ट भोग रहे हों, उस समय भी ईश्वर का चिंतन करना (मंत्र-जाप) न छोड़ें। यदि मृत्यु भी सामने आ जाए तो उससे कहो, 'मैं चलने को तैयार हूँ', आप ले चलिए। कभी भी मृत्यु से न डरो। भविष्य में एक समय ऐसा भी आएगा जब मृत्यु भी आपके सामने घुटने टेक देगी। इतनी कठोर साधना करो कि कष्टों की अनुभूति न होने पाये। किसी के द्वारा मिली निन्दा व अपमान का प्रभाव ही तुम पर न पड़े, सुख-सुविधा और कीर्ति से सदैव दूर रहो। हमारे शास्त्र गवाह हैं कि कठोर साधना के द्वारा प्रकृति को भी परास्त किया जा सकता है तथा ईश्वर की प्राप्ति की जा सकती है। आप अच्छे साधक बनिए तथा ईश्वर की प्राप्ति कीजिए। जब तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जाता है तब इस संसार का स्वरूप दिखाई नहीं देता है, बल्कि सर्वत्र ब्रह्माण्ड ही विद्यमान हुआ दिखाई देता है। जब ब्रह्म की प्राप्ति हो जाए तब इस संसार को अपना स्वरूप समझकर अपना लीजिए, क्योंकि संसार में जितने शरीर भाषमान हो रहे हैं, वह सभी आपके ही स्वरूप हैं।

जब साधक इस मार्ग को अपनायेगा तब कुछ समय बाद निश्चय ही उसकी निन्दा होनी शुरू हो जाएगी तथा समाज के अधर्मी स्वभाव के मनुष्य निन्दा, अपमान व कष्ट देकर साधक का मार्ग अवरोध

करने का प्रयास करेंगे। ऐसा आदि काल से होता चला आया है। साधक के साथ नयापन कुछ भी नहीं है, क्योंकि देववृत्ति व आसुरी वृत्ति आपस में एक दूसरे की विरोधी होती है। एक सत्त्वगुणी है तो दूसरी तमोगुणी है। एक ज्ञान रूपी प्रकाश से युक्त है तो दूसरा अविद्या रूपी अंधकार से युक्त है। मगर साधक को आसुरी वृत्ति वाले मनुष्य से सदैव लाभ मिलेगा, क्योंकि ये लोग साधक के पाप कर्मों को नष्ट करके आगे का मार्ग प्रशस्त कर देते हैं। वर्तमान समय में देखा होगा कि अधर्मी मनुष्य सुखी होता है तथा जो धर्म के मार्ग पर चलते हैं, उनके लिए किसी-न-किसी प्रकार से अवरोध खड़े किए जाते हैं। परन्तु अधर्मी मनुष्य का सुख क्षणिक होता है तथा चित्त मलिन होने के कारण वह किसी-न-किसी दुःख से दुःखी रहता है। ऐसा सिर्फ भासित होता है कि अमुक व्यक्ति सुखी है, परन्तु वास्तव में ऐसा होता नहीं है। धर्म के मार्ग पर चलने वाले मनुष्यों को कष्ट भले ही मिले परन्तु अन्त में ईश्वरीय आनन्द अर्थात् परम् शांति की अनुभूति करता है। साधकों! शत्रु और मित्र में कोई अंतर नहीं होता है। दोनों अपनी-अपनी जगह पर अच्छे हैं, इसलिए इन्हें सदैव समभाव से देखते रहो। ऐसा हो सकता है कि मित्र में कभी स्वार्थ आ भी जाए, परन्तु शत्रु स्वार्थी नहीं होता है। वह सदैव कमियाँ बताता रहेगा। उन कमियों को देखो, समझो और सुलझाओं अथवा इनसे परे हो जाओ। शत्रुओं के विषय में ऐसा इसलिए लिखा क्योंकि साधक का कोई शत्रु नहीं होता है। अगर कोई शत्रुतापूर्ण व्यवहार करता भी है तो साधक को उसके साथ मित्रता पूर्ण व्यवहार करना चाहिए। मैं अपनी अनुभूति के अनुसार यह बताना चाहता हूँ कि यहाँ न कोई शत्रु है और न ही कोई मित्र है। न कोई अपना है और न कोई पराया है। मनुष्य के चित्त पर स्थित कर्माशयों के अनुसार ही प्रकृति व प्रकृति से बने पदार्थ प्राप्त होते हैं। अभ्यास के द्वारा सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध करना है फिर संसार उपस्थित नहीं होगा। जब तक स्थूल शरीर रहेगा तब तक संसार भासित होता रहेगा।

कुण्डलिनी

मैंने कुण्डलिनी के विषय में अपनी पिछली पुस्तक '**सहज ध्यान योग**' में काफी कुछ लिखा हुआ है। इसलिए यहाँ पर इस विषय में लेख लिखने की आवश्यकता महसूस नहीं हो रही है। परन्तु कुछ जिज्ञासुओं की इच्छा है कि इस पुस्तक में भी कुण्डलिनी पर लेख लिखुँ, इसलिए कुछ शब्द लिख रहा हूँ। सबसे पहले मैं यह बता दूँ कि कुछ लोग कुण्डलिनी के विषय में बिल्कुल भी नहीं जानते हैं। ऐसे अनभिज्ञ लोग कुण्डलिनी के विषय में उल्टे-सीधे शब्दों का प्रयोग करते रहते हैं। मैं ऐसे अज्ञानियों को बताना चाँहूगा कि कुण्डलिनी शक्ति के बिना ईश्वर की प्राप्ति अथवा तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। यदि ऐसे अज्ञानियों को ईश्वर की प्राप्ति करनी है अथवा अपने निजस्वरूप में स्थित होना है, तो उन्हें कुण्डलिनी के विषय में अपनी सोच बदलनी होगी। कुण्डलिनी जाग्रत करके उर्ध्व किए बिना उन्हें अपना लक्ष्य प्राप्त नहीं होगा अर्थात् ईश्वर की प्राप्ति नहीं होगी। हमने सन् 1992 में दिव्य दृष्टि से देखा था कि भारत के कुछ प्रसिद्ध गायक जब तन्मय होकर गाना गाते थे, (ज्यादातर आलाप के समय) तब उनकी कुण्डलिनी उर्ध्व होकर नाभिचक्र तक आ जाती थी। उन गायकों को यह मालूम ही नहीं होता था कि उनके अन्दर कुण्डलिनी जाग्रत हो जाती है, क्योंकि उनका व्यक्तिगत रूप से कुण्डलिनी शक्ति से कुछ लेना देना नहीं होता है। हमें एक अनुभव याद आ रहा है कि हमें एक विदेशी पुरूष कई बार दिखाई दिया करता था, वह शायद वैज्ञानिक होगा। हमें ऐसा लगा कि जब वह गहराई से सोचता अर्थात् शोध करता था, उस वक्त उसकी कुण्डलिनी आँखें खोल देती थी, फिर कुछ क्षणों बाद आँखें बन्द कर लेती थी। मैं इस पुरूष को नहीं जानता था वह कौन है? इस जगह पर दो उदाहरण इसलिए लिखे क्योंकि न तो वे पुरूष योगी थे तथा न ही उनका कुण्डलिनी से कुछ लेना देना था, फिर भी इनकी कुण्डलिनी जाग्रत थी। कुछ साधक कुण्डलिनी जाग्रत करने के लिए भिन्न-भिन्न तरीकों को अपनाते रहते हैं, परन्तु उनकी कुण्डलिनी जाग्रत नहीं होती है। इसका कारण है– सही मार्गदर्शन का न होना तथा उनका संयम व एकाग्रता में कमी का होना।

कुण्डलिनी को अपशब्द कहने वालों से मैं पूछता हूँ, क्या वह राम और कृष्ण आदि से भी श्रेष्ठ हैं? उनकी भी कुण्डलिनी इनके गुरू ने जाग्रत करके उर्ध्व की थी तथा कुण्डलिनी के विषय में समझाया भी था। यहाँ पर मैं एक रहस्य खोल रहा हूँ जिससे आलोचकों को सन्तुष्ट हो जाना चाहिए। कुण्डलिनी के बिना प्राणी कुछ भी नहीं कर सकता है। प्रत्येक प्राणी प्राण के द्वारा ही जीवित रहता है तथा प्राण तत्त्व के बिना स्वयं उसका कोई अस्तित्व भी नहीं है। प्राण तत्त्व के द्वारा सारी सृष्टि की (अपरा-प्रकृति की) रचना

होती है। यह सृष्टि आकाश तत्त्व में विद्यमान रहती है अर्थात् आकाश तत्त्व ही इस सृष्टि का अधिष्ठाता है। प्राण तत्त्व में जो शक्ति होती है, वह कुण्डलिनी की ही शक्ति है। इसी शक्ति के द्वारा मन के संकल्प में शक्ति आती है, नाड़ियों में शक्ति से रक्त का प्रवाह होता है तथा चित्त में प्राणों का स्पन्दन होता है। इसी स्पन्दन शक्ति से प्राणी के समस्त अंग कार्य करते हैं, इसलिए कुण्डलिनी को शक्ति स्वरूपा कहते हैं। प्राण तत्त्व अभिव्यन्जक शक्ति है। कुण्डलिनी शक्ति ही समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त होकर व्यवस्थित क्रिया व संचालन करती है। शरीर रूपी पिण्ड के मूलाधार में शिवलिंग पर साढ़े तीन चक्कर लपेटे हुए कुण्डलिनी शक्ति रूप से विद्यमान रहती है। त्रेतायुग में अवतारी पुरूष श्री राम जी की कुण्डलिनी उनके गुरूदेव वशिष्ठ जी ने जाग्रत की थी तथा कुण्डलिनी के विषय में समझाया था। श्री राम के पुत्र लव-कुश की कुण्डलिनी उनके गुरू महर्षि वाल्मीकि जी ने जाग्रत की थी। कुण्डलिनी जाग्रत होते समय लव-कुश ने वाल्मीकि जी से पूछा, "गुरूदेव, कुण्डलिनी के विषय में कृपा करके हमें समझाएं तथा इसका जाग्रत होना क्यों आवश्यक है"। फिर वाल्मीकि जी ने कुण्डलिनी के विषय में विस्तार में समझाया और कहा, "जिसकी कुण्डलिनी जाग्रत नहीं होती है, वह दिव्यास्त्रों को धारण नहीं कर सकता है, इसलिए तुम दोनों का दिव्यास्त्रों से युक्त होना आवश्यक है"। श्री कृष्ण की कुण्डलिनी उनके गुरूदेव सन्दीपनि जी ने जाग्रत की थी। हनुमान जी की कुण्डलिनी उनके पिता पवन देव ने जाग्रत की थी। श्री राम जी के गुरूदेव श्री वशिष्ठ जी की कुण्डलिनी ब्रह्मा जी ने जाग्रत की थी। मेरी कुण्डलिनी मेरे गुरूदेव श्री माता जी ने जाग्रत नहीं की थी, बल्कि हमारे पूर्वजन्म के पिताश्री ने जाग्रत की थी। उन्हें हमारी कुण्डलिनी जाग्रत करने के लिए तपलोक से भूलोक पर हमारे पास आना पड़ा था। वर्तमान समय में वे तपलोक में समाधि लगाए हुए हैं। रहस्य की बात यह है कि पूर्वकाल में दिव्यास्त्र धारण करने वाले की कुण्डलिनी उर्ध्व होती थी। चाहे कोई राक्षस वृत्ति वाला हो उसकी भी कुण्डलिनी उर्ध्व होती थी तथा केवल वही दिव्यास्त्रों को धारण कर सकता था। जिसकी कुण्डलिनी जाग्रत नहीं होती थी वह दिव्यास्त्रों को धारण नहीं कर सकता था। पहले कुण्डलिनी जाग्रत करते थे तत्पश्चात् दिव्यास्त्र प्राप्त करने की योग्यता आती थी। इसलिए दिव्यास्त्र प्राप्ति के लिए कठोर साधना करनी पड़ती थी, फिर जब दिव्यास्त्र का देवता प्रसन्न हो जाता था तभी दिव्यास्त्र मिलना सम्भव होता था। इसी कारण कुण्डलिनी को शक्तिस्वरूपा कहते हैं। उसके बिना ब्रह्माण्ड में किसी प्रकार का कंपन भी नहीं हो सकता है। इसी को धारण करने पर शिव को सर्वशक्तिमान कहा जाता है।

साधक की कुण्डलिनी केवल वही जाग्रत कर सकता है जिसकी स्वयं की कुण्डलिनी जाग्रत हो, क्योंकि कुण्डलिनी की शक्ति ही कुण्डलिनी को जाग्रत कर सकती है। मैंने पहले भी लिखा है कि कुछ

प्रसिद्ध गायकों की कुण्डलिनी अपने आप जाग्रत हो चुकी है। हाँ, यह सच है कि उन्होंने गायन का इतना अभ्यास किया कि उनकी एकाग्रता व अभ्यास के कारण कुण्डलिनी शक्ति अपने आप जाग्रत हो गई। अगर कोई साधक संयम व धैर्य से ब्रह्मनिष्ठ होकर कठोर अभ्यास करे तो कुण्डलिनी जाग्रत हो जाएगी। परन्तु इससे कुण्डलिनी थोड़ा-सा ही उर्ध्व होगी। इसलिए उचित यही है कि इसको किसी अनुभवी गुरु से जाग्रत करवाएं, क्योंकि योग मार्ग में ढेर सारे अवरोध आते हैं। इन अवरोधों को दूर करने के लिए सद्गुरु का होना अति आवश्यक है। बिना गुरू के योग का अभ्यास करना सम्भव नहीं है। जब दो जन्म पूर्व के हमारे पिताश्री ने हमारी कुण्डलिनी जाग्रत की थी तब उन्होंने कहा था, "तुम्हारी कुण्डलिनी अब उर्ध्व की जा चुकी है, इसको गिरने मत देना अर्थात् सुषुप्तावस्था में मत जाने देना"। उन्होंने ऐसा इसलिए कहा, क्योंकि पहले भी हमारी कुण्डलिनी कई बार जाग्रत होकर सुषुप्तावस्था में जा चुकी थी। तब मैंने कई बार श्री माता जी (गुरूदेव) को पत्र लिखा, परन्तु वह स्पष्ट उत्तर नहीं देती थीं।

कुछ मनुष्यों की भ्रामक धारणा होती है कि कुण्डलिनी जाग्रत होकर नीचे न चली जाए नहीं तो उसके परिणाम अच्छे नहीं होंगे। मैं ऐसे अज्ञानियों से कहना चाँहूगा कि वह हमें बताएं कि कुण्डलिनी किस मार्ग से नीचे की ओर चली जाएगी? कुण्डलिनी चैतन्य स्वरूपा है। वह अपने मार्ग पर चलना स्वयं जानती है, उसे कौन बताएगा कि किस मार्ग पर चलना है। बुद्धि से रहित पशुओं के बच्चे जन्म लेते ही स्तनपान करने लगते हैं, उन्हें कौन बताता है कि स्तनपान करो ओर इस प्रकार करो। फिर हम तो उस चैतन्य स्वरूपा की बात कर रहे हैं जिसके द्वारा साधक को ईश्वर की प्राप्ति होती है। इसलिए अज्ञानता पूर्ण सोच मस्तिष्क से त्याग देनी चाहिए। मैंने अपने जीवन में इन पक्तियों को लिखें जाने तक छब्बीस (26) साधकों की कुण्डलिनी जाग्रत की है। मुझे कभी ऐसी जानकारी नहीं मिली कि कुण्डलिनी निम्न मार्ग की ओर गमन कर सकती है। हाँ, मैंने यह प्रयोग अवश्य किया है। मैंने कुछ साधकों की कुण्डलिनी को चारों मार्गों पर चलने के लिए मजबूर किया था अर्थात् बड़ी सावधानी से साधक पर गहरी दृष्टि रखते हुए कुण्डलिनी को चौथे मार्ग पर कई बार ले गया था। फिर सूक्ष्म जगत् की कई शक्तियों ने हमें ऐसा करने के लिए मना कर दिया तथा हमें बताया गया कि कुण्डलिनी को तीन मार्गों पर ही चलने दो, चौथे मार्ग पर जाने के लिए मजबूर मत करो। इस विषय पर फिर मैंने सन् 1995 में कुण्डलिनी देवी से बात की तथा पूछा कि माता क्या आप जाग्रत होकर साधक के शरीर में निम्न मार्ग की ओर गमन कर सकती हैं?, दूसरा– चौथे मार्ग पर ले जाने के लिए हमें सूक्ष्म जगत् के महापुरूषों ने क्यों मना किया था? पहले प्रश्न को सुनकर कुण्डलिनी देवी के चेहरे के भाव थोड़े से बदल गये। वह नीले प्रकाश से युक्त अंतरिक्ष में खड़ी हुई थी। वह बोली– "पुत्र, जो ऐसा कहते हैं, वह अज्ञानी पुरूष हैं। मैं सभी प्राणियों को मार्ग बताती हूँ, मूझे

कौन मार्ग बताएगा? चौथे मार्ग पर ले जाने के लिए तुम्हें मना किया गया है, इसका कारण साधक की सूक्ष्म अवस्था है। नाभि से सीधे हृदय तक मार्ग भले ही छोटा दिखाई दे, परन्तु अवस्थाओं में भारी अंतर होता है अर्थात् नाभि चक्र व हृदय (अनाहद चक्र) में जो अवस्था होती है, उसमें सूक्ष्मता का बहुत ज्यादा अंतर है।"

साधकों, यहाँ पर हृदय चक्र की बात नहीं की है, बल्कि हृदय का तात्पर्य अन्त:करण से है। हृदय में कुण्डलिनी सबसे अन्त में आती है, जब यह हृदय चक्र, कण्ठ चक्र, आज्ञा चक्र, ब्रह्मरंध्र खोलकर उल्ट कर नीचे की ओर उतर कर हृदय में आ जाती है।

समष्टि सृष्टि और व्यष्टि सृष्टि में कुण्डलिनी सर्वव्यापक होकर विद्यमान रहती है। समष्टि सृष्टि की कुण्डलिनी को महाकुण्डलिनी भी कहते हैं। यह अव्यक्त रूप में रहती है। व्यष्टि सृष्टि में प्रत्येक प्राणियों के अन्दर विद्यमान कुण्डलिनी महा कुण्डलिनी का अंश मात्र ही है। अव्यक्त कुण्डलिनी जब व्यक्त रूप में आती है, तब वेग उत्पन्न होता है। इस वेग से विस्फोट होता है जिसे ध्वनि या नाद कहते हैं, इसी नाद को ओंकार कहते हैं। नाद से प्रकाश उत्पन्न होता है। ओंकार से बावन मात्रकाएं उत्पन्न हुई हैं। इनमें से पचास मात्रकाएं अक्षर कही गई हैं, इक्यानवीं प्रकाश स्वरूप है तथा बावनवी प्रकाश का प्रवाह है। इस कुण्डलिनी शक्ति से युक्त चैतन्य मय जीव प्राण शक्ति को संग लिए हुए स्थूल शरीर का स्वामी होता है। मनुष्य के शरीर में मुख्य रूप से सात चक्र होते हैं। मूलाधार से लेकर आज्ञाचक्र तक कमल दलों की संख्या पचास होती है। ये पचास मात्रकाएं इस प्रकार हैं– **मूलाधार** चक्र पर चार मात्रकाएं, **स्वाधिष्ठान** चक्र पर छ: मात्रकाएं, **नाभि** चक्र पर दस मात्रकाएं, **हृदय** चक्र पर बारह मात्रकाएं, **कण्ठ** चक्र पर सोलह मात्रकाएं, **आज्ञा** चक्र पर दो मात्रकाएं होती हैं तथा **सहस्त्रार** चक्र में एक हजार दल कमल होता है। सहस्त्रार चक्र पर एक हजार दल कमल अर्थात् एक हजार मात्रकाएं होती हैं। अगर हमसे पूछा जाए कि क्या आपने इन कमल दलों की गिनती की है, तो मैं यही कहूँगा कि मैंने गिनती नहीं की है। सभी कमल दलों की गिनती की भी नहीं जा सकती है। मैं इतना अवश्य कहूँगा कि यह कमल का फूल बहुत बड़ा दिखाई देता है तथा इसमे बहुत पंखुड़ियाँ (दल) होती हैं। मैं अनुमान के द्वारा कह सकता हूँ कि यह सत्य है कि इसमें एक हजार दल होते होंगे, क्योंकि इसे मैंने कई बार समाधि अवस्था में देखा था। इस कमल के ऊपर मैं स्वयं चला हूँ तथा मध्य में खड़े होकर चारों ओर देखा है। इसके विषय में बहुत अनुभूति की है तथा ज्ञान भी प्राप्त हुआ है। यह ज्ञान का आयतन है। इसके ऊपर परम् शिव (सगुण ब्रह्म) तथा उनके साथ उनकी परा शक्ति विराजमान रहती है। यह प्रकृति का क्षेत्र होता है।

सहस्त्रार चक्र ब्रह्मरन्ध्र के अन्दर ऊपरी भाग में अति सूक्ष्म रूप में अविकसित रहता है। इस चक्र को सभी साधक जाग्रत नहीं कर सकते हैं, क्योंकि इस चक्र का सम्बन्ध परा-प्रकृति से होता है। परा-प्रकृति, ईश्वर का लोक, ईश्वर का चित्त, अव्यक्त प्रकृति आदि पर्यायवाची शब्द हैं। सहस्त्रार चक्र कई जन्मों तक योगाभ्यास करने के पश्चात जब आखिरी जन्म होता है तब विकसित होता है। इसके विकसित होने पर साधक को एक बार सगुण ब्रह्म (ईश्वर) का दर्शन अवश्य होता है तथा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है। अन्त में साधक मोक्ष को प्राप्त होता है। सहस्त्रार चक्र उसी का खुलेगा जिसके चित्त में अभ्यास के द्वारा अर्थात् समाधि के द्वारा निर्मल ऋतम्भरा-प्रज्ञा का उदय हो जाता है। फिर इसी ऋतम्भरा-प्रज्ञा के द्वारा चित्त पर स्थित अविद्या का नाश होने लगता है, तब यह सहस्त्र-दल कमल खुलकर विकसित होता दिखाई देता है। इसके विकसित होने का अर्थ होता है कि उस साधक का यह आखिरी जन्म है, क्योंकि इस प्रज्ञा-लोक के विकसित होने पर जीव की अविद्या नष्ट हो जाती है। अविद्या के नष्ट होने पर जगत् का अस्तित्व उस साधक के लिए नहीं रह जाता है, तब जीव अर्थात् चितिशक्ति अपने स्वरूप में स्थित हो जाती है। जीव को जीवत्व की चेतना सहस्त्रार चक्र से अनाहत चक्र में (हृदय में) आने पर होती है। सहस्त्रार चक्र में अव्यक्त नाद है, वही आज्ञा चक्र में आकर व्यक्त रूप में हो जाता है। ओंकार से सभी मात्रकाएं उत्पन्न होती है। उनका अव्यक्त स्वरूप सहस्त्रार चक्र ही है।

मनुष्य के शरीर में मुख्य रूप से सात चक्र होते हैं। इनका वर्णन मैं अपनी पिछली पुस्तक में कर चुका हूँ। समाधि अवस्था में मैंने कई कमल (चक्र) ऐसे देखे हैं जिनका वर्णन मैं नहीं कर सकता हूँ। ब्रह्मरन्ध्र के अन्दर कई कमल अविकसित देखे थे। फिर अभ्यास के द्वारा धीरे-धीरे इन बन्द चक्रों को खोला था। ये चक्र बन्द कमल कली के रूप में दिखाई देते थे, फिर धीरे-धीरे विकसित होकर खुल जाते थे। ये सभी कमल की कलियाँ अधोमुखी होती थी तथा विकसित होकर उर्ध्वमुखी हो जाती थी। यह अविकसित चक्र काफी समय के अंतर पर दिखाई देते थे। मैं इनका वर्णन नहीं कर सकता हूँ। मैं सिर्फ इतना कह सकता हूँ कि जब कुण्डलिनी पूर्ण यात्रा करके स्थित हो जाती है, तब वह मुख्य रूप से छः चक्रों का भेदन करती है। जब कुण्डलिनी ब्रह्मरन्ध्र खोलकर आज्ञा चक्र से होते हुए हृदय की ओर आती है, उस समय तालु में स्थित चक्र को खोलती हुई हृदय में उतर आती है। हृदय में अनाहत चक्र होता है। इन दोनों चक्रों की (तालू के चक्र व अनाहत चक्र की) अनुभूति भी विशेष प्रकार की होती है। जिनकी कुण्डलिनी शांत व मध्यम होती है, ऐसे साधकों की कुण्डलिनी तालू में कुछ समय तक ठहरती है। अभ्यास के अनुसार चक्र खुलने में समय लग जाता है। जिनकी कुण्डलिनी उग्र होती है, उन साधकों को स्पष्ट अनुभूति होती है कि जैसे कुण्डलिनी तालू को काटे डाल रही है। फिर नीचे की ओर उतर आती है।

वह अपना मुँह हृदय के अन्दर कर देती है तथा अपने मुँह से अग्नि तत्त्व उगलने लगती है, जिससे काफी मात्रा में तमोगुणी कर्म जल जाते हैं। इस अवस्था में साधक के हृदय में हल्का-सा दर्द महसूस होता है, जैसे कि उसके हृदय में स्पन्दन कम हो रहा है अथवा प्राण वायु ठहर-सा गया है। यह सब सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत होता है, मगर उसकी अनुभूति स्थूल शरीर में होती है, क्योंकि सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर के अन्दर व्याप्त होता है। इसलिए चक्र व कुण्डलिनी आदि सभी सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत आते हैं, परन्तु इनकी अनुभूति स्थूल शरीर में होती है।

एक महापुरूष ऐसे थे जो गुरू पद थे तथा उनके सैंकड़ो शिष्य हैं। उन्होंने हमारे सामने कई बार कहा था– "लोग कहते हैं कि कुण्डलिनी उर्ध्व होकर सहस्त्रार चक्र में परम्-शिव से जाकर मिलती है, परन्तु ऐसा नहीं होता है। कुण्डलिनी ब्रह्मरन्ध्र को खोलकर उल्ट पड़ती है फिर हृदय में आकर ठहर जाती है, यही कुण्डलिनी की पूर्ण यात्रा है"।

मैं इन महापुरूष का नाम नहीं लिखना चाहता हूँ, क्योंकि कुछ समय पूर्व इन्होंने स्थूल शरीर त्याग दिया है। मैं पाठकों को बताना चाहता हूँ कि यह सत्य है कि कुण्डलिनी उर्ध्व होकर सहस्त्रार चक्र में जाकर परम्-शिव से मिलती है। परन्तु यह किस प्रकार मिलती है, इसका वर्णन मैं कर रहा हूँ। जैसा कि मैं अपनी पिछली पुस्तक में लिख चुका हूँ कि जब हमारा ब्रह्मरन्ध्र खुला था, उस समय मैं कुछ घण्टों के लिए बेहोश हो गया था। इसका कारण है प्राण वायु का ब्रह्मरन्ध्र के अन्दर प्रवेश करना। जब पहली बार प्राण वायु ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करता है तब प्राण के साथ मन भी ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करता है। इस स्थान पर मन व प्राण एक साथ ठहर जाते हैं अर्थात् कुछ समय के लिए चित्त में प्राण का स्पन्दन सूक्ष्म रूप से ठहर जाता है। प्राण के साथ मन भी (वृत्तियाँ) निरुद्ध हो जाता है, तब चित्त में किसी प्रकार का संकल्प-विकल्प नहीं उठता है। प्राण का स्पन्दन रुकने के कारण साधक चेतना शून्य-सा हो जाता है, तब उसे अपनी सुध-बुध नहीं रहती है। फिर कुछ समय बाद चित्त में प्राण का स्पन्दन होना शुरू हो जाता है, तब प्राण ब्रह्मरन्ध्र से नीचे की ओर आ जाता है। प्राण नीचे आने पर साधक को होश आ जाता है। यह अनुभूति उग्र साधना करने वाले साधकों को होती है। धीमी गति से साधना करने वाले साधकों को नहीं होती है। ऐसी जानकारी मैंने कई साधकों से ली है जिनका ब्रह्मरन्ध्र खुला हुआ है।

मनुष्य के शरीर में कुण्डलिनी का स्वरूप अग्नि तत्त्व से सम्बन्धित होता है अर्थात् अग्नि तत्त्व के रूप में होता है। जब वह उर्ध्व होकर पूर्ण यात्रा करके हृदय में स्थित हो जाती है, तब वह गति करना छोड़ देती है अर्थात् मूलाधार में वापस आकर शिवलिंग से लिपटती नहीं है, बल्कि मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र द्वार से

होते हुए आज्ञा चक्र से नीचे की ओर उतर कर हृदय के अन्दर प्रवेश कर जाती है। उस समय कुण्डलिनी की लम्बाई साधक के स्थूल शरीर के बराबर हो जाती है। उसकी पूँछ मूलाधार में स्थित शिवलिंग में होती है तथा मुँह हृदय (अनाहत चक्र) में होता है, फिर वह गति करना छोड़ देती है। इसे कुण्डलिनी की पूर्ण यात्रा अथवा हृदय में स्थित होना कहते हैं। हृदय में स्थित होने पर यह अग्नि तत्त्व का स्वरूप छोड़कर वायु तत्त्व के रूप में परिवर्तित हो जाती है। वायु तत्त्व के रूप में परिवर्तित होकर साधक के सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाती है। फिर कुण्डलिनी का नाग वाला स्वरूप उसे नहीं दिखाई देता है, क्योंकि वायु तत्त्व रूप में व्यापक होकर स्थित हो जाती है। ऐसी अवस्था में साधक के शरीर रूपी पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड रूपी पिण्ड का सम्बन्ध आपस में समष्टि रूप में वायु तत्त्व से हो जाता है। जब ब्रह्माण्ड में किसी भी प्रकार की हलचल होती है, वह हलचल साधक अपने अन्त:करण में देखता है। यह हलचल चाहे स्थूल, सूक्ष्म या कारण रूप में हो उसे दिखाई देगी। परन्तु ब्रह्मनिष्ठ साधक ऐसी अवस्था पर कभी ध्यान नहीं देता है। वह अभ्यास करता हुआ आगे की ओर बढ़ता रहता है। यह अवस्था साधक के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है, क्योंकि वह असीमित शक्ति का स्वामी होता है, उसे ढेरों सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। देवता भी ऐसे साधक को सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। ऐसा साधक यदि संयम के द्वारा अपने चित्त की मलिनता दूर कर ले तो उसके संकल्प में विलक्षण शक्ति आ जाती है। यह संकल्प शक्ति सम्पुर्ण ब्रह्माण्ड में कार्य करती है। बहुत से साधक यहीं पर रुक जाते हैं। वो ऐसा समझते हैं कि मैं पूर्ण हो गया हूँ तथा बहुत से गुरू पद पर आसीन होकर साधकों का मार्गदर्शन करने लगते हैं। ऐसे साधकों अथवा महापुरूषों से कहना चाहता हूँ कि यह पूर्णता नहीं है, अभी आगे का मार्ग बहुत लम्बा है। यदि यहाँ पर रुक गये तो कई जन्म ओर लेने पड़ेंगे, इसलिए आगे का मार्ग तय करने के लिए अभ्यास करते रहना चाहिए।

कुण्डलिनी का हृदय में स्थित हो जाना तत्त्वज्ञान के लिए पर्याप्त नहीं है। अभी तो वायु तत्त्व में प्रवेश मात्र ही किया है। वायु तत्त्व से पार होने के लिए बहुत समय अथवा कई जन्म लग जाएँगे। चित्त पर स्थित सभी प्रकार के कर्माशयों को नष्ट करना अति आवश्यक है, तभी सगुण व निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार सम्भव हो पायेगा। यह अवस्था चित्त पर अहंकार की भूमि पर अभ्यास करने की है। इस अवस्था में निर्विचार समाधि लगती है। साधक को समाधि के समय आनन्द भी आता है। अभी अहंकार की भूमि पर, फिर अस्मिता की भूमि पर समाधि का अभ्यास करना होगा। इसलिए आत्मसाक्षात्कार की मंजिल अभी दूर है। इस भूमि पर अभ्यास करते समय समाधि अवस्था में चित्त पर जलती दीपशिखा के समान लौ (ज्योति) दिखाई देती है, इसे आत्मा न समझें। यह अहंकार की अत्यन्त सात्विक व सशक्त

वृत्ति होती है। अन्य वृत्तियाँ भी इस वृत्ति का सहयोग करती हैं, इसलिए चित्त पर सिर्फ एक लौ अत्यन्त सुन्दर जलती हुई दिखाई देती है।

अभ्यास के द्वारा अहंकार तथा अस्मिता की भूमि पार करना आवश्यक होता है। चित्त के अत्यन्त निर्मल होने पर ऋतम्भरा-प्रज्ञा प्रकट होती है। इस ऋतम्भरा-प्रज्ञा के द्वारा ज्ञान का प्रकाश चित्त पर प्रकट होने के कारण अविद्या द्वारा किए गये कर्मों के कर्माशय धीरे-धीरे अभ्यासानुसार नष्ट होने लगते हैं। यह ऋतम्भरा-प्रज्ञा अविद्या जनक संस्कारों की विरोधी होती है तथा विवेक-ख्याति के प्रकट होने पर जड़ व चेतन की भिन्नता का ज्ञान होता है। यह ऋतम्भरा-प्रज्ञा व विवेक-ख्याति उसे प्राप्त होती है, जिस साधक का यह आखिरी जन्म होता है। इसी अन्तिम जन्म में तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है। यह आखिरी जन्म साधक का प्रकृतिलय अवस्था की योग्यता प्राप्त किए रहता है। प्रकृतिलय अवस्था को प्राप्त किए हुए साधक का जन्म कुछ-न-कुछ विशेषता को प्राप्त किए हुए रहता है, क्योंकि उसका यह जन्म ईश्वर प्राप्ति अथवा तत्त्वज्ञान प्राप्ति करने के लिए हुआ होता है। ऐसे साधकों के चित्त में अत्यन्त क्लेशात्मक कर्म स्थित रहते हैं, इस कारण उसे जन्म से ही कष्ट मिलने शुरू हो जाते हैं। जब तक साधक अभ्यास के द्वारा आत्मावस्थित न हो जाए, तब तक उसे इस संसार में विभिन्न प्रकार के कष्ट सहने पड़ते हैं। यही कारण है कि जिन-जिन साधकों को आत्मस्थिति हुई है, उन्हें सारे जीवन में कष्टों का सामना करना पड़ा है। इसकी व्यवस्था स्वयं प्रकृति देवी जन्म लेने से पूर्व कर देती है। इस विषय में हमारी बात सन् 1995-1996 में प्रकृति देवी से हुई थी। तभी से मुझे मालूम था कि मुझे निश्चय ही इस जन्म में तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होगी अर्थात् सगुण ब्रह्म (ईश्वर) का, फिर अभ्यासानुसार निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार होगा।

कुण्डलिनी हृदय में स्थित होने के बाद वायु तत्त्व में विलीन हो जाती है। तब वह अग्नि तत्त्व वाला स्वरूप त्याग देती है, फिर वायु तत्त्व में व्याप्त हो जाती है। जिन साधकों को इसी जन्म में तत्त्वज्ञान प्राप्त होना होता है उनका चित्त निर्मल होकर निर्विचार समाधि की प्रवीणता आने पर ऋतम्भरा-प्रज्ञा का उदय होता है। इस ऋतम्भरा-प्रज्ञा के द्वारा वायु तत्त्व अत्यन्त स्वच्छ व सूक्ष्म हो जाता है, तब साधक का चित्त निर्मल व व्यापक होकर परा-प्रकृति में अन्तर्मुखी हो जाता है। जब चित्त पहली बार परा-प्रकृति में अन्तर्मुखी होता है, उस समय साधक को अनुभव आता है। मैं अपना अनुभव लिख रहा हूँ- मेरा स्थूल शरीर शव के समान आसन पर गिर गया था। तब अनुभव आया कि चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश फैला हुआ है तथा मैं उस प्रकाश में पड़ा हुआ गोल-गोल घूम रहा हूँ। प्रकाश के सिवाय कुछ भी नजर नहीं आता है। जैसे ही मैंने उठकर बैठना चाहा (अनुभव में) परन्तु फिर गिर पड़ा। उस समय हमें सिर्फ प्रकाश

दिखाई दे रहा था। ऊपर नीचे चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश था। कुछ क्षणों बाद मैं स्वयं घूमना बन्द हो गया अर्थात् गति रुक गई, तब देखा कि हमारे सामने एक छोटा-सा पिण्ड (उस प्रकाश क्षेत्र की अपेक्षा स्थूल) विद्यमान था। उसे देखकर मैं बोला- यह तो वायु तत्त्व बीज रूप में विद्यमान है। मैं उस पिण्ड को देख रहा था कि तभी हमें होश आ गया। मैं आसन के ऊपर शव के समान पड़ा हुआ था, तब मुझे महसूस हुआ कि हमारे शरीर में शक्ति नहीं रह गई है। तब सोचा कि उठकर बैठ जाऊँ, फिर जोर लगाकर बैठ गया। परन्तु जैसे ही बैठा, तभी मेरा स्थूल शरीर आसन पर फिर से गिर पड़ा। मैं बेहाश हो गया, फिर वही अनुभव आया। इस प्रकार तीन बार हुआ। इस अनुभव को विस्तार से दूसरी जगह लिखा गया है।

जो कुण्डलिनी वायु तत्त्व के रूप में हमारे अन्दर व्याप्त थी, वही वायु तत्त्व अथवा वायु तत्त्व के रूप में कुण्डलिनी शक्ति परम् आकाश स्वरूप महाकुण्डलिनी (परा-प्रकृति) में अन्तर्मुखी हो गई अथवा क्षुद्र कुण्डलिनी व्यापक होकर महाकुण्डलिनी में अन्तर्मुखी हो गई। यही कुण्डलिनी का परम्-शिव के साथ संयोग अथवा मिलन है, क्योंकि परम्-शिव के साथ परा-शक्ति (महाकुण्डलिनी) सदैव विराजमान रहती है। अब शायद जिज्ञासु साधक समझ गये होंगे कि कुण्डलिनी परम्-शिव से कैसे मिलती है। अभ्यास के द्वारा साधक की अगली अवस्था ऐसी भी आती है जब साधक का चित्त सदैव ईश्वर के चित्त में अन्तर्मुखी रहता है। मैं यहाँ पर यह बता दूँ कि कुण्डलिनी में किसी प्रकार के भेद नहीं होते हैं। शांत, मध्यम और उग्र कुण्डलिनी साधक को साधना के अनुसार ही अनुभूति होती है। जिस साधक ने पूर्व जन्म में साधना नहीं की होगी अथवा थोड़ी की होगी उसकी कुण्डलिनी शांत होगी। जिसकी साधना पूर्व जन्म से उग्र रही होगी उसकी कुण्डलिनी उग्र होना निश्चित है। यह चित्त पर स्थित मलिनता, स्वच्छता, तमोगुण व सत्त्वगुण, कर्माशय आदि पर आधारित होता है। साधक का जन्म किस योग्यता को लेकर हुआ है, यह कुण्डलिनी के स्वरूप (शांत, मध्यम व उग्र) को निश्चित करता है। इसलिए वर्तमान में एक ही अवस्था को प्राप्त साधकों के अन्दर शक्ति में भिन्नता होती है। उग्र कुण्डलिनी वाला साधक निश्चय ही अन्य साधक की अपेक्षा अधिक शक्ति (योगबल की शक्ति) का स्वामी होगा। ऐसा साधक ही गुरू पद पर बैठने के योग्य होता है।

कुण्डलिनी शक्ति का मुख्य निवास स्थान सहस्त्रार चक्र ही है। सहस्त्रार चक्र में वह अव्यक्त रूप में रहती है। ईश्वर से अंश रूप में प्रकट हुआ जीव जब प्रकृति के भोग के लिए इस लोक में यात्रा करने के लिए माता के गर्भ में आता है, तब यह जीव अपनी संगिनी कुण्डलिनी शक्ति व प्राण शक्ति के साथ माता के गर्भ में प्रवेश करता है। सहस्त्रार चक्र में अव्यक्त रूप में स्थित कुण्डलिनी आज्ञा चक्र में व्यक्त रूप में

हो जाती है। यह सभी छः चक्रों में तथा सभी छिद्रों तथा कुहरों में प्राण शक्ति के साथ प्रवेश करती है। अन्त में मूलाधार चक्र में स्थित शिवलिंग में साढ़े तीन चक्कर लपेट कर सो जाती है। शिवलिंग में तीन चक्कर लिपटे हुए दिखाई देते हैं, आधा चक्कर दिखाई नहीं देता क्योंकि आधा चक्कर अर्थात् पूँछ वाला भाग अपने मुँह के अन्दर दबाए हुए होती है। जीव जब माता के गर्भ से जन्म लेना चाहता है, वह पहले माता के सूक्ष्म शरीर से आज्ञा लेता है– "माता, मैं तुम्हारे गर्भ से जन्म लेना चाहता हूँ"। माता आज्ञा दे देती है, इसके बाद ही माता के गर्भ से जन्म लेना सम्भव होता है। इस विषय में मैंने पूर्व काल में बहुत प्रयोग किए तथा जानकारियाँ प्राप्त की तभी यह शब्द लिख रहा हूँ। अज्ञानी माताएं इस बात को नहीं जान पाती कि उन्होंने ही अपनी सन्तान को अपने गर्भ में प्रवेश करने की आज्ञा दी है। यदि माता उच्च श्रेणी की साधिका हो और वह उस अवस्था में माता बनना चाहती हो तो वह अवश्य जान जाएगी कि उसके गर्भ से जन्म लेने वाला जीव कैसे कर्मों तथा कैसे स्वभाव वाला होगा। सन् 1993 में मैंने एक साधिका से इस विषय में बात की थी। पहले वह मेरे शब्दों को सुनकर चौंक पड़ी, फिर उसने सारी बातें बता दी। उसने मुझसे प्रश्न किया, "आनन्द भैया, आप इतनी बारीकी से यह सब कैसे जानते हैं?", तब मैंने अपनी जानकारियाँ इस विषय में उस साधिका को बताई। उसने कहा आपकी सारी बातें सत्य हैं। उस साधिका ने बताया कि मुझे अपने पुत्र के विषय में इसके जन्म से पूर्व सब कुछ ज्ञात हो गया था कि यह भविष्य में कैसा बनेगा वगैरा।

कुण्डलिनी जब मूलाधार चक्र में आकर शिवलिंग पर लिपट कर सुषुप्त अवस्था में चली जाती है अर्थात् सो जाती है, उस समय जीव प्राण शक्ति के सहारे पूर्ण रूप से जीवत्व को प्राप्त हो जाता है। तब वह अपने स्वरूप को भूल जाता है तथा इस संसार को ही अपना समझने लगता है। मोह व अज्ञान के कारण सांसारिक पदार्थों को अपना समझता हुआ भोग में लिप्त हो जाता है। सांसारिक पदार्थ क्षणभंगुर व परिणामी होने के कारण उसे सदैव दुःख की ही अनुभूति कराते रहते हैं। इस प्रकार जीव इस संसार में अज्ञानता के कारण भटकता रहता है। सभी जीव जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्त, इन्हीं तीन अवस्थाओं को अनुभव करते हैं। तुरीयावस्था का ज्ञान और विज्ञान केवल योगियों को होता है। योग के अभ्यास के द्वारा जब कुण्डलिनी उर्ध्व होकर कई जन्मों के अभ्यास के बाद अपने स्वरूप महाकुण्डलिनी में अवस्थित हो जाती है, तब जीव का जीवत्व नष्ट हो जाता है। फिर वह अपने जीवेश्वर स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

कुछ जिज्ञासु हमारे पास आए। उन्होंने हमसे अपनी कुण्डलिनी जाग्रत कर देने के लिए कहा, तब मैंने उन्हें समझाया कि कुण्डलिनी का जागरण योग के अभ्यास की विशेष अवस्था पर होता है। उसके

लिए साधक को योग्यता भी प्राप्त करनी चाहिए। जब कुण्डलिनी जागरण की परिपक्व अवस्था आ जाती है, तब जाग्रत कर दी जाती है। एक जिज्ञासु ने तो यहाँ तक कहा कि आप हमारी कुण्डलिनी जाग्रत कर दीजिए मैं किसी से बदला लेना चाहता हूँ। मैं उसके शब्द सुनकर चौंक पड़ा ओर बोला, "आपके कहने का मैं अर्थ नहीं समझ पाया, थोड़ा स्पष्ट कहिए"। तब उसने अपने जीवन की दर्द भरी दास्तान सुनाई। उसकी बातें सुनकर मुझे लगा की यह पुरूष बहुत दुःखी है। फिर मैंने उससे पूछा, "कुण्डलिनी जाग्रत होने के बाद उन लोगों से आप कैसे बदला लेंगे"? वह बोला कठोर अभ्यास करके कुण्डलिनी को आज्ञा चक्र तक ले जाऊँगा, तब मैं सूक्ष्म रूप से शक्तिशाली हो जाऊँगा, फिर उन लोगों से बदला ले सकूँगा। मैं बोला- आप अपनी सोच बदल दीजिए, दुःख समाप्त हो जाएगा। उन लोगों को धन्यवाद दीजिए जिन्होंने आपको दुःख दिए हैं तथा ईश्वर से प्रार्थना कीजिए कि प्रभु हमारे विरोधी जहाँ भी रहें अच्छी प्रकार से रहें, उनके जीवन में किसी प्रकार का दुःख न आएं। उन्होंने आपके साथ किसी प्रकार का बुरा व्यवहार नहीं किया, बल्कि आपकों पूर्वजन्मों के पापों से मुक्त कर दिया। पाप कर्म भोगते समय दुःखों की अनुभूति होती है, यह सभी जानते हैं। वह लोग सिर्फ निमित्त मात्र हैं जिन्होंने आपको दुःख दिया। फिर मैंने तिब्बत के महान सन्त 'मिलारेपा' की जीवनी सुनाई तथा मैंने अपनी भी जीवनी सुनाई। मैंने भी अपने जीवन में बहुत कष्ट उठाए हैं। हमारा सब कुछ छीन लिया गया था। मुझे डेढ़ वर्ष तक गाँव से माँग कर खाना पड़ा। अन्त में रिवाल्वर से हमें दो गोलियाँ भी मारी गई। यह सब कुछ गाँव वालों ने नहीं किया, बल्कि हमारे घरवालों ने किया। फिर भी मैं प्रसन्न रहता हूँ। मुझे मालूम है कि ये लोग (घर वाले) मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते हैं, क्योंकि मैं इस शरीर को व इस संसार को अपना नहीं मानता हूँ। मुझे ज्ञात है कि मैं सिर्फ चेतन तत्त्व हूँ, चेतन तत्त्व का ये लोग कुछ नहीं कर सकते हैं अर्थात् हानि नहीं पहुँचा सकते है। फिर मैं उस पुरूष से बोला, "जाओ, उन लोगों से जाकर कहो कि मैं आपका आभारी हूँ, आपने मुझे पापों से मुक्त कर दिया"। उस पुरूष ने हमें कोई उत्तर नहीं दिया। हाँ, शांत होकर चला गया, क्योंकि मैंने अंत में कह दिया था कि साधना करों और ईश्वर की प्राप्ति का प्रयास करो, जब उचित समय आए तब हमसे कुण्डलिनी उर्ध्व करवा लेना। साधकों! कुण्डलिनी, सिद्धियाँ तथा अन्य दिव्य शक्तियाँ इसलिए नहीं होती हैं कि कोई भी इन शक्तियों के द्वारा किसी को हानि पहुँचाए, ऐसे बुरे विचार मन से त्याग देने चाहिएं। मानव जीवन सभी को आत्म कल्याण के लिए मिला है।

सभी साधकों की इच्छा होती है कि उनकी कुण्डलिनी जाग्रत हो जाए। यह इच्छा होना स्वाभाविक ही है। साधक अगर संयम-पूर्वक कठोर साधना करता है, तब उसकी कुण्डलिनी परिपक्व अवस्था में जाग्रत हो जाती है अथवा साधक का गुरू स्वयं ही समझ लेता है कि उसके शिष्य की कुण्डलिनी जाग्रत

करने का समय आ चुका है, तब जाग्रत कर दी जाती है। कठोर साधना करने वालों की कुण्डलिनी स्वयं जाग्रत हो सकती है। सभी साधकों की कुण्डलिनी स्वमेव जाग्रत नहीं हो सकती है। यह सब साधक के अभ्यास पर निर्भर करता है। कुछ साधक सिर्फ व्यायाम, प्राणायाम आदि का सहारा लेकर ही जाग्रत करने का प्रयास करते हैं। मैं यही कहूँगा कि कुण्डलिनी जाग्रत करने के लिए ध्यान करना अति आवश्यक है। ध्यान के बिना कुण्डलिनी जाग्रत करने का विचार मन से त्याग दें तो अच्छा है। साधक का प्राण वायु जब कण्ठ चक्र में हो और उसका ध्यान एक से डेढ़ घण्टे लगता हो तथा तीन बार ध्यान करता हो अर्थात् एक दिन में 5 घण्टे का ध्यान करने का अभ्यास हो तो अच्छा है, तब कुछ महीनों में अथवा कुछ वर्षों में कुण्डलिनी जाग्रत की जाए तभी अच्छा है। अभ्यास जितना ज्यादा होगा कुण्डलिनी उतनी ही तेजस्वी या उग्र होगी, शीघ्र कुण्डलिनी जाग्रत करने से कोई लाभ नहीं मिलेगा। यदि साधक को भविष्य में महान बनना है तो सिर्फ कठोर अभ्यास करता रहे, कुण्डलिनी की ओर ध्यान न दे। सिर्फ मन को एकाग्र करने की कोशिश करे, उचित समय आने पर कुण्डलिनी जाग्रत हो जाएगी अथवा गुरूदेव स्वयं जाग्रत कर देंगे। यदि किसी साधक के सद्गुरु स्थूल शरीर त्याग चुके हैं, तब किसी अनुभवी पुरूष से कुण्डलिनी जाग्रत करवा ले। कुण्डलिनी जाग्रत करना प्रत्येक गुरू के बस की बात नहीं होती है। आजकल जहाँ देखो गुरू ही गुरू प्रकट होकर घूम रहे हैं। गुरूओं का तो जैसे बाजार सा लगा हुआ है, ऐसे गुरूओं से बचें तथा योग्य सदगुरू के मार्गदर्शन में साधना करें, जिन्होंने अभ्यास के द्वारा परिपक्व अवस्था प्राप्त की हो।

जब साधक की साधना कण्ठ चक्र में होती है तथा मन स्थिर होने लगता है, तब अभ्यासानुसार प्राण वायु के धक्के मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी को लगने लगते हैं। प्राण वायु के धक्के लगने से कुण्डलिनी जाग जाती है। स्थूल प्राण वायु तो ध्यानावस्था में कण्ठ चक्र में होता है, परन्तु सूक्ष्म प्राण वायु कुण्डलिनी को धक्के मारता है। कुण्डलिनी आँखें खोलकर मुँह से पूँछ उगल देती है, फिर धीरे-धीरे अभ्यासानुसार उर्ध्व होने लगती है। वह जिस-जिस चक्र में पहुँचती है, उस-उस चक्र में स्थित जड़ता को जला देती है तथा उस जगह पर चैतन्यता बिखेर देती है। कुण्डलिनी जागरण होने पर कुण्डलिनी के स्वरूप के दर्शन भिन्न-भिन्न रूपों में होते हैं। ज्यादातर सुनहले नाग व स्त्री रूप में होते हैं। कण्ठ चक्र खुलने में अधिक समय लगता है। यहाँ पर मार्ग में एक ग्रन्थि होती है, उस ग्रन्थि को खुलने में साधक को कई वर्ष तक अभ्यास करने के बाद सफलता मिल पाती है। कण्ठ चक्र के बाद कुण्डलिनी आज्ञा चक्र को खोल देती है। इस अवस्था में दिव्य-दृष्टि बहुत तेजस्वी हो जाती है, उसके देखने की क्षमता बढ़ जाती है। फिर कुण्डलिनी तीन मार्गों पर चलकर ब्रह्मरन्ध्र द्वार खोल देती है। ब्रह्मरन्ध्र खुलने पर साधक का प्राण व मन ब्रह्मरन्ध्र के अन्दर प्रवेश कर जाते हैं, तब साधक की निर्विकल्प समाधि लगती है। कुण्डलिनी ब्रह्मरन्ध्र

खोलकर आज्ञा चक्र से होते हुए नीचे की ओर हृदय में आ जाती है। अभ्यास के परिपक्व होने पर कुण्डलिनी इसी अवस्था में स्थिर होकर अपना अग्नि तत्त्व वाला स्वरूप छोड़कर वायु तत्त्व के रूप में परिवर्तित हो जाती है। तब वायु तत्त्व रूप से समस्त शरीर व ब्रह्माण्ड में व्याप्त हो जाती है। साधक के आखिरी जन्म में यही कुण्डलिनी सहस्त्रार चक्र में स्थित महाकुण्डलिनी में अवस्थित हो जाती है। महाकुण्डलिनी परम्-शिव के साथ सहस्त्र-दल कमल के ऊपर विराजमान रहती है, तब जीव जीवत्व को त्याग कर जीवेश्वर स्वरूप को प्राप्त कर लेता है और फिर कभी जन्म ग्रहण नहीं करता। चितिशक्ति अपने निजस्वरूप में स्थित हो जाती है, यही कैवल्य है।

ब्रह्मरन्ध्र द्वार खुलने को कुछ साधक सहस्त्रार चक्र खुलना समझ लेते हैं, परन्तु ऐसा नहीं है। ब्रह्मरन्ध्र द्वार खुलने का अर्थ सहस्त्रार चक्र खुलने से बिल्कुल न लगाएं नहीं तो बहुत भारी भूल होगी, क्योंकि हमने साधकों के मुँह से सुना है कि उनके सभी सातों चक्र खुल चुके हैं। ये शब्द सुनकर उनके सामने नहीं बोला, क्योंकि वो शायद हमारी बात का विश्वास ना करते। स्वयं श्री माता जी (हमारे गुरूदेव) कहा करती थी कि उनका सातवाँ चक्र अर्थात् सहस्त्रार सन् 1962 में खुल गया था। उस समय हमें इस विषय में ज्ञान नहीं था, परन्तु जब हमें अभ्यास के द्वारा मालूम हुआ कि यह सातवाँ चक्र नहीं है तो आश्चर्य हुआ। ब्रह्मरन्ध्र द्वार कठोर मोटी परत से ढका हुआ रहता है। इस द्वार को खोलने के लिए कुण्डलिनी को काफी समय लगता है। जिसकी कुण्डलिनी शांत होती है, उसे तो महीनों अथवा वर्षों तक अभ्यास करना पड़ सकता है। परन्तु उग्र कुण्डलिनी वाले साधक का ब्रह्मरन्ध्र अभ्यास के अनुसार शीघ्र खुल जाता है। समाधि अवस्था में मन जितना अधिक एकाग्र होगा कुण्डलिनी उतनी ही अधिक उग्र होगी। कुण्डलिनी अपने मुँह से ब्रह्मरन्ध्र द्वार पर जब ठोकर मारती है तो समाधि अवस्था में साधक को अवश्य अनुभूति होती है कि ऐसा हो रहा है। उस समय ऐसा लगता है मानों गरम-गरम लोहे का सूजा (सुआ) ब्रह्मरन्ध्र द्वार पर चुभोया जा रहा है। फिर अन्त में ब्रह्मरन्ध्र द्वार में छिद्र कर देती है, तब सूक्ष्म मन और प्राण ब्रह्मरन्ध्र के अन्दर प्रवेश कर जाते हैं। साधक अपनी सुध-बुध खो जाता है, उसका स्थूल शरीर एक ओर लुढक जाता है।

साधक की कुण्डलिनी जब ब्रह्मरन्ध्र द्वार पर पहुँचती है, उस वक्त साधक का ब्रह्मरन्ध्र द्वार बन्द होता है। तब उसे अनुभव में दिखाई देता है कि जैसे ऊपर अंतरिक्ष में बहुत बड़ा आग का गोला है अथवा निकलते हुए सूरज के समान गोला दिखाई देता है। जब कुण्डलिनी ब्रह्मरन्ध्र द्वार पर जोर-जोर से ठोकर मारती है, तब वह गोला अंतरिक्ष में इधर-उधर गति करने लगता है तथा कुछ क्षणों में फिर स्थिर हो जाता

है, तब कुण्डलिनी ब्रह्मरन्ध्र द्वार पर ठोकर मारती है। वह लाल सुर्ख गोला हिलने लगता है या कंपन करने लगता है अथवा इधर-उधर गोल-गोल गति करने लगता है। परन्तु जब ब्रह्मरन्ध्र द्वार खुल जाता है तब यह गोला फट जाता है तथा चारों ओर बहुत तेज प्रकाश फैल जाता है। साधक देखता है जैसे वह प्रकाश में खड़ा है, उसका सम्पूर्ण शरीर प्रकाश में स्नान कर रहा है। जब तक ब्रह्मरन्ध्र द्वार खुला नहीं होता है, कुण्डलिनी द्वार पर धक्के मारती है। इसी समय कभी-कभी भयंकर मेघ गर्जना भी सुनाई देती है। ऐसा लगता है मानों वर्षा ऋतु के बादल जोर-जोर से गरज रहे हों। यह मेघ गर्जना दसवां व आखिरी नाद है। आकाश तत्त्व में वायु तत्त्व का घर्षण होने के कारण यह ध्वनि साधक को सुनाई देती है। ब्रह्मरन्ध्र खुलने के बाद मेघ गर्जना (दसवां नाद) सदैव के लिए बन्द हो जाता है। वैसे यह ध्वनि बहुत ही सूक्ष्म होती है, परन्तु साधक को भयंकर गर्जना के रूप में सुनाई देती है। फिर कुण्डलिनी ध्यानावस्था के समय ब्रह्मरन्ध्र द्वार के अन्दर अपना मुँह थोड़ा-सा अन्दर कर देती है। यह अन्दर की ओर ज्यादा नहीं जाती। यह क्रिया कुछ दिनों तक ही चलती है। कुछ दिनों बाद द्वार के अन्दर मुँह डालना बन्द कर देती है। अभ्यास बढ़ने पर कुण्डलिनी छोटे मस्तिष्क के अन्दर (सिर के पिछले भाग से) ऊपर की ओर होते हुए आज्ञा चक्र पर आकर नीचे हृदय की ओर चली जाती है। किसी-किसी की कुण्डलिनी सीधे मार्ग से होकर ब्रह्मरन्ध्र द्वार के नीचे से आज्ञा चक्र के लिए मुड़ती है, तब हृदय में आती है। मैंने एक बार पतंजलि ऋषि से पूछा था, प्रभु! हमें कुण्डलिनी के विषय में बताएं? तब उन्होंने हमें बताया कि सिर में कुण्डलिनी किस प्रकार अपना मार्ग तय करके नीचे हृदय की ओर आती है। हमें स्वयं अपनी अनुभूति के द्वारा इस विषय में ज्ञात है।

साधक की जितनी साधना जीवन भर में होती है, अगले जन्म में वर्तमान की योग्यता मात्र कुछ समय में ही प्राप्त कर लेता है अर्थात् वर्तमान साधना अगले जन्म में जुड़ जाती है। मृत्यु के समय साधक ने चित्त की जो अवस्था योग के द्वारा प्राप्त की है वह अवस्था अगले जन्म में उचित समय आने पर प्राप्त हो जाएगी। इसलिए देखा गया है कि कुछ साधक शीघ्र ही उन्नति कर लेते हैं और कुछ साधकों को सफलता काफी अभ्यास के बाद में मिलती है। यहाँ पर एक बात ध्यान में रखने योग्य है– साधक यह समझ ले कि वर्तमान जन्म में कण्ठ चक्र खुल गया है अथवा आज्ञा चक्र खुल जाता है, तो अगले जन्म में ध्यान पर बैठते ही कण्ठ चक्र अथवा आज्ञा चक्र खुल जाएगा, ऐसा कदापि नहीं होगा। अगले जन्म में साधना शुरूआत से ही होगी, परन्तु थोड़े से अभ्यास के बाद साधक को पिछले जन्म की योग्यता प्राप्त हो जाएगी। परन्तु अन्य साधक को जिसकी योग्यता पिछले जन्म में नहीं थी अथवा साधना नहीं की थी, उसे तो शुरूआती सफलता भी कठोर अभ्यास के बाद ही प्राप्त हो पायेगी। इस प्रकार धीरे-धीरे कई जन्मों तक साधना करती पड़ती है। एक-दो जन्मों की साधना से ईश्वर प्राप्ति सम्भव नहीं है। इसका कारण है

साधक के चित्त पर अनन्त जन्म-जन्मान्तरों के अविद्या युक्त संस्कार होते हैं, यह धीरे-धीरे ही नष्ट होते हैं। ये संस्कार एक-दो जन्म में समाप्त नहीं हो सकते हैं, फिर तत्त्वज्ञान की प्राप्ति अन्तिम जन्म में होती है।

जब साधक का अन्तिम जन्म होता है, तब वह प्रकृतिलय अवस्था को प्राप्त किए हुए रहता है। ऐसे साधक पिछले जन्म में तत्त्वज्ञान प्राप्त न होने के कारण शरीर त्यागने के पश्चात प्रकृति के आवरण में स्थित रहते हैं। इनका किसी लोक विशेष से सम्बन्ध नहीं होता है। वर्तमान जन्म में वह तत्त्वज्ञान प्राप्ति के लिए जन्म धारण करता है। इसलिए प्रकृतिलय अवस्था की प्राप्ति में साधक को वर्तमान जन्म में ब्रह्म साक्षात्कार होना निश्चित होता है। ऐसे साधक को सारे जीवन क्लेश सहना निश्चित होता है, क्योंकि उसके चित्त पर क्लेशात्मक कर्म विद्यमान रहते हैं। ये क्लेशात्मक कर्म सांसारिक दुःख के साथ-साथ संसार के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान भी कराते हैं। इससे साधक का संसार के प्रति मोह भंग हो जाता है तथा धीरे-धीरे इस संसार से वैराग्य हो जाता है। यह वैराग्य तत्त्वज्ञान प्राप्ति में सहायक होता है। मेरा वर्तमान जन्म प्रकृतिलय अवस्था को प्राप्त किए हुए था। इसलिए शुरूआत से ही मेरी साधना उग्र थी तथा अपने आप योग के विषय में ज्ञान प्राप्त हो जाता था। मुझे पिछले जन्म के सिद्ध-मंत्र आदि अपने आप याद आ गये थे। जब साधक अभ्यास के द्वारा कुण्डलिनी की पूर्ण यात्रा का अभ्यास कई जन्मों तक करता रहता है, तब अन्तिम जन्म में उसका सहस्त्रार चक्र खुलता है। सहस्त्रार खुलने के बाद परिपक्व अवस्था में साधक ईश्वर का साक्षात्कार कर लेता है तथा अन्त में निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार करके कैवल्य में स्थित हो जाता है।

कुण्डलिनी जब हृदय में स्थित हो जाती है, उस समय समाधि अवस्था में मन व प्राण ब्रह्मरन्ध्र के अन्दर प्रवेश करते हैं, तब साधक की निर्विकल्प समाधि लगती है। निर्विकल्प समाधि की परिपक्वता अथवा प्रवीणता पर ऋतम्भरा-प्रज्ञा का उदय होता है। इस प्रज्ञा के द्वारा साधक के चित्त पर स्थित अविद्या के संस्कार धीरे-धीरे नष्ट होने लगते हैं। इससे चित्त निर्मल हो जाता है तथा व्युत्थान के संस्कारों को रोकने में सहायता मिलती है। फिर प्रकृति के पाँचों तत्त्वों के विशेष रूप का साक्षात्कार होता है अर्थात् स्थूल से लेकर प्रकृति-पर्यन्त अलग-अलग तथा फिर एक साथ साक्षात्कार होता है। समाधि के अभ्यास के द्वारा जैसे-जैसे प्रज्ञा के संस्कार चित्त पर बढ़ते जाते हैं, वैसे-वैसे सहस्त्र-दल कमल विकसित होने लगता है। सबसे पहले साधक को अंतरिक्ष में बहुत बड़े आकार में कमल की कली दिखाई देती है। इस कली को देखकर साधक समाधि अवस्था में सोचने लगता है कि इतनी बड़ी फूल की कली उसने अपने जीवन काल में नहीं देखी होती है तथा कली का मुँह ऐसा दिखाई देने लगता है मानों अब यह विकसित होने

वाली है। मुझे सहस्त्र-दल कमल के कुछ-कुछ समय के अंतराल से बहुत अनुभव आए। जैसे-जैसे उसका क्रम-विकास होता था वैसे-वैसे हमें दिखाई देता था कि हमें पहले थोड़ी सी पंखुड़ियाँ खुली हुई दिखाई दी थी, फिर स्पष्ट हो गया कि मैं सहस्त्र-दल कमल का चौथाई भाग विकसित हुआ देख रहा हूँ। एक बार देखा कि मैं इस फूल के ऊपर चला जा रहा हूँ। मुझे सम्पूर्ण दृश्य में फूल की पंखुड़ियाँ ही दिखाई दे रही थी, मैं इन पंखुड़ियों के ऊपर चल रहा था। सहस्त्र-दल कमल को पूर्ण विकसित होने में कई वर्ष लग गये, जबकि मैं अपने जीवन में ज्यादा-से-ज्यादा समाधि व प्राणायाम् का अभ्यास करता रहा था। इसके विकसित होने के समय हमें बहुत सांसारिक दुःख सहने पड़े, वर्तमान समय में मैं पूर्ण निडर हूँ। डर कैसे लग सकता है, मृत्यु भी जब आएगी तब पहले हमसे आज्ञा लेगी, फिर स्थूल शरीर से हमारा सम्बन्ध विच्छेद होगा।

सहस्त्र-दल कमल ज्ञान का आयतन है। जैसे-जैसे इसका विकास होता है वैसे-वैसे साधक का ज्ञान बढ़ता है। इसका सम्बन्ध परा-प्रकृति से होता है। इस कमल या चक्र के विकसित होने पर साधकों के लिए परा-प्रकृति का विकास होता है तथा परा-प्रकृति का अवतरण भी उसके अन्दर होता है। जैसे-जैसे परा-प्रकृति का अवतरण होगा, वैसे-वैसे अपरा-प्रकृति शुद्ध होकर परा-प्रकृति में अवस्थित होती जाएगी अर्थात् साधक का चित्त निर्मल होकर परा-प्रकृति के अन्दर अन्तर्मुखी होता जाएगा। इसलिए हमें अनुभव में दिखाई दिया कि मैं सहस्त्र-दल कमल के ऊपर चला जा रहा हूँ। अन्त में मुझे दिखाई दिया कि सहस्त्र-दल कमल का विकास हो चुका है, मैं उसके मध्यम में खड़ा हूँ। फिर कुछ दिनों बाद दिखाई दिया कि एक पुरूष व एक स्त्री इस सहस्त्र-दल कमल के ऊपर बैठे हुए हमारी ओर देख रहे हैं। यह परम्-शिव व उनकी परा-शक्ति एक साथ विराजमान दिखाई दे रहे थे। साधक को इसी अवस्था में अभ्यास करते समय सगुण-ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। यह साक्षात्कार होना निश्चित होता है, क्योंकि परा-प्रकृति, सहस्त्रार चक्र और सहस्त्र-दल कमल एक ही हैं। परा-प्रकृति को ईश्वर का चित्त भी कहते हैं। जब इसका पूर्ण विकास हो जाता है तब जीव का जीवत्व नष्ट हो जाता है, फिर वह जीवेश्वर बन जाता है तथा पुनर्जन्म से रहित हो जाता है।

सहस्त्रार चक्र का पूर्ण विकास होने में इसलिए कई वर्ष लग जाते हैं, क्योंकि इस चक्र में 20 विवर होते हैं। इन सभी विवरों को ज्ञान के प्रकाश से भरने में कई वर्ष का अभ्यास लग जाता है। साधक को ये सभी विवर अनुभव में एक बार में ही दिखाई नहीं पड़ते हैं, बल्कि एक बार में एक अथवा कभी दो भी दिखाई देते हैं। जब ये विवर दिखाई देते हैं, तब साधक को ऐसा लगता है मानों किसी कुँए नुमा जगह को

देख (झाँक रहा) रहा है। इन विवरों में हल्का काला अधंकार-सा विद्यमान रहता है, इसलिए शुरूआत में इन विवरों को स्पष्ट नहीं देखा जा सकता है। जब विवर का काला-सा अंधकार अभ्यास के द्वारा समाप्त हो जाता है, तब विवर को स्पष्ट देखा जा सकता है। उस समय ऐसा लगता है मानों पानी से रहित पत्थर का बना हुआ कुँआ-सा हो। इस कुँए नुमा जगह के अन्दर की दीवारों पर काला-काला तमोगुणी पदार्थ लगा हुआ है। कभी-कभी दिखाई देता है कि साधक उस कुँए के अन्दर नीचे की ओर उतरता जा रहा है। अभ्यास के द्वारा इन विवरों में विद्यमान सूक्ष्म जड़ता नष्ट होकर प्रज्ञा का प्रकाश भर जाता है। ज्ञान का प्रकाश भर जाने पर विवर समाप्त हो जाता है फिर अगला विवर दिखाई देता है। उसमें भी वही पहले जैसी क्रिया होती है। इस प्रकार धीरे-धीरे अभ्यास से विवर समाप्त होकर ज्ञान का प्रकाश सर्वत्र विद्यमान हो जाता है। इसलिए सहस्त्रार चक्र विकसित होने में बहुत समय लग जाता है। एक विवर समाप्त होने में (ज्ञान का प्रकाश भरने में) साधक को काफी समय तक अभ्यास करना होता है। जब विवर ज्ञान के प्रकाश से भर जाता है, तब साधक को शुरूआती अवस्था फिर से आ जाती है, क्योंकि इन विवरों की 50-50 मात्रकाएं होती हैं। ये मात्रकाएं मूलाधार चक्र से लेकर आज्ञा चक्र तक होती हैं, तब साधक की यह अवस्था उसके व्युत्थान के संस्कारों के कारण आ जाती है। समाधि के द्वारा जो अनुभव आता है उसके भी संस्कार चित्त पर पड़ते हैं। समाधि के संस्कार व्युत्थान के संस्कारों से अधिक बलवान होते हैं, क्योंकि समाधि-प्रज्ञा व्युत्थान की प्रज्ञा से अधिक निर्मल होती है। उसकी निर्मलता में पदार्थ का तत्त्व अनुभव होता है। समाधि प्रज्ञा के संस्कार व्युत्थान के संस्कारों व वासनाओं को हटाते रहते हैं। व्युत्थान के संस्कारों के दबने से उनसे उत्पन्न होने वाली वृत्तियाँ भी दब जाती है। इन वृत्तियों के निरोध होने पर फिर समाधि उत्पन्न होती है, यही क्रम चलता रहता है। इन विवरों के कारण साधक की कई बार शुरूआती अवस्था उपस्थित हो जाती है, तब वह सोचता है कि इस अवस्था में यह शुरूआती अवस्था क्यों और कैसे आ गई। जब सभी विवर ज्ञान के प्रकाश से भर जाते हैं, तब सहस्त्रार चक्र पूर्ण रूप से विकसित हो जाता है। पूर्ण रूप से विकसित होने पर स्वयं साधक (योगी) जीवेश्वर रूप में अपनी संगिनी कुण्डलिनी शक्ति के साथ सहस्त्र-दल कमल के ऊपर स्थित हो जाता है, ऐसा अनुभव में आता है।

सहस्त्र-दल कमल जब पूर्ण रूप से विकसित हो रहा होता है, तब सगुण-ब्रह्म अर्थात् ईश्वर का साक्षात्कार होता है। उस समय ईश्वर अपने हाथों से साधक का सूक्ष्म शरीर अर्थात् चित्त के स्वरूप को छिन्न-भिन्न कर देते हैं। इस सूक्ष्म शरीर में साधक के कई जन्मों के संस्कार विद्यमान रहते हैं। इसको चित्त का स्वरूप भी कहते हैं। चित्त का स्वरूप नष्ट होने पर साधक को जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त होती है। मुझे सगुण ब्रह्म का साक्षात्कार 11 जनवरी, 2007 को हुआ था। अब साधकों को समझ लेना चाहिए कि

कुण्डलिनी शक्ति के द्वारा कैसे ईश्वर का साक्षात्कार होता है तथा ब्रह्मरन्ध्र व सहस्त्रार चक्र में क्या अंतर है? ब्रह्मरन्ध्र खुले हुए साधकों की गिनती वर्तमान समय में इस भूलोक पर सैंकड़ो में हो सकती है। परन्तु सहस्त्रार चक्र जिन साधकों का खुलकर विकसित हो गया है, ऐसे साधकों की गिनती इस भूलोक पर मात्र थोड़ी ही होगी। ऐसे योगी अत्यन्त गुप्त रुप से रहते हैं तथा वह समाज को अपने विषय में नहीं बताते हैं। परन्तु वे ईश्वर की प्रेरणा से इस जगत् का गुप्त रूप से कल्याण करते रहते हैं। ऐसे पुरूष दिव्य शक्तियों से युक्त रहते हैं, इनके लिए कोई भी कार्य असम्भव नहीं होता है। अन्त में ये स्थूल शरीर त्याग कर ब्रह्म में स्थित हो जाते हैं।

सहस्त्र-दल कमल के पूर्ण विकसित होने पर साधक अपने आपको कमल के मध्य में खड़ा हुआ देखता है। उस समय दृश्य में सिर्फ सहस्त्र-दल कमल ही दिखाई देता है। साधक के साथ उसकी कुण्डलिनी शक्ति दिखाई नहीं देती है। उस समय साधक का चित्त शुद्ध होकर अत्यन्त व्यापक हो जाता है तथा जीव जीवेश्वर बन जाता है। जीवेश्वर के साथ उसकी कुण्डलिनी शक्ति तभी स्त्री रूप में (संगिनी) दिखाई देती है, जब तक साधक अभ्यास के द्वारा अन्वय योग को पूर्ण नहीं कर लेगा। अन्वय योग के पूर्ण होने पर ही शिवत्व का पूर्ण विकास होता है। शिवत्व का पूर्ण विकास ही पूर्णता है। पूर्ण विकास होने पर जीवेश्वर के साथ उसकी संगिनी कुण्डलिनी शक्ति सहस्त्र-दल कमल पर एक साथ बैठे दिखाई देते हैं। जब साधक अन्वय योग का अभ्यास कर रहा होता है, तब उसे सहस्त्र-दल कमल के निचले भाग पर काला पदार्थ अथवा धुंधला अंधकार-सा दिखाई देता है। यह काला पदार्थ तमोगुण अथवा अविद्या का अंश होता है। यह अभ्यास के द्वारा धीरे-धीरे नष्ट होता रहता है। अन्वय योग पूर्ण होने पर अविद्या पूर्ण रूप से नष्ट हो जाती है। अविद्या को पूर्ण रूप से नष्ट करने के लिए अन्वय योग का अभ्यास अति आवश्यक है, फिर सर्वत्र शिवत्व प्रकाशित हो जाता है।

ब्रह्म को जड़तत्त्व से अलग करके देखने का नाम व्यतिरेक योग है तथा ब्रह्म को सर्वत्र सब आकारों में देखने का नाम अन्वय योग है। व्यतिरेक योग से आवरण नष्ट होता है तथा अन्वय योग से विक्षेप नष्ट होता है। व्यतिरेक योग में चित्त वृत्ति को निरुद्ध करना होता है तथा अन्वय योग में सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्मस्वरूप देखना होता है, इसलिए दोनों योग करना अति आवश्यक है। पहले व्यतिरेक योग फिर अन्वय योग का अभ्यास होता है। जब सिर्फ व्यतिरेक योग का अभ्यास किया जाता है, तब यह जगत् जड़ रूप में दिखाई देता है। इससे भी पुनर्जन्म से छुटकारा मिल जाता है, परन्तु मृत्यु के पश्चात मोक्ष मिलता है। उदाहरण के लिए जल और ओले देखने में भिन्न हैं, परन्तु दोनों एक ही हैं। यही बात ब्रह्माण्ड और सम्पूर्ण

जगत् की है। दृष्टि से ये दोनों भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं, परन्तु अन्तर्दृष्टि में ये दोनों एक ही हैं। इस प्रकार अन्तर्भूत वास्तविक रूप से देखना ही समदर्शन है, इसी को अन्वय योग कहते हैं। साधकों! मैं सहज ध्यान योग का साधक हूँ। मैं ज्ञान योग और भक्ति योग दोनों को लेकर चला हूँ। वैसे ये दोनों मार्ग आपस में भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु अभ्यास के आखिरी दौर में मैंने थोड़ी-सी भक्ति भी अपना ली थी। सच तो यह है कि सभी प्रकार के योग एक समान ही हैं, सिर्फ अज्ञानता की दृष्टि से देखने पर भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं, क्योंकि अन्त में एक ही स्थान पर पहुँचना होता है। ज्ञानी पुरूष निर्गुण ब्रह्म में स्थित होकर कैवल्य को प्राप्त करता है तथा भक्ति योग में अन्त में सगुण ब्रह्म के अन्त:करण में स्थित हो जाता है। दोनों को एक ही अवस्था प्राप्त होती है। भक्ति का मार्ग थोड़ा घुमावदार व लम्बा, प्रेमरस से युक्त है। ज्ञान का मार्ग छोटा व रसहीन है। ज्ञान योग के योगी को अभ्यास के समय बहुत कष्ट सहने होते हैं, क्योंकि स्वयं ही वह अपना मार्ग तय करता है। भक्ति योगी ईश्वर पर आश्रित रहता है। मैं ज्ञान योगी हूँ, थोड़ी-सी भक्ति भी की है, परन्तु मैं भक्त नहीं हूँ। मैंने दोनों प्रकार के योग की अनुभूति की है। इस संसार में अभ्यासी के लिए समदर्शन श्रेष्ठ है। मुझसे एक बार ईश्वर ने प्रेरणा द्वारा कहा था, 'समता का अभ्यास करो', समता के अभ्यास से अहंकार की जननी अस्मिता समाप्त हो जाती है। फिर इस भौतिक देह में ही योगी साक्षात् ब्रह्म स्वरूप हो जाता है।

माता ही पुत्र को बताती है कि उसका पिता कौन है अथवा माता ही पुत्र को उसके पिता से परिचित करवा सकती है, क्योंकि उसे ज्ञात होता है कि उसका पिता कौन है? साधक के शरीर में सूक्ष्म रूप से विद्यमान उसकी कुण्डलिनी शक्ति ही माता स्वरूप होती है। उसके जाग्रत हुए बिना साधक अपना पूर्ण विकास नहीं कर सकता है। पूर्ण विकास करना मानव जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। इसलिए कुण्डलिनी शक्ति पूर्ण विकास में साधक का सहयोग करती है। वह अपने अव्यक्त रूप से ब्रह्माण्ड रूपी पिण्ड में व्याप्त रहती है। इस ब्रह्माण्ड का सृजन हिरण्य गर्भ के द्वारा होता है। अधिष्ठाता रूप परम् आकाश तत्त्व में वायु के द्वारा सृष्टि का सृजन होता है तथा प्राण शक्ति के द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्यवस्था पूर्वक क्रिया होती रहती है। कुण्डलिनी शक्ति दूसरे स्वरूप से जीव के साथ संगिनी रूप में प्राण शक्ति के साथ गर्भ में प्रवेश करती है, फिर वह मूलाधार में शिवलिंग के साढ़े तीन चक्कर लपेट कर सो जाती है। साधक अभ्यास के द्वारा उसे जाग्रत कर सकता है। इस अवस्था में उसे माता ही कहना चाहिए, क्योंकि जीव अपने स्वरूप को भूल चुका होता है। कुण्डलिनी साधक को उसके परम्-पिता शिव (ईश्वर) से मिला देती है, तब जीव अपना जीवत्त्व त्याग कर अपने जीवेश्वर रूप को धारण कर लेता है। जैसा परम्-शिव का स्वरुप होता है, वैसा ही जीवेश्वर का स्वरुप होता है, क्योंकि जीव उस परम्-शिव का अंश स्वरूप है।

स्वयं कुण्डलिनी शक्ति जीवेश्वर के संगिनी रूप में प्राप्त हो जाती है, परन्तु जीवेश्वर कभी भी परम्-शिव की बराबरी नहीं कर सकता है, क्योंकि जीव ईश्वर का अंश रूप है। ईश्वर सगुण ब्रह्म है, उसका चित्त परा-प्रकृति द्वारा बना हुआ है। जीव का चित्त अपरा-प्रकृति से बना है। ईश्वर का ज्ञान व शक्तियाँ नित्य हैं। जीव को ज्ञान व शक्तियाँ परिणाम के द्वारा प्राप्त हुई हैं। अतः ईश्वर पिता है और जीव पुत्र।

सिद्धियाँ

सिद्धि एक ऐसा शब्द है जिसे सुनकर साधारण मनुष्य भी इस शब्द की ओर आकर्षित हो जाता है। सच तो यह है कि यदि किसी पुरूष ने छोटी-सी भी सिद्धि प्राप्त कर ली हो तो साधारण मनुष्य उसकी स्तुति आदि करना शुरू कर दते हैं। उसके विषय में बढ़ा-चढ़ाकर बातें करने लगते हैं कि अमुक सन्त बहुत ही उच्चकोटि का है, वगैरा-वगैरा। ऐसे सिद्धि प्राप्त सन्त के दर्शन के लिए भीड़ उमड़ पड़ती है। फिर उसके दर्शन करके मनुष्य अपने आप को धन्य मानने लगता है तथा उस सन्त की भगवान् मान कर पूजा करने लगता है। आजकल समाज में ऐसी घटनाएँ अक्सर देखने को मिल जाती हैं। इन सबका कारण है लोगों को सिद्धि के विषय में सही ज्ञान नहीं होना। हमने देखा है कि बहुत से मनुष्य सिद्धि के चक्कर में पड़कर बहुत दिनों तक इसे प्राप्त करने का प्रयास करते रहते हैं तथा अपने जीवन का बहुमूल्य समय नष्ट करते रहते हैं। मैं ऐसे अज्ञानी लोगों से कहना चाहता हूँ कि वे सिद्धि के चक्कर में अपना बहुमूल्य समय व्यर्थ में नष्ट न करें। यदि यह भी मान लिया जाए कि साधक को छोटी-मोटी सिद्धि मिल भी गई तो उससे क्या प्राप्त करेंगे? सिर्फ कुछ समय तक समाज के द्वारा सम्मान, यश व धन आदि। परन्तु यह भी सच है कि सिद्धियों को प्राप्त करने वाला साधक अन्त में विभिन्न प्रकार के कष्ट उठाता है।

प्रत्येक योग मार्ग में एक निश्चित अवस्था में साधक को सिद्धियाँ अवश्य मिलती हैं, यह प्रकृति का नियम है। यदि साधक सतर्क रहे तो भी कुछ-न-कुछ प्रभाव तो सिद्धियों का अवश्य पड़ता है। इसलिए अच्छा है कि इन सिद्धियों से कार्य न लें। यदि साधक ने इन सिद्धियों से कार्य लिया तो ये सिद्धियाँ तीव्र गति से कार्य करने लगती हैं और अगर इनसे कार्य न लिया जाए तो ये धीरे-धीरे शांत हो जाएँगी। जब सिद्धियाँ कार्य करती हैं तो वह साधक के योगबल के अनुसार ही कार्य करती हैं, इससे साधक का योगबल समाप्त होने लगता है। मैंने कुछ सिद्धियों से जरूरत पड़ने पर थोड़ा-सा कार्य लिया है ताकि मैं सिद्धियों के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकूँ। मैं साधना बहुत करता था ताकि योग मार्ग में किसी प्रकार की रूकावट न आए। यदि किसी साधक को सिद्धि प्राप्त हो भी जाए तो उस सिद्धि से चमत्कार कभी न दिखाए।

जब साधक की अवस्था कण्ठ चक्र में बहुत दिनों तक बनी रहती है तथा साधक निरन्तर कठोर अभ्यास करता रहता है, तो यहीं से कुछ सिद्धियाँ मिलनी शुरू हो जाती हैं। जैसे–दूरदर्शन, दूरश्रवण, वाचा सिद्धि आदि। दूरदर्शन- दूरश्रवण सिद्धि अत्यन्त अच्छी लगती है, क्योंकि इन सिद्धियों से साधक किसी भी समय सम्पूर्ण पृथ्वी के किसी भी स्थान का दृश्य देख सकता है तथा उस दृश्य से सम्बन्धित आवाज भी

सुन सकता है। इन सिद्धियों से कुछ भी छिप नहीं सकता है। वाचा सिद्धि तभी प्राप्त होगी जब साधक अत्यन्त संयमित होकर साधना करता है तथा मौन व्रत का पालन करता है। जब वाचा सिद्धि प्राप्त होती है, उस समय साधक को अत्यन्त सतर्कता बरतनी चाहिए तथा जरूरत पड़ने पर ही बात करनी चाहिए। इसी स्थान पर कुछ और भी सिद्धियाँ कुछ देने का प्रस्ताव रखती हैं, परन्तु उस प्रस्ताव को अस्वीकार कर देना चाहिए तथा अपना लक्ष्य प्राप्त करने का आशीर्वाद माँगना चाहिए।

ऊपर लिखी हुई सिद्धियाँ साधक को उस समय मिलती है, जब उसका सम्बन्ध सूक्ष्म जगत् से हो जाता हैं। ये सिद्धियाँ निम्न-स्तर की कही जाती हैं। मगर जो साधक उच्चावस्था या उच्चतर अवस्था को प्राप्त किए हुए हैं, ऐसे साधकों को उनकी योग्यता अनुसार सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। बड़ी-बड़ी सिद्धियों को प्राप्त करने के लिए साधक को विशेष प्रकार की कठोर साधना करनी पड़ती है। ऐसी सिद्धियों को सिखाने वाला गुरू होना अति आवश्यक है, किंतु ऐसा गुरू वर्तमान में मिलना अति कठिन है। बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ किसे प्राप्त हैं, यह तो मैं नहीं जानता हूँ। यदि साधक अत्यन्त शुद्धता और संयमित होकर रहता है, तो अपने ज्ञान से सिद्धियों के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकता है, परन्तु यह कार्य निश्चय ही अति कठिन है। मैं भी इस मार्ग पर चल चुका हूँ। ऐसा कार्य सिर्फ वही साधक कर सकता है जो पूर्वजन्मों में श्रेष्ठ साधक रह चुका है, वरना स्वयं अपने ज्ञान से बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ प्राप्त नहीं हो सकती हैं। मैंने भी सन् 1994 से सन् 1998 के बीच कुछ विशेष प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त करने का प्रयास किया था। परन्तु उन सिद्धियों को पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं कर सका, क्योंकि हमारा मार्ग स्वयं भगवान् विष्णु ने रोक दिया था तथा हमें समझाया भी था।

मैंने अपने साधनाकाल में दो सिद्धियों को प्राप्त करने का प्रयास किया था। ये सिद्धियाँ परकाया प्रवेश और आकाश गमन थी। परकाया प्रवेश के लिए मैंने स्वयं जानकारी प्राप्त की थी। जब मुझे विशेष नाड़ी का ज्ञान हो गया कि इस नाड़ी के द्वारा बाहर निकलने पर परकाया प्रवेश में सफलता मिल सकती है। बहुत प्रयास करने पर मैं उस नाड़ी को खोल नहीं सका, क्योंकि वह नाड़ी बन्द थी। मैंने उस नाड़ी को खोलने के लिए योग बल का प्रयोग भी किया था। इसके बाद मैंने इस मार्ग को छोड़ दिया। फिर ज्ञानचक्र का प्रयोग किया। मैं ज्ञानचक्र के द्वारा अंतरिक्ष में बाहर निकल गया। मैं अपने स्थूल शरीर से बाहर तो निकल गया, परन्तु हमारा मार्ग भगवान् विष्णु ने रोक दिया तथा सिद्धि के लिए मना भी किया। फिर मैं वापस अपने शरीर में आ गया। ध्यानावस्था में साधक सूक्ष्म शरीर या कारण शरीर में चला जाता है, परन्तु इस सिद्धि के लिए स्थूल शरीर से निकलना पड़ता है। ये दोनों अवस्थाएँ आपस में भिन्न हैं। साधक

ध्यानावस्था में देखता है कि वह सूक्ष्म शरीर से इधर-उधर घूम रहा है। इस अवस्था को प्राप्त हुआ साधक परकाया में प्रवेश नहीं कर सकता, क्योंकि ध्यानावस्था में साधक अन्तर्मुखी होकर सूक्ष्म शरीर में प्रवेश करता है। उस समय दिखाई देता है कि वह स्थूल शरीर से निकलकर सूक्ष्म शरीर में अलग खड़ा है, तब स्थूल शरीर दूर बैठा हुआ दिखाई देता है। परन्तु जब इस सिद्धि के लिए बाहर निकलना होता है, तब सूक्ष्म शरीर को एक विशेष नाड़ी से बाहर निकालना होता है अथवा ज्ञान चक्र से बाहर निकालना होता है। बाहर निकलने के बाद फिर भौतिक जगत् में एक निश्चित सीमा तक सूक्ष्म जगत् में भ्रमण कर सकता है। इस अवस्था में उसका स्थूल शरीर नष्ट नहीं होता है, क्योंकि स्थूल शरीर का सूक्ष्म शरीर से सूक्ष्म रूप से तारतम्य बना रहता है। मैंने यह बात इसलिए लिखी है, क्योंकि साधक ध्यानावस्था में सूक्ष्म शरीर द्वारा सूक्ष्म जगत् में भ्रमण करते हैं, इसलिए यह न समझ लें कि वे भी परकाया में प्रवेश कर सकते हैं। ध्यानावस्था में सूक्ष्म जगत् में भ्रमण करना या सूक्ष्म जगत् के दृश्य देखना आदि चित्त की वृत्तियों द्वारा होता है। परन्तु परकाया प्रवेश के लिए साधक अपने सूक्ष्म शरीर के अन्दर सूक्ष्म इन्द्रियाँ व प्राण आदि को लेकर स्थूल शरीर से बाहर हो जाता है। जैसे मनुष्य की मृत्यु के समय सूक्ष्म शरीर अपने अन्दर सब कुछ समेट कर स्थूल शरीर से बाहर हो जाता है। मृत्यु के समय सूक्ष्म शरीर का निकलना व सिद्धि के लिए सूक्ष्म शरीर का निकलना, इन दोनों अवस्थाओं में भिन्नता है। मृत्यु के समय सूक्ष्म शरीर का स्थूल शरीर से सम्बन्ध सदैव के लिए समाप्त हो जाता है, ऐसी अवस्था में स्थूल शरीर ही नष्ट हो जाता है। सिद्धि के लिए जब विशेष मार्ग से सूक्ष्म शरीर को बाहर निकाला जाता है, तब स्थूल शरीर से सम्बन्ध अत्यन्त सूक्ष्मता से बना रहता है। इसलिए स्थूल शरीर स्वयंमेव कभी नष्ट नहीं होता चाहे वर्षों बीत जाएँ। इस क्रिया को करने वाला साधक अपने स्थूल शरीर को सुरक्षित स्थान पर करके तब सूक्ष्म शरीर से बाहर निकलता है।

अक्तूबर 1995 की बात है। मैंने ध्यानावस्था में संकल्प करके समस्त ब्रह्माण्ड में संदेश भेजा, "आकाशगमन सिद्धि के विषय में कोई भी सिद्ध पुरूष या दिव्यशक्ति हमें जानकारी देने की कृपा करें, क्योंकि मैं आकाशगमन सिद्धि के विषय में जानना चाहता हूँ तथा हमारा मार्गदर्शन करें"। कुछ क्षणों तक इन्तजार करने के उपरांत भी हमारे पास किसी का सन्देश नहीं आया। मेरे प्रश्न का किसी ने उत्तर नहीं दिया। मैं जानता था कि ब्रह्माण्ड में ढेरों ऐसी शक्तियाँ व सिद्ध पुरूष हैं, जो इस सिद्धि के विषय में जानते हैं, परन्तु हमें बताना नहीं चाहते थे। फिर मैंने अपने योग बल से पूछा- क्या हमारा संकल्प समस्त ब्रह्माण्ड में पहुँच गया अथवा नहीं? उत्तर मिला- संकल्प सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में पहुँच चुका है। मैं बोला- मैं फिर संकल्प करता हूँ, "कोई सिद्ध पुरूष हमें इस सिद्धि के लिए मार्गदर्शन करे, जिसे यह सिद्धि प्राप्त हो"।

परन्तु कुछ क्षणों तक कोई आवाज नहीं आई। अब मैंने सोचा यह सिद्धि किसे प्राप्त है, उसी का आहवान करूँगा। यह सिद्धि पूर्वकाल में ढेरों योगियों को प्राप्त थी तथा वर्तमान काल में आदि गुरू शंकराचार्य को प्राप्त थी। हमने शंकराचार्य जी के नाम का चयन किया कि इन्हीं से पूछा जाए। तब मैंने शंकराचार्य जी के लिए संकल्प किया– "आप कृप्या हमारा मार्गदर्शन कीजिए"। परन्तु शंकराचार्य जी के भी दर्शन नहीं हुए। अब मुझे ऐसा लगा– शायद मैं योगी ही नहीं हूँ, क्योंकि इतने समय से मैं कुछ पूछ रहा हूँ, मगर कोई भी कुछ बताने को तैयार नहीं है। लगता है हमें ऊपर वाले योगी ही नहीं मानते हैं। अब हमें अपने आप पर दुःख हुआ, मैंने अपने अहंकार का स्मरण किया और बोला, "तू हमारे सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो जा और उग्र रूप को धारण कर ले"। उसी समय हमें क्रोध आने लगा, तब हमने संकल्प किया– "कहाँ हो, आदिगुरू शंकराचार्य जी, हमारे सामने प्रकट हो जाओ"। इसके साथ ही मैंने ढेर सारा योगबल संकल्प में लगा दिया और फिर मैं आँखें बन्द करके बैठ गया। संकल्प करते ही शंकराचार्य जी अंतरिक्ष में प्रकट हो गये, वह हमारी ओर देख रहे थे। मैं बोला– "प्रभु! मैं आपको प्रणाम करता हूँ"। उत्तर में शंकराचार्य जी ने अशीर्वाद मुद्रा में ऊपर की ओर हाथ उठाया और बोले– "योगी, क्या यही तरीका है किसी से कुछ पूछने का"? मैं बोला– "प्रभु! क्षमा करें"। बार-बार संकल्प करने से जब कोई जवाब नहीं मिला, तभी मैंने ऐसा किया। फिर उन्होंने कुछ नहीं कहा, वह बिल्कुल शांत खड़े रहे। मैं बोला– "प्रभु! आप हमें आकाश गमन सिद्धि के विषय में बताएं तथा मेरा मार्गदर्शन करें, मैं इस सिद्धि को प्राप्त करना चाहता हूँ"। शंकराचार्य जी बोले– "योगी, मैं इस सिद्धि के विषय में नहीं जानता हूँ, मैं सिर्फ पानी के ऊपर चलने की सिद्धि के विषय में जानता हूँ"। मैं बोला– "प्रभु! आपके विषय में जो लेख मिलता है, उसमें लिखा है कि आपने इस सिद्धि का प्रयोग किया है"। परन्तु उत्तर में शंकराचार्य जी कुछ नहीं बोले, बल्कि ऊपर की ओर कुछ देख रहे थे, जिसे मैं समझ न सका। मैं बोला– "प्रभु! आप हमें जल पर चलने वाली सिद्धि के विषय में बता दीजिये"। उसी समय अत्यन्त तेज प्रकाश बिन्दु प्रकट हो गया, फिर उस प्रकाश बिन्दु का विस्फोट हो गया। विस्फोट होते ही सारा अंतरिक्ष प्रकाश से युक्त हो गया और फिर दृश्य समाप्त हो गया तथा मैंने आँखें खोल दी।

मुझे अपने कार्य में सफलता नहीं मिली। मैंने फिर शंकराचार्य जी का संकल्प किया ओर आँखें बन्द करके बैठ गया। शंकराचार्य जी फिर अंतरिक्ष में दिखाई देने लगे। मैं बोला– "प्रभु! बीच में अवरोध आ गया था, क्षमा करना मैंने फिर आपको परेशान किया"। मैंने कहा प्रभु आप जल के ऊपर चलने की सिद्धि के विषय में ही बता दीजिए। वह बोले– "योगी! इस विषय में बताने की आज्ञा नहीं है"। मैं थोड़ा चौंका और पूछा– "प्रभु! आपको किसकी आज्ञा की जरूरत है"। वह बोले– "ब्रह्म की"। उसी समय वही प्रकाश

बिन्दु फिर से प्रकट होकर विस्फोटित हो गया। अंतरिक्ष में प्रकाश ही प्रकाश फैल गया। मैंने आँखें खोल दी। मैं समझ गया कि ब्रह्म ही हमारे मार्ग के अवरोध हैं, इसीलिए शंकराचार्य जी पहली बार ऊपर की ओर देख रहे थे। परन्तु ब्रह्म तो सर्वोच्च सत्ता हैं, उनका तो कोई कुछ नहीं कर सकता है। फिर मैं ध्यान पर बैठ गया। मैंने ब्रह्म से पूछा– "प्रभु! आप हमारा मार्ग क्यों अवरोध कर रहे हैं, कृपया आप आज्ञा दे दीजिए"। उसी समय एक तेज प्रकाश बिन्दु प्रकट हो गया और उस प्रकाश बिन्दु से ध्वनि निकलने लगी– "योगी तुम्हें अपने मार्ग पर आगे बढ़ना चाहिए, तुम भूलोक पर सिद्धियाँ प्राप्त करने के लिए नहीं गये हो। प्रकृति तुमसे कुछ कार्य लेना चाहती है, सिर्फ वही कार्य करो"। मैं बोला– "प्रभु! आप चाहें तो कुछ भी कर सकते हैं। आप तो इच्छा मात्र से ही हमें सिद्धि प्राप्त करा सकते हैं"। ब्रह्म बोले– "योगी तुम भाग्यशाली हो जो मुझसे बात कर रहे हो, वरना हमारा दर्शन भी योगियों के लिए अत्यन्त मुश्किल है"। मैं बोला– "प्रभु! इस कृपा के लिए मैं आपको बारम्बार प्रणाम करता हूँ। कृप्या आप हम पर कृपा कीजिए"। ब्रह्म बोले– "मैं किसी पर कृपा नहीं करता, सिर्फ लीलाएं करता हूँ"। इन शब्दों के पूरा होते ही वह प्रकाश बिन्दु अदृश्य हो गया। मैं समझ गया कि अब यह सिद्धि हमें प्राप्त नहीं होगी।

मैं निर्विकल्प समाधि की उच्चतर अवस्था के अन्तर्गत योग का कठोर अभ्यास कर रहा था, उस समय हमें दिव्य शक्तियों द्वारा ढेरों वरदान मिले। कुछ वरदानों का प्रयोग मैंने किया भी था। वे वरदान विलक्षण शक्ति वाले थे। उसी समय मैंने एक बार फिर आकाश गमन सिद्धि की माँग की, तो काफी समय बाद मुझे सिद्धि सिखाने का निर्णय किया गया तथा सिद्धि सिखाने के लिए एक दिव्य शक्ति भी नियुक्त कर दी गई। मैं सिद्धि के नियमों का पालन करने लगा। सिद्धि मैं गाँव से बाहर नदी के किनारे बनी झोंपड़ी में सीखता था, यह स्थान बिल्कुल सुनसान था। सिद्धि प्राप्त करने में सफलता मिलने भी लगी, परन्तु हमारे चित्त में थोड़े से संस्कार शेष थे जो इस सिद्धि में अवरोध डाल रहे थे। फिर हमें समझाया गया कि पहले इन कमियों को पूरी तरह से नष्ट कर दीजिये, फिर यह सिद्धि सीखिये। हमारी समझ में आ गया और मैंने सिद्धि सीखना छोड़ दिया तथा योग का अभ्यास करने लगा। जब मुझे अभ्यास के द्वारा निर्विकल्प समाधि की उच्चतम अवस्था प्राप्त हुई, तब प्रकृति के विषय में सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो गया। अब मैं सिद्धि के विषय में सोचता तक नहीं हूँ, क्योंकि ये सिद्धियाँ योग मार्ग में अवरोध हैं। मुझे जो सिद्धियाँ तथा वरदान प्राप्त हुए थे, मैंने उन सभी का त्याग कर दिया। अब मुझे अपना लक्ष्य प्राप्त हो गया है। मैं अब सिर्फ निर्बीज समाधि किया करता हूँ।

संयम से नाना प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं। वैसे ये सिद्धियाँ साधक के योग के अभ्यास में पूरी तरह से अवरोध का कार्य करती हैं। योग के प्रति जिनकी श्रद्धा होती है अथवा जो योग के विषय में जानते हैं, उनको ये सिद्धियाँ अधिक प्रभावित नहीं करती हैं, क्योंकि उन्हें मालूम होता है कि सिद्धियाँ व्युत्थान तथा समाधि में विघ्न रूप हैं।

अपनी-अपनी भूमियों के स्वामी देवता बड़े आदर से नाना प्रकार के भोगों और ऐश्वर्यों का साधकों को प्रलोभन देते हैं। अतः साधकों को सदैव सावधान व सचेत रहना चाहिए। यदि साधक इन सिद्धियों में फँस जाएगा तो उसका परिश्रम व्यर्थ हो जाएगा। इस कारण इनसे सदा अलग रहना चाहिए। हमारे पास भी सिद्धियाँ आई थीं, परन्तु मैंने स्वीकार नहीं किया। साधक को अभिमान नहीं आना चाहिए, क्योंकि अभिमान भी समाधि में अवरोध जैसा कार्य करता है। सबीज समाधि को चार भूमियों में बांटा गया है– प्रथम भूमि वाला अभ्यासी इस योग्य नहीं होता है कि उसके पास सिद्धियाँ आएं। प्रथम भूमि वाले वे साधक है जो स्थूल पंचमहाभूतों का साक्षात् कर रहे हैं। दूसरी भूमि को प्राप्त करने वाले साधकों को इन सिद्धियों के चक्कर में पड़ने की सम्भावना रहती है, इस कारण ऐसे साधकों को सावधान रहने की आवश्यकता है। दूसरी भूमि के अंन्तर्गत वे साधक आते हैं जिन्होंने स्थूल पंचभूतों को साक्षात् कर लिया है, सूक्ष्म पंचभूत व तन्मात्राएँ साक्षात् करने का अभ्यास कर रहे हैं। तीसरी भूमि को प्राप्त किए हुए साधक और चौथी भूमि वाले साधकों को इतनी योग्यता प्राप्त हो जाती है कि वे आसानी से इन सिद्धियों के चक्कर में नहीं पड़ते हैं। तीसरी भूमि को प्राप्त किए हुए वे साधक आते हैं, जिन्होंने सूक्ष्म पंचभूत व तन्मात्राओं का साक्षात्कार कर लिया है तथा अहंकार को साक्षात्कार करने का अभ्यास कर रहे हैं। चौथी भूमि के अन्तर्गत वे साधक आते हैं जिन्होंने अहंकार का साक्षात्कार कर लिया है तथा अस्मिता का साक्षात्कार करने का अभ्यास कर रहे हैं।

यहाँ पर जो मैंने **'भूमि'** शब्द लिखा है, उस भूमि का अभिप्राय चित्त की भूमि (सतह) से है। सिद्धियों को प्राप्त करने के लिए संयम करना जरूरी है। बिना संयम के कोई भी सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती है। संयम करते समय पहले उस वस्तु के स्थूल आकार का आलम्बन करके संयम करना चाहिए तथा जब स्थूल वस्तु (पदार्थ) पर संयम हो जाए फिर सूक्ष्म की ओर जाना चाहिए अर्थात् चित्त की स्थूल वृत्ति वाली भूमि जो प्रथम है, उस पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। प्रथम भूमि को जीते बिना द्वितीय भूमि पर संयम करने वालों को सफलता प्राप्त करने में सन्देह हो सकता है। इसलिए पहले स्थूल फिर सूक्ष्म व फिर और आगे उस पदार्थ् की पराकाष्ठा तक संयम करना चाहिए तभी सफलता सम्भव हो सकती है।

संयम में चित्त का ही सारा खेल होता है, क्योंकि स्थूल भूतों की अपेक्षा सूक्ष्मभूत सूक्ष्म हैं, सूक्ष्मभूत की अपेक्षा तन्मात्राएँ व इन्द्रियाँ सूक्ष्म हैं और उनकी अपेक्षा अहंकार सूक्ष्म है। अहंकार की अपेक्षा चित्त सूक्ष्म है। चित्त जो गुणों का प्रथम विषय परिणाम है तथा संसार के सारे पदार्थों की प्रकृति होने के कारण सबके साथ तदाकार हो सकता है।

सभी को मालूम है कि प्रत्येक वस्तु अपने सूक्ष्म रूप में अधिक शक्ति की उत्पादक होती है। सूक्ष्मता जितनी बढ़ती जाती है, उतनी ही उसकी शक्ति में वृद्धि होती जाती है। उदाहरण के लिए- औषधि के स्थूल रूप की अपेक्षा उनके सत्वों में कई गुणा बल बढ़ जाता है। धातुयें अग्नि द्वारा भस्म होकर अपने सूक्ष्म परिमाणुओं में बहुत ज्यादा प्रभावशाली बन जाती है। इसी प्रकार जब संयम करते-करते स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर व सूक्ष्मतम अवस्था आ जाती है, यह अवस्था ही चित्त की अवस्था है। चित्त सबसे सूक्ष्म होने के कारण सबमें प्रविष्ट होकर उसमे यथोचित परिणाम कर सकता है, तत्पश्चात अद्भुत चमत्कार दिखाए जा सकते हैं तथा सिद्धियों को प्राप्त किया जा सकता है।

समाधि अवस्था में छोटी-छोटी सिद्धियाँ अपने आप मिल जाती हैं, क्योंकि साधक जिस भूमि पर अभ्यास कर रहा होता है, उस भूमि (चित्त की भूमि) की सिद्धियों का प्रभाव कुछ-न-कुछ थोड़े समय के लिए आ जाता है। परन्तु जब साधक उन सिद्धियों पर ध्यान नहीं देता तथा अभ्यास में लगा रहता है तो सिद्धियों का प्रभाव स्वयं समाप्त हो जाता है। परन्तु जो सिद्धियाँ बड़ी-बड़ी व शक्तिशाली होती हैं, उनके लिए समाधि द्वारा विशेष प्रकार का संयम किया जाता है। जब समाधि में सिर्फ सिद्धियों को प्राप्त करने के लिए संयम किया जा रहा होता है, तब योग में आगे की अवस्था के लिए अवरोध ही समझना चाहिए, क्योंकि साधक का लक्ष्य उस समय सिद्धि प्राप्त करना हो जाता है। ये सिद्धियाँ योग में अवरोध स्वरूप हैं। बड़ी-बड़ी सिद्धियों के लिए कई-कई वर्षों तक संयम किया जाता है, तब जाकर सफलता हासिल की जा सकती है। कुछ सिद्धियाँ तो ऐसी हैं कि उन्हें प्रत्येक साधक प्राप्त भी नहीं कर सकता है। यह सिर्फ विरले साधकों को ही प्राप्त हो सकती हैं।

बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ प्राप्त करने के लिए पंचभूतों के सभी पाँचों स्वरूपों में संयम करके जब विजय प्राप्त हो जाए, तब पाँचों भूतों पर जय प्राप्त होती है। इसके बाद सिद्धियाँ प्राप्त करने का द्वार आ जाता है। पाँचों भूतों की पाँचों अवस्थाओं पर जय प्राप्त करना सभी साधकों के वश की बात नहीं है। यदि पाँचों भूतों पर जय प्राप्त करने के लिए प्रयासरत हो जाएगा तो साधक की आयु समाप्त हो जाएगी, तब भी जय प्राप्त नहीं कर पायेगा। बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ सिर्फ उनकी प्राप्ति के लिए हैं, जिन्होंने पूर्व जन्मों में समाधि की

उच्चतर अथवा उच्चतम अवस्था प्राप्त कर ली है। ऐसे साधक वर्तमान जन्म में शीघ्र ही समाधि के द्वारा अपने पूर्व जन्म के योग के अभ्यास वाली भूमि को प्राप्त कर आगे बढ़ना शुरू कर दते हैं तथा पिछले जन्म की समाधि के संस्कारों के प्रभाव से उन्नति में सहायता मिलती है। अब मैं पाँचों भूतों की पाँचों अवस्थाओं (रूपों) के विषय में लिखता हूँ। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इन पाँचों भूतों के पाँच-पाँच स्वरूप हैं, जो इस प्रकार हैं। **1. स्थूल 2. स्वरूप 3. सूक्ष्म 4. अन्वयीरूप 5. अर्थतत्त्व।**

स्थूल- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश का अपना-अपना विशिष्ट आकार स्थूल रूप में है।

स्वरूप- उपर्युक्त पाँचों भूतों का अपना-अपना नियत धर्म है, जिनसे ये जाने जाते हैं जैसे-पृथ्वी का गन्ध, जल का चिकनापन, अग्नि का उष्णता, वायु की गति और कंपन, आकाश का अवकाश (रिक्तता) स्वरूप है।

सूक्ष्म- स्थूल भूतों के कारण पृथ्वी की गन्ध तन्मात्रा, जल की रस तन्मात्रा, अग्नि की रूप तन्मात्रा, वायु की स्पर्श तन्मात्रा, आकाश की शब्द तन्मात्रा सूक्ष्म रूप है।

अन्वयीरूप- सत्त्वगुण, रजोगुण व तमोगुण, ये तीनों गुण अपने प्रकाश, क्रिया और स्थिति धर्म से पाँचों भूतों में अन्वयी भाव से मिले रहते हैं, यह अन्वयी रुप है।

अर्थतत्त्व- जीवात्मा का भोग और अपवर्ग। जिस प्रयोजन को लेकर पाँचो भूत अपने-अपने कार्यों में लगे हुए हैं, वह अर्थतत्त्व रुप है।

इस प्रकार पाँचों भूतों के धर्म, लक्षण और अवस्था भेदों से पच्चीस रूपों में क्रम से साक्षात् पर्यन्त संयम करने से पाँचों भूतों का समान रूप से ज्ञान और परवशीकार हो जाता है, तब सभी भूतों की प्रकृतियाँ योगी के संकल्पानुसार होने लगती हैं। अपवर्ग का अर्थ है– दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति।

पाँचों रुपों की प्रथम तीन अवस्थाएँ ज्यादातर साधकों को प्राप्त हो जाती हैं। इन तीनों अवस्थाओं को प्राप्त करने के लिए साधकों को कठोर साधना करनी पड़ती है। परन्तु बाद की दोनों अवस्थाएँ बड़ी कठिन हैं। यह दोनों अवस्थाएँ सभी साधकों के लिए बिल्कुल असम्भव हैं, क्योंकि सभी साधकों के कर्म समाप्त नहीं होते हैं और न ही ब्रह्म प्राप्ति होती है। ज्यादातर साधक अहंकार की सीमा पर जाकर ठहर जाते हैं तथा आगे का अभ्यास नहीं करते। अहंकार की सात्विक वृत्ति के द्वारा हृदय में दीप शिखा की भाँति (जलती हुई लौ के समान) साक्षात् होने पर अपने आपको पूर्ण समझ लेते हैं, जबकि यह अहंकार

की एक अत्यन्त शक्तिशाली सात्विक वृत्ति होती है। इसलिए साधक को इसी ब्रह्म का साक्षात्कार समझकर अपने को धन्य नहीं समझ लेना चाहिए, क्योंकि यह वास्तविक स्वरूप दर्शन नहीं है। यहाँ से आगे की अवस्था अत्यन्त कठिन है। अभी साधक को काफी लम्बा मार्ग तय करना है, परन्तु जिन साधकों ने भोग कर्म पूर्ण कर लिए हैं, विवेक-ख्याति के द्वारा चित्त व आत्मा की भिन्नता का ज्ञान हो चुका है तथा निर्बीज समाधि का अभ्यास कर रहे हैं, ऐसे योगियों को अर्थतत्त्व की प्राप्ति कहा जाता हैं।

जिस प्रकार पंचभूतों पर संयम करने के बाद ढेरों बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार कई अलग-अलग पदार्थों पर संयम करने से भी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। हमारा सोचना है कि सिद्धियों के विषय में ज्यादा न लिखा जाए तभी ठीक है, क्योंकि किसी समय मैंने भी अपना काफी समय सिद्धियों के चक्कर में नष्ट किया था। हमें सिद्धियाँ प्राप्त होनी शुरू भी हो गई थी, परन्तु हमारा बहुत समय लगने के कारण मैं इस मार्ग से अलग हो गया। बड़ी-बड़ी सिद्धियों को प्राप्त करने की इच्छा तभी करनी चाहिए जब अहंकार की भूमि सिद्ध हो गई हो अर्थात् विदेहावस्था प्राप्त कर ली हो। उदान वायु को पूरी तरह से अपने वश में करने का अभ्यास करना चाहिए। मैं पाँचों प्राणों को कुम्भक के द्वारा पैर के तलवे पर एकत्र कर दिया करता था, इससे स्थूल शरीर हल्का होने लगता है। मैं भोजन अल्प-मात्र ही करता था ताकि जिन्दा बना रहूँ। कुम्भक प्राणायाम की अवधि शुरूआत में तीन से पाँच मिनट तक होनी चाहिए। स्थूल वायु का स्पर्श साधक के स्थूल शरीर पर बिल्कुल महसूस नहीं होना चाहिए, चाहे तेज हवा क्यों ना चल रही हो। व्यवहार की दशा में ऐसा महसूस होना चाहिए जैसे वह स्थूल शरीर में नहीं है, तभी सिद्धि प्राप्त करने की शुरूआत करो। परन्तु सबसे अच्छा है कि अपने जीवन का बहुमूल्य समय सिद्धियों के चक्कर में नष्ट न करें, बल्कि योग मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए सदैव अभ्यास करते रहना चाहिए।

समाधि

अष्टांग योग के अनुसार समाधि आठवीं सीढ़ी या पायदान है। समाधि अवस्था प्राप्त करने के लिए साधक को पहले सातों सीढ़ियों (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान) का अभ्यास करना जरूरी है। इसके बाद ही आठवीं सीढ़ी अर्थात् समाधि अवस्था में पहुँचा जा सकता है। जब किसी ध्येय वस्तु को चित्त की वृत्ति मात्र से लगाया जाता है अथवा जब ध्येय वस्तु को चित्त की वृत्ति से धारण किया जाता है, तो उसे धारणा कहते हैं। इस धारणा के समय बीच-बीच में अन्य वृत्तियाँ भी आती रहती हैं, परन्तु जब वृत्ति (जो ध्येय वस्तु में लगाई गई है) समान रूप से बराबर प्रवाहित होती रहे, बीच में किसी प्रकार की दूसरी वृत्ति न आए, तब उसे ध्यान कहते हैं। यही ध्यान बाद में समाधि कहलाता है। जब उसमें केवल ध्येय वस्तु अर्थ मात्र से (शून्य जैसी) भाषने लगे और यह भान न हो कि मैं ध्यान कर रहा हूँ, सिर्फ ध्येय वस्तु के स्वरूप का भान होता रहे, तब इसे समाधि कहते हैं। समाधि दो प्रकार की होती है- **एक**– सबीज समाधि, **दूसरी**– निर्बीज समाधि।

सबीज समाधि– ध्यान की परिपक्व अवस्था में सबीज समाधि लगनी शुरू हो जाती है। इसमें बीज रूप में संसार का विषय ध्येयाकार वृत्ति के रूप में रहता है। इस अवस्था में ध्येय स्वरूप मात्र से अवस्थित होकर प्रकाशित होने लगता है। इससे पहले ध्यान में ध्याता और ध्येय की त्रिपुटी बनती है। इस त्रिपुटी का समाधि में अभाव हो जाता है। ध्यानावस्था में ध्येय वस्तु के आलम्बन वाली (देखने वाली) वृत्ति समान रूप से बहती रहती है अथवा समान रूप से उदय होती रहती है। इस वृत्ति में (ध्येय वस्तु के आलम्बन वाली वृत्ति) ध्याता और ध्यान दोनों समाहित हो जाते हैं। जैसे-जैसे ध्यान अर्थात् अभ्यास बढ़ता जाता है, ध्येय रूपी वृत्ति में व्यापकता बढ़ती जाती है। इस वृत्ति में सत्त्वगुण का प्रभाव अभ्यास के अनुसार बढ़ने के कारण अधिक प्रकाशित होती जाती है तथा ध्याता और ध्यान उस व्यापक प्रकाश में अपने स्वरूप से शून्य जैसे होते जाते हैं। जब ध्यान का अभ्यास अधिक बढ़ जाए, तब ध्याता और ध्यान अपने स्वरूप से शून्य होकर ध्येय में सम्पूर्णता से भासित होने लगे, तब इस अवस्था को सबीज समाधि कहते हैं।

साधक जैसे-जैसे अभ्यास बढ़ाता है, उसके चित्त में सात्विकता बढ़ती रहती है तथा रजोगुण व तमोगुण का प्रभाव कम होता जाता है। इससे साधक अन्तर्मुखी होता है तथा दिव्यता भी बढ़ती है। अभ्यास के अनुसार चित्त की ऊँची भूमियों में रजोगुण व तमोगुण कम होता जाता है, इससे चित्त में प्रकाश भी बढ़ता जाता है। सत्त्वगुण के प्रकाश में रजोगुण व तमोगुण का मल धुलता जाता है, तब साधक

को समाधि की उच्चतर व उच्चतम अवस्था धीरे-धीरे प्राप्त होने लगती है, जिससे साधक का जीवन सात्विक व दिव्य हो जाता है। सबीज समाधि से एकाग्रता की प्राप्ति होती है, यह चित्त की एक अवस्था है। इस एकाग्र अवस्था में चित्त से तम के मल का आवरण और रजोगुण की चंचलता से निवृत्ति हो जाती है तथा सत्त्वगुण के प्रकाश में एक ही वृत्ति रहती है। यह वृत्ति सात्विक व अत्यन्त सशक्त होती है। इस समाधि की सबसे ऊँची अवस्था विवेक-ख्याति है। विवेक-ख्याति में आत्मा और चित्त की भिन्नता का ज्ञान होता है, तब अविद्या, कलेशात्मक कर्म आदि जले हुए बीजों के समान हो जाते हैं।

निर्बीज समाधि– निर्बीज समाधि में किसी प्रकार का सांसारिक बीज नहीं होता है। जब ध्येयाकार वृत्ति का अभाव हो जाए तथा सभी प्रकार की वृत्तियों का अभाव हो जाए, तब निर्बीज समाधि लगती है। इस अवस्था में पर-वैराग्य के संस्कार शेष रहते हैं। किसी प्रकार की वृत्ति न रहने के कारण किसी भी पदार्थ के विषय में जानकारी नहीं होती है। अविद्या, क्लेश व कर्माशयों के जन्म आदि के बीज नहीं रहते हैं। चित्त में निरोध के परिणाम के कारण आत्मा किसी बाह्य दृश्य का द्रष्टा नहीं रहता है, फिर वह अपने स्वरूप में अवस्थित रहता है। चित्त आत्मा को दृश्य दिखलाने का कार्य बन्द करके आत्माकार हो जाता है, परन्तु निरोध परिणाम की अवस्था में गुण सत्त्वचित्त में अवस्थित रहते हैं। इनमें अब केवल आंतरिक परिणाम होता रहता है। इस अवस्था को चित्त का **'प्रशांत प्रवाह वाला'** कहते हैं।

सबीज समाधि में आलम्बन की वृत्ति होने के कारण इसी को संसार का बीज कहते हैं। सबीज समाधि को दो भागों में बाँटा जा सकता है। **एक-** सविकल्प समाधि, **दो-** निर्विकल्प समाधि। सविकल्प समाधि शब्द (नाम), अर्थ (रूप), और ज्ञान के विकल्पों से युक्त होने के कारण इसे सविकल्प समाधि कहते हैं। निर्विकल्प समाधि में शब्द (नाम) और ज्ञान के विकल्पों से रहित चित्त वृत्ति केवल अर्थ मात्र से भासित होती है। निर्विकल्प समाधि को निर्बीज समाधि नहीं समझना चाहिए, क्योंकि निर्विकल्प समाधि में संस्कार शेष रहते हैं। यद्यपि निर्विकल्प समाधि में त्रिपुटी का (ध्याता, ध्यान और ध्येय) अभाव होता है, परन्तु आलम्बन वस्तु उपस्थित (अर्थमात्र में) रहती है, जबकि निर्बीज समाधि में आत्मा में अवस्थिति रहती है। उसमें संसार का किसी प्रकार का बीज शेष नहीं रहता है।

सबीज समाधि में सबसे पहले स्थूल ग्राह्य वस्तु (पदार्थ) का आलम्बन होता है, फिर सूक्ष्म ग्राह्य वस्तु का आलम्बन होता है। जब साधक स्थूल ग्राह्य वस्तु का आलम्बन करके स्थूल विषयों का साक्षात्कार करता है तथा सूक्ष्म ग्राह्य वस्तु का आलम्बन करके सूक्ष्म विषयों का साक्षात्कार करता है, तब स्थूल ग्राह्य वस्तु के आलम्बन के कारण इस समाधि को वितर्कानुगत समाधि कहते हैं। सूक्ष्म ग्राह्य

वस्तु के आलम्बन के कारण इस समाधि को विचारानुगत समाधि (सविकल्प समाधि) कहते हैं। सबीज समाधि के दो प्रकार होते हैं, सविकल्प समाधि (सविचार समाधि) और निर्विकल्प समाधि (निर्विचार समाधि)। परन्तु इन दोनों प्रकार की समाधियों के चित्त की विभिन्न अवस्थाओं (विभिन्न भूमियों) के कारण सुविधा हेतु कई प्रकार कर दिए गये हैं। जब साधक स्थूल विषयों के साक्षात्कार के लिए अभ्यास करता है, तो उसे वितर्कानुगत समाधि कहते हैं। जब सूक्ष्म विषयों के साक्षात्कार के लिए अभ्यास करता है, तब उसे विचारानुगत समाधि कहते हैं। सविचार समाधि और निर्विचार समाधि के कारण वितर्कानुगत व विचारानुगत समाधि के भी भेद हो जाते हैं। **एक**– सवितर्क समाधि, **दूसरा**– निर्वितर्क समाधि, **तीन**– सविचार समाधि, **चार**– निर्विचार समाधि। इन चारों समाधियों में स्थूल पंचभूत, सूक्ष्म पंचभूत, स्थूल इन्द्रियों, सूक्ष्म इन्द्रियों, मन, बुद्धि व पाँचों तन्मात्राओं का साक्षात्कार होता है। इन सभी के साक्षात्कार के बाद कठोर अभ्यास करने पर निर्विचार समाधि (निर्विकल्प समाधि) की उच्चतर अवस्था प्राप्त होती है। इस अवस्था में साधक के चित्त के अहंकार में सत्त्वगुण की अधिकता होने के कारण साधक को इस अवस्था में आनन्द की अनुभूति होती है। आनन्द की अनुभूति सत्त्वगुण के कारण होती है। इसलिए कोई-कोई साधक इस अवस्था को आनन्दानुगत समाधि भी कहते हैं, परन्तु यह निर्विचार समाधि की उच्चतर अवस्था है। इस अवस्था में अहंकार यानी 'मैं हूँ' की वृत्ति रहती है। जब साधक का अभ्यास और बढ़ता है, तब उसे निर्विचार समाधि की उच्चतम अवस्था प्राप्त होती है, इस अवस्था में चित्त की अस्मिता वाली भूमि आती है। यहाँ पर केवल 'हूँ' (अस्मि) वृत्ति रह जाती है।

सविचार समाधि (सविकल्प समाधि) और निर्विचार समाधि (निर्विकल्प समाधि) के छः भेद हो गये हैं– **1. सवितर्क समाधि, 2. निर्वितर्क समाधि, 3. सविचार समाधि, 4. निर्विचार समाधि, 5. निर्विचार समाधि की उच्चतर अवस्था, 6. निर्विचार समाधि की उच्चतम अवस्था।**

सवितर्क समाधि- यह समाधि की पहली अवस्था है। अभ्यास के कारण रजोगुण व तमोगुण के दबने पर सत्त्वगुण प्रधान होता है, तब सत्त्वगुण के प्रकाश में स्थूल भूतों का साक्षात्कार होता है। चित्त की इस भूमि का सम्बन्ध पाँचों स्थूलभूत व उनसे बने पदार्थों (स्थूल शरीर व स्थूल जगत्) से होता है। जब चित्त की वृत्ति को किसी स्थूल पदार्थ पर ठहराया जाता है, तब उस स्थूल पदार्थ के वास्तविक स्वरूप का सारे विषयों सहित साक्षात्कार होता है। ये सारे विषय साधक ने पहले कभी नहीं देंखे होंगे, न ही कभी सुने होंगे और न ही कभी अनुभव किए होगें। इस समाधि में दो प्रकार के अनुभव होते हैं। **एक-** पिछले संस्कारों का वृत्ति रूप में प्रकट होना, **दूसरा-** इन वृत्ति रूप में प्रकट हुए संस्कारों का वास्तविक स्वरूप का

ज्ञान करा देना। जब तमोगुणी संस्कार वृत्ति रूप में प्रकट होते हैं, तब चित्त की वृत्ति किसी भयंकर डरावनी आकृति वाली हो जाती है अथवा तमोगुणी व रजोगुणी वस्तु (पदार्थ) के आकार वाला रूप धारण कर लेती है, जिससे साधक को कभी-कभी समाधि अवस्था में डर भी महसूस होता है, क्योंकि वृत्तियों का स्वरूप भौतिक जगत् की वस्तु के समान होता है अथवा वृत्तियाँ काल्पनिक स्वरूप धारण करती हैं, ऐसी वृत्तियाँ तमोगुणी होती हैं। इसलिए तमोगुण के कारण प्रकाश नहीं होता है अथवा धुंधला-सा प्रकाश होता है। परन्तु जब सात्विक संस्कार वृत्ति रूप में प्रकट होते हैं, तब साधकों को किसी धार्मिक स्वरूप वाले के दर्शन होते हैं, क्योंकि वृत्ति सत्त्वगुण से युक्त होती है। इसलिए सात्विक स्वरूप को धारण करती है। ऐसी अवस्था में धर्मात्माओं व देवताओं आदि का साक्षात्कार होता है। वृत्तियाँ प्रकाश से युक्त होती हैं अर्थात् सारे दृश्य प्रकाश में दिखाई देते हैं। ये संस्कार पिछले जन्मों के भी हो सकते हैं तथा वर्तमान जन्म के भी हो सकते हैं। पिछले जन्मों के संस्कार होने के कारण साधक को इन्हीं वृत्तियों के द्वारा पिछले जन्म की घटनाएँ भी दिखाई पड़ जाती हैं। कभी-कभी समाधि अवस्था में साधक को दिखाई देता है- वह उड़ रहा है आदि। इस प्रकार के अनुभव प्राणों के कारण आते हैं। सभी प्रकार के अनुभव प्रकृति की सोलह विकृतियों (पाँच स्थूलभूत, दस इन्द्रियों व मन) के अन्तर्गत आते हैं। इसलिए सवितर्क समाधि कही गई है, क्योंकि स्थूल विषयों में शब्द (नाम), अर्थ (रूप), ज्ञान के विकल्पों से युक्त होती है। इसे विकल्पों से युक्त होने के कारण सविकल्प समाधि भी कहते हैं।

निर्वितर्क समाधि– निर्वितर्क समाधि (निर्विकल्प समाधि) साधक को तब लगती है, जब अभ्यास के द्वारा सवितर्क समाधि की परिपक्व अवस्था प्राप्त कर लेता है। परिपक्व अवस्था में साधक को जो अभी स्थूल विषयों में शब्द, अर्थ और ज्ञान का विकल्प प्राप्त रहता है, तब ध्येय वस्तु स्वरूप से शून्य जैसी (अर्थरूप में) भासित होने लगती है। शुरूआत में निर्वितर्क समाधि मात्र कुछ क्षणों की होती है, फिर अभ्यास के आधार पर समाधि का समय बढ़ता जाता है। निवितर्क समाधि में किसी प्रकार का विकल्प न रहने के कारण इसे निर्विकल्प समाधि कहते हैं।

सविचार समाधि– सविचार समाधि को सविकल्प समाधि भी कहते हैं। पहले सवितर्क समाधि में स्थूल विषयों में शब्द, अर्थ और ज्ञान का विकल्प रहता है, परन्तु इस समाधि में स्थूल विषय न होकर सूक्ष्म विषय होता है। सूक्ष्म विषयों में देश (स्थान), काल (वर्तमान काल, भूतकाल, भविष्यकाल) और निमित्त (धर्म) के विकल्पों से युक्त चित्त वृत्ति भासित होती है। इस समाधि के अन्तर्गत सूक्ष्म पंचभूतों से लेकर तन्मात्राओं तक सूक्ष्म विषयों का साक्षात्कार होता है। स्थूल पंचभूतों से परे तन्मात्राओं तक सूक्ष्म-

पंचभूतों का एक तारतम्य चला गया है अर्थात् सूक्ष्म भूतों से तन्मात्राओं तक घनत्व बदलता चला गया है। इसी बदले हुए घनत्व के अनुसार सारे सूक्ष्म लोंको का निर्माण हुआ है। इन्हीं सूक्ष्म लोकों का शुरूआत से लेकर अन्त तक जो आपस में सूक्ष्मता का सम्बन्ध है, उसे तारतम्य कहा जाता है। इस प्रकार की समाधि के अन्तर्गत सारे सूक्ष्म लोक आते हैं। ये लोक वास्तव में सूक्ष्म अवस्था के नाम हैं। इन सूक्ष्म अवस्थाओं में सूक्ष्मता के अनुसार सत्त्वगुण की अधिकता हो जाती है, इस कारण ये अवस्थाएँ संकल्पों वाली व आनन्द वाली होती हैं, परन्तु सात्विकता और सूक्ष्मता के अनुसार ही संकल्प और आनन्द में भी अंतर होता है। इस अवस्था में साधक को बहुत अच्छे-अच्छे अनुभव आते हैं, क्योंकि ये अनुभव सूक्ष्म लोकों के होते हैं। साधक की योग्यता के अनुसार किसी भी लोक के दृश्य दिखाई दे सकते हैं तथा उस दृश्य के विषय में ज्ञान भी होता है। इन्हीं दृश्यों के कारण साधक के अन्दर आनन्द की अनुभूति होती है तथा प्रसन्नता भी बढ़ती है। साधक को ऐसा लगता है जैसे सारे चौदह लोक उसके अन्दर समाये हुए हैं, वह जब चाहे समाधि में बैठकर इन लोको का भ्रमण कर सकता है। कभी-कभी साधक को यह भी भ्रम होने लगता है कि वह बहुत बड़ा योगी बन गया है, परन्तु ऐसा अभिमान साधक के अन्दर नहीं आना चाहिए नहीं तो पतन होने का डर भी रहता है। इस समय साधक की दिव्य दृष्टि भी कार्य करने लगती है। इससे साधक सूक्ष्म पदार्थ को बड़े आराम से स्पष्ट रूप से देख सकता है। कभी-कभी साधक के चित्त में संचित संस्कार धार्मिक तथा सात्विक वृत्ति के रूप में प्रकट होने लगते हैं। इससे साधक को सात्विक दृश्य दिखाई पड़ने लगते हैं। ऐसे सात्विक दृश्य साधक को अपने-अपने काल्पनिक रूप में प्रकाशमय आकृति में आभा जैसे प्रकट होते हैं। ऐसे दृश्य चित्त की सात्विक वृत्तियाँ स्वयं धारण कर लेती हैं। साधक के अन्दर जो भी विचार आते हैं, वे कभी-कभी समाधि अवस्था में दिखाई पड़ने लगते हैं। इस अवस्था में साधक को पाताल लोक से लेकर ब्रह्म-लोक तक के दृश्य उसकी योग्यतानुसार दिखाई पड़ते हैं। उसे देवी-देवताओं के दर्शन होते हैं तथा उनसे बातें भी होती हैं, जिससे साधक को साधारण मनुष्य सिद्ध पुरूष कह कर सम्बोधित करने लग जाता है। साधक को ऐसे यश से बचना चाहिए। इससे अच्छा है कि साधक अपने अनुभव किसी को न बताए, सिर्फ अपने समकक्ष वाले साधकों को ही बताए। बहुत से साधक इसी सविचार समाधि में आसक्त हो जाते हैं, जिससे वे आत्मस्थिति से वंचित हो जाते हैं। इस अवस्था में आसक्ति का कारण यह भी हो सकता है कि अभ्यास के कारण चित्त की एकाग्रता में दृढ़ता बढ़ जाती है। एकाग्रता की दृढ़ता के कारण सत्त्वगुण का प्रकाश किसी भी सूक्ष्म विषय का साक्षात् कराने में सामर्थवान हो जाता है। इससे साधक अपने अन्दर जो भी इच्छा करता है, उसे उसी विचार का साक्षात्कार हो जाता

है। साधक स्वयं अपने आपको सिद्ध पुरूष समझ बैठता है, क्योंकि वह जो भी जानकारी चाहता है, वह जानकारी उसको विस्तारपूर्वक हो जाती है।

निर्विचार समाधि– निर्विचार समाधि को निर्विकल्प समाधि भी कहते हैं। इस प्रकार की समाधि देश (स्थान), काल (वर्तमान, भूत, भविष्य), निमित्त (धर्म) के विकल्पों से रहित होती है। सिर्फ चित्त वृत्ति धर्म मात्र से भासित होती रहती है। पहले शुरूआत में यह समाधि मात्र कुछ क्षणों की होती है, फिर अभ्यास बढ़ने पर निर्विचार समाधि का समय भी बढ़ता रहता है। इस अवस्था में साधक के अन्दर किसी प्रकार का विकल्प नहीं रहता है। जब तक साधक का मन व प्राण ब्रह्मरन्ध्र के अन्दर रहता है, तब तक निर्विचार समाधि लगती है। जब मन व प्राण ब्रह्मरन्ध्र से नीचे आ जाते हैं, तब समाधि सविचार हो जाती है, क्योंकि इस अवस्था में मन व प्राण आज्ञा चक्र पर होते हैं। चित्त में फिर विकल्प उदय होने लगता है। यदि फिर साधक का मन व प्राण एकाग्रता के कारण ब्रह्मरन्ध्र के अन्दर चला जाए तो निर्विचार समाधि लग जाती है। शुरूआत में साधक को इसी प्रकार निर्विचार समाधि लगती है। मगर अभ्यास बढ़ जाने पर मन व प्राण बीच में ब्रह्मरन्ध्र से नीचे नहीं आते हैं, बल्कि समाधि भंग होने पर ही नीचे आते हैं। साधक के चित्त में अभी शेष संस्कार उपस्थित रहते हैं। निर्विचार समाधि का लगना अर्थात् अहंकार की भूमि पर प्रवेश करना है।

निर्विचार समाधि की उच्चतर अवस्था– निर्विचार समाधि की उच्चतर अवस्था के अन्तर्गत अहंकार आता है, क्योंकि इन्द्रियों और तन्मात्राओं का कारण अहंकार है। इसलिए इन्द्रियों और तन्मात्राओं से अधिक सात्विक व सूक्ष्म अहंकार हुआ। निर्विचार समाधि में जिस सूक्ष्म विषय का अर्थात् देश, काल और निमित्त (धर्म) के विकल्पों से रहित धर्म मात्र से भासित होने वाली चित्त की जिस वृत्ति का साक्षात्कार किया जाता है, उसके बाद साधक जब और समाधि का अभ्यास बढ़ाता है, तब अभ्यास के एक निश्चित अवस्था के बाद चित्त की एकाग्रता के द्वारा सत्त्वगुण की अधिकता में अहंकार स्वयं साक्षात् होने लगता है। निर्विचार समाधि की इस उच्चतर अवस्था को प्राप्त करने के लिए अर्थात् अहंकार का साक्षात्कार करने के लिए साधक को अत्यन्त कठोर व निरन्तर समाधि का अभ्यास करना पड़ता है तथा ढेरों प्रकार के भौतिक व मानसिक कष्ट उठाने के साथ त्याग और वैराग्य का सहारा ले लेना चाहिए, तभी अहंकार का साक्षात्कार होना सम्भव है। अहंकार का साक्षात्कार हर साधक नहीं कर सकता है, क्योंकि इसके साक्षात्कार से पूर्व एक निश्चित मात्रा में उसे अपने संस्कार नष्ट करने होंगे। ये संस्कार सिर्फ भोगकर ही नष्ट किए जा सकते हैं, अन्य किसी प्रकार से नष्ट नहीं किए जा सकते हैं। अब साधक

समझ गये होंगे कि अहंकार को साक्षात्कार करने के लिए निश्चय ही निरन्तर कठोर अभ्यास करना होगा तथा चित्त में स्थित **'शेष संस्कारों'** को एक निश्चित मात्रा में भोगकर समाप्त करना होगा। ये शेष संस्कार अत्यन्त क्लेशात्मक होते हैं।

जब साधक चित्त की इस भूमि पर (उच्चतर अवस्था में) अभ्यास करता है, तब उसे आनन्द की अनुभूति होती है। इस आनन्द की अनुभूति का कारण सत्त्वगुण प्रधान अहंकार है, क्योंकि निर्विचार समाधि के बाद निरन्तर अभ्यास से तथा सूक्ष्मता के तारतम्य को साक्षात् करते हुए साधक के चित्त में सत्त्वगुण के बढ़ने से आनन्द की अनुभूति होने लगती है। इस समय यहाँ पर किसी प्रकार का विषय अथवा विचार नहीं रहता है, किन्तु सत्त्वगुण की प्रधानता के कारण आनन्द ही आनन्द की अनुभूति होती है, तब उसे अनुभति होती है, **"मैं सुखी हूँ"**। इस अवस्था में साधक इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेता है, क्योंकि अहंकार स्थूलभूत से लेकर तन्मात्राओं तक सारे सूक्ष्म विषयों का तथा इन विषयों को ग्रहण कराने वाली इन्द्रियों का उपादान कारण है। अहंकार गुणों का दूसरा विषय परिणाम है, इसमे सत्त्वगुण की प्रधानता होती है। अहंकार के साक्षात्कार के समय चित्त में **'मैं हूँ'** की वृत्ति रहती है। यही वृत्ति (अहमस्मि) आनन्द की अनुभूति कराती है। जब साधक की कुण्डलिनी ब्रह्मरन्ध्र द्वार खोलकर आज्ञा चक्र से होते हुए नीचे आकर (नया मार्ग बनाकर) हृदय में स्थिर हो जाती है, तब कुण्डलिनी अपना अग्नि तत्त्व वाला स्वरूप त्यागकर वायुरूप में साधक के सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाती है। इस अवस्था को प्राप्त करने के बाद बहुत समय तक जब निरन्तर कठोर अभ्यास किया जाता है, तब चित्त की एकाग्रता तथा दृढ़ता बढ़ाने के बाद सत्त्वगुण की अधिकता में अहंकार का साक्षात्कार होता है।

निर्विचार समाधि की उच्चतम अवस्था– निर्विचार समाधि की इस अवस्था में अस्मिता का साक्षात्कार होता है। चैतन्यमय तत्त्व (आत्मा) से प्रतिबिम्बित चित्त जिसमें अहंकार बीज रूप में रहता है अथवा जहाँ से आत्मा और चित्त में अभिन्नता का आरोप होता है, उसे अस्मिता कहते हैं। यह अस्मिता अहंकार का कारण रूप है, इसलिए अस्मिता अहंकार से अधिक सूक्ष्म है। जब साधक निर्विचार समाधि की उच्चतर अवस्था के बाद भी निरन्तर कठोर अभ्यास करता रहता है, तब चित्त की एकाग्रता ओर बढ़ने पर जब उच्चतम अवस्था की प्राप्ति होती है, उस समय अस्मिता का साक्षात्कार होने लगता है। इस अवस्था में आनन्द की अनुभूति कराने वाली वृत्ति और भी सूक्ष्म व निर्मल हो जाती है। निर्मलता बढ़ने के कारण वृत्ति में सिर्फ, **'हूँ'** (अस्मि) का ज्ञान शेष रह जाता है। अस्मिता का साक्षात्कार अहंकार के समान सूक्ष्म विषयों के जैसा नहीं होता है, क्योंकि चेतन तत्त्व से प्रतिबिम्बित जो चित्त है, उस प्रकाशित चित्त की

संज्ञा को अस्मिता कहा जाता है। अहंकार का उपादान कारण व गुणों का प्रथम विषय परिणाम के कारण सत्त्वगुणी अहंकार से कही अधिक सत्त्व अस्मिता में होता है। इस अस्मिता में सत्त्वगुण प्रधान रूप में, रजोगुण क्रिया मात्र, तमोगुण रोकने के लिए होता है। इसलिए अहंकार से कहीं अधिक असीम व व्यापक आनन्द की अनुभूति होती है।

साधकों! यह उच्चतम अवस्था प्रत्येक साधक प्राप्त नहीं कर सकता है। यदि मैं कहूँ कि सैंकड़ो या हजारों साधकों में किसी एक साधक को यह अवस्था प्राप्त होती है, तो यह गलत न होगा। इस अवस्था को प्राप्त करने वाले साधक आगे भी निरन्तर अभ्यास करते रहें तो उन्हें **निर्बीज** समाधि प्राप्त हो सकती है। इस अवस्था को (उच्चतम अवस्था) प्राप्त करने वाले साधक को निश्चय ही भौतिक व मानसिक कष्टों का सामना करना पड़ता है। ये कष्ट उसे पूर्व जन्मों के संस्कारों के कारण मिलते हैं। इन संस्कारों को भोगकर समाप्त करना अनिवार्य होता है। इस अवस्था को प्राप्त करने पर साधक के अन्दर निश्चय ही व्यापकता व सहनशीलता का प्रभाव बहुत अधिक हो जाता है। इस उच्चतम अवस्था के अन्त में विवेक-ख्याति की प्राप्ति होती है। विवेक-ख्याति भी चित्त की ही एक अत्यन्त सात्विक वृत्ति होती है। विवेक-ख्याति रूपी वृत्ति के उदय होने पर आत्मा और चित्त में भिन्नता का ज्ञान होता है।

अभी मैंने सविकल्प और निर्विकल्प समाधि के अन्तर्गत छः प्रकार की समाधियों के विषय में लिखा है। मुख्यरूप से समाधि दो प्रकार की होती है– सबीज समाधि तथा निर्बीज समाधि। योग के अभ्यासी समाधि के विषय में विस्तारपूर्वक समझ जाएँ इसलिए सबीज समाधि को भेदों सहित लिखा है। यहाँ पर मैंने सबीज समाधि के छः प्रकार के भेद लिखे हैं, परन्तु किसी-किसी स्थान पर सबीज समाधि के चार भेद किए गये हैं- **(1) वितर्कानुगत समाधि, (2) विचारानुगत समाधि, (3) आनन्दानुगत समाधि, (4) अस्मितानुगत समाधि।** वितर्कानुगत समाधि के अन्तर्गत सवितर्क समाधि व निर्वितर्क समाधि आती है, विचारानुगत समाधि के अन्तर्गत सविचार समाधि और निर्विचार समाधि आती है, आनन्दानुगत समाधि के अन्तर्गत निर्विचार समाधि की उच्चतर अवस्था आती है, अस्मितानुगत समाधि के अन्तर्गत निर्विचार समाधि की उच्चतम अवस्था आती है।

अब मैं वितर्क समाधि और विचार समाधि के विषय में थोड़ा और स्पष्ट लिखने का प्रयास कर रहा हूँ। मनुष्य जो जन्म, आयु और मृत्यु को प्राप्त होता है, उसका मुख्य कारण उसके चित्त में स्थित कर्माशय हैं। ये कर्माशय चित्त में संस्कार के रूप में रहते हैं। इन्हीं कर्माशयों के अनुसार ही मनुष्य का जीवन चलता है। मनुष्य जो कर्म करता है, उनके भी कर्माशय संस्कार रूप में एकत्र होते हैं, वही वृत्ति रूप में परिवर्तित

होकर बाहर निकलते रहते हैं। इन संस्कारों को चार भूमियों पर अलग-अलग कर लें तो अच्छा है, इससे समझने में आसान होगा।

पहली भूमि– यह चित्त की सबसे ऊपरी भूमि है। इसमें संस्कार वृत्ति रूप में रहते हैं, इन्हीं के अनुसार मनुष्य वर्तमान समय में कार्य करता है, क्योंकि ये वृत्तियाँ बाहर निकला करती हैं। वृत्तियाँ जब बर्हिमुखी होती है तब उसमें रजोगुण व तमोगुण की मात्रा अधिक रहती है। यदि इन्हीं वृत्तियों को अभ्यास के द्वारा अन्तर्मुखी कर दें तो रजोगुण क्षीण होने लगता है तथा सत्त्वगुण बढ़ने लगता है। इन वृत्तियों का सम्बन्ध स्थूल भूतों व उनसे बने विषयों से होता है। इसलिए इस भूमि की वृत्तियों की जो चंचलता है, उसमें एकाग्रता लाने के लिए किसी स्थूल विषय का आलम्बन करते हैं।

दूसरी भूमि– यह भूमि पहले वाली भूमि से नीचे होती है। इस भूमि में पहली भूमि की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म विषयों के संस्कार विद्यमान रहते हैं, इसलिए यह भूमि विचारों के अन्तर्गत आती है।

तीसरी भूमि– यह अवस्था अहंकार के अन्तर्गत आती है। यह भूमि दूसरी भूमि से नीचे होती है तथा दूसरी भूमि से अधिक सूक्ष्म होती है। गुणों का द्वितीय विषय परिणाम है, इसलिए सत्त्वगुण की यहाँ प्रधानता रहती है।

चौथी भूमि– यह भूमि तीसरी भूमि से नीचे तथा उससे अधिक सूक्ष्म है। इस भूमि पर चेतन तत्त्व का प्रतिबिम्ब चित्त पर पड़ रहा है, इसलिए यह उच्चतम अवस्था वाली भूमि है।

पहली वाली भूमि का सम्बन्ध स्थूल-भूत व उससे बने विषयों से सम्बन्धित है, जैसे- शरीर, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा नक्षत्र आदि। दूसरी भूमि पहले वाली भूमि से अधिक सूक्ष्म व व्यापक है। इस भूमि के अन्तर्गत सारे सूक्ष्म लोक आते हैं, इसलिए यह भूमि सूक्ष्म अवस्था वाली कही गई है। यह भूमि विचारों के अन्तर्गत आती है। तीसरी भूमि, दूसरी भूमि की अपेक्षा अधिक व्यापक, अधिक सूक्ष्म तथा सत्त्वगुण की अधिकता से युक्त है। यह भूमि अहंकार के अन्तर्गत आती है। सत्त्वगुण की अधिकता के कारण साधक को इस अवस्था में आनन्द की अनुभूति होती है। सत्त्वगुण के कारण आनन्द प्रकट होता है। यह चित्त की उच्चतर अवस्था है। चौथी भूमि तीसरी भूमि के नीचे होती है, इस भूमि को अस्मिता भी कहते हैं। आत्मा से प्रतिबिम्बित चित्त की संज्ञा का नाम अस्मिता है। यह भूमि सबसे अधिक व्यापक व सूक्ष्मतम है, इसे चित्त की उच्चतम अवस्था कहते हैं।

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये पाँचों स्थूल पंचभूत हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच स्थूल विषय हैं। ये स्थूल-भूत व इनसे बने विषय आदि सभी ग्राह्य विषय हैं। इन पदार्थों में (विषयों में) लगने वाली समाधि वितर्क के अन्तर्गत आती है। अपनी इच्छानुसार साधक जब किसी स्थूल पदार्थ को चित्त की वृत्ति के द्वारा एकाग्र करने का प्रयास करता है, तो उसे उस समय उस ध्येय वस्तु का शब्द (नाम), अर्थ (रूप) और ज्ञान का विकल्प रहता है। जैसे किसी साधक ने चन्द्रमा को ध्येय बनाकर समाधि लगाई तो उसमें चन्द्रमा का नाम (शब्द), चन्द्रमा का रूप (अर्थ) और चन्द्रमा का ज्ञान रहता है। ये तीन प्रकार की कल्पना ही सवितर्क समाधि (सविकल्प समाधि) है। अगर गौर करें तो समझ में आ जाएगा कि ये तीनों शब्द, अर्थ और ज्ञान एक दूसरे से भिन्न हैं, परन्तु शब्द के संकेत की स्मृति मात्र से एक का भान होने से अन्य दोनों का भी एक साथ भान हो जाता है। जैसे- यदि किसी ने चन्द्रमा कहा तो चन्द्रमा का नाम (शब्द), चन्द्रमा का रूप (अर्थ) और चन्द्रमा का ज्ञान हो जाता है। किसी के द्वारा चन्द्रमा कहने मात्र से चन्द्रमा से सम्बन्धित तीनों प्रकार का भान हो जाता है, इसलिए तीनों प्रकार का भान अभेद-सा है। जब तक नाम (शब्द), रूप (अर्थ) और ज्ञान आपस में भिन्न-भिन्न है, तीनों प्रकार का भान अभेद-सा होने के कारण असत्य है, इसलिए असत्य, अभेद विषयक होने से यह भान विकल्प रूप है। इस प्रकार के विकल्प से युक्त समाधि को सविकल्प समाधि अथवा सवितर्क समाधि कहते हैं।

सवितर्क समाधि के निरन्तर अभ्यास से चित्त की एकाग्रता बढ़ती है, क्योंकि रजोगुण व तमोगुण क्षीण होता है तथा सत्त्वगुण की अधिकता बढ़ती है। सत्त्वगुण की अधिकता जितनी बढ़ेगी, उतनी ही चित्त की एकाग्रता भी बढ़ेगी। ध्येय वस्तु (पदार्थ) वाली वृत्ति भी सत्त्वगुण की अधिकता के कारणा निर्मल होगी। जितनी वृत्ति की निर्मलता बढ़ेगी उतनी ही बर्हिमुखी वृत्ति अन्तर्मुखी होती जाती है। इस वृत्ति की एकाग्रता इतनी बढ़ जाए कि शब्द (नाम) और उस शब्द का अर्थ (रूप) के सम्बन्ध में जो ज्ञान उत्पन होता है, इन दोनों की (शब्द और ज्ञान की) स्मृति भी न रहे, चित्त ग्रहणात्मक स्वरूप से शून्य जैसा होकर अर्थ मात्र स्वरूप का साक्षात्कार करा दे अर्थात् नाम (शब्द) और ज्ञान को छोड़कर ध्येय वस्तु के तदाकार हो जाए (ध्येय वस्तु के स्वरूप को धारण कर ले)। इस अवस्था में साधक को स्मृति नहीं रहती है कि वह समाधि में बैठा हुआ है और न ही समाधि में किसी प्रकार का दृश्य दिखाई देता है, क्योंकि यह अवस्था ध्येय वस्तु के नाम व ज्ञान की स्मृति न रहने पर आती है। किसी प्रकार का विकल्प न रहने पर इसका नाम निर्विकल्प समाधि या निर्वितर्क समाधि है।

जिस प्रकार सवितर्क और निर्वितर्क समाधि स्थूल विषयों से सम्बन्धित है, उसी प्रकार सविचार और निर्विचार समाधि सूक्ष्म विषय के सम्बन्ध से समझनी चाहिए। जैसे– स्थूल विषयों में शब्द (नाम), अर्थ (रूप) और ज्ञान के विकल्पों से युक्त सवितर्क समाधि है। उसी प्रकार देश (स्थान), काल (भूत, भविष्य, वर्तमान) और निमित्त (धर्म या कार्य-कारण रूप) के विकल्पों से युक्त निर्वितर्क समाधि होती है। ऊपर नीचे आदि देश हैं, वर्तमान, भूतकाल और भविष्यकाल ये काल हैं तथा कार्य-कारण रूप ज्ञान है। जैसे– स्थूल परमाणु (सूक्ष्म पृथ्वी) का गन्ध तन्मात्रा प्रधान पाँच तन्मात्राएँ कारण हैं। जल परमाणु (सूक्ष्म जल) का गन्ध तन्मात्रा रहित रस तन्मात्रा प्रधान चार तन्मात्राएँ कारण हैं। अग्नि परमाणु (सूक्ष्म अग्नि) का गन्ध व रस तन्मात्रा रहित रुप तन्मात्रा प्रधान तीन तन्मात्राएँ कारण हैं। वायु परमाणु (सूक्ष्म वायु) का गन्ध, रस और रूप तन्मात्रा रहित स्पर्श तन्मात्रा प्रधान दो तन्मात्राएँ कारण है। आकाश परमाणु (सूक्ष्म आकाश) का केवल शब्द तन्मात्रा ही कारण है। जब निर्विचार समाधि के निरन्तर अभ्यास से वृत्ति में एकाग्रता इतनी ज्यादा बढ़ जाए कि देश, काल और निमित्त (धर्म) आदि की भी स्मृति न रहें, उस सूक्ष्म विषय (ध्येय वस्तु) को केवल धर्म मात्र स्वरूप से तदाकार प्रकाश करें, तब वह निर्विचार समाधि होती है।

सूक्ष्म विषय मूल प्रकृति तक हैं। सविचार समाधि में जो सूक्ष्म विषय बतलाये गये हैं, वह सिर्फ तन्मात्राओं तक ही सीमित नहीं हैं, बल्कि सूक्ष्म विषय मूल प्रकृति तक हैं। पाँचों स्थूल भूतों के सूक्ष्म परमाणु अपने-अपने कारण तन्मात्राओं में, पाँचों तन्मात्राएँ अपने कारण अहंकार में, अहंकार अपने कारण चित्त में, चित्त अपने कारण मूल प्रकृति में हैं। ये सब सूक्ष्म विषयों के अन्तर्गत आते हैं। सूक्ष्म परमाणु से मूलप्रकृति तक क्रमशः सूक्ष्मता बढ़ती जाती है, इसलिए मूल प्रकृति में ही सूक्ष्मता की पराकाष्ठा है।

सवितर्क समाधि और निर्वितर्क समाधि में केवल स्थूल-भूत और उन स्थूल-भूत पदार्थों से बनी वस्तुओं अर्थात् विकृत रूप का साक्षात्कार होता है। सविचार समाधि और निर्विचार समाधि में सूक्ष्म भूतों से लेकर तन्मात्राओं तक जो अहंकार की विकृति है, उसका साक्षात्कार होता है। निर्विचार समाधि की उच्चतर अवस्था में तन्मात्राओं की प्रकृति अहंकार का (जो चित्त की विकृति है) साक्षात्कार होता है। निर्विचार समाधि की उच्चतम अवस्था में अहंकार की प्रकृति अस्मिता का जो आत्मा से प्रकाशित चित्त का (जो मूल प्रकृति की विकृति है) साक्षात्कार होता है। मूल प्रकृति का साक्षात्कार नहीं होता है, बल्कि विवेक-ख्याति द्वारा आत्मा और चित्त की भिन्नता का ज्ञान होता है।

विकृति व्यक्त रूप में सिद्ध होती है। उसकी प्रकृति (विकृति की) अव्यक्त रूप में व विकृति की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म होती है। जैसे-जैसे समाधि के द्वारा विकृति का साक्षात्कार होता है, वह अपनी

प्रकृति में लीन हो जाती है, फिर वह प्रकृति व्यक्त हो जाती है। व्यक्त हो जाने से रुप सिद्ध हो जाती है, फिर उस विकृति के साक्षात्कार हो जाने पर अपने अव्यक्त प्रकृति में लीन हो जाती है। उदाहरण- जब समाधि के द्वारा विकृति रूप स्थूल-भूत और उससे बनी वस्तुओं का साक्षात्कार हो जाता है, तब वह (सभी विकृतियाँ) अपनी प्रकृति सूक्ष्म भूतों से लेकर तन्मात्राओं तक में लीन हो जाती हैं। जब सभी विकृतियाँ लीन हो जाती हैं, तब सूक्ष्म-भूत से लेकर तन्मात्राओं तक जो प्रकृति रूप में अव्यक्त थी, वह विकृति रूप में सिद्ध होने लगती हैं। सविचार समाधि और निर्विचार समाधि के द्वारा ये विकृति (सूक्ष्म भूतो से लेकर तन्मात्राओं तक) सिद्ध होने पर साक्षात्कार के बाद अपनी प्रकृति अहंकार में लीन हो जाती हैं। अब अहंकार विकृति रूप में सिद्ध होने लगता है तथा निर्विचार समाधि की उच्चतर अवस्था में साक्षात्कार होने पर अस्मिता में लीन हो जाता है। अब अस्मिता के व्यक्त हो जाने पर विकृति सिद्ध होती है। अस्मिता आत्मा से प्रतिबिम्बित चित्त को कहते हैं। जब समाधि की उच्चतम अवस्था में अस्मिता का साक्षात्कार होता है, तब मूल प्रकृति व्यक्त नहीं होती है, क्योंकि मूल प्रकृति साम्यावस्था में है। साम्यवास्था अव्यक्त है, इसलिए अस्मिता के साक्षात्कार में विवेक-ख्याति द्वारा आत्मा और चित्त की भिन्नता का ज्ञान होता है। समाधि के द्वारा साधक केवल चित्त तक साक्षात्कार कर सकता है।

जब साधक को निर्विचार समाधि की उच्चतम अवस्था प्राप्त होती है, इस अवस्था की प्राप्ति पर निरन्तर अभ्यास में लगे रहने पर रजोगुण व तमोगुण रूपी मल का आवरण नष्ट होने पर प्रकाशित चित्त का सत्त्वगुण की प्रधानता से एकाग्रता का प्रवाह निरन्तर बहता रहता है। इसे समाधि की प्रवीणता का नाम दिया गया है। इस अवस्था में साधक के लिए कहा जाता है कि वह योग में प्रवीण हो गया है। इसी प्रवीणता के होने पर साधक की प्रज्ञा की निर्मलता बढ़ती है। योग की भाषा में इस निर्मलता को **'अध्यात्म प्रसाद'** कहते हैं। चित्त की इसी निर्मलता में साधक को प्रकृति के सभी पदार्थों का साक्षात्कार होता है। इन पदार्थों के साक्षात्कार के विषय में आप हमारे अनुभवों को पढ़कर जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। यह साक्षात्कार पदार्थ के विशेष स्वरूप का होता है।

इस निर्मलता या अध्यात्म प्रसाद के द्वारा साधक के चित्त पर प्रज्ञा (ज्ञान) उत्पन्न होती है, इसे ऋतम्भरा-प्रज्ञा भी कहते हैं। इस ऋतम्भरा-प्रज्ञा में अविद्या आदि का नामो निशान नहीं होता है, क्योंकि यह अविद्या की सख्त विरोधी है। ऋतम्भरा का अर्थ होता है– **'सत्य को धारण करने वाली'**। यहाँ पर 'ऋत' का अर्थ सत्य है, परन्तु 'ऋत' और 'सत्य' के अर्थ में भिन्नता है। एक सत्य वह है जो आपने वेद शास्त्रों के द्वारा वचनों से सुना है। एक सत्य वह है जिसका आप अनुमान लगा लेते हैं। जैसे- अमुक स्थान

पर वर्षा हो रही है। आपने अनुमान लगा लिया कि वहाँ पर बादल अवश्य हैं। इन दोनों सत्य से वह सत्य (ऋत) अत्यन्त विलक्षण है, क्योंकि यह सत्य समाधि अवस्था में स्वयं अनुभूति के द्वारा प्राप्त होता है। दूसरे प्रकार से इस सत्य को समझा दूँ- वेद शास्त्रों के ज्ञान से और अनुमान के द्वारा ज्ञान से (प्रज्ञा से) ऋतम्भरा-प्रज्ञा का विषय ही अलग है। ऋतम्भरा-प्रज्ञा का विषय पदार्थ के विशेष रूप से (अर्थ का) साक्षात्कार करने से है। अब विशेष रूप पदार्थ के विषय में लिखता हूँ।

प्रत्येक पदार्थ के दो रूप होते हैं। **एक**– सामान्य रूप, **दूसरा**– विशेष रूप। सामान्य रूप वह है जो उस प्रकार के सब पदार्थों में पाया जाता है तथा विशेष रूप वह है जो प्रत्येक पदार्थ का अपना-अपना रूप होता है, जिससे एक ही प्रकार के पदार्थ में एक-दूसरे से भेद हो सकता है। अभी मैंने दो प्रकार का ज्ञान लिखा था, **एक**– अनुमान के द्वारा वस्तु के स्वरूप का ज्ञान लगा लिया जाता है। **दूसरा**– वेद शास्त्रों को पढ़कर अथवा सुनकर वस्तु के स्वरूप का ज्ञान लगा लिया जाता है। वेद और शास्त्रों के द्वारा पदार्थ के सामान्य रूप का बोध होता है, इसी प्रकार अनुमान के द्वारा भी पदार्थ के सामान्य रुप का ज्ञान होता है, परन्तु प्रत्यक्ष द्वारा ही वस्तु के विशेष रूप को देखा जा सकता है। जैसे- जब कोई ग्राह्य वस्तु आँखों के सामने आती है अथवा जब किसी ग्राह्य वस्तु पर दृष्टि पड़ती है, तो आँखों की किरणें (तेज) उस पर पड़ती हैं। चित्त का उस वस्तु पर राग के कारण आँख की किरण के द्वारा उस स्थान पर पहुँच कर उस ग्राह्य वस्तु का आकार (वृत्ति द्वारा) धारण कर लेता है, इसे प्रत्यक्ष कहते हैं। इन्द्रियों द्वारा भी स्थूल वस्तुओं के ही प्रत्यक्ष रूप को देखा जा सकता है, परन्तु सूक्ष्म व अतीन्द्रिय पदार्थों को नहीं देखा जा सकता है, क्योंकि सूक्ष्म से लेकर प्रकृति तक प्रत्यक्ष की पहुँच नहीं है। परन्तु निर्विचार समाधि उच्चतम अवस्था में प्राप्त ऋतम्भरा-प्रज्ञा (ज्ञान) अन्य ज्ञान (प्रज्ञा) से उत्कृष्ट है। यह प्रज्ञा (ज्ञान) परम् प्रत्यक्ष है, अन्य सभी प्रज्ञाओं (अनुमान, वेद-शास्त्रों व प्रत्यक्ष आदि) का यह (ऋतम्भरा-प्रज्ञा) बीज रूप है अर्थात् अन्य सब ज्ञान (प्रज्ञा) इस ज्ञान के (ऋतम्भरा-प्रज्ञा के) आश्रय हैं।

जब हमें ऋतम्भरा-प्रज्ञा द्वारा पदार्थों के विशेष रूप का साक्षात्कार हुआ, उस समय से यह प्रकृति बिल्कुल बेकार सी लगने लगी तथा प्रकृति से अरूचि-सी हो गई, जबकि हमारा शरीर प्रकृति के स्थूल पदार्थों से बना हुआ है। वर्तमान में सारा व्यवहार स्थूल जगत् से सम्बन्धित है, परन्तु मैं आंतरिक रूप से अपने चेतन स्वरूप का स्मरण करता रहता हूँ अथवा उसी की (चेतन स्वरूप की) याद में रहता हूँ। इस विशेष रूप के साक्षात्कार से प्रकृति की वास्तविकता के विषय में ज्ञान हो जाता है। मैंने अपने अनुभवों में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश के विशेष रूप के साक्षात्कार के विषय में लिखा है। वैसे यह विषय

(विशेष रूप का साक्षात्कार) शब्दों के द्वारा नहीं बताया जा सकता है। यह सिर्फ समाधि के द्वारा अनुभूति का विषय है, फिर भी मैंने लिखने का प्रयास किया है। पदार्थों के विशेष रूप का साक्षात्कार हमें सन् 2001 के शुरूआती समय में हुआ था।

साधक जब निरन्तर अभ्यास में लगा रहता है, तब पाँचों तत्त्वों के साक्षात्कार के कुछ समय बाद उसकी विचित्र अवस्था हो जाती है। साधक स्वयं नहीं समझ पाता है कि अभ्यास के समय (समाधि के समय) उसकी ऐसी अवस्था कैसे आ गई। यदि उसका मार्गदर्शक इस अवस्था को प्राप्त कर चुका है तो वह समझा देगा कि यह अवस्था क्यों प्राप्त हुई है। परन्तु जिसका मार्गदर्शक या गुरू इस अवस्था को प्राप्त नहीं कर पाया है अथवा इस अवस्था में यदि साधक का मार्गदर्शक नहीं है, तो उसे अवश्य अपने योग के अभ्यास के प्रति शंका-सी प्रकट हो जाएगी। समाधि के समय वर्तमान वाली अवस्था न रहकर पूर्व समय वाली अवस्था (साधना की शुरूआत से लेकर जो अब तक की अवस्था रही है) आने लगती है, तब साधक सोचता है कि हमारी यह अवस्था तो कुछ वर्षों पूर्व थी, फिर अब ऐसा क्यों हो रहा है? कभी-कभी साधना के शुरूआत वाली अवस्था भी आ जाती है। यदि साधक को साधना के शुरूआती अवस्था में विभिन्न प्रकार की क्रियांएँ हुई हैं, मुद्राएँ हुई हैं, भस्त्रिका चली है, बन्ध लगे हैं, तो यह सब क्रियांएँ अवश्य होंगी। समाधि भी शीघ्र ही भंग हो जाएगी तथा साधक सोचेगा कि हमारे साथ ऐसा क्यों हो रहा है? जब मुझे यह अवस्था प्राप्त हुई, तब मैं भी यही सोचता था कि इस प्रकार की विभिन्न क्रियाएँ साधक के शुरुआती समय में हुआ करती हैं, परन्तु अब क्यों हो रही हैं? कुछ दिन तो मैं दुःखी रहा कि हमारी साधना में त्रुटि कहाँ से आ गई, परन्तु बाद में हमारी समस्या सुलझ गई। मुझे मालूम हो गया कि इस अवस्था में ये क्रियाएँ क्यों हो रही हैं? इसका कारण निम्नलिखित है-

साधक को उच्चतम अवस्था में ऋतम्भरा-प्रज्ञा की प्राप्ति के बाद प्रकृति के सूक्ष्म पदार्थों का साक्षात्कार हो जाता है, तब उस ऋतम्भरा-प्रज्ञा से उत्पन्न होने वाले संस्कार अन्य सब व्युत्थान के संस्कारों (रजोगुणी व तमोगुणी संस्कार) को रोकने वाले होते है। जब साधक ने योग के अभ्यास की शुरूआत नहीं की थी तथा समाधि अवस्था से पहले उसके चित्त में व्युत्थान (रजोगुणी व तमोगुणी) के संस्कार रहते हैं, परन्तु जब साधक को समाधि अवस्था में जो अनुभव आते हैं, उनके भी संस्कार चित्त पर पड़ते हैं। ये समाधि वाले संस्कार व्युत्थान के संस्कारों से शक्तिशाली होते हैं, क्योंकि समाधि के द्वारा प्राप्त प्रज्ञा (ज्ञान) व्युत्थान की प्रज्ञा से अधिक निर्मल होती है। व्युत्थान की प्रज्ञा उसे कहते हैं, जो साधक ने समाधि के अलावा अपने सारे जीवन में ज्ञान प्राप्त किया है। समाधि की प्रज्ञा की निर्मलता में पदार्थ का

ज्ञान होता है, यह ज्ञान जितना अधिक होगा उतने ही शक्तिशाली उसके संस्कार होंगे, फिर उन्हीं शक्तिशाली संस्कारों की अधिकता से समाधि प्रज्ञा और अधिक निर्मल होगी। इस समाधि प्रज्ञा के संस्कार व्युत्थान के संस्कारों को हटाते रहते हैं अथवा दबाते रहते हैं। जब व्युत्थान के संस्कार दबेंगे तो उनसे उत्पन्न होने वाली वृत्तियाँ भी दब जाती हैं। इन वृत्तियों के निरोध से फिर समाधि उत्पन्न होती है, इस समाधि से फिर समाधि प्रज्ञा प्रकट होती है। यही क्रम चलता रहता है। समाधि प्रज्ञा, फिर समाधि प्रज्ञा से समाधि के संस्कार, यहाँ तक कि इस क्रिया से समाधि की आरम्भिक अवस्था आ जाती है, फिर इस आरम्भिक अवस्था से समाधि प्रज्ञा प्रकट होती है तथा फिर इससे समाधि के संस्कार प्रकट होते हैं। यह जो बार-बार क्रिया होती है- समाधि प्रज्ञा की अधिकता (निर्मलता), फिर इससे समाधि के संस्कार, इस लगातार क्रम से निरोध के संस्कार शक्तिशाली होते हैं और व्युत्थान के संस्कारों को रोकते रहते हैं। अन्त में व्युत्थान के संस्कार सर्वथा रुक जाते हैं।

समाधि प्रज्ञा वाले जो संस्कार होते हैं, उन संस्कारों का साधक भोग नहीं करता है, बल्कि इन संस्कारों (समाधि प्रज्ञा वाले) के द्वारा क्लेश के संस्कार धीरे-धीरे समाप्त कर दिए जाते हैं। जिस प्रकार चित्त में दो प्रकार का परिणाम होता है, **एक**– आंतरिक परिणाम, **दूसरा**– बाह्य परिणाम। इसी प्रकार चित्त दो प्रकार के कार्य करता है। **एक**– जीवात्मा को विषयों का भोग उपलब्ध कराना, **दूसरा**– विवेक-ख्याति उत्पन्न करना। सिर्फ पहले प्रकार के कार्य से उत्पन्न संस्कार वासना को उत्पन्न करते हैं, परन्तु विवेक-ख्याति से चित्त के भोग के अधिकार समाप्त हो जाते हैं। यह अवस्था सबीज समाधि की सबसे ऊँची अवस्था है।

साधक के चित्त में जब प्रज्ञा का उदय होता है, तो उसे सूर्य से भी बड़े आकार में पूर्व दिशा की ओर उदय होते हुए प्रज्ञा दिखाई देती है। जैसे ही प्रज्ञा की किरण (प्रकाश) समाधि अवस्था में साधक के मुँह पर पड़ती है, साधक की आँखें चकाचौंध हो जाती हैं तथा समाधि भंग हो जाती है। समाधि के बाद साधक का आकर्षण निश्चय ही इस प्रज्ञा की ओर रहता है, क्योंकि उसने जीवन में इतना तेजस्वी व निर्मल प्रकाश नहीं देखा होता है। इस प्रज्ञा को ज्ञान भी कहते हैं। इसके प्रथम दर्शन में यह खूबी है कि प्रकृति से सम्बन्धित सभी वस्तुओं से लगाव नहीं रह जाता है। साधक जैसे-जैसे निरन्तर अभ्यास करता है, वैसे-वैसे समाधि में प्रज्ञा ऊपर की ओर अंतरिक्ष में सूर्य के समान जाती दिखाई देती है। जैसे-सूर्य सुबह पूर्व में उदय होकर दोपहर में ऊपर की ओर अंतरिक्ष में जाता दिखाई देता है, इसी प्रकार प्रज्ञा भी समाधि के अभ्यास के अनुसार अंतरिक्ष में ऊपर की ओर (आगे की ओर) गति करती दिखाई देती है। फिर अभ्यास के एक

निश्चित अवधि में यही प्रज्ञा पश्चिम दिशा में अस्त (छिपते) होते दिखाई देती है, क्योंकि साधक को अगली अवस्था प्राप्त होने के लिए इस प्रज्ञा रूपी वृत्ति का भी निरोध होना आवश्यक है। इसके निरोध हुए बिना निर्बीज समाधि की अवस्था प्राप्त होना सम्भव नहीं है।

अभ्यास के अनुसार साधक के चित्त में ऋतम्भरा-प्रज्ञा का उदय तथा अस्त होना होता रहता है। कभी–कभी प्रज्ञा पूर्व में उदय होकर पश्चिम दिशा की ओर जाती है तथा कभी पश्चिम दिशा से उदय होकर उत्तर दिशा से होते हुए पूर्व दिशा की ओर जाती दिखाई देती है अर्थात् प्रज्ञा चारों ओर अभ्यास के अनुसार गति करती रहती है। कभी-कभी भूमि के नीचे भी क्षणभर के लिए प्रज्ञा दिखाई दे जाती है, इससे चित्त की भूमि नष्ट होने में सहायता मिलती है। एक समय ऐसा भी आता है जब एक ही बार में अंतरिक्ष में एक साथ तीन प्रज्ञा दिखाई देती हैं, परन्तु ऐसा दृश्य बहुत कम दिखाई देता है। यह तीनों प्रज्ञाएँ आगम, अनुमान और प्रत्यक्ष प्रमाण रूप हैं। प्रज्ञा अपने ज्ञान के प्रकाश से चित्त को प्रकाशित कर देती है। इससे चित्त पर स्थित अज्ञानता नष्ट हो जाती है। ऋतम्भरा-प्रज्ञा अविद्या की विरोधी है। जब तक सम्पूर्ण चित्त ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित नहीं हो जाता है, तब तक चित्त में प्रज्ञा का उदय होता रहता है। अन्त में सम्पूर्ण चित्त ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित हो जाता है, फिर प्रज्ञा रूपी वृत्ति निरुद्ध हो जाती है। यह अभ्यास कई वर्षों तक करना पड़ता है, तब यह वृत्ति निरुद्ध होती है।

साधक के चित्त में जब ऋतम्भरा-प्रज्ञा का उदय होता है, तब यह समझना चाहिए कि साधक के लिए प्रज्ञा-लोक का विकास होना शुरू हो गया है। प्रज्ञा-लोक आदित्य लोक को कहते हैं, यह आदित्य लोक ईश्वर का लोक अथवा ईश्वर का चित्त है। यही सत्यावस्था वाली मूल प्रकृति है। जब ऋतम्भर-प्रज्ञा अपनी चरम सीमा पर हो, तब साधक को समझना चाहिए कि आदित्य लोक का दरवाजा उसके लिए खुल गया है। आदित्य लोक में स्थान पाने के लिए साधक को निर्बीज-समाधि का भी अभ्यास करना चाहिए।

धर्ममेघ समाधि– जब निरन्तर विवेक-ख्याति का उदय होता रहे अथवा जब निरन्तर विवेक-ख्याति रूपी वृत्ति का प्रवाह बहता रहे, तब धर्ममेघ-समाधि होती है। योगी के चित्त में जब पाप-पुण्य से रहित धर्म की जो वर्षा होती है, उसे धर्ममेघ समाधि कहते हैं। धर्ममेघ वर्षा के विषय में आपकों हमारे अनुभवों में विभिन्न प्रकार के अनुभव पढ़ने को मिल जाएँगे। निरन्तर विवेक-ख्याति के उदय होने से निरन्तर विवेक ज्ञान का प्रवाह बहने लगता है। इसी प्रवाह के बहने से व्युत्थान के संस्कार भस्म होने लगते हैं। ज्ञान की परिपक्व अवस्था को धर्ममेघ समाधि कहते हैं। धर्ममेघ समाधि की पराकाष्ठा पर-वैराग्य है

तथा पर-वैराग्य का फल निर्बीज समाधि है। धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति पर अविद्या आदि क्लेश, सकाम कर्म तथा उनकी वासनाएँ मूल सहित नष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार क्लेश और कर्मों के अभाव में योगी जीवन्मुक्त होकर रहता है। धर्ममेघ समाधि के बाद जीवात्मा के भोग और अपवर्ग का कार्य समाप्त हो जाता है, फिर गुणों का उस जीवात्मा के लिए कोई कार्य शेष नहीं रहता है। इससे गुण अपना कर्तव्य पूरा करके अपना परिणाम क्रम समाप्त कर देते हैं। धर्ममेघ समाधि को सबीज व निर्बीज समाधि का संधि स्थल समझा जाना चाहिए अर्थात् धर्ममेघ समाधि सबीज समाधि व निर्बीज समाधि के बीच की अवस्था है।

निर्बीज समाधि

धर्ममेघ समाधि की पराकाष्ठा पर-वैराग्य है। पर-वैराग्य की अवस्था प्राप्त होने पर योगी की निर्बीज समाधि लगती है। विवेक-ख्याति एक सात्विक वृत्ति है, परन्तु पर-वैराग्य द्वारा इस सात्विक वृत्ति का भी निरोध हो जाता है तथा ऋतम्भरा-प्रज्ञा वाले संस्कारों का भी निरोध हो जाने पर निर्बीज समाधि लगती है। एक बात ध्यान रखने वाली है कि निरोधावस्था (निर्बीज समाधि) ऋतम्भरा-प्रज्ञा की ही विरोधी नहीं है, बल्कि ऋतम्भरा-प्रज्ञा के संस्कारों की भी विरोधी है। इस अवस्था में पर-वैराग्य के संस्कार रहते हैं। समाधि अवस्था में सर्ववृत्तियों के निरोध का साक्षात्कार होना असम्भव है, परन्तु मैंने जो अनुभव में सर्ववृत्तियों के निरोध के विषय में लिखा है, वह अनुभव समाधि अवस्था का नहीं है, बल्कि योगनिद्रा में आया था। योगनिद्रा में रजोगुण व तमोगुण समाधि की अपेक्षा अधिक हो जाता है, इस कारण अनुभव दिखाई दिया। अनुभव ऐसा था कि जिसे मैं शब्दों में नहीं लिख सकता हूँ। योगी को जो वृत्तियों का निरोध होता है वह एकदम एक साथ शुरू नहीं होता है, बल्कि पहले मात्र एक क्षण फिर दो क्षण, इसी प्रकार समाधि के अभ्यास के अनुसार वृत्तियों के निरोध का समय भी बढ़ता रहता है।

चित्त में दो प्रकार का परिणाम होता है। **एक-** आंतरिक परिणाम, **दो-** बाह्य परिणाम। आंतरिक परिणाम सत्त्व चित्त में होता रहता है जो कि स्वाभाविक है। बाह्य परिणाम चित्त की विभिन्न प्रकार की वृत्तियों में होता है, इसलिए चित्त में बाहर से वृत्तियों को रोकने का परिणाम होता रहता है। इस अवस्था में आत्मा किसी बाह्य दृश्य का द्रष्टा नहीं रहता है। आत्मा शुद्ध चैतन्यमय स्वरूप (ब्रह्म) में अवस्थित रहता है। निरोध परिणाम की अवस्था में गुण सत्त्व चित्त में अवस्थित रहते हैं तथा आंतरिक परिणाम होता रहता है।

चित्त की वृत्ति निरुद्ध करने के दो उपाय हैं। **एक-** अभ्यास द्वारा, **दूसरा-** पर-वैराग्य द्वारा। चित्त का जो बहिर्मुखी प्रवाह है (विभिन्न प्रकार की वृत्तियों का) वह प्रवाह वैराग्य के द्वारा रुक जाता है। अभ्यास के द्वारा चित्त का आंतरिक प्रवाह (शांत प्रवाह वाला) रुक जाता है। मनुष्य के चित्त में वासना वाले व्युत्थान के संस्कार अनन्त जन्मों के पड़े होते हैं। इन सभी को कुछ ही वर्षों में बीज सहित नष्ट कर देना अत्यन्त कठिन है। यदि निरोध के संस्कार थोड़े भी कमजोर हो गये तो व्युत्थान के संस्कार दबा (निरोध के संस्कारों को) लेते हैं। इसलिए योगी को धैर्य पूर्वक निरन्तर अभ्यास में लगे रहना चाहिए। योगी को यह नहीं सोचना चाहिए कि मैं 20-25 वर्षों से अभ्यास कर रहा हूँ, तो व्युत्थान के संस्कार दब जाएँगे। इन व्युत्थान के संस्कारों में समाधि प्रारम्भ के संस्कार, एकाग्रावस्था के संस्कार व समाधि से पूर्व समय वाले संस्कार (जन्म जन्मान्तरों के) रहते हैं। निर्बीज समाधि में जब निरोध के संस्कार शक्तिशाली हो जाते हैं, तब व्युत्थान के संस्कार सर्वथा दब जाते हैं। उस समय मल रूपी व्युत्थान के संस्कारों से रहित चित्त में निरोध के संस्कारों का प्रवाह बहने लगता है। यह अवस्था चित्त की प्रशांत अवस्था कही जाती है, परन्तु समाधि टूटने पर (भंग होने पर) व्युत्थान के संस्कार फिर से निरोध के संस्कारों को दबा लेते हैं। जब समाधि अवस्था में निरोध के संस्कारों से व्युत्थान के संस्कार दबे रहते हैं, तब आत्मा की शुद्धि परमात्मा स्वरूप में अवस्थिति होती है।

अब हम कुछ शब्द साधकों के स्थूल शरीर त्यागने के बाद की अवस्था के विषय में लिखना चाहेंगे कि स्थूल शरीर त्यागने के पश्चात किस अवस्था में रहते हैं? वैसे इस विषय में हमने अपनी पिछली पुस्तक **'सहज ध्यान योग'** में वर्णन किया है, परन्तु मैं यहाँ पर भी संक्षेप में लिख रहा हूँ। साधारण मनुष्य की जब मृत्यु होती है, वह अपने पाप कर्म, पुण्य कर्म व पाप और पुण्य मिश्रित कर्मों के अनुसार मृत्यु के बाद वासना देह में चले जाते हैं। ऐसा उनके द्वारा किए गये सकाम कर्मों के अनुसार होता है, क्योंकि सकाम कर्म करने वालों की तृष्णा अधिक प्रबल होती है। ऐसे मनुष्य मृत्यु के समय तृष्णा से प्रभावित रहते हैं। उस समय उनकी वासना अपने परिवार, रिश्तेदार व मित्र आदि से सम्बन्धित रहती है, जबकि सभी मनुष्य जानते हैं कि मृत्यु एक अटल सत्य है, फिर भी तृष्णा के कारण मरना नहीं चाहते हैं। परन्तु जब स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर का सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है, तब उसके सूक्ष्म शरीर पर अत्यन्त पारदर्शी पतली झिल्ली का आवरण चढ़ जाता है। जब तक आवरण चढ़ा रहता है अथवा वासना (इच्छाओं) से ग्रसित रहते हैं, तब तक यहीं पृथ्वी की परिधि में (अंतरिक्ष में) भटकते रहते हैं। वासना देह में किसी-किसी जीवात्मा की आयु बहुत ज्यादा होती है। इस वासना देह में आयु निश्चित नहीं होती है कि जीवात्मा को कितने वर्षों बाद इस देह से मुक्ति मिलेगी? वासना देह में आयु का निश्चित होना स्वयं जीवात्मा पर निर्भर

करता है। ऐसी जीवात्माएँ अपनी इच्छा पूर्ति के लिए इधर-उधर भटकती रहती है, मगर जब इनकी इच्छा पूर्ति नहीं होती है, तब कुछ समय तक इस देह में रहकर इस देह से मुक्त हो जाती हैं।

वासना देह वाली जीवात्माएँ भूख-प्यास से परेशान रहती हैं, क्योंकि ये स्वयं भोजन ग्रहण नहीं कर सकती हैं। जब तक कोई सशक्त व्यक्ति (सूक्ष्म शक्ति का स्वामी) इन्हें भोजन न दे दे, तब तक इन्हें भोजन प्राप्त नहीं हो सकता है। इसलिए ऐसी जीवात्माएँ सदैव साधक से सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास करती रहती हैं। परन्तु साधक को इनके चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए, क्योंकि ये जीवात्माएँ अपना कर्म इसी देह में भोग रही होती हैं। यदि साधक ने किसी जीवात्मा को भोजन व पानी दे दिया तो ऐसी ढेरों जीवात्माएँ उसके पास आनी शुरू हो जाएँगी, फिर उसके योग मार्ग में यह कार्य अवरोध रूप होगा। साधक चाहे तो अपने योगबल से ऐसी जीवात्माओं को क्षण भर से छुटकारा (वासना देह से) दिला सकता है तथा सीधे ऊपर की ओर (उर्ध्व कर सकता है) भेज सकता है। जब ऐसी जीवात्माएँ वासना देह को त्यागकर उर्ध्व होती हैं, तब वह भुवर्लोक में पहुँचती हैं। भुवर्लोक में अपने कर्मों के अनुसार उन्हें दण्ड मिलता है। फिर उन्हें यदि पुण्य का भोग करना होता है, तो पितर लोक में पुण्य भोग करने के लिए अपने आप चली जाती हैं। पितरलोक पुण्य भोग करने का स्थान है। यहाँ पर किसी प्रकार की परेशानी किसी भी जीवात्मा को नहीं मिलती है। यहाँ पर जीवात्मा अपने पुण्य के अनुसार भोग करके भूलोक पर (पृथ्वी पर) जन्म ग्रहण करने के लिए आ जाती है। ऐसी जीवात्माओं के लिए मनुष्य शरीर मिलना निश्चित है, परन्तु जो जीवात्मा भुवर्लोक से दण्ड भोगने के पश्चात तुरन्त भूलोक पर जन्म ग्रहण करने आएगी, उसे कर्मानुसार मनुष्य या अन्य शरीर धारण करना पड़ सकता है।

अब साधकों के विषय में कुछ निवारण दे रहे हैं। जो साधक सविकल्प समाधि का अभ्यास कर रहे हैं, ऐसे साधक अपनी योग्यतानुसार महर्लोक व जनलोक में कुछ समय तक आनन्द का भोग करते हैं। सविकल्प समाधि के अन्तर्गत सवितर्क व सविचार समाधि आती है। सवितर्क की अपेक्षा सविचार समाधि के अभ्यास वाला साधक ज्यादा समय तक आनन्द का भोग करता है, फिर जन्म लेने के लिए भूलोक पर अपने सात्विक संस्कारों के अनुसार मनुष्य का शरीर धारण करने के लिए ऊँचे कुल में जन्म लेते हैं। उचित समय पर जब योग वाले संस्कार प्रकट होते हैं, तब योग का अभ्यास करना शुरू कर देते हैं। इसलिए देखा गया है कि कभी-कभी लड़के-लड़कियाँ शीघ्र ही योग का अभ्यास करना शुरू कर देते हैं तथा उन्हें समाधि लाभ भी शीघ्र होने लगता है, ऐसा पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण होता है। सविकल्प समाधि कण्ठ चक्र खुलने के बाद आज्ञा चक्र पर लगती है। जिन साधकों का अभी कण्ठ चक्र नहीं खुला

है, धारणा व ध्यान का खूब अभ्यास किया है तथा कुण्डलिनी भी उर्ध्व हो चुकी है, ऐसे साधक शरीर छोड़ने के बाद भी सूक्ष्म लोकों में अपनी योग्यतानुसार कुछ समय तक रहते हैं। ऐसे साधकों को पितर लोक व महर्लोक में स्थान मिलता है। पितर लोक में सिर्फ सुख या आनन्द भोगा जाता है, वहाँ पर ईश्वर चिंतन या समाधि नहीं लगाई जा सकती है। पितर लोक से ऊपर के लोकों में समाधि अथवा चिंतन का अभ्यास किया जाता है।

जिन साधकों का ब्रह्मरन्ध्र खुल गया है तथा निर्विकल्प समाधि का अभ्यास कर रहे हैं, वे स्थूल शरीर त्यागने के पश्चात जनलोक, तपलोक व ब्रह्मलोक में (अपनी योग्यतानुसार) रहकर समाधि का अभ्यास करते हैं तथा आनन्द की अनुभूति करते हैं। इन साधकों की यहाँ रहने की अवधि सविकल्प समाधि के अभ्यास वाले साधकों से अधिक होती है। ऊपर के ये तीनों लोक नीचे के लोकों की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म होते हैं। अधिक सूक्ष्म होने के कारण यहाँ पर जीवात्माएँ अधिक समय तक रहती हैं। शास्त्रों में भूलोक की अपेक्षा ये लोक अमर कहे गये हैं, इसलिए मनुष्यों के बन्धनों की अपेक्षा यहाँ रहने वाली जीवात्माओं (साधकों के सूक्ष्म शरीर को) को मुक्त कहा जाता है। परन्तु इन लोकों में रहने वाली जीवात्माएँ मुक्त नहीं होती हैं। ये सारे लोक व्यष्टि प्रकृति के अन्तर्गत आते हैं, इसलिए ये सभी लोक अनित्य हैं। इन लोकों की जीवात्माएँ जन्म के समय अपनी पिछली योग्यता लिए हुए भूलोक पर योगियों के घर में जन्म लेती हैं, जिससे आत्म-साक्षात्कार का प्रयत्न कर सकें। सूक्ष्म लोकों के अन्तर्गत भूलोक से ऊपर छः लोक आते हैं, जो क्रमशः इस प्रकार हैं– भुवर्लोक, स्वर्गलोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक व ब्रह्मलोक। सूक्ष्म भूतों से लेकर तन्मात्राओं तक जो सूक्ष्मता का तारतम्य है, उनके अन्तर्गत ये लोक आते हैं। इन सभी लोकों में अवस्थित जीवात्माओं को भूलोक पर जन्म ग्रहण करने के लिए आना पड़ता है, परन्तु सूक्ष्मता के अनुसार ये जीवात्माएँ कम अथवा ज्यादा अवधि तक यहाँ (सूक्ष्म लोकों में) रहती हैं। जितनी सूक्ष्मता यहाँ बढ़ती जाएगी, उन जीवात्माओं को वहाँ रुकने की अवधि भी बढ़ती जाएगी तथा उतनी ही ज्यादा आनन्द की अनुभूति होगी।

जो साधक निर्विचार समाधि की उच्चतर अवस्था में अहंकार का साक्षात्कार करने का प्रयास कर रहे हैं, ऐसे साधक स्थूल शरीर त्यागने के पश्चात इन सूक्ष्म लोकों से ऊपर के स्तर (भूमि) को प्राप्त करते हैं। यह भूमि (स्थान) ब्रह्मलोक से अधिक सूक्ष्म व अधिक आनन्द की अनुभूति कराने वाला तथा अधिक अवधि वाला है। अहंकार के द्वारा तन्मात्राएँ, सूक्ष्म-भूत व इन्द्रियाँ उत्पन्न हुई हैं तथा अहंकार गुणों का

दूसरा विषम परिणाम है। इसलिए अहंकार में सत्त्वगुण की अधिकता होती है। इस सत्त्वगुण के कारण आनन्द की अधिक अनुभूति होती है, इस अवस्था को विदेहावस्था कहते हैं।

निर्विचार समाधि की उच्चतम अवस्था में अस्मिता का साक्षात्कार करने का अभ्यास कर रहे अभ्यासी अहंकार का साक्षात्कार कर चुके होते हैं, परन्तु अभी अस्मिता का साक्षात्कार नहीं कर पाये हैं। अस्मिता का साक्षात्कार न होने से आत्मा और चित्त की भिन्नता का ज्ञान नहीं होता है। ऐसी अवस्था में प्रकृति का बन्धन बना रहता है, इसलिए इसे प्रकृतिलय अवस्था कहते हैं। प्रकृतिक बन्धन के कारण इसे मुक्त नहीं कहा जा सकता है। प्रकृतिलय साधक अपने अधिकार के सहित चित्त के साथ स्थूल शरीर त्यागने के पश्चात विदेहों से भी लम्बे समय तक प्रकृति के आवरण में (अस्मिता प्रकृति में) आनन्द का अनुभव करते हैं। विदेह और प्रकृतिलय साधकों को तत्त्वज्ञान अथवा आत्मस्थिति की अवस्था प्राप्त करने के लिए भूलोक पर जन्म धारण करना पड़ता है। ऐसे साधक जन्म लेने के बाद अपने पिछले अभ्यास वाले संस्कारों के द्वारा शीघ्र ही निर्बीज समाधि को प्राप्त कर लेते हैं, क्योंकि उनके अन्दर पिछले संस्कारों के द्वारा पर-वैराग्य उदय हो जाता है। इस पर-वैराग्य के कारण शीघ्र ही निर्बीज समाधि का लाभ होता है।

प्रकृतिलय योगी स्थूल शरीर त्यागने के पश्चात ब्रह्मलोक से ऊपर अपरा-प्रकृति के आवरण में स्थित रहते हैं। यह स्थान ब्रह्मलोक से भी सूक्ष्म है। किसी-किसी स्थान पर पुस्तकों में लेख मिलता है कि विदेह योगियों और प्रकृतिलय योगियों की कैवल्य के समान अवस्था होती है। कैवल्य के समान अवस्था इसलिए कहा जाता है, क्योंकि अन्य योगियों की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म शरीर धारण किए रहते हैं तथा उनकी अवधि भी वहाँ पर ठहरने की अधिक होती है।

जब साधक को ऋतम्भरा-प्रज्ञा के द्वारा पदार्थों के विशेष रूप का साक्षात्कार होता है, तब स्थूल पदार्थों से लेकर प्रकृति पर्यन्त तक एक साथ साक्षात्कार हो जाता है। इस साक्षात्कार के बाद समाधि का निरन्तर अभ्यास करने से प्रज्ञा-लोक (ईश्वर के लोक का) का विकास होता है। यह प्रज्ञा-लोक का विकास समाधि के द्वारा दिखाई नहीं दे सकता है। प्रज्ञा-लोक के विकास का अनुभव थोड़ा-सा योगनिद्रा में आ सकता है। साधक अनुभव में ईश्वर लोक के प्रवेश द्वार के अन्दर अपने आपको जाता हुआ देखता है। इस लोक में प्रवेश करते समय अंतरिक्ष में एक पारदर्शी अत्यन्त खूबसूरत विशाल दरवाजा दिखाई देता है। साधक जब इस दरवाजे के अन्दर प्रवेश करता है, तो वहाँ पर प्रकाश ही प्रकाश भरा दिखाई देता है। जैसे ही दरवाजे के अन्दर प्रवेश करेगा तभी योगनिद्रा भंग हो जाएगी तथा अनुभव समाप्त हो जाएगा। वास्तव में ईश्वर के लोक में कोई प्रवेश द्वार नहीं है, बल्कि ऐसा सिर्फ भासित होता है कि प्रवेश द्वार बना हुआ है।

ईश्वर का लोक परम् आकाश तत्त्व से बना हुआ है। जो साधक निर्बीज समाधि का अभ्यास कर रहे हैं तथा बहुत से व्युत्थान के संस्कार निरोध संस्कारों द्वारा नष्ट कर दिए गये हैं, और कुछ शेष रह गये हैं, यदि इस अवस्था में स्थूल शरीर त्याग दिया जाता है तो उस साधक को ईश्वर के लोक की प्राप्ति होगी। फिर ईश्वर के लोक में अनन्त काल तक समाधि का अभ्यास करके व्युत्थान के संस्कारों को नष्ट कर दिया जाता है।

जब निरोध के संस्कार व्युत्थान के सभी संस्कारों को नष्ट कर देते हैं, तब अन्त में निरोध के संस्कार स्वयं नष्ट हो जाते हैं। फिर चित्त को बनाने वाले गुण अपने कारण में लीन हो जाते हैं तथा आत्मा अपने शुद्ध परमात्म स्वरूप में स्थित हो जाता है, इसे कैवल्य कहते हैं। जिन योगियों ने आत्म स्थिति (स्थित प्रज्ञ) अवस्था को प्राप्त कर लिया है तथा व्युत्थान के संस्कारों को नष्ट कर दिया है, किन्तु उनके चित्त में प्राणियों के कल्याण का संकल्प बना हुआ है, उनके चित्त को बनाने वाले गुण कारण में लीन नहीं होते हैं। ऐसे योगी अपने विशाल सात्विक स्वरूप से ईश्वर के विशुद्ध सत्त्वमय चित्त (जिसमें सारे प्राणियों के कल्याण का संकल्प विद्यमान है, इस अवस्था में ईश्वर व योग के समान संकल्प होते हैं) में लीन रहते हैं। ईश्वरीय नियमानुसार संसार के कल्याण के लिए जब उनकी जरूरत होती है, तब इस भौतिक संसार में अवतार लेते हैं।

जब साधक निर्विकल्प समाधि का अभ्यास करता है, उसके चित्त में "संस्कार" शेष रहते हैं। ये संस्कार अत्यन्त क्लेशात्मक होते हैं। जब ये क्लेशात्मक संस्कार वृत्ति रूप में प्रकट होकर बाहर निकलते हैं, तब उस साधक को निश्चय ही घोर क्लेश या कष्ट उठाना पड़ता है। परन्तु कुछ साधक इसी अवस्था में (निर्विचार समाधि की उच्चतर अवस्था में) बहुत ही ज्यादा यश (कीर्ति) को प्राप्त करते हैं। इसका कारण साधक के द्वारा किए गये पूर्व जन्म के पुण्यमय कर्म होते हैं। इन पुण्यमय कर्मों का भोग यश रूप में मिलता है, परन्तु कभी-कभी साधक को अत्यन्त अपयश का सामना भी करना पड़ता है। इस अपयश से यश पर कालिख पुत जाती है। ऐसा पूर्व जन्म के पाप युक्त संस्कारों के कारण होता है। इस अवस्था को प्राप्त साधक यदि गुरू पद पर बैठता है, तो निश्चय ही समाज में महान योगी के नाम से जाना जाता है। परन्तु गुरू पद स्वीकार कर लेने के कारण उसे आगे बढ़ने के लिए योगाभ्यास में अवरोध आ जाता है, क्योंकि जिम्मेदारियाँ बढ़ जाती हैं अथवा अपने आपको पूर्ण समझने लगते हैं। ज्यादातर साधक निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त करने पर अपने को पूर्ण समझने की गलती कर बैठते हैं। उनका कहना होता है कि हमारी कुण्डलिनी पूर्ण यात्रा करके हृदय में स्थित हो गई है तथा हमें आनन्द की अनुभूति भी हो रही

है। हृदय में आत्मा का साक्षात्कार भी हो गया है। ऐसे साधक इसी अवस्था को प्राप्त कर अपने आपको पूर्ण या धन्य मानने लगते हैं, जबकि अभी बहुत लम्बा सफर तय करना शेष है। इसी अवस्था को प्राप्त कर कुछ साधक अपने आपको भगवान् का अवतार भी मानने लगते हैं तथा स्वयं कहने लगते हैं कि मैं अमुक देवता या ईश्वर का अवतार हूँ। ऐसे साधकों के शिष्य भी बहुत होते हैं और वह अपने गुरू को भगवान् कहने लगते हैं। मैं ऐसे शिष्यों से कुछ भी नहीं कहना चाहता हूँ। हाँ, ऐसे गुरूओं से अवश्य कहना चाँहूगा- ऐसा साधक (योगी या गुरू) अपने आपको कितना बड़ा ज्ञानी समझता है, जो अपने को भगवान् कहलाना शुरू कर देते हैं। अभी ऐसे योगियों से तत्त्वज्ञान सैकड़ों मील दूर है, फिर भी अपने आपको भगवान् मान रहे हैं।

जिन साधकों को वर्तमान जन्म में अस्मिता का साक्षात्कार हुआ है अर्थात् समाधि में उच्चतम अवस्था प्राप्त की है, ऐसे साधक निश्चय ही पूर्व जन्म से महानता को लेकर इस लोक में आए हैं, क्योंकि अस्मिता का साक्षात्कार एक दो जन्मों के अभ्यास से प्राप्त नहीं किया जा सकता है। उच्चतम अवस्था को प्राप्त करने वाले साधकों को अपने जीवन में निश्चय ही घोर कष्ट उठाना पड़ता है, क्योंकि उन्हें अपने चित्त पर स्थित क्लेशात्मक संस्कार नष्ट करने होते हैं। ये क्लेशात्मक संस्कार इतने कष्टदायी होते हैं कि इसका अनुमान सिर्फ वही लगा सकता है जो इनका भोग करता है अर्थात् साधक को यह अवस्था प्राप्त करने के लिए निश्चय ही अत्यन्त कठिनाई से गुजरना पड़ता है। साधक को समाज में अकारण ही घोर कष्ट व अपमान सहना होता है। सत्य तो यह है कि एक समय ऐसा भी आता है, जब उसका इस संसार में कोई नहीं होता है। साधक भले ही अच्छे कर्म करे परन्तु उसे दोषी ठहराया जाता है। उसे इस संसार में कष्ट और अपमान के अलावा कुछ भी नहीं मिलता है। इन सब कष्टों का कारण स्वयं उसके क्लेशात्मक कर्म हैं, जो साधक के लिए भोगने अनिवार्य हैं। इससे एक लाभ अवश्य मिलता है कि साधक को इस संसार की वास्तविकता समझने का अच्छा अवसर मिलता है, क्योंकि साधक के जितने निकट सम्बन्धी व जान-पहचान वाले होते हैं, वे सब साधक का साथ छोड़ देते हैं तथा साधक के मार्ग में अवरोध खड़ा करने लगते हैं। साधक को चाहे कितने ही कष्ट क्यों न दिए जाएँ परन्तु वह योग का अभ्यास करना बन्द नहीं करता है, बल्कि योग का अभ्यास बराबर करता रहता है। साधक की यह अवस्था तब तक बनी रहती है, जब तक उसे विवेक-ख्याति अवस्था प्राप्त नहीं हो जाती है। इस अवस्था को प्राप्त करने पर साधक को कष्ट महसूस नहीं होता, बल्कि बड़े आराम से कष्टों को स्वीकार कर लेता है, क्योंकि साधक को मालूम हो जाता है कि "मैं कौन हूँ" तथा समाज के ये लोग अज्ञानी हैं, इस कारण उसके साथ (साधक के) ऐसा व्यवहार कर रहे हैं।

मैंने भी अपने जीवन में घोर कष्टों को भोगा है तथा कई वर्षों तक कष्टों में जीवन बिताया है, तब जाकर यह अवस्था प्राप्त हुई है। परन्तु अब तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जाने के कारण मैं उन कष्टों को महसूस नहीं करता हूँ। कष्ट तो आते-जाते रहते हैं, परन्तु पहले की अपेक्षा कम आते हैं। हमारा सोचना है कि कुछ-न-कुछ कष्ट तो जीवनभर बने रहेंगे। इसका कारण स्वयं हमारे व्युत्थान के संस्कार हैं। ये क्लेशात्मक संस्कार जन्म-जन्मान्तरों के होते हैं, इसलिए ये अधिक सूक्ष्म व गहराई में बीज रूप में रहते हैं। इन्हें शीघ्र नष्ट कर देना पूर्ण रूप से असम्भव है। ये संस्कार निर्बीज समाधि के अभ्यास के समय धीरे-धीरे नष्ट होते रहते हैं। जिसने विवेक-ख्याति के द्वारा आत्मा और चित्त की भिन्नता का ज्ञान कर लिया है, वह योगी किसी भी मनुष्य को शिष्य नहीं बनाएगा, क्योंकि शिष्य बनाना और फिर उसका मार्गदर्शन करना, बन्धन में बंधना है। इसलिए तत्त्वज्ञानी योगी शिष्य नहीं बनाते हैं और न ही आश्रम चलाते हैं। हाँ, अगर उनसे कुछ योग के विषय में पूछा जाए तो अवश्य उसकी शंका का समाधान अथवा मार्गदर्शन कर देंगे। निर्बीज समाधि के अभ्यास के समय योगी ज्यादातर चुप रहता है अथवा समाज से कम सम्बन्ध रखता है, ताकि उसे अभ्यास में किसी प्रकार का अवरोध न आए। मैं स्वयं भी यही करता हूँ। साल के कुछ महीनों में मैं अपने आपको सीमित कर लेता हूँ। वैसे मैं अपने आप को सीमित किए हुए हूँ, किसी से ज्यादा सम्पर्क नहीं रखता हूँ। समाधि के अभ्यास के समय मैं साधारण पुरूषों से दूर रहता हूँ।

जहाँ-जहाँ स्थूल जगत् व सूक्ष्म जगत् है, वहाँ-वहाँ चेतन तत्त्व भी है। दूध में मक्खन की भाँति, स्थूल जगत् व सूक्ष्म जगत् में चेतन तत्त्व व्याप्त है। दूध के प्रत्येक कण में मक्खन है, किन्तु जब तक दूध को दही बनाकर मथा (बिलोया या मन्थन) नहीं जाएगा, तब तक मक्खन उससे दृष्टिगोचर नहीं होगा। इसी प्रकार समाधि का आश्रय लिए बिना चेतन तत्त्व का साक्षात्कार नहीं हो सकता है। जाग्रत अवस्था में क्षिप्त चित्त को मन व इन्द्रियों द्वारा गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द के रूप में बाह्य जगत् का प्रत्यक्ष होता है। उस बाह्य जगत् में चेतन तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म रूप से व्याप्त रहता है। किन्तु चेतन तत्त्व में अवस्थिति इन्द्रियों के निरोध से अर्थात् मन के निरुद्ध होने पर निर्बीज समाधि में होती है। उस समय इन्द्रियाँ निश्चेष्ट हो जाती हैं और बाह्य जगत् अपने मूल श्रोत में अवस्थित हो जाता है।

विदेह योगियों और प्रकृतिलय योगियों को तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं होता है। तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिए विदेह और प्रकृतिलय योगी को जन्म ग्रहण करना पड़ता है। इसलिए इन योगियों की समाधि "भव-प्रत्यय" कहलाती है। भव का अर्थ है- जन्म और प्रत्यय का नाम है प्रतीति या प्रकट होने का। जन्म से ही जिस की प्रतीति होती है अर्थात् प्रकृतिलय योगियों को आत्मस्थिति प्राप्त करने की योग्यता होती है।

प्रकृतिलय योगियों को अपने पिछले जन्म के अभ्यास के संस्कार के बल से तत्त्वज्ञान प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त होता है। नये योगियों की अपेक्षा इन्हें श्रद्धा, उत्साह आदि समाधि के साधनों की आवश्यकता नहीं है। प्रकृतिलय योगियों को निर्बीज समाधि का अधिकार प्राप्त होता है। इन्हीं पिछले जन्म के अभ्यास के संस्कारों के द्वारा पर-वैराग्य उदय होकर विराम प्रत्यय के अभ्यास से निर्बीज समाधि सिद्ध हो जाती है। विराम-प्रत्यय का अर्थ है- सर्ववृत्ति निरोध का कारण जो पर-वैराग्य है अर्थात् पर-वैराग्य के अभ्यास को विराम-प्रत्यय कहते हैं।

किसी-किसी जगह पर विदेह योगियों तथा प्रकृतिलय योगियों को कैवल्य पद के तुल्य स्थिति वाला बतलाया गया है। ध्यान रखने की बात है कि इन योगियों को कैवल्य पद के समकक्ष तो कहा गया है, परन्तु इनके लिए कैवल्य पद का प्रयोग नहीं किया जा सकता है। कैवल्य पद की प्राप्ति 'स्थित-प्रज्ञ' को होती है, क्योंकि विदेह योगी सबीज समाधि की उच्चतर अवस्था वाला होता है तथा प्रकृतिलय योगी सबीज समाधि की उच्चतम अवस्था वाला होता है। स्थित-प्रज्ञ योगी की निरुद्ध स्थिति (निरूद्धावस्था या निर्बीज समाधि) होती है। गीता में विदेह व प्रकृतिलय योगी को योग भ्रष्ट योगी कहा गया है तथा 'स्थित-प्रज्ञ' को आत्मा में स्थित वाला योगी कहा गया है।

विदेह– विदेह योगी उन्हें कहते हैं जो वितर्कानुगत तथा विचारानुगत समाधि को सिद्ध कर चुके हैं तथा आनन्दानुगत भूमि में प्रवेश करके अहंकार को साक्षात्कार करने का प्रयास कर रहे हैं तथा देह से आत्मभिमान निवृत्त हो चुका है, इसलिए विदेही कहलाते हैं। ऐसे योगी स्थूल शरीर त्यागने के पश्चात लम्बी अवधि तक सूक्ष्म लोकों से परे अपरा-प्रकृति के आंतरिक आवरण में आनन्द की अनुभूति करते हैं, परन्तु यह अवधि प्रकृतिलयों से कम होती है। उचित समय आने पर अगली अवस्था प्राप्त करने के लिए भूलोक पर जन्म ग्रहण करते हैं।

प्रकृतिलय– जिन्होंने अहंकार का साक्षात्कार कर लिया है तथा अस्मिता का साक्षात्कार करने के लिए समाधि का अभ्यास कर रहे हैं। ऐसे योगियों को विवेक-ख्याति की अवस्था प्राप्त नहीं होती है। बहुत से योगी इसी आनन्दमय अवस्था को पूर्णता समझकर समाधि का अभ्यास करना बन्द कर देते हैं तथा अन्त में अधिकार के सहित चित्त के साथ स्थूल शरीर त्यागने के पश्चात लम्बी अविध तक अस्मिता प्रकृति में अर्थात् प्रकृति के आवरण में कैवल्य पद के समान आनन्द का अनुभव करते हैं। आनन्द का प्रकट होना मुक्ति नहीं है, क्योंकि आनन्द सात्विक चित्त का गुण है। ऐसे साधकों को तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिए भूलोक पर जन्म ग्रहण करना पड़ता है। इनकी समाधि "भव-प्रत्यय" कहलाती है।

'भव' नाम जन्म का है और प्रत्यय कारण को कहते हैं। जन्म से ही जिसे निर्बीज समाधि को प्राप्त करने की योग्यता होती है, उसका नाम 'भव-प्रत्यय' है। इनका चित्त पूर्वजन्म के योग सिद्धि के प्रभाव से ही निर्बीज योग में प्रवृत्त होता है। प्रकृतिलय योगियों को निर्बीज योग की प्राप्ति विषयक ज्ञान का अधिकार प्राप्त होता है। पिछले जन्म के अभ्यास के संस्कार के बल से उनको पर-वैराग्य उदय होकर निर्बीज समाधि सिद्ध हो जाती है।

जो योगी प्रकृतिलय अवस्था की योग्यता को प्राप्त किए हुए जन्म को ग्रहण करते हैं, उन्हें वर्तमान जन्म में बचपन से ही परेशानियों व कष्टों का सामना करना पड़ता है। ये कष्ट स्वयं उसके नजदीकी मनुष्यों से व समाज से मिलते हैं। इस प्रकार के कष्टों से योगी को एक लाभ मिलता है कि उसे संसार के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होने लगता है कि संसार क्या है? इस संसार में ईश्वर के अतिरिक्त कोई भी अपना नहीं होता। यहाँ इस संसार में दुःखों के सिवाय कुछ भी नहीं है, जिससे पर-वैराग्य उत्पन्न होता है। ऐसे योगी निश्चय ही ब्रह्म (तत्त्वज्ञान) की प्राप्ति करते हैं, क्योंकि हम ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए ही जन्म ग्रहण करते हैं। हमारा जन्म भी प्रकृतिलय अवस्था की योग्यता को प्राप्त किए हुऐ हुआ है। जब मैंने साधना की शुरुआत की थी तभी मुझे मालूम हो गया था कि मुझे इस जन्म में तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होगी। इसलिए मैं सदैव आगे की ओर बढ़ता रहा। वर्तमान समय में मैं तत्त्वज्ञान से युक्त हूँ।

तत्त्वज्ञानी– तत्त्वज्ञानी के विषय में जानने के लिए तत्त्वज्ञान वाला पाठ पढ़िए। जब योगी प्रकृतिलय अवस्था को प्राप्त किए हुए जन्म ग्रहण करता है, तब उसे वर्तमान जन्म में तत्त्वज्ञान की प्राप्ति अवश्य होती है, क्योंकि जन्म से पूर्व ही प्रकृति देवी उस योगी के लिए व्यवस्था कर देती है, ताकि योगी योग का फल प्राप्त कर सके। ऐसा योगी सम्पूर्ण जीवन क्लेश भोगता रहता है, क्योंकि उसके चित्त पर क्लेशात्मक संस्कार विद्यमान रहते हैं। ये संस्कार भोगकर ही नष्ट करने होते हैं। जब उसे तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, तब उसे क्लेशों की अनुभूति नहीं होती है। तत्त्वज्ञानी अपने शेष जीवन में संसार का गुप्त रूप से कल्याण करता रहता है। वह अपने विषय में किसी को कुछ भी नहीं बताता है और न ही ऐसा कभी भासित होने देता है कि वह तत्त्वज्ञानी है। जब तक उसके प्रारब्ध संस्कारों का वेग बना रहता है, तब तक उसका स्थूल शरीर सधा रहता है। संस्कारों का वेग समाप्त होने पर स्थूल शरीर का त्याग कर देता है। उसका सूक्ष्म शरीर योगाग्नि में जलकर भस्म हो जाता है तथा वह (योगी) अपने निज स्वरूप में स्थित हो जाता है अथवा ईश्वर के लोक में स्थित हो जाता है। जिन योगियों ने निर्बीज-समाधि का लाभ प्राप्त कर

लिया है, किन्तु उनके चित्त से व्युत्थान के सारे संस्कार अभी नष्ट नहीं हो पाये हैं या कुछ शेष रह गये हैं, उस अवस्था में स्थूल शरीर त्यागने के पश्चात ईश्वर के लोक को प्राप्त होते हैं।

अवतार– तत्त्वज्ञान प्राप्त होने पर योगी अपने स्वरूपों में स्थित हो जाता है अर्थात् ब्रह्म स्वरूप हो जाता है तथा फिर जन्म-मृत्यु के चक्र से रहित हो जाता है। फिर उसे भूलोक पर जन्म ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि उसकी अविद्या मूल सहित नष्ट हो चुकी होती है। चित्त को बनाने वाले गुणों का प्रयोजन पूर्ण हो चुका होता है। परन्तु कुछ योगी ऐसे भी होते हैं जो पूर्णत्व को प्राप्त करने के बाद भी प्राणियों के कल्याण का संकल्प उनके चित्त में बना रहता है। ऐसे योगियों के चित्त को बनाने वाले गुण अपने कारण में लीन नहीं होते हैं, बल्कि स्थूल शरीर त्यागने के पश्चात चित्त अपने विशाल सात्विक स्वरूप से ईश्वर के विशुद्ध सत्त्वमय चित्त में अन्तर्मुखी होकर सारे प्राणियों के कल्याण का संकल्प विद्यमान रहता है। समान संकल्प होने पर ईश्वर के चित्त में योगी का चित्त अन्तर्मुखी रहता है अर्थात् ईश्वर का संकल्प व योगी का संकल्प एक समान रहता है। ईश्वरीय नियमानुसार जब ऐसे योगी की आवश्यकता होती है, तब प्राणियों के कल्याण के लिए भूलोक पर अवतरित होते हैं। अवतरित होते समय परा-प्रकृति स्वयं ईश्वरीय शक्तियों को अंश रूप में उस योगी को प्रदान कर देती है तथा परा-प्रकृति स्वयं उस योगी को प्राणियों के कल्याण के लिए निर्देश देती है। ऐसा योगी ईश्वरीय शक्तियों से युक्त होकर अपरा-प्रकृति को अपने संकल्प द्वारा अधिकार में लेकर भूलोक पर अवतार ग्रहण करता है। ऐसे अवतारी पुरूष पर अपरा-प्रकृति का कोई भी नियम लागू नहीं होता है, लेकिन वह सदैव प्रकृति के नियमों का सम्मान करता रहता है। यही उसकी लीलाएँ कही जाती हैं। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि ऐसा अवतारी पुरूष पूर्व जन्म का योगी ही होता है। इसलिए उसके पास ईश्वरीय शक्तियाँ अंश रूप में निहित होती हैं। पूर्ण रूप से शक्तियाँ तो सिर्फ ईश्वर के पास ही रहती हैं। ईश्वर कभी भी जन्म ग्रहण नहीं करता है, वह अजन्मा है। अवतारी पुरूष को ही ईश्वर या भगवान् कह दिया जाता है तथा शास्त्रों में भी अवतारी पुरूष को ब्रह्म शब्द से सम्बोधित किया गया है, क्योंकि वह पूर्वकाल से (जन्म ग्रहण करने से पूर्व) तत्त्वज्ञान से युक्त होता है अर्थात् ब्रह्मत्व को प्राप्त होता है, इसलिए उसे ब्रह्म कहा जाता है। राम व कृष्ण आदि अवतारी पुरूष थे। श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं–

"हे अर्जुन! मेरे और तुम्हारे पूर्वकाल में ढेरों जन्म हो चुके हैं, मुझे वो सारे जन्म याद हैं, परन्तु तुम्हें याद नहीं हैं।"

इन शब्दों से स्पष्ट हो जाता है कि श्री कृष्ण पूर्व काल में योगी थे, परन्तु अवतारी पुरूष होने के कारण उन्हें ब्रह्म कहा जाता है। तत्त्वज्ञान प्राप्त होने के बाद योगी के संकल्प तथा ईश्वर के संकल्प में कोई फर्क नहीं रहता है, क्योंकि योगी का विशाल सात्विक चित्त ईश्वर के विशुद्ध चित्त में अन्तर्मुखी हो जाता है। अवतारी पुरूष पूर्वकाल में ही निर्बीज समाधि के द्वारा व्युत्थान के सारे संस्कारों को नष्ट कर चुका होता है। अतः ऐसे पुरूष अवतार के समय साधारण पुरूषों की भाँति स्त्री के गर्भ से जन्म ग्रहण नहीं करते हैं, क्योंकि ऐसे अवतारी पुरुष अपरा-प्रकृति को संकल्प के द्वारा अपने अधिकार में लिए रहते हैं अर्थात् अवतारी पुरूष गर्भ की पीड़ा की अनुभूति नहीं करता है, बल्कि वह अपनी माया के द्वारा गर्भ से प्रकट होता है। उस समय समस्त प्रकृतियाँ उसके अनुकूल हो जाती हैं। ऐसा अवतारी पुरूष प्राणियों का कल्याण करने के पश्चात अपने लोक (ईश्वर के लोक) वापस लौट जाता है।

जनवरी 1996 की बात है, जब एक दिन मैं अत्यन्त दुःखी था। मैं सोच रहा था कि मुझे इतना दुःख क्यों मिलता है? मैंने ऐसी जगह जन्म क्यों लिया है जहाँ दुःख के सिवाय कुछ भी नहीं है, हमारे योगमार्ग में अवरोध डाला जा रहा है। बहुत सोचने के बाद मैंने प्रकृति देवी से कहा– "माता, हमें इतना दुःख क्यों मिलता है"? प्रकृति देवी बोली– *"योगी पुत्र, तुम्हें अपना पिछला समय याद नहीं है, इसलिए ऐसा सोच रहे हो। तुम अपना पिछला समय देखो, जब तुमने जन्म ग्रहण नहीं किया था"।*

फिर मैं समाधि पर बैठ गया। हमें अपना पिछला दृश्य दिखाई देने लगा। उसे मैं संक्षेप में लिख रहा हूँ– मैं अंतरिक्ष में बैठा समाधि लगाए हुए था, उसी समय हमारे पास प्रकृति देवी आई। उसने अपना हाथ आशीर्वाद मुद्रा में ऊपर उठाया, जिससे हमारी समाधि भंग हो गई। मैंने आँखें खोल दी। मैंने देखा कि प्रकृति देवी सामने खड़ी थी। उन्हें देखकर मैंने प्रणाम किया ओर बोला– "माता आप"? प्रकृति देवी बोली- *"पुत्र, तुम्हारा जन्म लेने का समय आ गया है, जाओ जन्म ग्रहण करो"*। मैं बोला- "माता, मेरी समाधि अभी पूरी नहीं हुई है, इतनी जल्दी जन्म का समय कैसे आ गया है"? प्रकृति देवी बोली– *"पुत्र, तुम्हें योग का फल मिलने वाला है, इसलिए भूलोक पर तुम्हारी व्यवस्था कर दी गई है"*। मैं बोला- "ठीक है, माता"। प्रकृति देवी बोली– *"ज्ञान के द्वारा तुम अपना अगले जन्म का स्थान और जन्म की प्रमुख घटनाएँ भी देख लो। एक बात का ध्यान रखना कि सारे कर्माशय नष्ट करके आना है"*। मैं बोला- "ठीक है, माता"। मैंने ज्ञान के द्वारा वर्तमान जन्म की मुख्य-मुख्य घटनाएँ देखी। फिर मैं प्रकृति देवी से बोला– *"माता, यह जगह मेरे लिए उपयुक्त है। यहाँ पर मेरे सारे कर्माशय नष्ट हो जाएँगे"*। फिर मैंने प्रकृति देवी को प्रणाम किया। फिर प्रकृति देवी अदृश्य हो गई तथा मैं जन्म ग्रहण करने के लिए चल दिया।

अनुभव में प्रकृति देवी कहती है– *"तुम्हें योग का फल मिलने वाला है, तुम्हें सारे कर्माशय नष्ट करके आना है और ज्ञान के द्वारा तुम अपना अगला जन्म (वर्तमान जन्म) देख लो"*। योग का फल 'स्थिति-प्रज्ञ' या 'आत्म-स्थिति' प्राप्त करना होता है। सारे कर्माशय नष्ट करके आना अर्थात् व्युत्थान के संस्कारों को नष्ट करने के लिए कहा जाता है। स्थित-प्रज्ञ अवस्था में व्युत्थान के संस्कार नष्ट हो जाते हैं। इन सब शब्दों का अर्थ है कि पूर्वकाल से ही निश्चित था कि हमें तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होगी। आदिगुरू शंकराचार्य ने भी हमें तत्त्वज्ञानी कहकर सम्बोधित किया था, जबकि उस समय मुझे तत्त्वज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई थी। इन सब अनुभवों का अर्थ निकलता है कि मैंने पूर्व जन्म में प्रकृतिलय अवस्था के अन्तर्गत स्थूल शरीर का त्याग किया था। इसलिए वर्तमान जन्म में निर्बीज-समाधि प्राप्त करने का अधिकारी था।

भगवान् दत्तात्रेय ने सांकृति मुनि को उपदेश दिया था– *"मैं वह परमात्मा हूँ, जो संसार के बन्धन में बँधा हुआ नहीं हूँ। इसलिए मुझसे भिन्न किसी भी वस्तु की किसी भी काल में सत्ता नहीं है। जैसे- फेन और तरंग आदि समुद्र में ही उठते हैं और समुद्र में ही विलीन हो जाते हैं, इसी प्रकार यह जगत् मुझमें ही उत्पन्न होता है और मुझमें ही विलीन होता रहता है। अतः सृष्टि का कारण समष्टि भी मुझसे पृथक नहीं है। यह जगत् और माया भी मुझसे अलग कोई अस्तित्व नहीं रखते हैं"*। इस प्रकार जिस पुरूष को ये परमात्मा अपने आत्मस्वरूप से अनुभव होने लगता है, वह परम् पुरूषार्थ स्वरूप साक्षात् परमात्म स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। जब योगी के मन में सर्वव्यापक आत्म चैतन्य का अपरोक्ष अनुभव होने लगता है, तब वह स्वयं परमात्म स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। जब ज्ञानी महात्मा सब भूतों को अपने में ही देखता है और अपने को सम्पूर्ण भूतों में प्रतिष्ठित देखता है, तब वह साक्षात् ब्रह्म हो जाता है। जब समाधि में स्थित योगी परमात्मा से एकीभूत होकर अपने से भिन्न किसी भूत को नहीं देखता है, तब वह केवल परमात्म स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। जब योगी केवल आत्मा को ही परमार्थ सत्य स्वरूप देखता है और सम्पूर्ण जगत् को माया का विलास मानता है, तब उसे परमानन्द की प्राप्ति होती है।

जीवन्मुक्त

जो पुरूष यह समझता है कि यह संसार सत्य है, जिसके कारण विषय भोगों की वासना दृढ़ हो गई है, इस प्रकार की तृष्णा द्वारा जीव की जो बाह्य पदार्थों में आसक्ति होती है, इसे ही संसार के बन्धन कहा गया है। जिन पुरूषों ने अभ्यास के द्वारा सांसारिक पदार्थों की असत्ता के विषय में पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया है, इसीलिए समस्त जड़ पदार्थों में त्याग तथा तृष्णा से रहित होकर परम् उदार हो जाते हैं, ऐसे महापुरूष को जीवन्मुक्त पद की प्राप्ति होती है तथा वह जीवन्मुक्त कहे जाते हैं। जीवन्मुक्त पुरूष के अन्तःकरण में यह सब सांसारिक भोग पदार्थ मिथ्या है। 'यह मुझे प्राप्त हो', इस प्रकार की जो हृदय में भावना होती थी, ऐसी भावना से मुक्त होकर भोग संकल्प रहित हो जाता है। जीवन्मुक्त पुरूष के अन्तःकरण में सदैव दृढ़ निश्चय रहता है कि मेरा स्थूल शरीर जो माता-पिता द्वारा रचा गया है, यह असत् दृष्टि है। इसी कारण मनुष्य को बन्धन प्राप्त होता है। यही अनन्त काल तक दुःख तथा क्लेश भोगने का हेतु है। मैं शरीर-इन्द्रिय आदि सभी पदार्थों से रहित सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर हूँ। संसार के समस्त पदार्थ मुझ अविनाशी ब्रह्म का ही स्वरूप है। अहंकार तथा समस्त संसार आकाश के समान शून्य है।

जीवन्मुक्त पुरूष का चित्त सदैव एकाग्र रहता है तथा वह काम, क्रोध, लोभ आदि से आहत नहीं होता है। लीला पूर्वक विचरण करता हुआ संसार से कभी प्रभावित नहीं होता है, क्योंकि इस रसहीन संसार के विषय में उसे ज्ञान हो जाता है। प्रिय वस्तु के प्राप्त हो जाने से वह प्रसन्न नहीं होता है और न ही अप्रिय से द्वेष करता है। वह नष्ट हुई वस्तु के लिए शोक नहीं करता है और न ही अप्राप्त वस्तु के लिए प्रयास करता है। वह सदा ब्रह्म के स्वरूप का मनन करता हुआ कर्तव्य कर्म में आलस्य छोड़कर प्रवत्त रहता है तथा इच्छा और अनिच्छा के बन्धन से मुक्त हो जाता है। जीवन्मुक्त परम् पद में आरूढ़ हो संसार की क्षणभंगुर अवस्था को अपनी शांत बुद्धि के द्वारा देखता है, क्योंकि उसने चित्त को जीत लिया है तथा ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है। अन्दर से सभी प्रकार की आशाओं का त्याग करके, वीतराग और वासना शून्य हो, बाहर से समस्त सत्कर्मों एवं सदाचारों का ठीक-ठीक पालन करते हुए, अहंकार से रहित, अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित, आकाश के समान निर्लेप और कलंक से दूर रहकर स्थित रहता है। वास्तव में जीवात्मा का न तो बन्धन है और न ही मोक्ष है। यह इस मिथ्या माया संसार में भटकने वाली है। आत्मा तो सदा सर्वव्यापी और आसक्ति के बन्धन से रहित है, फिर आत्मा का बन्धन कैसे हो सकता है? जब वह बँधा ही नहीं है तो मोक्ष के लिए प्रयत्न का क्या अर्थ है? भम्र रूपी विशाल संसार यथार्थ तत्त्व

से न जानने के कारण अज्ञान से ही उत्पन्न हुआ है। तत्त्वज्ञान होने से यह उसी तरह नष्ट हो जाता है, जैसे रस्सी का ज्ञान होने से उसमें सर्प के होने की भ्रांति नष्ट हो जाती है।

मुक्ति दो प्रकार की होती है। **एक** जीवन्मुक्त अवस्था, इसे संदेह मुक्ति भी कहते हैं तथा **दूसरी** विदेह मुक्ति है। जिस अनासक्त पुरूष की इष्ट अनिष्ट कर्मों के ग्रहण व त्याग में अपनी कोई इच्छा नहीं रहती है अर्थात् जिसकी इच्छा का सर्वथा अभाव हो गया हो, ऐसे पुरूष की स्थिति को जीवन्मुक्त अवस्था कहा जाता है। ऐसे जीवन्मुक्त को देह के विनाश होने पर विदेह मुक्त अवस्था प्राप्त हो जाती है। जिन्होंने निर्गुण ब्रह्म में अवस्थिति प्राप्त कर ली है तथा चित्त का स्वरूप और अरूप विनष्ट हो चुका है, लीलामात्र से क्रिया हो रही है, उन्हें विदेहमुक्त कहा जाता है। विदेहमुक्त पुरूष कभी भी जीवन धारण नहीं करते हैं। वे शरीर त्यागते ही पूर्ण ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। जिन जीवन्मुक्त पुरूषों के चित्त में प्राणियों के कल्याण की भावना रहती है, ऐसे महापुरूष शरीर त्यागने के पश्चात परा-प्रकृति में अवस्थित रहते हैं। उचित समय आने पर ईश्वर की प्रेरणा से ईश्वरीय शक्तियों से युक्त होकर भूलोक पर प्राणियों के कल्याण हेतु अवतार ग्रहण करते हैं।

संसार में जो पुरूष राग-द्वेष के अत्यन्त अभाव से उत्पन्न आनन्द के अभ्यास में लगे हुए हैं तथा जिनके अन्तःकरण अत्यन्त विशाल हैं, ऐसे जीवन मुक्त पुरूष व्यवहार करें अथवा न करें, वे सर्वथा भय तथा शोक से रहित संसार में स्थित रहते हैं। उनका अंतःकरण जड़ पदार्थ के चिन्तन से रहित, केवल नित्य चेतन ब्रह्म का ही आलम्बन करने वाला तथा समस्त चिन्ता व दुःखों से मुक्त हैं। ब्रह्म के स्वरूप में मग्न रहने वाला तत्त्वज्ञानी पुरूष संसार में व्यवहार करते हुए भी अपने स्वरूप में स्थित रहता है। जिसने ब्रह्म के सगुण व निर्गुण स्वरूप को अच्छी तरह से जान लिया है, ऐसे तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त पुरूष के अंतःकरण में सुख-दुःख की प्राप्ति होने पर विकार उत्पन्न नहीं होते हैं। जीवात्मा परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर समस्त कल्पनाओं के हेतु भूत मलों से रहित हुआ ध्यान के अभाव की दशा में भी ब्रह्म के स्वरूप में मग्न रहता है, तब वह आत्माराम कहलाता है अर्थात् अपने ही आत्मा में रमण करने वाला होता है। आत्माराम होने से पुरूष संसार में असंग भाव को प्राप्त करता है। आत्मा के ज्ञान से सांसारिक पदार्थों अर्थात् विषयों की ओर आसक्ति का नाश होता है। चित्त में विषय सम्बन्धी वृत्तियों के रहित हो जाने पर अंतःकरण में वासनाओं से रहित परम् शांति की अवस्था प्राप्त होती है। यही अवस्था जाग्रत में सुषुप्त के समान समाधि अवस्था कही गई है। इस अवस्था को प्राप्त करने वाले पुरूष को संसार में चाहे दुःख मिले अथवा

सुख, किंतु वह संसार की ओर आकर्षित नहीं होता, क्योंकि ब्रह्मज्ञान होने के कारण उसे मालूम है कि संसार का अस्तित्व है ही नहीं। इसी कारण सुख-दुःख से रहित होकर संसार के कार्यों को करता रहता है।

सांसारिक विषयों से रहित हुआ जीवन्मुक्त पद पर भली-भाँति स्थित ब्रह्म को प्राप्त पुरूष जो भी कर्म करता है, उस किए हुए कर्म का उसमें कर्तापन का भाव नहीं रहता है। ऐसी अखण्ड समाधि का अभ्यास जब दृढ़ता पूर्वक हो जाता है, तब उसकी तुरीयावस्था कही जाती है। उसके अन्त:करण में समस्त विकार नष्ट हो चुके होते हैं तथा मन का अत्यन्त अभाव-सा हो गया है। ऐसे ब्रह्मज्ञानी पुरूष को ईश्वरीय आनन्द की अवस्था प्राप्त हो जाती है। अखण्ड समाधि में स्थित हुआ ब्रह्मज्ञानी पुरूष अतिशय प्रसन्नता से युक्त परम् आनन्द में मग्न रहता हुआ इस संसार के व्यवहार को सदा लीला के समान देखता रहता है। जीवन्मुक्त पुरूष विषयी पुरूषों के संग से रहित, विषयों की आसक्ति से रहित, सम्मान और मानसिक चिन्ताओं से शून्य, ईश्वर चिन्तन में रत, शुद्ध अंतःकरण से युक्त होता है। काम रूपी कीचड़ से मुक्त, बन्धन स्वरूप संसार भ्रम से शून्य, हर्ष-शोक, राग-द्वेष तथा भय आदि से रहित होता है, क्योंकि वह संसार सागर से पार हो चुका होता है तथा परम् पद पर स्थित होता है। सभी मनुष्य मन, वाणी और कर्म द्वारा जीवन्मुक्त पुरूष के आचरणों के अनुकरण की इच्छा करते हैं, पर वह किसी प्रकार की इच्छा नहीं करता है। सभी मनुष्य उसके आनन्द का अनुमोदन करते हैं, पर वह किसी का अनुमोदन नहीं करता है। वह सिर्फ उदासीन रहता है। वह न त्याग करता है, न ग्रहण करता है, न ही किसी की स्तुति करता है, न किसी की निन्दा करता है। वह समस्त आरम्भों, सम्पूर्ण विकारों, आशा, इच्छा और वासना से रहित है।

जीवन्मुक्त पुरूष शांत बुद्धि से सम्पन्न, आंतरिक दृष्टि से सांसारिक मनुष्य के व्यवहारों को यंत्रनिर्मित के समान देखता है। ऐसा पुरूष न भूतकालीन वस्तु का स्मरण करता है, न भविष्य की परवाह करता है और न ही वर्तमान में किसी पदार्थ में तन्मय होता है, तथा सब कुछ करता हुआ भी निर्लेप रहता है। वह सोता हुआ भी आत्मज्ञान में जागता रहता है। सम्पूर्ण आसक्ति से शून्य, सम्पूर्ण कामनाओं से रहित, सब कार्यों को करता हुआ भी समभाव में स्थित रहता है, क्योंकि उसका अंतःकरण भ्रम से रहित होकर समता रूपी ब्रह्म स्वरुप में स्थित हो गया है। स्थान और समय के अनुसार प्राप्त हुई क्रियाओं में स्थित हुआ भी वह कर्मों से उत्पन्न सुख और दुःख की प्राप्ति में विकारवान नहीं होता है। वह दुःख की अवस्था की उपेक्षा नहीं करता है और सुख की अवस्था की परवाह नहीं करता है। संसार में चाहे जितनी भी विपरीत घटनाएं घटने लगे, तब भी जीवन्मुक्त पुरूष को आश्चर्य नहीं होता, क्योंकि वह जानता है कि यह सब ब्रह्म की असीम माया शक्तियाँ इस प्रकार स्फुरित हो रही हैं। इसलिए आश्चर्य घटनाएं घटने पर

भी उसे आश्चर्य नहीं होता है। उसके अन्दर कभी दीनता नहीं आती और न ही कभी वह उदण्ड होता है। वह अपने निरतिशय आनन्द स्वरूप से आनन्दवान होकर स्थित रहता है।

जीवन्मुक्त पुरूष का मन मित्रता आदि गुणों से सम्पन्न होता है तथा उत्तम इच्छाओं और पुर्नजन्म से शून्य होता है। पुर्नजन्म से रहित जो जीवन्मुक्त पुरूष की सत्ता है, वही सत्त्व नाम से कही जाती है। विदेह मुक्त पुरूष का मन जो श्रेष्ठ गुणों का आश्रय रूप है, वह भी विलीन हो जाता है। विदेह मुक्त पुरूष का अरूप चित्त जो सत्त्वस्वरूप है, उसके नष्ट हो जाने पर दृश्य पदार्थ का अस्तित्व ही नहीं रह जाता है अर्थात् संकल्प सहित सम्पूर्ण संसार का अत्यन्त अभाव हो जाता है। इस अरूप चित्त के विनाश की दशा में गुण-अवगुण, चंचलता-अचंचलता, उदय-अस्त, प्रकाश-अंधकार, दिन-रात, दिशाएँ-आकाश, इच्छा-अनिच्छा, भाव-अभाव आदि नहीं रहते हैं और न ही किसी प्रकार की रचना रहती है अर्थात् ऐसे पुरूष बुद्धि और संसार से पार हो गये होते हैं।

जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञानी पुरूष का चित्त ईश्वर में अथवा निजस्वरूप में रमा रहता है, इसलिए वह नित्य तृप्त, शांतचित्त पुरूष परमात्म स्वरूप में ही स्थित रहता है। जीवन्मुक्त पुरूष कभी भी सिद्धियों की ओर नहीं जाता है, क्योंकि सिद्धियों में उसे कोई विशेषता नजर नहीं आती है। भले ही कोई भी सिद्धि हो, वह तन्त्र-मंत्र, तप और प्राणायाम द्वारा प्राप्त की जाने वाली सिद्धियाँ जैसे- आकाश गमन, पर-काया प्रवेश आदि को महत्व नहीं देता है। जीवन्मुक्त पुरूष की विशेषता यही है कि वह अज्ञानी व संसारी पुरूषों के समान नहीं रहता है। इस पुरूष का मन सभी वस्तुओं में आसक्ति के त्याग के कारण राग रहित व निर्मल बना रहता है तथा विषय भोगों में नहीं फँसता है। जो पुरूष समस्त बाहरी चिन्हों से रहित तथा तत्त्वज्ञान से दीर्घकालिक सांसारिक भ्रम की निवृत्ति हो जाने के कारण परम् शांति को प्राप्त कर चुका है, उस तत्त्वज्ञानी पुरूष में काम-क्रोध, लोभ-मोह, आदि का नित्य अभाव रहता है।

जब अभ्यासी जीवन्मुक्त अवस्था में प्रवेश करता है, तब क्या सोचता है तथा कैसे अनुभूत करता है, कुछ शब्दों में लिखता हूँ– "अब मैं सूक्ष्म शरीर रूपी बन्धन से सर्वथा मुक्त हो गया हूँ। इस सूक्ष्म शरीर में वासनाएँ, सूक्ष्म-भूत, कर्म, अविद्या, इन्द्रियाँ और बुद्धि आते हैं। ईश्वर का अंश होने से ईश्वर में (सगुण ब्रह्म में) प्रविष्ट हो गया हूँ। अंश और अंशी का अभेद होने के कारण समस्त उपाधियों से रहित परमात्मा स्वरूप ही हूँ। मैं कूटस्थ, शुद्ध और व्यापक हूँ। जैसे- जल में मिलाया हुआ जल नष्ट न होते हुए तद्रूप हो जाता है, वैसे ही मैं सर्वभाव से आनन्द स्वरूप चेतन परमात्मा में प्रविष्ट होकर तद्रूप हो गया हूँ। पाप और पुण्य से रहित चिन्मय स्वरूप परमात्मा मैं ही हूँ"।

इस प्रकार के लक्षणों से युक्त, प्रकृति के गुणों से अतीत, सर्वव्यापक ब्रह्म का ध्यान करना चाहिए तथा निष्काम भाव से अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए। इस तरीके से ब्रह्म विषयक अभ्यास करने से अभ्यासी का मन ब्रह्म में विलीन होने लगता है। मन के विलीन हो जाने पर उसे स्वयं ही अपने आत्मस्वरूप का अनुभव हो जाता है। आत्मा की अनुभूति होने पर सम्पूर्ण दु:खों का अन्त होकर आत्मा में आनन्द का अनुभव होने लगता है तथा आत्मा स्वयं ही अपने आप परमानन्द परमात्मा स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। अब वह जानने लगता है कि उसकी बुद्धि सर्वथा निर्मल हो गई है। उसके लिए यह संसार चिरकाल तक स्थिर नहीं रह सकता है।

जीवन्मुक्त पुरूषों द्वारा सदैव ईश्वर द्वारा प्रेरित कर्म ही किए जाते हैं। फिर भी ऐसे पुरूषों को कभी ऐसे कर्म नहीं करने चाहिए जिनमे दोष हों। विशेषकर निषिद्ध कर्म कभी नहीं करना चाहिए। जब जीवात्मा संकल्पों से रहित हो जाता है, तब ब्रह्म के लक्षणों से युक्त हो जाता है तथा उसकी सभी इन्द्रियाँ शांत हो जाती है। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि से परे जो जीवात्मा है, उससे भी परे जो ब्रह्म है, वही मेरा वास्तविक स्वरूप है, ऐसा निर्णय करके जब जीवात्मा एकत्व भाव से ध्यान करता है, तब वह अपने निजस्वरूप अर्थात् परमात्म स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। जब जीवात्मा कर्तृत्व, भोक्तृत्व तथा ज्ञातृत्व से तथा सम्पूर्ण देह आदि उपाधियों से एवं सुख-दुःख से रहित हो जाता है, तब तब जीवात्मा सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में तथा आत्मा में सम्पूर्ण भूतों को अभेद रूप से देखने लगता है। जीवन्मुक्त संसार से जब सर्वथा मुक्त हो जाता है, तब वह जाग्रत स्वप्न अवस्थाओं से रहित होकर तुरीयावस्था में स्थित रहता है तथा आत्मानन्द में प्रवेश करता है।

आत्मज्ञानी पुरूष में निज स्वरूप अनुसंधान के सिवाय अन्य कोई चेष्टा ही नहीं होती है। आशा, चेष्टा, कामना आदि से रहित तथा बर्हिमुखी वृत्ति से शून्य जो अखण्ड आत्म ज्ञान है, वह शांत अनन्त आत्मस्वरूप ही है। ऐसे जीवन्मुक्त पुरूष को शरीर आदि का अनुसंधान होना कैसे सम्भव हो सकता है? समस्त कामनाओं से रहित हुआ जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरूष द्रष्टा, दृश्य और दर्शन की त्रिपुटी से रहित है तथा निराकार ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार कर चुका है। समस्त वस्तुओं की इच्छाएँ ही सुदृढ़ बन्धन हैं और उनकी उपेक्षा ही मुक्ति है। जो उस मुक्ति में विश्राम कर रहा है, उसे किसी वस्तु की इच्छा नहीं हो सकती है। जीवन्मुक्त पुरूष केवल अपने यथार्थस्वरूप में ही स्थित रहता है, उसकी समस्त इच्छाएँ व चेष्टाएँ शांत हो चुकी हैं। उसे अपने शरीर का भान नहीं रहता है तथा अपने मोह को सर्प की केंचुली के समान त्याग दिया है। जब तक उसका स्थूल शरीर जीवित है, तब तक वह वासना शून्य होकर कर्म करता रहता है।

जीवन्मुक्त पुरूष की चेष्टाएँ प्रारब्ध कर्मों में इच्छा शून्य तथा व्याकुलता से रहित होती हैं। तत्त्वज्ञानी पुरूष को इस संसार का जीवन बांस की तरह बाहर व अन्दर से शून्य, रसहीन तथा वासना रहित प्रतीत होता है। जिसकी इस संसार में रूचि नहीं होती है तथा हृदय में जिसे अदृश्य चेतन ब्रह्म ही अच्छा लगता है, उसने अपने भीतर व बाहर से शांति प्राप्ति कर ली है, वह इस संसार से पार हो गया है। मन का इच्छा से रहित हो जाना ही ब्रह्म प्राप्ति है। मन को जैसी शांति इच्छा त्याग कर देने से होती है, वैसी शांति ढेरों उपदेशों के सुनने से भी उपलब्ध नहीं होती है। इच्छा की उत्पत्ति से जैसा दुःख प्राप्त होता है, वैसा दुःख तो नरक में भी नहीं मिलता है। इसलिए इच्छा मात्र को ही दुःख दायक चित्त कहते हैं, और उस इच्छा की शांति मोक्ष कहलाता है। विषय भोग संसार रूपी महान रोग है, भाई-बन्धु आदि सुदृढ़ बन्धन हैं। धन-सम्पत्ति महा अनर्थ के कारण हैं, ऐसा समझकर अपने आत्मा में ही शांति लाभ करना चाहिए। जैसे-सुषुप्त अवस्था में पुरूष को जाग्रत का भान नहीं रहता है, वैसे ही ब्रह्म स्वरूप में स्थित पुरूष को जगत् का भान नहीं होता है। इस संसार में फँसे पुरूष को ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान ही नहीं रहता है, परन्तु जिसका चित्त पूर्णतया शांत हो गया है तथा जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञानी है, वह ब्रह्म और जगत् के प्रकाशमान रूप को वैसे ही जानता है, जैसे जाग्रत और स्वप्न द्रष्टा को क्रमशः उनके रूप की जानकारी रहती है। तत्त्वज्ञानी पुरूष को सम्पूर्ण अपरा-प्रकृति (संसार) के यथार्थ रूप का वास्तविक ज्ञान हो जाता है, जिससे उसका चित्त अत्यन्त शुद्ध होकर भली-भाँति शांत हो जाता है।

जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञानी पुरूष को ब्रह्म के विषय में भली-भाँति ज्ञान हो जाता है। ऐसा पुरूष चाहे जंगल में रहे अथवा शहर में, उसके लिए दोनों समान हैं। अभ्यास के लिए एकांत अर्थात् जंगल ज्यादा उपयुक्त होता है, ऐसी मेरी अनुभूति है, क्योंकि एकांत में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं होता है। व्यवधान न आने से आगे का मार्ग प्रशस्त होने में आसानी हो जाती है। जहाँ तक हमारी अनुभूति है, जिस प्रकार से मैंने जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त की है, उसके अनुसार अभ्यासी को समाज के सम्पर्क में आना होगा। जब तक वह समाज के सम्पर्क में नहीं आएगा, तब तक इस अवस्था में परिपक्वता नहीं आएगी। समाज में व्यवहार भी करना होगा, इस अवस्था में जो व्यवहार करता है वह निष्काम भाव से होता है। उसे किसी प्रकार की आसक्ति नहीं होती है, क्योंकि उसने स्थूल शरीर से लेकर जीवात्मा तक का ज्ञान अभ्यास के द्वारा प्राप्त कर लिया है। ऐसी अवस्था में आसक्ति का कोई मतलब नहीं रह जाता है। इसलिए आसक्ति रहित होकर संसार में व्यवहार करता है। संसार में व्यवहार करते समय उसे अपमान, निन्दा, कष्ट आदि सहने होते हैं, अगर ऐसा नहीं करेगा तो चित्त में पूर्ण निर्मलता कैसे आएगी। चित्त पूर्णत: निर्मल और स्वच्छ हो जाए इसके लिए समाज से अपमान, निन्दा व कष्ट सहना आवश्यक है। जो अभ्यासी इन सबसे डरता है, वह

जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त नहीं कर सकता है। बहुत से बुद्धिमान अभ्यासी अपना अपमान जानबूझ कर करवाते हैं। संसारी मनुष्य इस विषय में नहीं जान पाता है कि योगी पुरुष संसारी मनुष्यों से कैसा व्यवहार चाहता है। जीवन्मुक्त पुरूष को संसार से जितना कष्ट मिलेगा, उससे चित्त की मलिनता, जो पूर्व जन्मों में आसक्ति व मोह के कारण आई है, स्वच्छ होने लगती है तथा निर्गुण ब्रह्म में अवस्थित होने के लिए माया के कुछ आवरण पार करने होते हैं। इन आवरणों को पार करने के लिए अभ्यास करना होता है तथा संसार में व्यवहार करके अपमान आदि का भोग करना होता है, तब अभ्यासानुसार बहुत समय में आवरणों को पार कर पाता है। मैंने जीवन्मुक्त पुरूषों के लिए लिखा है कि उन्हें चित्त स्वच्छ करने के लिए संसार में व्यवहार करना चाहिए अथवा करते हैं, फिर जीवन्मुक्त का अर्थ ही क्या हुआ। जब वह जीवन्मुक्त ही है, तो संसार में व्यवहार करना, अपनी निन्दा, अपमान करवाना आदि ऐसा क्यों? मैं यह बताना चाहता हूँ कि जीवन्मुक्त अवस्था एक ही बार में एक ही समय में मिल जाए ऐसा नहीं होता है। यह अवस्था धीरे-धीरे प्राप्त होती है। इसका कोई निश्चित समय तय नहीं है कि जीवन्मुक्त अवस्था कितने वर्षों में परिपक्व होती है। यह अभ्यासी के अभ्यास तथा पूर्व जन्मों के संस्कारों पर निर्भर करता है। जो जीवन्मुक्त पुरुष पूर्ण रूप से परिपक्व है, उसने तो सगुण व निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है। परन्तु जिन योगियों ने यह अवस्था परिपक्व नहीं की है तथा परिपक्वता के लिए अभ्यास कर रहे हैं, उनके लिए ये शब्द लिखे हैं। उन्हें संसार के व्यवहार में आना होगा, सारे कष्टों को सहना होगा, क्योंकि उन्हें यह अवस्था प्राप्त करनी है। जब सम्मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, तथा सुख-दुःख में किसी प्रकार के भेद की अनुभूति न हो, दोनों अवस्थाओं में अर्थात् सम-विषय में एक जैसी ही अनुभूति हो अर्थात् इन दोनों अवस्थाओं से परे की अवस्था प्राप्त हो जाए।

जीवन्मुक्त पुरूष अगर जंगल में रहे तो वहाँ के जीव-जंतु भी उसके मित्र बन जाते हैं। हिंसक पशु भी जब तक उसके पास रहेगा अथवा उसकी निश्चित सीमा के अन्दर रहेगा, उस समय हिंसा छोड़ देगा। ऐसे महापुरुष के द्वारा जंगल की निश्चित सीमा में ऐसा वातावरण बन जाता है कि मनुष्य और पशुओं के अंतःकरण में हिंसक वृत्तियाँ उठती ही नहीं हैं। जीवन्मुक्त पुरूष अगर विशाल राज्य में भी रहता हो, तो वहाँ का विशाल जनसमुदाय से भरा हुआ स्थान भी शून्य- सा हो जाता है। विपत्तियाँ उसके लिए सम्पत्तियाँ हो जाती हैं। उसके लिए असमाधि भी समाधि ही है तथा दुःख महान सुख ही है। वाणी का व्यवहार भी मौन है और कर्म भी अकर्म है। जाग्रत अवस्था में रहता हुआ भी जाग्रत में नहीं है, क्योंकि निर्विकल्प आत्मा में उसकी सुदृढ़ स्थिति है। वह जीवित रहता हुआ भी देहाभिमान से शून्य रहने के कारण मृत्यु के ही तुल्य है। वह सारे व्यवहार का पालन करता है तो कर्म करने के अभिमान से कि "मैं

कर्म कर रहा हूँ", रहित होने के कारण कुछ भी नहीं करता है। वह रसिक होकर भी अत्यन्त विरक्त है। ऐसा पुरूष करूणा से रहित होता हुआ भी सबको अपना मित्र मानकर सबके प्रति प्रेम भाव रखता है। निर्दयी होकर भी वह अत्यन्त करूणा से भरा हुआ है, तृष्णा से परे होकर भी सबके कल्याण की तृष्णा रखता है, शोक और भय से शून्य होकर भी वह दूसरों का दुःख देखकर शोक युक्त दिखाई देता है तथा निजानन्द अथवा ब्रह्मानन्द का रसिक होकर भी वह संसारी मनुष्यों से अत्यन्त विरक्त रहता है। उसे यदि किसी प्रकार की कोई वस्तु मिल भी जाए तो भी उसे किसी प्रकार की कोई आसक्ति नहीं होती है तथा अप्राप्त वस्तु के लिए वह कोई इच्छा नहीं रखता है। अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थ के प्राप्त हो जाने पर उसे किसी प्रकार का सुख अथवा दुःख नहीं होता है। सभी अवस्थाओं में सुख-दुःख से रहित होकर सदा एक-सा स्थित रहता है। ऐसे महापुरूष शुभ कर्मों के अतिरिक्त निषिद्ध कर्म कभी नहीं करते हैं और न ही ईश्वर इच्छा के विपरीत कभी चेष्टा करते हैं।

जीवन्मुक्त पुरूष किसी मनुष्य अथवा वस्तु से कभी आसक्त नहीं होता है और न ही किसी से अकस्मात विरक्त होता है। आजकल बहुत से सन्त महात्मा भिन्न–भिन्न तरीकों से धन अर्जित करते हैं अथवा धन अर्जित करने का प्रयास करते रहते हैं, परन्तु जीवन्मुक्त पुरूष कभी धन अर्जित करने के लिए संसार से याचना नहीं करते हैं, क्योंकि उसके सभी प्रकार के राग समाप्त हो गये हैं। परन्तु ऊपर से वह राग से युक्त सा दिखाई देता है। वह ईश्वर से प्रेरित होकर जो भी कार्य करता है, उससे जो सुख-दुःख की प्राप्ति होती है, उस सुख-दुःख से सर्वथा अछूता रहता है। परन्तु सांसारिक मनुष्यों को दिखाई देता है कि उसे सुख-दुःख की अनुभूति हो रही है। मगर वह सुख-दुःख, हर्ष-विषाद करके वशीभूत नहीं होता है। कभी-कभी व्यवहार में देखा जाता है कि तत्त्वज्ञानी पुरूष दूसरों के सुख से प्रसन्न तथा दूसरे के दुःख से दुःखी हो जाते हैं। परन्तु सत्य तो यह है कि वह न तो प्रसन्न होते हैं और न दुःखी ही होते हैं, क्योंकि अन्दर से समतापूर्ण स्वभाव का परित्याग कभी नहीं करते हैं। ऐसा महापुरूष संसार रूपी मंच का अभिनेता है। उसके परिवार के जो भी सदस्य स्त्री-पुत्र, भाई-भतीजा आदि चाहे जो भी हों, उसे ज्ञात है कि ये सब पानी के बुलबुलों के समान हैं। इसलिए ऐसा तत्त्वज्ञानी पुरूष कभी भी मोह रूपी स्नेह नहीं करता है, परन्तु स्नेह से रहित होते हुए भी भावुक मनुष्यों के समान यथा-योग्य स्नेह वृत्ति का दर्शन करता हुआ व्यवहार करता है। बाहर से सभी प्रकार के व्यावहारों को करता हुआ अन्दर वह सर्वथा शांत रहता है।

जीवन्मुक्त पुरूष अपने कर्मों के फलों में आसक्ति से शून्य होते हुए भी राग युक्त पुरूषों के समान व्यवहार करते हैं तथा चित्तरूपी दर्पण समस्त दृश्य प्रपंच को वे कपट भूमि के समान असत् देखते है। जिस

प्रकार स्वप्न में देखी गई वस्तु जाग्रत अवस्था में असत् मानी जाती है, उसी प्रकार वे जगत् को असत् मानते हैं। जो ज्ञानी महात्माओं के समान शुद्ध चित्त वाले होते हैं, वे ही तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त पुरूषों के विषय तथा महत्व को भली प्रकार समझ सकते हैं। संसारी पुरूष उनके विषय में नहीं जान पाते हैं। तत्त्वज्ञानी पुरूष अपने सर्वोत्तम भाव को छिपाए रहते हैं। वह अपने गुणों के विषय में दूसरों को नहीं बताते हैं और न ही किसी प्रकार दूसरों के सामने प्रदर्शन ही करते हैं, क्योंकि वह वासना से शून्य, द्वैतहीन तथा अभिमान से रहित होते हैं। ऐसे तत्त्वज्ञानियों को एकांत में रहना, अपमान, बुरी स्थिति तथा साधारण मनुष्यों द्वारा की गई अवहेलना आदि, ये सब बातें उन्हें सुख पहुँचाती है। ऐसा सुख बड़ी-बड़ी समृद्धियों के द्वारा भी प्राप्त नहीं किया जा सकता है। तत्त्वज्ञानियों का जो निरतिशय आनन्द है, ऐसा आनन्द सिर्फ अनुभूति के द्वारा ही जानने योग्य है। महत्व की बात है कि ऐसा आनन्द तत्त्वज्ञानी पुरूष भी नहीं देखता है, वह तो केवल अपने निज प्रकाश स्वरूप से अनुभूत करता है। जिनके चित्त में अहंकार विद्यमान है, ऐसे पुरुष प्रयास करते हैं- 'लोग मेरे गुणों को जाने और मेरी पूजा करें', परन्तु तत्त्वज्ञानी का चित अहंकार से रहित है। उनके अंतःकरण में इस प्रकार की इच्छा का प्राकट्य कभी नहीं होता है कि लोग उनके गुणों को जाने और उनकी पूजा करें। ऐसे वासना-शून्य तत्त्वज्ञ महापुरूष सिद्धियों को प्राप्त करने के लिए क्रियायों का साधन कैसे करेंगे? इस प्रकार की सिद्धियाँ उनके लिए अत्यन्त तुच्छ और मन का भ्रम मात्र है।

जीवन्मुक्त पुरूष का शरीर भी देह धर्म से युक्त रहता है, परन्तु उस शरीर के अन्दर जो उसका चित्त है, वह अचल रहता है अर्थात् चित्त में किसी प्रकार का स्पन्दन नहीं होता है। स्पन्दन न होने के कारण उसके चित्त में भोग रूपी संस्कार ही विद्यमान नहीं होते हैं। उसका चित्त सत्त्वगुण प्रधान होता है। इसलिए उसके चित्त में देह धर्म व्याप्त नहीं होता है। जीवन्मुक्त पुरूष को चाहे जितनी कठोर सज़ा दी जाए अथवा उसे राज सिंहासन पर बैठा दिया जाए, इन दोनों अवस्थाओं में उसे किसी प्रकार का न तो दुःख का अनुभव होता है और न ही सुख का अनुभव होता है। जीवन्मुक्त पुरूषों का शरीर आदि कभी आत्मभाव से अलग नहीं होता है। इसलिए जीवन्मुक्त कभी भी मरा हुआ मरता नहीं है, रोता हुआ रोता नहीं है और हँसता हुआ हँसता नहीं है, अर्थात् मृत्यु आदि अवस्थाओं में दुःख और प्रसन्नता से युक्त नहीं होता है। यदि व्यवहार के समय देखा जाए तो जीवन्मुक्त पुरूष तथा अज्ञानी संसारी मनुष्यों के आचरण एक जैसे ही देखे जाते हैं। जीवन्मुक्त पुरूष वीतराग होते हुए भी उनका व्यवहार रागियों के समान ही होता है। सबसे महत्वपूर्ण बात है कि बन्धन और मोक्ष का कारण तो वासना और वासना शून्यता ही है।

जीवन्मुक्त पुरूष सदैव ज्ञान में स्थित रहते हैं तथा अपने निज स्वरूप में सदा रमते रहते हैं। ऐसी दशा में वह कर्मों का परित्याग नहीं करते हैं, क्योंकि उन्हें कर्मों से कोई प्रयोजन नहीं है। अमुक कर्म त्याज्य है या अमुक कर्म करने योग्य है, जीवन्मुक्त की दोनों प्रकार की ये दृष्टियाँ क्षीण हो गई हैं। फिर उसे कर्मों का त्याग करने से क्या मतलब है अथवा कर्म का आश्रय होने की क्या आवश्यकता है? तत्त्वज्ञानी पुरूष को न तो कर्मों के त्याग करने से कोई प्रयोजन है और न ही कर्मों के आश्रय लेने से, इसलिए जीवन्मुक्त पुरूष जैसा कर्म करते आए हैं, उसी प्रकार वह भी वैसे ही कर्म कर रहा है। जब तक स्थूल शरीर जीवित है, तब तक शरीर निश्चित रूप से चेष्टा करता रहता है। इसलिए जीवन्मुक्त पुरूष को चाहिए कि वह शांतभाव से चेष्टा करता रहे। उसे कर्मों का त्याग करने की क्या आवश्यकता है? सदा निर्विकार रहने वाली समता युक्त बुद्धि से जब कर्म किया जाता है, तो वह निर्दोष ही होता है। ऐसे कर्मों से संसार का कल्याण ही होता है, क्योंकि उसके सारे कर्म मनुष्य के कल्याण के लिए ही होते हैं। सांसारिक दृष्टि से देखने पर ऐसे कर्मों के विषय में भले ही समझा ना जा सकता है, परन्तु कभी-कभी इन कर्मों में गूढ़ रहस्य भी छुपा होता है। ईश्वर कभी भी अपनी कृपा प्रत्यक्ष आकर नहीं करेगा। जब उसे कुछ करना होता है, वह ऐसे ज्ञानी पुरूषों को ही माध्यम बनाता है, क्योंकि ज्ञानी पुरूष संसार और ईश्वर के बीच की कड़ी होता है। वह ईश्वर के अति नजदीक रहता है तथा संसार में भी व्यवहार करता है।

जीवन्मुक्त पुरूष कभी भी किसी प्रकार के नियमों को नहीं मानते हैं और न ही किसी प्रकार के नियमों का अनुसरण ही करते हैं। वह अपना जीवन किस प्रकार व्यतीत करते हैं, यह निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता है, क्योंकि वह पूर्ण रूप से स्वतंत्र होते हैं। यदि पूर्वकाल की ओर ध्यान दें तो पढ़ने को मिलेगा कि बहुत से जीवन्मुक्त पुरूष गृहस्थ में रहते थे तथा बहुत से घने जंगलों में कुटिया या आश्रम बनाकर भी रहते थे। कुछ जीवन्मुक्त गुफ़ाओं में रहते थे, परन्तु कुछ ऐसे भी थे जिनका न तो कोई आश्रम था और न ही गुफ़ाओं में रहते थे, उनका तो कोई रहने का ठिकाना ही नहीं था। आज यहाँ तो कल दूसरी जगह ठहर जाते थे। राजा जनक ऐसे ही जीवन्मुक्त पुरूष थे, वे अपने राज्य का कार्य भार भी देखते थे। राजा जनक तत्त्वज्ञानी, वीतराग, अनासक्त चित्त वाले थे। वे चिन्ता रहित होकर राज्य करते थे। इससे पहले पूर्वकाल में प्रहलाद, बलि आदि बहुत से राजा हो गये जो जीवन्मुक्त होते हुए भी राज्य का कार्य भी देखते थे। कुछ जीवन्मुक्त महापुरूष अपने अंतःकरण में सम्पूर्ण फलों की आसक्तियों का त्याग कर सब प्रकार का नित्य कर्म करते हुए तत्त्वज्ञानी होकर भी अज्ञानियों की भाँति स्थित रहते थे। कुछ समतापूर्ण हृदय वाले राग-द्वेष का परित्याग करने के लिए शत्रु-मित्र से भरे हुए अपने गाँव या शहर को छोड़कर अन्य गाँव या शहर में चले जाते हैं। मैं यहाँ पर अपने विषय में दो शब्द लिख रहा हूँ– जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त करने

के लिए मैं अपने गुरू जी का आश्रम छोड़कर अपने गाँव आ गया। गाँव आकर गाँव से बाहर जंगल में कुटिया बना ली तथा कठोर अभ्यास करने लगा। यहाँ आने पर हमारा खूब उपहास किया गया, निन्दा की गई तथा बहुत लोगों ने तो घोर अपमान भी किया, परन्तु मैंने कभी भी ऐसे पुरूषों के साथ शत्रुता का व्यवहार नहीं किया। गाँव वालों ने हमें बहुत उल्टा-सीधा बोला, परन्तु मैं दुःखी नहीं हुआ तथा अपने मार्ग से विचलित भी नहीं हुआ। हमारे परिवार वालों ने हमें खूब कष्ट दिए, परन्तु मैं सदा मुस्कराता रहा। सच तो यह है कि मैं अपने परिवार वालों और गाँव वालों का ऋणी हूँ कि इन्होंने जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त करने में हमारी सहायता की है। अगर ये सभी ऐसा व्यवहार न करते तो शायद हमें अभी ये अवस्था प्राप्त नहीं होती। ये लोग हमारी जितनी निन्दा करते, जितना हमारा अपमान करते थे, उतनी ही हमारे चित्त की मलिनता नष्ट होती रहती थी। मलिनता नष्ट होने पर चित्त में निर्मलता आती थी। जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त करने के लिए चित्त का निर्मल होना आवश्यक है। इस कार्य में हमारे घर वालों तथा गाँव वालों ने बड़ा सहयोग दिया। अतः ईश्वर उन सभी का कल्याण करे।

हमें इतने शीघ्र जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त कैसे हुई? इसका मैं मूल मंत्र बता रहा हूँ। शायद ही कोई अभ्यासी ऐसे शब्द लिखता हो। सबसे पहली और महत्वपूर्ण बात है- योग्य गुरू का होना। गुरू उसी को बनाना चाहिए जिसने अभ्यास के द्वारा आत्म साक्षात्कार किया हो तथा योग की बारीकियों को जानता हो। ऐसा गुरू मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। फिर कठोर अभ्यास किया जाना आवश्यक है। बस एक ही लक्ष्य होना चाहिए और वह लक्ष्य है- ईश्वर प्राप्ति अथवा निज स्वरूप में स्थित होना। आपके मार्ग में बहुत से अवरोध आएंगे। आपका मन, प्राण व शरीर विरोध करेंगे अर्थात् आपका सहयोग करने में आना-कानी करेंगे, परन्तु आप कठोरता बरतें, डरें बिल्कुल नहीं। कुछ अवरोध आपके गुरूदेव दूर कर देंगे, परन्तु याद रखना कि सारे अवरोधों को आपको स्वयं पार करना है, गुरू सिर्फ मार्गदर्शक है। अब मूल मंत्र पर आ जाएँ- आपका परिवार, मित्र, रिश्तेदार आदि आपके नहीं हैं, यह सब भ्रम मात्र है। इसलिए मन से इनके प्रति पूर्ण आसक्ति हटा दो। यदि आवश्यक हो तो इनके साथ अपना कर्तव्य करते रहें। आपका सबसे बड़ा दुश्मन आपका ही अहंकार है। अहंकार को नष्ट करने के लिए आप अपना अपमान करवाएं, निन्दा सुने। यदि आपके पास इज्जत नाम की कोई चीज है तो उसे दूर फेंक दीजिए, क्योंकि यही इज्जत आपके योगमार्ग में बहुत बड़ा अवरोध डालेगी। अपमान व निन्दा करने वाले मनुष्यों को सदैव मन के अन्दर आशीर्वाद दें, क्योंकि वह आपका कार्य कर रहे हैं। सारे जीवन इसी प्रकार कठोर अभ्यास करते रहें, तब भी जरूरी नहीं कि आपको तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जाएगा, क्योंकि तत्त्वज्ञान प्राप्त करने वाले साधक का आखिरी जन्म होता है। अविद्या नष्ट हो जाने के कारण वह फिर जन्म ग्रहण नहीं करता है। ऐसा साधक

जब जन्म लेता है, तो प्रकृति को पहले से ही व्यवस्था करनी होती है। वर्तमान जन्म साधारण नहीं होता है, वह प्रकृतिलय अवस्था प्राप्त किए हुए रहता है। ऐसी योग्यता वाले साधक को तत्त्वज्ञान प्राप्त होना निश्चित है। उसे स्वयं प्रकृति भी मना नहीं कर सकती है, क्योंकि प्रकृति भी ईश्वरीय नियमों के अधीन है। ईश्वर के नियम के अनुसार उस जीव को मुक्त करना आवश्यक है।

जिस अभ्यासी ने कठोर अभ्यास तथा संयम के द्वारा जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त कर ली है, उसके लिए अपनी भौतिक देह, स्त्री-पुत्र आदि समस्त संसार व सांसारिक पदार्थ आभास मात्र ही दिखाई देते हैं अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ जीवात्मा इस संसार को तथा भौतिक देह को स्वप्न के समान मानता हुआ अपने देह में रहता है। यह संसार लम्बी अवधि तक बने रहने वाले स्वप्न के समान मिथ्या ही दिखता है। जिसकी अज्ञानमयी निद्रा टूट गई हो तथा वासनात्मक भावना नष्ट हो गई हो, वह तत्त्वज्ञानी पुरूष इस संसार को देखता हुआ भी नहीं देखता है अर्थात् इसे मिथ्या समझता है। जीवों के स्वभाव से यह कल्पित संसार, जिसकी मोक्ष होने तक निरन्तर प्राप्ति होती रहती है, अज्ञानी के अन्दर ही यह संसार सदा सत्यस्थित रहता है। यह संसार भौतिक दृष्टि से देखने पर सब प्रकार से सम्पन्न दिखाई देता है, मगर वास्तव में यहाँ कुछ भी सम्पन्न नहीं है। यह आभास मात्र एवं मन का विलास मात्र है, अतः असत् रूप में स्थित है। इस संसार का स्वरूप मन का संकल्प मात्र ही है, इसलिए मनुष्य मन की कल्पना को सम्पूर्ण शक्ति से सम्पन्न समझते हैं। अभ्यास के द्वारा जब साधक निरूद्धावस्था को प्राप्त करता है, तब वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने पर अर्थात् संकल्प के शांत हो जाने पर तेल से रहित दीपक की भाँति सब कुछ शांत हो जाता है। उस समय संसार आदि का अस्तित्व नहीं रह जाता है। इस अवस्था को प्राप्त हुए जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञानी पुरूष को संसार की वास्तविकता का ज्ञान हो जाता है। उसे सर्वत्र व्यापक ब्रह्म की ही अनुभूति होती है। मगर जब वह व्युत्थान अवस्था में आता है, तब उसे संसार दिखाई देता है तथा जीवन्मुक्त पुरूष व्युत्थान अवस्था में ही व्यवहार करता है। व्यवहार के समय वह अपने स्वरूप में स्थित होता है। संसार के स्वरूप का ज्ञान होते हुए भी संसार में व्यवहार करता रहता है। इस व्यवहार का उस पर किसी प्रकार का असर नहीं पड़ता है।

जीवन्मुक्त पुरूषों के चित्त में प्रारब्ध वश उत्पन्न होने वाली उपदेश की इच्छाओं को इच्छाएँ नहीं कहा जा सकता है। जीवन्मुक्त पुरूषों द्वारा उपदेश आदि समस्त कर्म निष्काम होते हैं। उन्होंने अभ्यास के द्वारा अपने चित्त के आवरणों एवं विक्षेपों को नष्ट कर दिया है अर्थात् अविद्या रूपी मल को दूर कर दिया है। उनके चित्त में चेतन तत्त्व का प्रकाश प्रकाशित होने के कारण सदैव ब्रह्म में स्थित रहते हैं। ऐसी

अवस्था में किया गया कोई भी कर्म निष्काम भाव वाला ही होता है। बहुत से जीवन्मुक्त पुरूषों ने सांसारिक पुरूषों तथा संसार का उद्धार करने के लिए उपदेश तथा योग का प्रचार किया। भगवान् श्री कृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश दिया था। मुमुक्षु द्वारा मोक्ष की इच्छा से किया गया कर्म निष्काम ही होता है।

मानव जीवन का चरम लक्ष्य जब इसी देहावस्था में प्राप्त होता है, तब उसे जीवन्मुक्त अवस्था कहते हैं। जीवन्मुक्त अवस्था हजारों पुरूषों में किसी एक को ही प्राप्त हो पाती है। ज्ञान मार्ग में ज्ञान को सात प्रकार की अलग-अलग भूमियों में बांटा गया है। अभ्यासी जब ज्ञान की चौथी भूमि में प्रवेश करता है, तब उसे जीवन्मुक्त कहा जाने लगता है। मगर सिर्फ चौथी भूमि को प्राप्त किए हुए साधक जन्म-मृत्यु से रहित हो जाएँ यह कहना भी सम्भव नहीं है। इसलिए पाँचवी, छटवीं और सातवीं भूमि को प्राप्त किए हुए साधक को ही जीवन्मुक्त कहना उचित होगा। चौथी भूमि में अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान का उदय होता है। सिर्फ अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान से ही जीवन्मुक्त हो पाना सम्भव नहीं है। ज्ञान की इस चौथी अवस्था में ब्रह्म (सगुण) का साक्षात्कार होता है। ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर भी जब तक देह और चित्त पर इसका प्रभाव न पड़े, तब तक जीवन्मुक्त कैसे हो सकता है? देह और चित्त पर इस ज्ञान का प्रभाव पड़ने के लिए देह-शुद्धि तथा चित्त-शुद्धि होना आवश्यक है। इन दोनों की शुद्धि के बिना मनोमय स्थिति में ब्रह्म साक्षात्कार का अनुभवात्मक विकास नहीं होता है। इस साक्षात्कार का ज्ञान जब तक जीवन में प्रतिफलित न हो, तब तक जीवन्मुक्त अवस्था का उदय कैसे होगा? जीवन्मुक्त अवस्था में देहमय और मनोमय अनुभव में ब्रह्म का अनुभव अनुस्युत होना चाहिए, इसके लिए देह और मन की स्वच्छता आवश्यक है। जब साधक की प्राणायाम, मंत्र-जाप व अल्प सात्विक भोजन के द्वारा अभ्यास से भूत-शुद्धि और चित्त-शुद्धि सम्यक रूप से हो जाती है, तब साधक ज्ञान की चौथी भूमि से पाँचवी भूमि में प्रवेश करता है। अब यह कहा जा सकता है कि वास्तव में जीवन्मुक्त का उदय हुआ है।

ज्ञान की पाँचवी भूमि पर जब साधक समाधि अवस्था में होता है, तब उसे संसार का भान बिल्कुल नहीं रहता है। व्युत्थान अवस्था अर्थात् व्यवहार काल में आसक्ति, कामना, संकल्प और कर्तृत्व अभिमान से रहित होकर समस्त कर्म होते रहते हैं। उसके द्वारा जो कर्म होते हैं, वह शास्त्रानुसार ही होते हैं। इस अवस्था में जीव और जगत् की सत्ता बाधित हो जाती है, मगर निष्काम भाव से व्यवहार चलता रहता है। अज्ञानी पुरूष इस जगत् को सत्य रूप में अनुभव करता है, मगर इस अवस्था को प्राप्त साधक का यहाँ पर वह भाव नहीं रहता है। उसे जगत् स्वप्न के समान दिखाई देता है। छटवीं भूमि पर अभ्यास से

अन्त:करण में संसार के पदार्थों का अत्यन्त अभाव-सा हो जाता है जिससे उसे अन्दर-बाहर के पदार्थों का स्वयं भान नहीं होता है। इसलिए इस अवस्था को चित्त की 'पदार्थभावना' भूमिका कहते हैं। इस अवस्था को तुरीयावस्था भी कहते हैं। ज्ञान की सातवीं भूमि पर जगत् अनुभव में नहीं आता है अर्थात् साधक को लौकिक ज्ञान का अत्यन्त अभाव हो जाता है, क्योंकि चित्त ब्रह्म में तद्रूप हो जाता है। इसलिए जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्त अवस्था अलग-अलग रूप में पकड़ना मुश्किल या असम्भव-सा लगने लगता है। इसी कारण यह अवस्था तुरीयातीत कही जाती है।

जीवन्मुक्त अवस्था में केवल प्रारब्ध कर्म रहता है। प्रारब्ध कर्म जब भोग के द्वारा समाप्त हो जाता है, तब इसके बाद भी कुछ समय तक प्रारब्ध संस्कार के वेग के द्वारा साधक का शरीर सधा रहता है। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि साधक मनुष्य देह से मुक्त होने के साथ-साथ पूर्णत्व में स्थित हो गया है। यदि देह त्यागते समय योग के लिए उपयोगी संस्कार शेष रह गये हैं तो ईश्वर के लोक में जाकर उन संस्कारों को (व्युत्थान के) अभ्यास के द्वारा क्षय करना पड़ता है। जो साधक भक्ति प्रधान होते हैं, केवल वही ईश्वर के लोक में दास्य भाव से रहते हैं। मगर ज्ञान मार्ग का साधक प्रभु-भाव को प्राप्त होता है। फिर अभ्यास के द्वारा धीरे-धीरे कैवल्य (मोक्ष) को प्राप्त होता है। जो जीवन्मुक्त साधक पूर्णता प्राप्त करने के लिए 'अन्वय योग' का अभ्यास करता है, वह समस्त विश्व को अपने विभव के रूप में अनुभव किया करता है। इस अवस्था में आत्मा शिव रूप से प्रकाशित होता है, क्योंकि सम्पूर्ण जगत् शिव और शक्ति का प्रकाश रूप ही है। जीवन्मुक्त पुरूष शिव स्वरूप है, इसलिए यह सम्पूर्ण जगत् उसके सामने अपनी शक्ति के खेल के रूप में अनुभूत करता है। मुक्त पुरूष को सर्वत्र शिवरूप का भान होता है। जीवन्मुक्त पुरूषों द्वारा ही ज्ञान तन्तु का संरक्षण होता है। इस जगत् का सब प्रकार का अधिकार कार्य जीवमुक्त पुरूष द्वारा सम्पन्न होता है। ऐसे पुरूष कर्तृत्व हीन होने के कारण कर्मातीत होते हैं। इस कारण वे सब कार्यों में ईश्वर के प्रतिनिधि होते हैं। चितिशक्ति रूपी बल प्राप्त होने पर साधक सम्पूर्ण जगत् को आत्मसात करने में सामर्थवान हो जाता है। चितिशक्ति के प्रभाव से देह, प्राण आदि के आवरण हट जाते हैं तथा अनावृत्त स्वरूप प्रकाशित हो जाता है, तब सम्पूर्ण जगत् अपने स्वरूप के साथ अभिन्न रूप से प्रकाशित हो जाता है। जैसे अग्नि के प्रज्वलित होने पर सम्पूर्ण दाह्य पदार्थ भस्म हो जाते हैं, उसी प्रकार वह प्रकाशित होने पर समस्त विषयों के बन्धन ध्वस्त कर देता है। विश्व को अपने साथ अभिन्न रूप में देखने का नाम ही चिदानन्द की प्राप्ति है। इस अवस्था के प्राप्त हो जाने पर भी व्युत्थान अवस्था में संसार में व्यवहार के समय भी चैतन्यता के साथ साधक को एकात्मता का निरन्तर बोध बना रहता है।

साधक को जब जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त हो जाती है, तब उसे स्थूल से लेकर प्रकृति-पर्यन्त समस्त पदार्थ जड़ रूप में दिखाई देने लगते हैं। इन्द्रियाँ, प्राण, मन, अहंकार आदि जड़ रूप में समाधि अवस्था में दिखाई देते हैं, तब साधक को ज्ञात हो जाता है कि स्थूल पंचभूतों से लेकर प्रकृति-पर्यन्त पदार्थ जड़ रूप में हैं। ये समस्त वस्तुऐं कच्ची मिट्टी की बनी हुई दिखाई देती है। संसारी मनुष्य कच्ची मिट्टी का बना हुआ चौपाया जानवर-सा दिखाई देता है। इसका अर्थ है कि जिस जीवात्मा को ईश्वर का साक्षात्कार नहीं हुआ है अथवा तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है, वह ज्ञान से रहित जीव पशु के समान होता है, क्योंकि चारों गुण (भय, मैथून, आहार, निद्रा) उस मनुष्य में पाये जाते हैं, उन्हीं चारों गुणों के कारण पशु और मनुष्य में कोई अंतर नहीं होता है। इसलिए भगवान् शंकर को 'पशुपति' कहा जाता है। पशुपति का अर्थ है 'जीवों का स्वामी'। एक गुण ओर होता है, जिसे पाँचवां गुण कहते हैं। उसका नाम 'विवेक' है। जिस मनुष्य ने योग के अभ्यास के द्वारा अपना विकास कर लिया है, उसे विवेक (विवेक-ख्याति) की प्राप्ति होती है। विवेक के परिपक्व होने पर जीव का जीवत्व नष्ट हो जाता है तथा जीवत्व के नष्ट होने पर चित्त निर्मल होकर व्यापक हो जाता है, तब वह जीवेश्वर बन जाता है।

जब अभ्यासी को सम्पूर्ण अपरा-प्रकृति जड़ रूप में दिखाई देने लगे तब उसे व्यतिरेक योग कहते हैं। व्यतिरेक योग में चेतन तत्त्व से (आत्मा से) जड़ तत्त्व (अपरा-प्रकृति) अलग दिखाई देती है। ऐसी अवस्था में आत्मा द्रष्टा रूप से अपने से भिन्न जड़ प्रकृति को देखता है। इसे जीवन्मुक्त अवस्था कहते हैं, क्योंकि अभ्यासी जन्म ग्रहण करने से मुक्त हो जाता है। मगर वह अवस्था स्थूल शरीर त्यागने के पश्चात ही प्राप्त होती है, इसलिए इसे पूर्णत्व की प्राप्ति नहीं कहते हैं। पूर्णत्व तब होता है जब जड़ प्रकृति चेतन्य रूप में दिखाई देने लगे, क्योंकि ब्रह्म से उत्पन्न हुई प्रकृति ब्रह्म स्वरूप ही होती है। इसलिए साधक को पूर्णता प्राप्त करने के लिए सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्म रूप में देखना होगा। इस अभ्यास को अन्वय योग (समता) कहते हैं। अन्वय योग के पूर्ण हो जाने पर सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म-स्वरूप दिखाई देता है, तब साधक स्वयं ब्रह्म स्वरूप हो जाता है। अन्वय योग तभी पूर्ण होगा जब साधक सम्पूर्ण प्राणी जाति को अपना ही स्वरूप समझेगा। यदि किसी ने उसके साथ बुरा व्यवहार कर भी दिया तो उसे अतःकरण से माफ करना होगा अर्थात् सम्पूर्ण प्राणी जाति से प्रेम करना होगा, तब साधक का चित्त ईश्वर के चित्त में अन्तर्मुखी होकर ईश्वर की इच्छा तथा साधक की इच्छा एक हो जाएगी। इसे शिवत्व की प्राप्ति कहते हैं।

ऋतम्भरा-प्रज्ञा

निर्विचार समाधि की उच्चतम अवस्था में जब योगी कठोर संयम करता हुआ निरन्तर अभ्यास करता है, तब समाधि में प्रवीणता होने पर चित्त में निर्मलता बढ़ती है। जब रजोगुण व तमोगुण का आवरण नष्ट हो जाता है, तब सत्त्वगुण की प्रधानता में स्वच्छ स्थिर रूप में एकाग्रता का प्रवाह बहने लगता है, तब योगी के चित्त में प्रज्ञा का उदय होता है। इस प्रज्ञा में अविद्या आदि का नामो निशान भी नहीं होता है। इसलिए इस प्रज्ञा की प्राप्ति पर योगी को प्रकृति-पर्यन्त सूक्ष्म पदार्थों का साक्षात्कार होता है। इन सूक्ष्म पदार्थों का साक्षात्कार सामान्य रूप व विशेष रूप दोनों प्रकार के रूपों का होता है। जब योगी को स्थूल-भूत से लेकर प्रकृति-पर्यन्त तक का साक्षात्कार हो जाता है, तब उसे प्रकृति के विषय में ज्ञान हो जाता है। यह ज्ञान प्रकृति के दोषों को दिखलाने वाला होता है। इन्द्रियाँ सिर्फ स्थूल पदार्थों का ही ज्ञान करा सकती है। मगर पंच तन्मात्राओं, अहंकार, चित्त व प्रकृति के सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान इन्द्रिय द्वारा नहीं हो सकता है, क्योंकि यह सूक्ष्म पदार्थ अतीन्द्रिय हैं। इसलिए सूक्ष्म पदार्थों में इन्द्रियों की पहुँच नहीं होती है। इन सूक्ष्म पदार्थों के सामान्य रूप का ही ज्ञान आगम व अनुमान के द्वारा किया जा सकता है। इन सूक्ष्म पदार्थों के विशेष रूप का ज्ञान आगम व अनुमान के द्वारा नहीं हो सकता है। इसलिए ऋतम्भरा-प्रज्ञा प्रत्यक्ष, आगम व अनुमान की प्रज्ञा से उत्कृष्ट है। यह आगम-अनुमान प्रज्ञा का बीज रूप (ऋतम्भरा-प्रज्ञा) है। ऋतम्भरा-प्रज्ञा आगम-अनुमान का आश्रय है।

किसी भी पदार्थ के विशेष रूप का साक्षात्कार ऋतम्भरा-प्रज्ञा द्वारा ही किया जा सकता है। प्रत्येक पदार्थ के दो रूप होते हैं– **एक-** सामान्य रूप, **दूसरा-** विशेष रूप। सामान्य रूप वह है जो इस प्रकार के सभी पदार्थों में पाया जाता है तथा विशेष रूप वह है जो पदार्थ का (स्वयं का) अपना-अपना रूप है। जैसे– यदि किसी स्थान पर गायों का झुंड हो तो हम सभी कहते हैं कि इस झुंड में सभी गायें है। उस झुंड में सभी गायों की आकृति (रूप) गायों के समान है, इसलिए सभी को गाय कहा गया है। यह गाय का सामान्य रूप है। अब विशेष रूप के विषय में समझ लें– यह सभी जानते है कि झुंड में सभी गायें है, मगर उन गायों का रूप भिन्न-भिन्न है। इस भिन्न-भिन्न रूप के कारण हर गाय एक दूसरे से अलग-अलग रूप की है। इसे ही विशेष रूप कहते हैं। यहाँ पर एक ही गाय के दो रूप हो गये हैं। सामान्य रूप के द्वारा गाय का निर्णय किया गया कि यह गाय है, अन्य कोई और पशु नहीं होगा। मगर विशेष रूप के द्वारा ढेरों गायों में प्रत्येक गाय का अलग-अलग रूप में निर्णय किया गया है अर्थात् विशेष रूप के द्वारा प्रत्येक गाय का अलग-अलग रूपों में ज्ञान हुआ है, इसे प्रत्यक्ष ज्ञान भी कहते हैं। यह प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा स्थूल

वस्तुओं के ही प्रत्यक्ष रूप को दिखला सकता है, मगर सूक्ष्म और अतीन्द्रिय पदार्थों को ये इन्द्रियाँ नहीं दिखला सकती हैं। तन्मात्राओं, अहंकार, चित्त, प्रकृति आदि सूक्ष्म पदार्थों में प्रत्यक्ष की भी पहुँच नहीं है। आगम और अनुमान से पदार्थों के केवल सामान्य रूप का ही पता लग सकता है। इनके विशेष रूप को नहीं बतला सकते हैं।

यथार्थ ज्ञान के साधन को प्रमाण कहते हैं। जैसे- देखने से, सुनने से, अनुमान से, वेद-शास्त्रों के पढ़ने से आदि। इस प्रकार से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, यदि यह ज्ञान यथार्थ है तो प्रमा कहलाता है और अगर ज्ञान यथार्थ नहीं है तो अप्रमा कहलाता है। जिस वृत्ति से प्रमा (यथार्थ ज्ञान) उत्पन्न होता है उसका नाम प्रमाण है। यह प्रमा आँख आदि इन्द्रियों द्वारा, सूक्ष्म ज्ञान द्वारा व सुनने के द्वारा चित्त में वृत्ति के रूप में रहता है, फिर यह प्रमा वृत्ति से उत्पन्न होता है। इसलिए उस चित्त वृत्ति को प्रमा का साधन होने से प्रमाण कहा जाता है। यह तीन प्रकार की होती है– **एक-** प्रत्यक्ष प्रमाण**, दो-** अनुमान प्रमाण**, तीन-** आगम प्रमाण**।**

प्रत्यक्ष प्रमाण– ग्रहण रूप प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय (नाक, जीभ, आँख, कान, त्वचा) और ग्राह्य रूप उनके विषय (गन्ध, रस, रूप, शब्द, स्पर्श) क्रमशः एक ही साधन से उत्पन्न हुए हैं, इसलिए इन दोनों की आपस में आकर्षण शक्ति होती है। जैसे- जब किसी रूप वाले विषय का आँख से सम्बन्ध होता है, तब आँख की किरण उस पर पड़ती है और चित्त का उस विषय से राग होने के कारण नेत्रों के द्वारा उस स्थान पर पहुँच कर उस रूप वाला हो जाता है। चित्त का उस रूप वाले आकार का हो जाने को प्रत्यक्ष प्रमाण वृत्ति कहते हैं। उसमें जो 'मैं इस रूप विषयक हो जाने वाला हूँ', चेतन तत्त्व का प्रतिबिम्ब उस प्रत्यक्ष प्रमाण वृत्ति द्वारा वृत्ति जैसा विषयकार होना प्रत्यक्ष प्रमा (यथार्थ ज्ञान) कहलाता है।

अनुमान प्रमाण– सूक्ष्म से सूक्ष्म का सम्बन्ध सामान्य रूप से निश्चय करके जो यथार्थ ज्ञान (प्रमा) प्राप्त हो उसे अनुमान प्रमा कहते हैं। धुआँ अग्नि के बिना नहीं होता है, इसलिए धुंऐ से अग्नि का अनुमान होता है अर्थात् जहाँ-जहाँ धुआँ होगा, वहाँ-वहाँ अग्नि होगी। ऐसे ही जहाँ गन्ध होती है, वहीं पृथ्वी तत्त्व होता है। जहाँ पृथ्वी तत्त्व होता है, वहाँ गन्ध होती है। यह जो ज्ञान प्राप्त होता है वह अनुमान प्रमाण है। अनुमान प्रमाण के द्वारा जो चित्त वृत्ति बनती है, वह अनुमान वृत्ति होती है। अनुमान वृत्ति द्वारा जो चेतन-मय तत्त्व का प्रतिबिम्ब रूप ज्ञान है, वह अनुमान प्रमा (यथार्थ ज्ञान) कहलाता है अर्थात् धर्म-धर्मी, कार्य-कारण सम्बन्ध से जो यथार्थ ज्ञान उत्पन्न हो, उसे अनुमान प्रमा कहते हैं।

आगम प्रमाण– वेद-शास्त्रों के पढ़ने अथवा सुनने से, महापुरूषों के द्वारा, गुरू के उपदेश द्वारा तथा प्रवचन सुनने से (जो भ्रम, दोषों आदि से रहित हो) जो ज्ञान प्राप्त होता है, उससे जो चित्त के परिणाम

द्वारा चित्त की वृत्ति बनती है, उसे आगम प्रमाण वृत्ति कहते हैं। उस वृत्ति द्वारा जो चेतनतत्त्व का प्रतिबिम्ब रूप ज्ञान होता है, उसे आगम प्रमा कहते हैं।

जीवात्मा को प्रमाता कहते हैं और वृत्ति को प्रमाण कहते हैं। चेतन में अर्थाकार वृत्ति का प्रतिबिम्ब प्रमा (यथार्थ ज्ञान) कहा जाता है। प्रतिबिम्बित वृत्तियों के विषय को प्रमेय कहा जाता है। यहाँ पर आत्मा को प्रमाता मानना सर्वथा गलत है, क्योंकि आत्मा सभी धर्मों से रहित है तथा प्रमाता नाम प्रमा रूप धैर्य विशिष्ट का है। जीवात्मा ही प्रमा का आधार होने से प्रमाता है। ज्ञान आत्मा का गुण व धर्म नहीं है मगर आत्मा ज्ञान स्वरूप वाला है। आत्मा निगुर्ण होने से द्रष्टा ही है, इसलिए आत्मा प्रमा का (यथार्थ ज्ञान का) द्रष्टा ही है, प्रमाता नहीं है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण के सम्बन्ध में लिखा गया है। प्रत्यक्ष प्रमाण के सम्बन्ध में प्रमाण, प्रमा, प्रमाता, प्रमेय और साक्षी (द्रष्टा) भेद से पाँच पदार्थ माने जाते हैं जो इस प्रकार हैं:-

प्रमाण- जब चित्त किसी बाह्य विषय का आकार ग्रहण कर लेता है, तो आकार विशिष्ट परिणाम को प्रमाण कहते हैं। जैसे- सेब को देखकर चित्त सेब का आकार धारण कर लेता है। इसमें चित्त ने जो सेब का आकार धारण किया है, तो चित्त में आकार रूप परिणाम हुआ। इस आकार रूप परिणाम को प्रमाण कहेंगे।

प्रमा- जीवात्मा को जो सेब का ज्ञान हुआ कि यह सेब है, इस यथार्थ ज्ञान को प्रमा कहते हैं।

प्रमेय- यहाँ पर चित्त वृत्ति का विषय सेब है, इसलिए सेब का प्रमेय कहेंगे।

प्रमाता- चित्त में प्रतिबिम्बित चेतन अर्थात् जीवात्मा प्रमा का आश्रय है, इसलिए जीवात्मा को प्रमाता कहा जाता है।

साक्षी- चित्त की वृत्ति का द्रष्टा शुद्ध चेतन तत्त्व है। यहाँ पर आत्मा को द्रष्टा या साक्षी कहेंगे।

इस ऋतम्भरा-प्रज्ञा के प्राप्त होने पर योगी के अन्दर प्रज्ञालोक का विकास होने लगता है। यह प्रज्ञालोक ईश्वर का लोक या परा-प्रकृति है, क्योंकि निर्विचार समाधि की प्रवीणता होने पर योगी के चित्त में निर्मल प्रज्ञा का उदय होता है। निर्विचार समाधि की उच्चतम अवस्था में रज व तम के मल रूप आवरण का क्षय होने पर प्रकाश स्वरूप चित्त का सत्त्वगुण की प्रधानता से रज व तम से रहित स्वच्छ स्थिरता रूपी एकाग्र प्रवाह निरन्तर बहता रहता है, इसी को प्रवीणता कहते हैं। इससे योगी को प्रकृति पर्यन्त सब पदार्थों का एक ही काल में साक्षात्कार हो जाता है। इसी को प्रज्ञालोक के विकास की शुरूआत या प्रज्ञा प्रसाद भी कहते हैं। योगी के चित्त में जो प्रज्ञा का उदय होता है उसका नाम ऋतम्भरा-प्रज्ञा है। यह प्रज्ञा का यथार्थ नाम है, क्योंकि 'ऋत' का अर्थ सत्य होता है और 'भरा' का अर्थ है– 'धारण

करने वाली'। यह प्रज्ञा सत्य को धारण करने वाली होती है, इसमें भ्रांति एवं अविद्या आदि की गन्ध भी नहीं होती है। इसलिए 'सत्य' और 'ऋत' का भेद समझ लेना चाहिए। आगम और अनुमान के द्वारा जो यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है उसे सत्य कहते हैं। यही सत्य संसारी पुरूषों (अज्ञानी) को प्राप्त होता रहता है। जो सबीज समाधि की परिपक्व अवस्था में प्रज्ञा के द्वारा पदार्थ के विशेष रूप का साक्षात्कार करने से प्राप्त होता है अर्थात् 'ऋत' का अर्थ- साक्षात् अनुभूत सत्य है। यह सिर्फ उच्च कोटि के योगियों को ही प्राप्त हो सकता है, अन्य संसारी पुरूषों को प्राप्त नहीं हो सकता है।

ऋतम्भरा-प्रज्ञा से ही सूक्ष्म पदार्थों के विशेष रूप का साक्षात्कार हो सकता है, अन्य किसी प्रमाण से नहीं हो सकता है। इसलिए यह ऋतम्भरा-प्रज्ञा विशेष विषयक होने से आगम-अनुमान प्रज्ञा से भिन्न और उत्कृष्ट है और यही परम्-प्रत्यक्ष है। यह आगम और अनुमान का बीज है अर्थात् आगम और अनुमान इसके आश्रय है। ऋतम्भरा-प्रज्ञा इनके आश्रय नहीं है, इसे विवेक-ख्याति के समान समझना चाहिए।

जब योगी के चित्त में प्रज्ञा का उदय होता है, तब प्रज्ञा समाधि अवस्था में पूर्व दिशा में अत्यन्त विशाल आकार में सूर्य के समान गोलाकार अत्यन्त तेजस्वी प्रकाश के रूप में दिखाई देती है। तब ऐसा लगता है मानों सूर्य अपना विशाल रूप धारण करके प्रकट हो गया हो। जब इसका प्रथम दर्शन होता है, तब प्रज्ञा बहुत सुन्दर दिखाई देती है। उस समय यह अपने स्वरूप (आकार) से सम्पूर्ण पूर्व दिशा को ढके रहती है तथा प्रज्ञा की किरणें चारों ओर फैली दिखाई देती हैं। योगी को जैसे ही प्रज्ञा का दर्शन होता है, तब सूर्य के समान आकार वाली प्रज्ञा का प्रकाश (प्रकाश किरणें) योगी के मुख पर पड़ता है, जिससे योगी की आँखें चकाचौंध हो जाने के कारण समाधि तक भंग हो जाती है क्योंकि मेरे साथ ऐसा ही हुआ था। जब पहली बार प्रज्ञा का दर्शन होने पर मेरी समाधि भंग हो गई, तब मैं सोचने लगा कि जिसका हमें दर्शन हुआ है, वह क्या है? फिर हमने समाधि के माध्यम से इस विषय में जानकारी प्राप्त की और तब हमें मालूम हुआ कि 'यह ऋतम्भरा-प्रज्ञा है'। इसके दर्शन के बाद योगी के अन्दर स्वमेव ज्ञान प्रकट होने लगता है तथा सभी प्राणियों के प्रति भाव बदलने लगता है, क्योंकि योगी को ज्ञान के द्वारा मालूम पड़ जाता है कि मुझमें और समस्त प्राणियों में कोई अंतर नहीं है, सभी प्राणी एक समान हैं। मगर अपने-अपने कर्मों के कारण अपना-अपना भोग विभिन्न प्रकार के शरीरों को धारण करके कर रहे हैं। जिस प्रकार ज्ञान का प्रकाश हमारे चित्त पर पड़ रहा है, उसी प्रकार ज्ञान का प्रकाश सभी जीवों के चित्त पर भी पड़ रहा है। मगर ऋतम्भरा-प्रज्ञा का साक्षात्कार सिर्फ मानव शरीर द्वारा ही किया जा सकता है।

योगी को समाधि अवस्था में जब प्रज्ञा का साक्षात्कार होता है, तब योगी के स्वभाव में परिवर्तन होना शुरू हो जाता है। योगी में सूक्ष्म रूप से समस्त प्राणियों के प्रति द्वेष-भाव समाप्त होने लगता है, क्योंकि उसे मालूम हो जाता है कि उसमें और सम्पूर्ण प्राणियों में कोई फर्क नहीं है। अज्ञानता के कारण साधारण मनुष्य अपने आपको पहचान नहीं पा रहा है। इस अवस्था में योगी कुछ समय के लिए अपने ज्ञान रूपी स्वरूप में खोया रहता है, तब उसे भौतिक जगत् की (जाग्रत अवस्था की) कुछ भी याद नहीं रहती है अर्थात् इस अवस्था में कुछ भी कार्य करता है, या देखता है तो वह भूल-सा जाता है। उसे व्यवहार की दशा का भान नहीं होता है। यह अवस्था कुछ समय के लिए आती है। अभ्यासानुसार यह अवस्था बढ़ती रहती है। शुरूआत में प्रज्ञा का स्वरूप बड़े गोलाकार रूप में दिखाई देता है, जिस प्रकार सूर्योदय के समय सूर्य बड़े आकार में दिखाई पड़ता है। जैसे-जैसे योगी निरन्तर समाधि का अभ्यास करता है, वैसे-वैसे यह प्रज्ञा पूर्व दिशा में ऊपर की ओर अंतरिक्ष में आगे की ओर गति करती हुई दिखाई देती है। जैसे-जैसे प्रज्ञा आगे की ओर गति करती दिखाई देगी, वैसे-वैसे प्रज्ञा का प्रकाश भी अधिक तेज होता जाता है। जिस प्रकार सूर्य ग्रीष्म ऋतु में अंतरिक्ष में ऊपर की ओर जाता है, उसी प्रकार उसका प्रकाश भी बढ़ता जाता है। समाधि का अभ्यास जैसे-जैसे ज्यादा बढ़ेगा, उतनी ही चित्त की निर्मलता बढ़ती जाती है। जितनी चित्त की निर्मलता अधिक होगी उतनी ही प्रज्ञा अधिक प्रकाशित होती जाती है। एक निश्चित सीमा के बाद प्रज्ञा का प्रकाश नहीं बढ़ता है, जबकि सूर्य का प्रकाश दोपहर के बाद धीमा पड़ने लगता है। मगर प्रज्ञा का प्रकाश अपनी सर्वोच्च अवस्था में पहुँचकर सदैव एक सा रहता है। अभ्यासी जब प्रज्ञा को देखता है, तब उसे दिशाओं का ज्ञान रहता है।

प्रज्ञा के साक्षात्कार के बाद योगी को समाधि अवस्था में विशेष प्रकार की क्रियाएँ होनी शुरू हो जाती हैं। ये क्रियाएँ सिर्फ उसी योगी को होती है जिसे प्रारम्भिक अवस्था में (जब उसने अभ्यास करना शुरू किया था) क्रियाएँ, मुद्राएँ अथवा बन्ध लगे होंगे। जब कोई साधक ध्यान करना आरम्भ करता है तो कुछ समय बाद क्रियाएँ, मुद्राएँ व बन्ध लगने शुरू हो जाते हैं। फिर एक निश्चित अवस्था के बाद ये सभी क्रियाएँ, मुद्राएँ व बन्ध आदि नहीं लगते हैं। कुछ साधकों को क्रियाएँ, मुद्राएँ आदि नहीं होती है। मैं सिर्फ उन साधकों के लिए लिख रहा हूँ जिन्हें प्रारम्भिक अवस्था में ऐसा हुआ है। जब प्रज्ञा के उदय होने के बाद उसे प्रारम्भिक अवस्था वाली क्रियाएँ होनी शुरू हो जाती है, तब वह सोचता है कि इस अवस्था में यह क्रियाएँ क्यों हो रही हैं, यह अवस्था तो कई वर्ष पहले की थी। यदि उसका मार्गदर्शक (सद्गुरु) अभी भौतिक देह में है तो वह सब कुछ समझा देगा। मगर यह जरूरी नहीं है कि मार्गदर्शक ने भी यह अवस्था प्राप्त की हो। वास्तव में इस अवस्था को प्राप्त कितने योगी वर्तमान समय में होंगे, यह कहना मुश्किल है।

अगर इस अवस्था में उसका (अभ्यासी का) मार्गदर्शक नहीं है, तो निश्चय ही वह सोच में पड़ जाएगा। वह सोचेगा कि मेरे अभ्यास में कहाँ पर त्रुटि हो गई जो यह अवस्था उपस्थित हो गई है। जब उसे कभी-कभी प्रज्ञा का दर्शन होगा, तब वह सोचेगा कि मेरा अभ्यास सही मार्ग पर जा रहा है, क्योंकि प्रज्ञा का दर्शन हो रहा है तथा साधना के आरम्भ वाली अवस्था भी आ जाती है।

जब हमारी भी यह अवस्था आई थी, तब मैं सोच में पड़ गया कि मेरे द्वारा अभ्यास में कहाँ त्रुटि हो गई है। मैंने अभ्यास को कम भी नहीं किया है, फिर यह अवस्था क्यों आ गई, इस विषय में किससे पूछूँ? मैं जानता था कि मेरे अभ्यास में कहीं भी गड़बड़ी नहीं है। मेरे विषय में सिर्फ वही योगी बता सकता था जिसने यह अवस्था प्राप्त की हो। मगर इस अवस्था को प्राप्त किए हुए योगी हमें कहाँ मिलेगा, मैं यह नहीं जानता था, क्योंकि इस अवस्था को प्राप्त किए हुए योगी अपने आपको प्रकट नहीं करेगा। भारतवर्ष में जो बड़े-बड़े योगी विख्यात हैं, उन्हें भी यह अवस्था प्राप्त नहीं है। ऐसे योगी निर्बीज-समाधि व कैवल्य के विषय में खूब प्रवचन करेंगे, मगर उन्हें स्वयं यह अवस्था प्राप्त नहीं होती है, क्योंकि मैं ऐसे योगियों से मिल चुका हूँ। कुछ योगी तो अपने आप को भगवान् तक कहलवाते हैं। ऐसे योगी किसी भी रूप में तत्त्वज्ञानी नहीं हो सकते हैं, क्योंकि तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के बाद कोई भी योगी अपने आपको भगवान् नहीं कहलवायेगा। मैं यह सब सोचकर कठोर अभ्यास में लगा रहा कि कभी-न-कभी अवश्य मुझे इस विषय में जानकारी प्राप्त हो जाएगी।

जब मैंने अपने आपको और अधिक संयमित करके कठोर अभ्यास करना शुरू किया, तब समाधि पर बैठते ही हमारी भस्त्रिका चलनी शुरू हो जाती थी। फिर महायोग मुद्रा भी लगती तथा बाद में तीनों बन्ध भी लग जाते थे। मुझे ऐसा लगता था कि मैं 15 वर्ष पूर्व की अवस्था में पहुँच गया हूँ, मगर फिर अपने आप समाधि लग जाती थी तथा कभी-कभी प्रज्ञा का दर्शन भी हो जाता था। जब मैं समाधि अवस्था में प्रज्ञा को देखता था तब मालूम पड़ जाता था कि हमारा अभ्यास सही मार्ग पर जा रहा है, क्योंकि प्रज्ञा अंतरिक्ष में ओर आगे की ओर दिखाई पड़ती थी। समाधि के बाद मैं सोचता था कि प्रज्ञा आगे की ओर जा रही है। जैसे-जैसे प्रज्ञा आगे की ओर जाती उसका प्रकाश भी अत्यधिक तेज होता जाता था। मैं समझ गया की हमारा अभ्यास सही दिशा की ओर जा रहा है। मगर इस अवस्था में क्रियाएँ व मुद्राएँ होने का अर्थ नहीं समझ सका।

जब हमारे चित्त में प्रज्ञा का उदय हो गया, उसके कुछ दिनों बाद प्रकृति के सूक्ष्म पदार्थों के सामान्य रूप का व विशेष रूप का अर्थात् दोनों रूपों का साक्षात्कार होने लगा। पाँचों तत्त्वों के साक्षात्कार के विषय में मैंने अपने अनुभवों में लिखा हैं। आप हमारे अनुभवों में उन पदार्थों के साक्षात्कार

के विषय में पढ़ सकते हैं। हम पहले भी लिख चुके हैं कि सूक्ष्म पदार्थों के विशेष रूप का साक्षात्कार सिर्फ समाधि की उच्चतम अवस्था में किया जा सकता है। इस अवस्था को हर योगी प्राप्त नहीं कर सकता है। यह अवस्था निश्चित ही कई जन्मों तक लगातार योग का अभ्यास करने के बाद तथा अपने कर्माशयों को काफी मात्रा में भोगकर नष्ट करने के पश्चात ही प्राप्त की जा सकती है। मुझे प्रज्ञा का साक्षात्कार पहली बार 18 फरवरी 2001 को हुआ था। इसके कुछ दिनों बाद सूक्ष्म पदार्थों के विशेष रूप का साक्षात्कार होने लगा। जैसे– पृथ्वी तत्त्व के सामान्य रूप व विशेष रूप का, जल तत्त्व के सामान्य व विशेष रूप का, अग्नि तत्त्व के सामान्य व विशेष रूप का, वायु तत्त्व के समान्य रूप व विशेष रूप का साक्षात्कार, आकाश तत्त्व के सामान्य रूप व विशेष रूप का साक्षात्कार हुआ। इसके अतिरिक्त अस्मिता, चित्त, तीनों तापों, दूध व प्राकृतिक बन्धन का साक्षात्कार हुआ।

ऋतम्भरा-प्रज्ञा के उदय होने के बाद योगी को समाधि अवस्था में आरम्भिक अवस्था वाली क्रियाएँ व मुद्राएँ होना क्यों शुरू हो जाती है तथा शुरूआत की अवस्था भी उपस्थित हो जाती है। इसका कारण है- योग का अभ्यास करने से पहले योगी का चित्त सिर्फ व्युत्थान के संस्कारों (रजोगुणी व तमोगुणी संस्कार) से युक्त रहता है। जब योगी अभ्यास करता है, तब अभ्यास के समय उसे जो अनुभव होता है, उसके भी संस्कार योगी के चित्त पर पड़ते हैं। ये संस्कार (योगाभ्यास के अनुभव वाले संस्कार) व्युत्थान के संस्कारों से शक्तिशाली होते हैं, क्योंकि समाधि वाली प्रज्ञा (ज्ञान) व्युत्थान की प्रज्ञा (ज्ञान) से अधिक निर्मलता वाली होती है। इस निर्मलता में पदार्थ के सामान्य रूप व विशेष रूप का अनुभव होता है। योगी को जितना तत्त्व का (विशेष रूप का) अनुभव होता है, उतने ही उसके संस्कार (प्रज्ञा वाले) प्रबल होते हैं। इन संस्कारों की प्रबलता में फिर समाधि-प्रज्ञा होती है। इस समाधि प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार व्युत्थान के संस्कारों और इच्छाओं को हटाते रहते हैं अथवा दबाने लगते हैं। जब व्युत्थान के संस्कार दबने लगते हैं, तब उन संस्कारों से उत्पन्न वृत्तियाँ दब जाती हैं। इन वृत्तियों के निरोध होने पर समाधि उत्पन्न होती है। इस समाधि के उत्पन्न होने से समाधि-प्रज्ञा प्रकट होती है। फिर यही क्रम चलने लगता है- समाधि-प्रज्ञा, समाधि-प्रज्ञा से समाधि के संस्कार, इस प्रकार के चक्र के चलने से योगी के आरम्भिक अवस्था वाले संस्कार प्रकट हो जाते हैं। इन आरम्भिक अवस्था वाले संस्कारों के कारण समाधि अवस्था वाली क्रियाएँ होना शुरू हो जाती हैं, फिर निर्विचार समाधि लगती है। निर्विचार समाधि से ऋतम्भरा-प्रज्ञा प्रकट होती है, जिससे निरोध संस्कार होता है। निरोध संस्कार से फिर ऋतम्भरा-प्रज्ञा का प्रकर्ष होता है। इस प्रज्ञा से निरोध संस्कारों का प्रकर्ष होता है। इस प्रकार के चक्र से निरोध के संस्कार शक्तिशाली होकर व्युत्थान के संस्कारों को पूरी तरह से रोक देते हैं।

समाधि के द्वारा योगी के चित्त में रजोगुण व तमोगुण मल रूपी आवरण नष्ट हो जाने पर फिर उत्कर्ष प्रज्ञा की प्राप्ति होती है। फिर अभ्यास के अनुसार उस प्रज्ञा से उत्कृष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है। इससे योगी को प्रकृति में दोष दिखाई देने लगते हैं अथवा प्रकृति के दोषों का ज्ञान हो जाता है। जब योगी को प्रकृति के दोषों का ज्ञान हो जाएगा तो इससे योगी के अन्दर पर-वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। इस पर-वैराग्य से योगी की निर्बीज समाधि का आरम्भ हो जाता है।

विवेक-ख्याति

जब योगी निर्विचार समाधि की उच्चतम अवस्था को प्राप्त करता है, तब समाधि की प्रवीणता प्राप्त होने पर ऋतम्भरा-प्रज्ञा का उदय होता है। प्रज्ञा के उदय होने पर पदार्थों के विशेष रूप का साक्षात्कार होने के बाद विवेक-ख्याति की प्राप्ति होती है। विवेक-ख्याति का अर्थ है- भिन्नता का ज्ञान, अर्थात् आत्मा और चित्त की भिन्नता का ज्ञान विवेक-ख्याति कहलाता है, आत्मा और चित्त में अभिन्नता की संज्ञा अस्मिता कही जाती है। विवेक- ख्याति उत्पन्न होने से योगी को यह मालूम हो जाता है कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि व चित्त मुझसे अलग हैं, मैं चेतनमय तत्त्व आत्मा हूँ। योगी को जब विवेक-ख्याति अवस्था की प्राप्ति होती है, तब उसे चित्त जड़ रूप में अपने से अलग स्पष्ट दिखाई देता है तथा चित्त उर्ध्वमुखी होकर कैवल्य उन्मुख होता हुआ भी दिखाई देता है।

विवेक-ख्याति के उत्पन्न होने से योगी के चित्त पर स्थित क्लेशात्मक कर्माशय समाप्त होने लगते हैं, क्योंकि अभी तक जो अस्मिता क्लेश था उसकी समाप्ति होने लगती है। अविद्या अपने अन्य सभी सहयोगियों के साथ अभ्यासानुसार भुने हुए बीज के समान होने लगती है। इस अविद्या के अन्दर जो सिर्फ नाम मात्र का तमोगुण था, वो इस विवेक-ख्याति वाली वृत्ति को स्थिर रखने का कार्य करता है अर्थात् अब तमोगुणी सत्त्वगुण का सहायक हो जाता है। विवेक-ख्याति निर्विचार समाधि की उच्चतम अवस्था की (चित्त की) एक सात्विक वृत्ति ही है। इस अवस्था में (विवेक-ख्याति में) जो चैतन्य स्वरूप आत्मा का साक्षात्कार होता है, वह आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है, क्योंकि यह स्वरूप (आत्मा का) विवेक-ख्याति द्वारा दिखाया गया है। विवेक-ख्याति स्वयं एक सात्विक सशक्त वृत्ति है, इसलिए इस आत्म-साक्षात्कार को वास्तविक नहीं, बल्कि एक सात्विक वृत्ति ही कहा जाएगा। जिस प्रकार आईने में चेहरा देखने पर आईने वाला चेहरा वास्तविक नहीं होता है, उसी प्रकार यह आत्म साक्षात्कार वास्तविक नहीं है। आगे की अवस्था प्राप्त करने के लिए इस विवेक-ख्याति रूपी वृत्ति से भी आसक्ति हटानी पड़ेगी।

विवेक-ख्याति के द्वारा योगी को जो ज्ञान होता है कि मैं शरीर नहीं हूँ, इन्द्रियाँ नहीं हूँ, मन नहीं हूँ या चित्त नहीं हूँ। यह ज्ञान उपदेश के द्वारा, प्रवचन के द्वारा, शास्त्रों के पढ़ने से तथा अनुमान के द्वारा भी प्राप्त होता है। मगर इस ज्ञान के द्वारा अविद्या से छुटकारा नहीं पाया जा सकता है, क्योंकि मिथ्या ज्ञान वाले संस्कार उसके चित्त में बने रहते हैं। इस कारण रजोगुणी व तमोगुणी वृत्तियाँ सदैव उसके चित्त में प्रकट होती रहती हैं। मगर जब समाधि के अभ्यास से अविद्या व अस्मिता का विरोधी भेदज्ञान (विवेक-ख्याति) प्राप्त होता है, तब अविद्या के नाश होने पर रजोगुणी व तमोगुण रूपी आवरण (मल) नष्ट हो

जाता है। रजोगुण व तमोगुण के मलों के नष्ट होने पर तथा निरन्तर अभ्यास करने से विवेक का प्रवाह निर्मल और शुद्ध हो जाता है। अविद्या भुने हुए बीज के समान होने से बन्धन की उत्पत्ति करने में असमर्थ हो जाती है।

जब योगी को विवेक-ख्याति द्वारा आत्मा और चित्त की भिन्नता का ज्ञान होता है, तब उसके अन्दर की पहले वाली भावना, 'मैं कौन हूँ' समाप्त हो जाती है, क्योंकि उस समय वह चित्त में ही सारे परिणामों को देखता है। फिर अपने आपको चित्त से अलग चेतन स्वरूप, अपरिणामी, ज्ञान स्वरूप के रूप में देखने लगता है। अभी तक जो उसके चित्त का बहाव अज्ञान के मार्ग से होता हुआ सांसारिक विषयों की ओर जा रहा था, अब उसके चित्त का बहाव ज्ञान मार्ग से होकर कैवल्य की ओर जाने लगता है। कभी-कभी इस ज्ञान रूपी मार्ग के बहाव में रजोगुणी वृत्तियाँ उदय होने लगती हैं। इससे योगी को क्लेश की अनुभूति होने लगती है। उसका कारण यह है कि जब योगी के चित्त में आत्मा और चित्त की भिन्नता का ज्ञान प्रबल रहता है, तब तक योगी की प्रवृत्ति कैवल्य की ओर होती है। जब आत्मा और चित्त की भिन्नता के ज्ञान में शिथिलता आने लगती है, तब उसके चित्त में व्युत्थान की वृत्तियाँ प्रकट होने लगती हैं। इन वृत्तियों के कारण योगी को सुख तथा दुःख की अनुभूति होने लगती है। ऐसी अवस्था में योगी को यह जान लेना चाहिए कि अभी विवेक-ख्याति की अवस्था परिपक्व नहीं हुई है, क्योंकि जब योग के अभ्यास के द्वारा विवेक-ख्याति की अवस्था परिपक्व हो जाती है अर्थात् विवेक-ख्याति का निरन्तर प्रवाह बहता रहता है, तब इस निरन्तर प्रवाह को धर्ममेघ समाधि कहते हैं। धर्ममेघ समाधि के विषय में मैं पहले भी लिख चुका हूँ। इसकी पराकाष्ठा पर-वैराग्य है, इस पर-वैराग्य के द्वारा निर्बीज समाधि लगती है। विवेक-ख्याति को सबीज समाधि और निर्बीज समाधि की बीच वाली अवस्था कहा जा सकता है, क्योंकि यहीं तक पुरूषार्थ का विषय है।

आत्मा और चित्त का भेदज्ञान सांसारिक विषयों जैसा नहीं है, बल्कि इससे अत्यन्त विलक्षण है, जिसे शब्दों में नहीं कहा जा सकता है। मगर मैंने अनुभवों में उस अवस्था को लिखा है। इस अवस्था को हर योगी प्राप्त नहीं कर सकता। यह अवस्था बहुत ही कम योगियों को प्राप्त होती है। मैं अपने व्यक्तिगत अभ्यासानुसार लिख रहा हूँ- इस अवस्था को प्राप्त करने में मंत्र योग काफी सहायक होता है। मैंने मंत्र-जाप बहुत ज्यादा किया है। समाधि के बाद जब भी समय मिलता, मैं मंत्र-जाप करने में लग जाता था। अभ्यासी को यह नहीं सोचना चाहिए कि मंत्र-योग हमारा मार्ग नहीं है, मैं क्यों मंत्र-जाप करूँ। मेरा कहना है कि यदि शीघ्र सफलता चाहिए तो अभ्यासी को अवश्य ही मंत्र-जाप का सहारा लेना चाहिए। परन्तु

मंत्र-जाप करने का तरीका सही होना चाहिए तभी उसका फल मिलता है। मंत्र-जाप से चित्त पर स्थित मल व आवरण शीघ्र नष्ट होने लगते हैं अर्थात् चित्त शुद्धि में मंत्र-जाप सहायक होता है।

विवेक-ख्याति तक आत्मा चित्त के आकार का प्रतीत होता है। मगर निर्बीज-समाधि में चित्त आत्मा के आकार वाला हो जाता है। विवेक-ख्याति की निरन्तर बहने वाली अवस्था को जीवन्मुक्त-अवस्था कहते हैं। रजोगुणी व तमोगुणी मल रूपी आवरण नष्ट हो जाने पर जब निर्मल विवेक ख्याति के द्वारा सांसारिक विषयों का ज्ञान उत्पन्न न होने पर निम्नलिखित प्रकार वाली अत्यन्त उच्चावस्था वाली प्रज्ञा का उदय होता है-

1. जो कुछ जानना था, जान लिया अर्थात् जो त्रिगुणात्मक संसार है, वह सब परिणाम, दुःख, ताप (तीनों प्रकार के ताप) वाला है।
2. जो कुछ दूर करना था, दूर कर दिया। आत्मा और चित्त का जो संयोग था, वह दूर कर दिया।
3. जो कुछ साक्षात् करना था, साक्षात् कर लिया। अब साक्षात् करने योग्य कुछ भी शेष नहीं रह गया।
4. जो कुछ करना था कर लिया अर्थात् मोक्ष के उपाय निर्मल विवेक-ख्याति को प्राप्त कर लिया है। यह अवस्था चित्त के व्यवहार की सीमा रेखा है।
5. चित्त ने अपना अधिकार भोग-अपवर्ग पूरा कर लिया, अब उसका कोई अधिकार शेष नहीं रह जाता है।
6. चित्त को बनाने वाले गुण अपने भोग-अपवर्ग का प्रयोजन सिद्ध करके अपने कारण में लय होने के अभिमुख जा रहे हैं, अब इनका कोई प्रयोजन शेष नहीं रहा।
7. गुणों से परे होकर आत्मा शुद्ध परमात्म स्वरूप में अवस्थिति हो रही है।

गीता के तेरहवें अध्याय में भगवान् श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं– *"इस प्रकार प्रकृति और आत्मा के भेद तथा विकार सहित प्रकृति के छूटने के उपाय को जो पुरूष ज्ञान नेत्रों द्वारा (विवेक-ख्याति द्वारा) तत्त्व से जान लेते हैं, वे महात्मा जन पर-ब्रह्म को प्राप्त होते हैं"।*

पर-वैराग्य

ऋतम्भरा-प्रज्ञा के द्वारा उत्पन्न हुए ज्ञान से सांसारिक पदार्थों से वैराग्य उत्पन्न होकर आत्मा में अवस्थिति के साधनों में आने वाले विक्षेपों का अभाव हो जाता है। उस ऋतम्भरा-प्रज्ञा से उत्पन्न ज्ञान रूप संस्कार अन्य दृश्य जन्य संस्कारों का बाधक है। इस प्रज्ञा के संस्कारों द्वारा चित्त की समस्त वृत्तियों के विस्मरण का अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार अभ्यास करते-करते दृश्य का अत्यन्त अभाव हो जाता है। दृश्य के अत्यन्त अभाव से चित्त की वृत्तियों का स्वमेव निरोध होने लगता है अर्थात् चित्त का बाह्य परिणाम होना रुक जाता है अथवा प्रकृति के दोषों का ज्ञान हो जाता है। जब योगी को प्रकृति के दोषों का ज्ञान हो जाएगा, तब उसकी आसक्ति प्रकृति से सर्वथा समाप्त हो जाती है। उससे योगी के अन्दर पर-वैराग्य उत्पन्न होता है।

किसी भी विषय वस्तु को त्यागने का नाम वैराग्य नहीं है, क्योंकि किसी वस्तु को त्यागने के कई कारण हो सकते हैं। रोगी मनुष्य को रोग के कारण विषयों से अरूचि हो जाती है अथवा रोग के उपचार हेतु विषयों से परहेज किया जाता है। इससे यह नहीं कह सकते हैं कि अमुक विषय से वैराग्य ले लिया है। कभी-कभी किसी विषय वस्तु के प्राप्त न होने पर अथवा किसी के आग्रह करने पर किसी वस्तु को त्यागा जा सकता है। ऐसी वस्तुओं को त्यागने से उन वस्तुओं के प्रति वैराग्य नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ऐसी वस्तुओं का भौतिक रूप से भले ही भोग न किया जाए अथवा इन वस्तुओं से दूर रह गया हो परन्तु ऐसी वस्तुओं की तृष्णा सूक्ष्म रूप से उसके अन्दर बनी रहती है। परन्तु ज्ञान के द्वारा विषयों को अत्यन्त दुःख तथा बन्धन रूप समझकर उसे त्याग देना ही वैराग्य है। विषयों को भोगने से कभी भी शांति नहीं मिल सकती है, बल्कि विषयों को जितना भोगा जाएगा उतनी ही उस विषय के प्रति वासना भड़केगी। ऐसा समझें- जिस प्रकार अग्नि में घी डालने से अग्नि अत्यधिक प्रचण्ड रूप धारण कर लेती है, उसी प्रकार विषय भोग की वासनाएँ हैं। इसलिए विषयों को भोगने से वासनाये प्रचण्ड रुप धारण कर लेती हैं। यहाँ पर महान सन्त भर्तृहरि जी के शब्द याद आ गये– **"भोगों को हमने नहीं भोगा, बल्कि भोगों ने हमें भोग लिया। समय नहीं बीता, हम ही बीत गये, तृष्णा जीर्ण नहीं हुई, हम ही जीर्ण हो गये"**।

जब कोई मनुष्य वैराग्य लेगा तब उस मनुष्य को सूक्ष्म रूप से उस वस्तु की प्राप्ति की अवश्य इच्छा होगी। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि वह पहले उन विषयों को भोग चुका होता है। उसके संस्कार चित्त में स्थित रहते हैं, उन्हीं संस्कारों के कारण मनुष्य में उस वस्तु की प्राप्ति की इच्छा चलती है। ऐसा होने पर मनुष्य बार-बार उस वस्तु का चिन्तन करता है। उस समय उसे अपने मन को अन्य किसी कार्य में

लगाना चाहिए ताकि मन अपने कल्याण हेतु चिन्तन कर सके। यदि मन उस विषय का ज्यादा चिन्तन करता हो तो ज्ञान के द्वारा उन विषयों के दोषों को स्मरण कराएं ताकि मन स्वमेव अपना मार्ग बदल दे। धीरे-धीरे इस प्रकार के अभ्यास से निश्चय ही सफलता मिलनी शुरू हो जाएगी। यह अभ्यास तब तक करना चाहिए, जब तक सूक्ष्म रूप से भी चित्त में राग आदि दोषों से निवृत्ति न हो जाए। जब भौतिक और दिव्य वस्तुओं के उपस्थित रहने पर भी मन इन वस्तुओं के प्रति उपेक्षित रहे, तब समझना चाहिए कि अब वैराग्य हो गया है अर्थात् जब उसे यह ज्ञान हो जाए कि ये वस्तुएँ मेरे वशीभूत हैं, मैं इनका वशीभूत नहीं हूँ। इसका दूसरा नाम अपर-वैराग्य है, इस अपर-वैराग्य की प्राप्ति पर सबीज समाधि लगती है। इसकी सबसे ऊँची भूमि विवेक-ख्याति है जिसमें आत्मा और चित्त में भिन्नता का ज्ञान होता है। इस विवेक-ख्याति रूपी वृत्ति से भी आसक्ति का हट जाना पर-वैराग्य कहलाता है।

इस अपर-वैराग्य में भौतिक और सूक्ष्म विषयों से तृष्णा समाप्त हो जाती है, क्योंकि विषयों के दोषों के बारे में जानकारी होने पर अथवा देखकर उन विषयों से लगाव समाप्त हो जाता है, तब योगी में उन विषयों के प्रति विरक्तता आ जाती है। जब योगी सभी प्रकार के विषयों से विरक्त हो जाता है, तब समाधि अवस्था में चित्त एकाग्र होने लगता है। जब चित्त में एकाग्रता के अभ्यास की परिपक्वता आ जाती है, तब उस उच्चतम अवस्था में आत्मा और चित्त की भिन्नता का ज्ञान होने लगता है अर्थात् विवेक-ख्याति की प्राप्ति हो जाती है। आत्मा और चित्त की भिन्नता के ज्ञान में जैसे-जैसे अभ्यास बढ़ता है, वैसे-वैसे चित्त की निर्मलता बढ़ती है। अधिक निर्मलता की अवस्था प्राप्त होने पर विवेक-ख्याति भी चित्त की सात्विक वृत्ति है, ऐसा ज्ञान होने लगता है। अधिक अभ्यास बढ़ने पर विवेक-ख्याति से भी वैराग्य उत्पन्न होने लगता है। इस वैराग्य को ही पर-वैराग्य कहते हैं। इस पर-वैराग्य के उत्पन्न होने पर योगी के चित्त में किसी प्रकार के क्लेश नहीं रह जाते हैं। ऐसा योगी जीवन्मुक्त अवस्था वाला कहा जाता है, क्योंकि उसके लिए संसार चक्र (जन्म-आयु-मृत्यु) टूट चुका होता है। अब उसे संसार में जन्म लेने की आवश्यकता नहीं है। उसे पर-वैराग्य द्वारा निर्बीज-समाधि लगती है।

जब योगी के चित्त में पर-वैराग्य की उत्पत्ति होती है, उस समय योगी के चित्त में विवेक-ख्याति का प्रवाह निरन्तर बहने लगता है। इसी को धर्ममेघ समाधि भी कहते हैं तथा ज्ञान की सर्वोच्च सीमा ही पर-वैराग्य है। इस पर-वैराग्य का फल निर्बीज समाधि है। दूसरे शब्दों में ज्ञान रुपी वृत्ति के निरुद्ध होने के बाद ही निर्बीज समाधि लगती है। जहाँ तक तीनों गुणों का परिणाम है, वहाँ तक तृष्णा रहित हो जाना ही पर-वैराग्य है।

मैं थोड़ा-सा उन योगियों के लिए कुछ शब्द लिख रहा हूँ जो इस अवस्था में निरन्तर अभ्यास कर रहे हैं। उन अभ्यासियों को अच्छी तरह से याद रखना चाहिए कि जब पर-वैराग्य की अवस्था प्राप्त होने वाली होगी, उससे थोड़ा पहले उन योगियों को निश्चय ही समाज से अपमान व कष्ट सहना पड़ेगा। यदि अभ्यासी अपनी समस्त भौतिक वस्तुओं, जिन वस्तुओं का वह स्वामी है, का त्याग कर दे तो अच्छा है वरना उसके अधिकार से सभी वस्तुएँ चली जाएँगी। फिर भी यदि उसने सांसारिक वस्तुओं का त्याग नहीं किया तो उसे पर-वैराग्य वाली अवस्था प्राप्त नहीं होगी। अच्छा तो यही है कि पहले से ही सम्पूर्ण भौतिक पदार्थों का त्याग कर दिया जाए, परन्तु यदि त्याग करने के पश्चात योगी के चित्त में उन त्यागी हुई वस्तुओं के प्रति थोड़ी भी तृष्णा रह गई है तो चिन्ता नहीं करना चाहिए। धीरे-धीरे निरन्तर अभ्यास से सूक्ष्म तृष्णा समाप्त हो जाएगी। यह अवस्था उन योगियों को कष्टदायी होती है जो कुछ-न-कुछ भौतिक वस्तुओं के स्वामी है। इसका मतलब यह नहीं है कि योगी ने समस्त वस्तुओं का त्याग तो कर दिया है, मगर वह अच्छे आश्रम में जाकर सुख का भोग करने लगे। यह उचित नहीं है, क्योंकि मैंने बहुत से आश्रमों में सन्यासियों को सुख भोगते हुए देखा है, जबकि वह वास्तव में सुख नहीं होता है। सुख भोगने वाले योगी पर-वैराग्य की अवस्था किसी भी हालत में प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

पर-वैराग्य की अवस्था जिस योगी को प्राप्त होने वाली हो, उसके लिए अच्छा है कि वह आश्रम आदि में रहने की इच्छा न करे, क्योंकि आजकल ज्यादातर आश्रमों की हालत ऐसी है कि इस अवस्था को प्राप्त योगी के लिए अनुकूल नहीं होगी। वह एकांत वास करे तो अच्छा है। अपने भोजन की व्यवस्था भी स्वयं कर ले अथवा माँग कर भोजन प्राप्त कर ले। यह अवस्था योगी के लिए अत्यन्त कष्टदायी होती है। सारा समाज योगी का विरोधी हो सकता है अथवा भोजन प्राप्ति में भी अवरोध आ सकता है। ऐसी अवस्था में समाज के व्यवहार से योगी को किसी प्रकार का दुःख महसूस नहीं करना चाहिए, बल्कि ऐसे लोगों पर दया करनी चाहिए जो उसे अपमानित करें या किसी प्रकार का अवरोध उपस्थित करें। दया इसलिए करनी चाहिए, क्योंकि ऐसा करके वे अभ्यासी के चित्त में स्थित संस्कारों को नष्ट कर रहे हैं। योगी के चित्त में जो कलेशात्मक संस्कार रह जाते हैं, उन संस्कारों का भोग योगी को किसी-न-किसी रूप में भोग कर समाप्त करना ही पड़ेगा। इसलिए उसे समझ लेना चाहिए कि उसके चित्त में जो सूक्ष्म संस्कार हैं, वह समाप्त हो रहे हैं। यह अवस्था योगी की निर्बीज समाधि तक चलेगी। जब योगी व्युत्थान के समस्त संस्कार निरुद्ध कर देगा तब उसे कष्ट नहीं भोगने होंगे और यदि कष्ट आ भी जाएँ तो उसे कष्टों की अनुभूति नहीं होगी। प्रत्यक्ष देखने पर तो साधारण मनुष्य यह भले ही समझें की योगी कष्ट भोग रहा है, मगर उस योगी को कष्ट प्रभावित नहीं कर सकते हैं।

व्यास जी ने अभ्यास और वैराग्य के विषय में बड़े सुन्दर ढंग से समझाया है- चित्त एक नदी है, जिसमें वृत्तियों का प्रवाह बहता है। इसकी दो धाराएँ है- एक संसार सागर की ओर बहती है और दूसरी कल्याण की ओर बहती है। जिसने पूर्व जन्म में भोग आदि के कार्य किए हैं, उनकी वृत्तियों की धारा उन संस्कारों के कारण अज्ञान मार्ग से बहती हुई संसार सागर में जा मिलती है। जिन्होंने कैवल्यार्थ कार्य किए हैं, उनकी वृत्तियों की धारा उन संस्कारों के कारण विवेक मार्ग से बहती हुई कल्याण सागर में जाकर मिलती हैं। संसारी मनुष्यों की पहली धारा तो प्रायः जन्म से ही खुली होती है, किन्तु दूसरी धारा को शास्त्र, गुरू, आचार्य तथा ईश्वर चिन्तन ही खोलते हैं। पहली धारा को बन्द करने के लिए विषयों के श्रोत पर-वैराग्य का बन्ध लगाया जाता है और अभ्यास रूपी बेलचे से दूसरी धारा का मार्ग गहरा खोदकर वृत्तियों के समस्त प्रवाह को विवेक श्रोत में डाल दिया जाता है, तब प्रबल वेग से वह सारा प्रवाह कल्याण रूपी सागर में जाकर लीन हो जाता है। इस कारण अभ्यास और वैराग्य दोनों ही एक साथ मिलकर चित्त की वृत्तियों के निरोध के साधन हैं। जिस प्रकार पक्षी का आकाश में उड़ना दोनों पंखों के अधीन होता है, उसी प्रकार समस्त वृत्तियों का निरोध न केवल अभ्यास से और न ही केवल वैराग्य से ही हो सकता है। इसलिए अभ्यास और वैराग्य दोनों का ही समुच्चय होना आवश्यक है।

तत्त्वज्ञान

यह जगत् परम्परा विषम तथा अनन्त है। इसमें पड़ा हुआ जीव देहाध्यास से युक्त रहता है। इसलिए ज्ञान के बिना ब्रह्म प्राप्ति का मार्ग दिखाई नहीं देता है। जो लोग इस संसार की असारता और दुःख रूपता को देखकर अपनी सांसारिक बुद्धि का परित्याग कर देते हैं, वे संसार बन्धन से मुक्त होकर ब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं। विवेकशील पुरूष ज्ञान रूपी नौका पर सवार होकर इस भवसागर को पार कर जाते हैं। संसार सागर से उबारने वाला यह ज्ञान रूपी उपाय नित्य विवेक और वैराग्य आदि से समन्वित है। इस ज्ञान युक्ति के बिना अनन्त विक्षेपों से परिपूर्ण ये सांसारिक दुःख और भय चिरकाल तक अन्त:करण को संतप्त करते रहते हैं। तत्त्वज्ञानी अथवा श्रेष्ठ पुरूषों में दुःख सहने की क्षमता ज्ञान के बल पर ही आती है। ज्ञान युक्ति के अतिरिक्त दुःखों को वे किसी प्रकार सहन नहीं कर सकते हैं। दुःखों की चिंताएँ अज्ञानी मनुष्यों को जगह-जगह पर आ घेरती हैं तथा समयानुसार संतप्त करती रहती हैं। मगर जिसने ज्ञान प्राप्त कर लिया है तथा भली-भाँति ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है, ऐसे ज्ञानी पुरूष को दुःख अथवा मानसिक व्यथाएँ प्रभावित नहीं कर सकती हैं। इसलिए बुद्धिमान पुरूष तत्त्वज्ञान प्राप्ति के लिए किसी आत्मतत्त्व के यथार्थ ज्ञाता के पास जाकर विनय भाव से प्रार्थना करें कि उसे आत्मतत्त्व के यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति का मार्ग बताएं। उस प्रमाण कुशल तथा विशुद्ध चित्त वाले आत्मवेत्ता के वचनों को प्रयत्न पूर्वक ग्रहण करें। मगर जो पुरूष आत्मतत्त्व का ज्ञाता नहीं है, उससे तत्त्व सम्बन्धी प्रश्न नहीं करने चाहिएं, क्योंकि उसके वचन ग्रहण करने योग्य नहीं होते हैं। तत्त्वज्ञानी तथा प्रमाण कुशल वक्ता के उपदेशों का जो पुरूष अनुसरण नहीं करता है, ऐसे पुरूष को अज्ञानी व मूर्ख ही कहा जाएगा। अतः वक्ता के व्यवहार आदि के कार्यों से उसकी अज्ञता तथा तत्त्वज्ञता का पहले निर्णय करके ही प्रश्न करने का निर्णय करना चाहिए। तत्त्वज्ञानी को चाहिए कि तत्त्वज्ञान का उपदेश सिर्फ उसे ही दें जिसकी बुद्धि सामर्थवान हो तथा जो निन्दनीय न हो। जो पुरूष सिर्फ पशु-धर्म से युक्त हो उसे तत्त्वज्ञान का उपदेश बिल्कुल नहीं देना चाहिए।

संसार बन्धन की निवृत्ति या मोक्ष के लिए ज्ञान ही साधन है। क्लेशयुक्त सकाम कर्मों से संसार बन्धन से मुक्त नहीं हुआ जा सकता है। मोक्ष में ज्ञान के अतिरिक्त सकाम कर्मों आदि का इसमें कोई उपयोग नहीं है, क्योंकि रस्सी में होने वाले सर्प के भ्रम का निवारण करने के लिए ज्ञान का ही उपयोग होता है। ज्ञान से ही उस भ्रम की निवृत्ति होती है, अन्य किसी कर्म से नहीं। योग के अभ्यास में तत्पर होना ही ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति में हेतु है। ऐसे तत्त्वज्ञान से जीव के दुःख का निवारण होता है तथा जीवन्मुक्त

अवस्था प्राप्त होती है। अपने पौरूष जनित प्रयत्न से विकास को प्राप्त हुए विवेक द्वारा ब्रह्म का यथार्थ ज्ञान होता है।

सगुण ब्रह्म अर्थात् ईश्वर सदा शरीर में हृदय गुफ़ा में स्थित रहते हैं तथा सर्वव्यापक हैं। यही ईश्वर शिव तथा श्री हरि हैं। कार्य-कारण स्वरूप इन पर-ब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार हो जाने पर इस साधन परायण के हृदय की ग्रन्थि खुल जाती है। यह ग्रन्थि जड़-चेतन वाली होती है। इसके खुलने पर सारे संशय मिट जाते हैं अथवा छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और सम्पूर्ण शुभ-अशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं। ब्रह्म में यह जगत् सम्बन्धी भ्रम उत्पन्न हुआ है। इस भ्रम के अत्यन्त अभाव के ज्ञान में यदि दृढ़ता हो जाए तभी ब्रह्म का स्वरूप ज्ञात होता है। दृश्य के अत्यन्त अभाव के सिवाय दूसरी कोई गति नहीं है। ज्यों-की-त्यों स्थित हुए इस दृश्य जगत् के अत्यन्त अभाव का निश्चय हो जाने पर जो शेष रह जाता है, उसी परमार्थ वस्तु का बोध होता है। जब तक दृश्य की सत्ता का अत्यन्त अभाव अथवा मिथ्या सिद्ध नहीं हो जाता है, तब तक उस परम् तत्त्व रूप ब्रह्म को कभी कोई जान नहीं सकता है। असत् पदार्थ की कभी कोई सत्ता नहीं होती है तथा सत् पदार्थ का कभी अभाव नहीं होता है। जो वस्तु स्वभाव से है ही नहीं, उसे मिथ्या समझकर त्याग देने में कौन सी परेशानी है? यह जगत् ब्रह्म में ही कल्पित है, अतः ब्रह्मस्वरूप ही है। इसके अतिरिक्त उसकी कोई सत्ता नहीं है। जैसे सोने में कल्पित कड़े और कुण्डल आदि आभूषण सोने की दृष्टि से अभाव ही है, उसी प्रकार ब्रह्म में कल्पित जगत् ब्रह्म दृष्टि से अभाव ही सिद्ध होता है।

एक मात्र शुद्ध निर्मल एवं सर्वव्यापक ब्रह्म ही सदा सर्वत्र विराजमान है। ब्रह्म सर्वशक्तिमान होने के कारण जिन-जिन कल्पनाओं की भावना करता है, उन्हें स्वयं ही प्राप्त कर लेता है अर्थात् स्वयं ही वह उसी रूप वाला हो जाता है। ज्ञान का प्रकाश छा जाने पर अज्ञान रूपी अंधकार का तत्त्व ज्ञात नहीं होता है अर्थात् उसका पता ही नहीं चलता है। इसी प्रकार सर्वशक्तिमान जीवात्मा जो कभी बाधित न होने वाले महाचैतन्य रूपी सारभूत अंश से रूपवान प्रतीत होता हुआ ब्रह्म ही है। चेतनता जो आकाश से भी सूक्ष्म सब ओर फैली हुई है, वह स्वभाव से ही पहले अहंकार का दर्शन करती है। जैसे जल स्वयं अपने आप में बुलबुला तरंग आदि के रूप में स्फुरित हो रहा है, उसी प्रकार आत्मा जब अपने आप में स्वयं स्फुरणशील होता है, तब उस चेतन आत्मा की चेतना शक्ति उस सूक्ष्म अहंकार का दर्शन करती है, जो उत्तरोत्तर स्थूलता को प्राप्त हुई अन्त में ब्रह्माण्ड का आकार धारण कर लेती है। चेतन की जो चमत्कारिणी चित्त शक्ति है, वह स्वयं अपने आप में जो सृष्टि करती है, उसी का नाम जगत् या संसार रख दिया गया है। दृश्य भूत जो अहंकार है उसकी कल्पना चैतन्य के अधीन है अर्थात् चैतन्य की ही कल्पना है। तन्मात्रा आदि जो जगत् है, उसकी कल्पना अहंकार के अधीन है। इस प्रकार अहंकार और जगत् चैतन्य रूप ही

हैं, फिर उस चैतन्य में द्वैत और अद्वैत कहाँ है? मन के संकल्प रूप जो सम्पूर्ण जगत् है, वह शून्य ही है। इन्द्रिय और उसके अधिष्ठाता देवताओं का निवास भूत जो साकार एवं स्थूल विश्व है, वह भी शून्य ही है, क्योंकि दोनों ही चैतन्य के ही रूप है। इसलिए वह चैतन्य से भिन्न नहीं है। जो वस्तु जिस वस्तु का विलास होती है, वह उससे कभी भी भिन्न नहीं होती है। जल के विलास भूत तंरग में ऐसा देखा गया है। इसी प्रकार चेतन के विलास में सदा अदृश्य, रूप और नाम से रहित तथा सर्वव्यापक चैतन्य शक्ति का जो रूप है, उससे स्फुर्ति प्राप्त करने वाले जगत् का भी वही रूप है अर्थात् चेतन की ही जो भिन्न-भिन्न आकार में स्फुरणाएँ होती हैं, वही जगत् कहा गया है। अतः यह जगत् चैतन्य-शक्ति या चेतन-आत्मा से भिन्न नहीं है। चेतन आत्मा का जो चैतन्य है, उसी को जगत् समझना चाहिए, क्योंकि वह चैतन्य जगत् से पृथक नहीं है। यदि चेतन को जगत्भाव से रहित माना जाए तो चित्त चित्त नहीं रह जाएगा अर्थात् चेतन को चेतन नहीं कहा जा सकता है। अतः चेतन का व जगत् का प्रतीत मात्र से ही भेद है, वास्तव में भेद नहीं है।

जिस पुरूष को जानने योग्य वस्तुओं का ज्ञान हो चुका हो तथा एक मात्र बोध स्वरूप ऐसे पुरूष के मन में कोई भी सांसारिक पदार्थ सत्य न हो, जिस पुरूष को तत्त्वज्ञान प्राप्त हो चुका हो, उसे संसार की भ्रान्ति कैसे हो सकती है? जैसे रस्सी का ज्ञान हो जाने पर सर्प का भ्रम मिट जाता है तथा पुनः उसमें सर्प की भ्रान्ति नहीं होती है, उसी प्रकार संसार भ्रम के असत्य भाव का पूर्ण ज्ञान हो जाने पर फिर संसार की सत्ता कैसे टिक सकती है? जिसका हृदय स्वच्छ, निर्मल, तथा अत्यन्त व्यापक है, ऐसे तत्त्वज्ञानी पुरूष की बुद्धि में अहंकार और संसार की प्रतीति तुच्छ शब्द का प्रतीक है। यह वास्तविक नहीं है, बल्कि केवल व्यवहार मात्र है। जिसके चित्त में ज्ञान का उदय नहीं हुआ है, जिसकी परमात्म-तत्त्व में दृढ़ स्थिति नहीं है तथा जो मोह से ग्रस्त है, उसके लिए यह संसार असत् होते हुए भी सत्य-सा प्रतीत होता है। जिस प्रकार स्वप्न द्रष्टा द्वारा स्वप्न में देखी गई अपने निकट सम्बन्धी की मृत्यु दुःख तथा शोक का कार्य करा देती है, उसी प्रकार जिनकी बुद्धि मोह से आच्छादित है, उन पुरूषों के लिए यह संसार सदैव शोक और दुःख से युक्त होता है। यह मिथ्या संसार जीव को मोहित करता है। सभी वस्तुएँ शरीर के अन्दर और बाहर सर्वत्र विद्यमान हैं। ज्ञान वृत्ति जिसे जैसा जानती है, उसे उसी तरह स्वयं ही देखती है। उसी तरह चेतन आकाश रूप परमात्मा में सब कुछ स्थित है और वही परमात्मा उसका अनुभव करता है।

यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म ही है, ऐसी अवस्था में शरीर आदि की कल्पना कैसे की जा सकती है? जो कुछ दिखाई दे रहा है, वास्तव में वह सब आनन्द स्वरूप ब्रह्म ही है। जो पुरूष अज्ञानी होता है, उसकी दृष्टि में सत्य का तिरोभाव तथा असत्य का आविर्भाव शीघ्र होता है। परन्तु जिस पुरूष ने रस्सी में उत्पन्न

सर्प की भ्रान्ति को मिटा दिया है, क्या उसे दुबारा रस्सी में सर्प की भ्रान्ति हो सकती है? अर्थात् बिल्कुल नहीं हो सकती है। इसी प्रकार जो जन्म-मरण धर्मा स्थूल शरीर को आत्मा मानते हैं, ऐसे अज्ञानी पुरूष मिथ्या सृष्टि का चिरकाल तक सत्य की तरह अनुभव करते हैं। परन्तु आत्मतत्त्व के यथार्थ ज्ञान होने से स्थूल शरीर में आत्म बुद्धि करना भ्रम मात्र ही है, क्योंकि उसने संसार के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कर लिया है, उसकी भ्रान्ति संसार के प्रति नष्ट हो चुकी है। भ्रान्ति के नष्ट हो जाने पर उसकी सत्ता नहीं रह जाती है। वास्तव में उसकी सत्ता नहीं थी, सिर्फ अज्ञान था जो अब समाप्त हो गया है। अज्ञान के साथ भ्रान्ति भी समाप्त हो गई है।

स्वप्न अथवा मन की कल्पना से जो पदार्थ उत्पन्न होते हैं, वे सभी चित्त-वृत्ति के अन्दर विलीन हो जाते हैं, जैसे सारी चेष्टाएँ वायु में अन्तर्भूत हो जाती हैं। चित्तवृत्ति ही स्वप्न आदि पदार्थों की प्रतीति द्वारा पर्याप्त रूप से स्फुरित होती है। वही स्फुरित न होने पर स्वप्न के साथ एकता को प्राप्त होकर तद्रूप हो जाती है। जैसे वायु और गति दो अलग-अलग नहीं हैं, उसी प्रकार चित्त-वृत्ति और स्वप्न में दिखाई देने वाले पदार्थों में भेद नहीं है। उनमे जो भेद-सा प्रतीत होता है, वही अज्ञान है। वही संसार कहा गया है तथा वही संसार का मिथ्या ज्ञान रूप है। स्वप्न में जैसे असत् पदार्थों की प्रतीति होती है, उसी तरह से सृष्टि आदि में असत् जगत् का भान होता है। अतः जैसे स्वप्न असत् है, वैसे ही जाग्रत असत् है। इसमें कोई शंका का विषय नहीं है। जैसे जागने पर स्वप्न में देखे गये पदार्थों का तत्काल अभाव हो जाता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान हो जाने पर इस भौतिक संसार का अभ्यास क्रम से अभाव हो जाता है। स्वप्न अवस्था में दिखाई देने वाली सृष्टि जाग्रत अवस्था में दिखाई देने वाली सृष्टि मिथ्या ही है, क्योंकि अज्ञान से इसका दर्शन होता है जो माया रूप से प्रतीत होने वाले केवल संसार का भ्रान्ति रुप है। स्वप्न की जो अनुभूतियाँ हैं, वे सभी अर्थ शून्य ही हैं। इस भ्रम रूपी संसार का दर्शन करने वाले पुरूष के अन्तिम समय में स्वप्न की अनुभूति के समान जो ये सृष्टि की प्रत्यक्ष प्रतीतियाँ हैं, वे सभी यद्यपि सूक्ष्म शरीर में प्रविष्ट हो चुकी हैं, परन्तु फिर भी प्रकट हुई-सी प्रतीत होती हैं। जबकि वास्तव में तो वह मन के अन्दर ही हैं।

अद्वितीय ब्रह्म के साथ अभ्यासी की एकता का पूर्ण निश्चय हो जाने पर उत्कृष्ट एवं संशय रहित आत्म-विज्ञान प्रकाशित हो जाता है। अगर कोई कहे कि आत्म-विज्ञान प्रकाशित हो जाने पर तत्त्वज्ञानियों के शरीर यहाँ क्यों टिके रहते हैं, तो इसका उत्तर है कि यह सब प्रारब्ध अथवा नियति के प्रभाव से बना रहता है। प्रारब्ध अथवा नियति शुद्ध चेतन परमात्मा की शक्ति रूप है। यही प्रारब्ध भूत, भविष्य एवं वर्तमान काल में सम्पूर्ण पदार्थों को अपने अधीन करके जगत् की व्यवस्था रूप से स्थित है। भविष्य में अमुक पदार्थ में इस प्रकार की स्फूर्ति होनी चाहिए, अमुक को भोक्ता का पद प्राप्त होना चाहिए, इसके

द्वारा इस प्रकार और उसके द्वारा इस प्रकार अवश्य होना चाहिए, ये सब प्रारब्ध ही करता है। यह प्रारब्ध ही सम्पूर्ण-भूत आदि अथवा काल क्रिया आदि जगत् है। इस प्रारब्ध से ही पुरूषार्थ की सत्ता लक्षित होती है और पुरूषार्थ से ही प्रारब्ध की सत्ता सूचित होती है। जब तक संसार है, तब तक प्रारब्ध और पुरूषार्थ ये दोनों सत्ताएं परस्पर अभिन्न रूप से स्थित हैं। मनुष्य को अपने पौरूष से ही प्रारब्ध और पुरूषार्थ इन दोनों को बनाना चाहिए। प्रारब्ध के अनुसार होने वाला भोग अवश्य ही होकर रहेगा, ऐसा निश्चय करके बुद्धिमान पुरूष कभी पौरूष का त्याग न करे, क्योंकि प्रारब्ध पौरूष रूप से ही नियामक होता है अर्थात् पूर्वजन्मों में किया गया पुरूषार्थ ही वर्तमान जन्म में प्रारब्ध होकर यह नियम करता है कि अमुक प्राणी को ऐसा ही होना चाहिए। जो पुरूष प्रारब्ध के भरोसे चुपचाप हाथ पर हाथ रखे बैठा रहता है, वह पुरूष शून्य व अकर्मण्य हो जाता है। ऐसा मनुष्य कभी भी सुखी नहीं रह सकता है। यह मत सोचो कि उसकी प्राण वायु की चेष्टा कहाँ चली जाएगी। यदि निर्विकल्प समाधि में चित्त को शांति प्रदान करने वाली वृत्तियों को निरुद्ध करके अभ्यासी पुरुष मुक्ति पा गया हो तो वह भी उसके पुरूषार्थ का फल ही है। बिना पुरुषार्थ के फल प्राप्त नहीं होता है। पुरुषार्थ में तत्पर होना श्रेष्ठ साधन है और कर्तव्य का अत्यन्त अभाव रूप मोक्ष सर्वश्रेष्ठ कल्याणमय फल है। तत्त्वज्ञानियों का प्रारब्ध भोग दुःख रहित है। जो दुःख रहित प्रारब्ध भोग है, वह यदि ब्रह्म सत्ता के प्रकाश में स्थिर हो जाए तो निश्चत समझना चाहिए कि वह परम् शुद्ध ब्रह्म को प्राप्त हो गया है। इसे ही परम्-गति कहते हैं।

परमार्थ तत्त्व के ज्ञात हो जाने पर द्वैत नहीं रह जाता है, उस समय सारी कल्पनाएँ शांत हो जाती हैं। फिर शांत स्वरूप परमार्थ तत्त्व ही शेष रहता है। जिन्हें तत्त्व का ज्ञान नहीं हुआ है, ऐसे अज्ञानी पुरूष अपने विकल्पों से उत्पन्न हुए तर्कों द्वारा अद्वैत के विषय में विवाद करते हैं। तत्त्वज्ञान हो जाने पर वाद और द्वैत नहीं रह जाता है। द्वैत के बिना वाच्य-वाचक का बोध सिद्ध नहीं होता, परन्तु द्वैत किसी तरह से सम्भव नहीं है। इसलिए शांत स्वरूप परमात्मा ही पूर्णतया सिद्ध होता है। चित्त ही विनाश रूप से जगत् को प्राप्त हुआ है। जैसे बालू के अन्दर तेल नहीं होता है, उसी तरह ब्रह्म में शरीर आदि की सत्ता नहीं है। राग-द्वेष, अविद्या-अज्ञान के द्वारा यह चित्त ही संसार है। अज्ञान आदि दोषों से जब छुटकारा मिल जाता है, तभी जीवन-मृत्यु रूपी इस संसार बन्धन से मुक्त हो पाता है। लोकों की कल्पना का आकाश रूप चित्त सम्पूर्ण दृश्य को अपने अन्दर धारण करता है।

सम्पूर्ण जीवों का आत्मा अपने संकल्प से तीनों अवस्थाओं को प्राप्त हुआ है। ये तीनों अवस्थाएँ जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्त हैं। इन अवस्थाओं का कारण शरीर नहीं है। इस प्रकार तीनों अवस्था रूप आत्मा में ही जीवत्व हैं अर्थात् आत्मा ही जीव रूप से स्फुरित हो रहा है। इसमें शरीरत्व का विकास नहीं

है, जैसे जल ही तरंग आदि रूप में होता है। तात्विक दृष्टि से जल में तरंग आदि की अलग सत्ता नहीं रहती है, उसी प्रकार जीवात्मा ही जाग्रत आदि अवस्था रूप है। ऐसे विचार दृढ़ होते ही जीव से अलग शरीर आदि की वास्तविक सत्ता शेष नहीं रह जाती है। तत्त्वज्ञानी पुरूष परमात्म पद को ज्ञान द्वारा प्राप्त करके संसार से निवृत्त हो जाता है। परन्तु जो अज्ञानी जीव है, वही सृष्टि में प्रवृत्त होता है। अज्ञानी जीव वास्तविक आत्मज्ञान से रहित और शरीर में आत्मा की भ्रान्ति-वासना से युक्त होने के कारण सृष्टि को प्राप्त होता है। ब्रह्म निर्विशेष, निर्विकार, अद्वितीय और असंग होने के कारण वास्तव में किसी का कारण नहीं है। मगर सम्पूर्ण जगत् के आरोप अधिष्ठान रूप से आदि कारण हैं। उस निर्विशेष ब्रह्म में वस्तुत: कारण एवं निमित्त आदि वस्तु की सम्भावना नहीं है। अतः ब्रह्म में बिना किसी कारण के प्रतीत होने वाला यह जगत् मिथ्या ही है। इसलिए सार-वस्तु ब्रह्म का ही विचार करना उचित है, असार-वस्तु दृश्य जगत् का विचार करने से क्या लाभ? बीज अपने स्वरूप का त्याग करके अंकुर आदि क्रम से फलरूप में परिणित होता देखा जाता है। परन्तु ब्रह्म में इस प्रकार की क्रिया नहीं होती है। ब्रह्म अपने स्वरूप का त्याग किए बिना ही जगत् रूप भ्रम अधिष्ठान रूप से कारण होता है।

यहाँ न बन्धन है और न ही मोक्ष है, न बन्धन का अभाव है, न बन्धन की सत्ता है। यह भ्रम रूपी माया ही प्रकट हुई है। बन्धन और मोक्ष की अवस्थाओं से तथा द्वैत और अद्वैत से रहित यह सम्पूर्ण विज्ञान आनन्दमयी ब्रह्म सत्ता ही है। यह जगत् ब्रह्म का ही स्वरूप है। ऐसा ज्ञान जिन मनुष्यों को नहीं होता है, उनके लिए यह दृश्य जगत् दुःख स्वरूप ही है। जिसे तत्त्वज्ञान हो गया है उसके लिए यह दृश्य जगत् मोक्ष प्रदान करने वाला होता है। जैसे प्रेम से रहित किसी मित्र के मिलने और बिछुड़ने से मनुष्य को न सुख होता है और न ही दुःख होता है। उसी प्रकार ब्रह्म का तात्विक ज्ञान हो जाने पर इस स्थूल शरीर के रहने और बिछुड़ने से पुरूष सुख अथवा दुःख की अनुभूति नहीं करता है। वासना रहित व शांत चित्त हुआ चित्त का स्वामी जीवात्मा सर्वव्यापी और सबका अधिपति बन जाता है।

तत्त्वज्ञानियों का जो कर्म या कर्तव्य दिखाई देता है, वह वास्तव में असत् है क्योंकि उसमें कर्तापन नहीं होता है। परन्तु जो अज्ञानियों का कर्म है, उसमें कर्तव्य का अभिमान होने के कारण असत् नहीं है। तत्त्वज्ञानी और अज्ञानी में यही अंतर होता है। हम सबसे पहले समझ यह लें कि कर्तव्य किसे कहते हैं? चित्त में स्थित जो मन की वृत्ति है, उसका यह निश्चय कि 'अमुक वस्तु ग्रहण करने योग्य है', इसका विश्वास ही वासना कहलाता है। यही वासना ही कर्तव्य शब्द से कहा गया है, क्योंकि वासना के अनुसार ही चेष्टा करता है और चेष्टा के अनुसार ही फल भोगता है। अतः कर्तव्य से ही फल भोक्तृत्व होता है, यही सिद्धान्त है। कहा जाता है कि मनुष्य कर्म करे अथवा न करे, परन्तु जैसी उसके मन में वासना होती है,

वह सर्वत्र उसी का अनुभव करता है। इसलिए जिस पुरूष को तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है, वह कर्म करे अथवा न करे तो भी उसमें वासना होने के कारण कर्तृत्य अवश्य आ जाता है। इसके विपरीत जिस पुरूष को तत्त्वज्ञान हो गया है, वह कर्म करें अथवा न करें तो भी उनमें कर्तृत्य नहीं होता है, क्योंकि वह वासना से सर्वथा शून्य हैं। तत्त्वज्ञानी की वासना शिथिल हो जाती है, इसलिए वह कर्म करता हुआ भी उसके फल की इच्छा नहीं रखता है। उसकी बुद्धि कर्तृत्व अभिमान व आसक्ति से रहित होती है। अतः आसक्ति से रहित भाव से चेष्टा मात्र करता है। उसे जो कुछ भी प्रारब्ध के अनुसार फल प्राप्त होता है, वह उस सारे कर्म फल को 'यह ब्रह्म है' ऐसा अनुभव करता है। जिसका मन आसक्ति में डूबा हुआ है, वह कर्म न करके भी कर्ता ही माना जाता है। मन जो कुछ करता है, वही किया हुआ होता है। मन जिसे नहीं करता है, वह नहीं किया हुआ होता है। अतः मन ही कर्ता है, शरीर कर्ता नहीं है। सम्पूर्ण विषय और विभिन्न प्रकार की चित्त वृत्तियाँ जब वासना रूप हो जाती हैं, तब उस वासना रूपी उपाधि से युक्त जीवात्मा ही रहता है। मगर जो तत्त्वज्ञान के ज्ञाता हैं, उनका मन प्रचण्ड धूप में हिमकण के समान गलकर जब परम् शांत हो जाता है, तब तुरीयावस्था को प्राप्त होकर ब्रह्म में स्थित हो जाता है।

तत्त्वज्ञानी पुरूष स्त्री तथा धन के नष्ट हो जाने पर भी कभी शोक नहीं करते हैं। अविद्या के अंशभूत पुत्र आदि के प्राप्त हो जाने पर सुख और नष्ट हो जाने पर दुःख की अनुभूति करते रहना क्या उचित है? अर्थात् सर्वथा अनुचित है। स्त्री और धन की प्राप्ति एवं वृद्धि होने पर खुशी से झूमने का कोई मतलब नहीं होता है। धन और स्त्री आदि के बढ़ने पर तो इन्हें परमार्थ में बाधक समझकर दुःख का अनुभव करना चाहिए। सन्तोष करना तो बिल्कुल उचित नहीं है। संसार में मोह-माया की वृद्धि होने पर भला कौन पुरूष सुखी रह सकता है। जिन भोगों के बढ़ जाने पर मूढ़ पुरूष को राग होता है, उन्हीं भोगों की वृद्धि से विवेकशील पुरूष के मन में वैराग्य होता है। संसार के व्यवहार में जो-जो वस्तु नश्वर प्रतीत हो उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिए तथा जो न्याय संगत प्राप्त हो जाए उसे यथा योग्य व्यवहार में लाना चाहिए। अप्राप्त भोगों की कभी इच्छा न करना, प्राप्त हुए भोगों को यथा योग्य व्यवहार में लाना, यही ज्ञानी पुरूषों के लक्ष्ण हैं। तत्त्वज्ञानी पुरूष का सब कुछ नष्ट हो जाए तो भी वे दुःखी नहीं होते हैं। यदि उन्हें स्वर्ग का लोभ भी दिया जाए तो भी वे आसक्त नहीं होते हैं। ऐसे पुरूष इच्छा रहित तथा अनासक्त भाव से व्यवहार करने वाले होते हैं। वे शरीर रूपी रथ का आश्रय लेकर परमात्मा-स्वरूप होकर तथा आसक्ति रहित होकर विचरते हैं।

तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त पुरूष प्रलय काल में सब कुछ नष्ट कर देने वाली वायु के चलने तथा प्रलयाग्नि के धधकने पर भी नित्य परमात्मा में स्थित रहता है। संसार के सभी प्राणी स्थित रहें अथवा चले

जाएँ, उनका विनाश हो जाए अथवा उनकी वृद्धि हो जाए, मगर तत्त्वज्ञानी कभी विचलित नहीं होता है। इस शरीर के नष्ट हो जाने पर परमात्मा न तो नष्ट होता है और न ही इस शरीर के बढ़ने से वह बढ़ता है और न ही इस शरीर के चेष्टा करने पर वह चेष्टाशील होता है। जिस पुरूष को तत्त्वज्ञान प्राप्त हो चुका है, उसके हृदय में "मैं इस कार्य को समाप्त करके रहूँगा और इसका त्याग करके ही छोड़ूगा", ऐसे संकल्पों का सर्वथा अभाव हो जाता है। तत्त्वज्ञानी पुरूष इस जगत् में सारे कर्मों को करते हुए भी नहीं करते हैं और कभी भी अनुष्ठान करने पर वे सदा अकर्ता रूप से ही स्थित रहते हैं। इस प्रकार कर्तृत्व व भोक्तृत्व का उपशम हो जाने पर एक मात्र शांति ही शेष रह जाती है। यह शांति जब दृढ़ हो जाती है, तब इसे मोक्ष कहा जाता है। जिसका चित्त परमात्मा में ही संलग्न है, ऐसे तत्त्वज्ञानी संसार के अच्छे विषय भोगों के प्राप्त होने पर न तो प्रसन्न होते हैं और न ही मन के विपरीत दुःखों के आ जाने पर उद्विग्न होते हैं अर्थात् सुख-दुःख में उनकी समान स्थिति रहती है। अहंकार और वासना रूपी अनर्थों के उत्पन्न होने से पुरूष के जीवन में नाना प्रकार के सुख-दुःख आते-जाते रहते हैं। परन्तु उस अहंकार के पूर्णतया शांत हो जाने पर चित्त में समता प्राप्त हो जाती है। ममता और अहंता से रहित होने के कारण उसके कर्म करने अथवा न करने से सदैव एक-सा रहता है। उसका कर्म करने से कोई प्रयोजन नहीं है और कर्म न करने से कोई मतलब नहीं है। इसी कारण तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त पुरूष के मन में कामनाओं की उत्पत्ति ही रुक जाती है।

ब्रह्मतत्त्व को जानने वाले ज्ञानी पुरूष तीक्ष्ण और अचल परा-प्रज्ञा को ही समाधि कहते हैं, जो सदैव एकाग्र, सर्वदा तृप्त और सत्य-अर्थ को ग्रहण करने वाली है। प्रज्ञा क्षोभ रहित, अहंकार से शून्य, सुख-दुःख आदि द्वन्दों से अलग रहने वाली स्थिरता युक्त होती है। जब मन तत्त्वज्ञान के साथ सदा के लिए अत्यन्त सम्बद्ध हो जाता है, तब तत्त्वज्ञानी पुरूष की समाधि सदा बनी रहती है। उसका कभी विच्छेद नहीं होता है। तत्त्वज्ञानी की प्रज्ञा जीवन पर्यन्त ब्रह्मतत्त्व के यथार्थ अवलोकन से विश्राम नहीं लेती है, बल्कि सदा-सर्वदा ब्रह्म के यथार्थ ज्ञान से परिपूर्ण रहती है। तत्त्वज्ञानी की विज्ञानमयी दृष्टि क्षणमात्र के लिए भी ब्रह्म के स्वरूप ज्ञान से अलग नहीं होती है, बल्कि सदैव एक रस ही बनी रहती है। जैसे काल अपने क्षण आदि कलाओं की गति नहीं भूलता है, उसी तरह तत्त्वज्ञानी पुरूष की बुद्धि कभी अपने ब्रह्मस्वरूप को नहीं भूलती है। उसकी बुद्धि ब्रह्म का निरन्तर चिंतन करती रहती है अर्थात् वह सदा ब्रह्म के ध्यान में बना रहता है। जैसे इस संसार में गुणवानों का गुणहीन होना असम्भव है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी पुरूष कभी भी ब्रह्मज्ञान से विहीन नहीं रह सकता है। वह सदा-सर्वदा ब्रह्मज्ञान से सम्पन्न रहता है। ब्रह्म से उत्पन्न हुआ यह जगत् अविवेक से स्थिरता को प्राप्त होता है। ब्रह्म के यथार्थज्ञान से निश्चय ही प्रशांत स्वरूप हो जाता है, क्योंकि ब्रह्म का यथार्थ ज्ञान न होना ही संसार की स्थिति में कारण है और यथार्थ ज्ञान ही इस संसार के

विनाश में कारण है। ब्रह्मतत्त्व के यथार्थ ज्ञान से अज्ञान का क्षय और वासना का विनाश हो जाने पर शोक से रहित परम् पद की प्राप्ति हो जाती है।

तत्त्वज्ञानी के लिए कर्तव्य और अकर्तव्य कुछ भी नहीं रहता है, इसलिए ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रत्येक मनुष्य को शीघ्र ही अभ्यास में लग जाना चाहिए। ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के प्रयत्न के बिना चुपचाप बैठे रहने से क्या लाभ? स्थूल शरीर में आत्मबुद्धि का निश्चय नहीं करना चाहिए। यह शरीर तो केवल यंत्र की भाँति प्राण से ही चेष्टा करता रहता है। प्राण वायु से रहित शरीर निश्चेष्ट अथवा भरा हुआ कहा जाता है। चेतन जीवात्मा आकाश से भी बढकर निर्मल और अव्यक्त है। सत् स्वरूप ब्रह्म की सत्ता ही चेतन जीवात्मा के अस्तित्व में कारण है। जीवात्मा के बिना प्राण और शरीर दोनों नष्ट हो जाते हैं। ब्रह्मज्ञान के द्वारा दोषों से रहित हो जीवात्मा परम्-शिव परब्रह्म परमात्मा हो जाता है। परम्-शिव परब्रह्म परमात्मा सबका बल, समस्त ज्ञान का एक मात्र उत्पादक और सबको स्फूर्ति देने वाला है। सबका आदि कारण एवं समस्त देवताओं का स्वामी भी यही है तथा सभी ज्ञात पदार्थों की चरम सीमा है। शोक एवं भय के विनाशक इस परमात्म-तत्त्व का साक्षात्कार करके मनुष्य फिर संसार में भुने हुए बीज के समान जन्म नहीं लेता है। तत्त्व से जान लिए जाने पर समस्त प्राणियों को उभय कर देता है। समस्त पदार्थों के अन्दर रहने वाले, अनुभव स्वरूप एक मात्र विशुद्ध, प्रकाशमय, परम् चेतन परमात्मा को ब्रह्मज्ञानी पुरूष परम्-शिव रूप परमेश्वर कहते हैं। यह परम्-शिव परमेशवर सम्पूर्ण कारणों के कारण हैं, किन्तु वास्तव में उनका कोई कारण नहीं है। वह अपनी सत्ता से समस्त भावों को सत्ता प्रदान करने वाला है। परन्तु वह स्वयं भावना का विषय नहीं है। वह विशुद्ध और अजन्मा हैं। वही समस्त दृश्य विषयों का प्रकाशक और दृश्य संसार का परम् आधार हैं। सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतम हैं। कर्तापन के अभिमान से रहित होने के कारण यह परमात्मा कुछ न करते हुए भी रचना करता है और संसार का उद्धार रूप महान कार्य करता हुआ भी कुछ नहीं करता है।

ज्ञान और कर्म के विषय में पूछा जाए कि कौन-सा श्रेयकर है, तो यही कहा जाएगा कि ज्ञान ही श्रेयकर है, क्योंकि ज्ञान से कैवल्य परमात्मा का साक्षात् अनुभव हो जाता है। जिन्हें ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है, उनके लिए कर्म ही सबसे बढकर है। अज्ञानी के सभी कर्म सफल हैं अर्थात् जन्म, आयु, मृत्यु रूप फल प्रदान करते हैं, क्योंकि कर्मों में स्थित वासनाओं के कारण फल की प्राप्ति होती है। परन्तु जो ज्ञान सम्पन्न हैं उनके सभी कर्म निष्फल हैं, क्योंकि ऐसे कर्म जन्म-आयु-मृत्यु रुपी फल प्रदान नहीं करते हैं। इसका कारण है– उनकी वासनाएँ नष्ट हो चुकी हैं। वासना के क्षय हो जाने पर कर्म फल नष्ट हो जाते हैं। वास्तव में वासना कार्य वस्तु नहीं है। जैसे मरूस्थल में भ्रमवश जल की प्रतीति होती है, उसी प्रकार अज्ञानी में

अहंकार आदि का रूप धारण कर असत्य रूप से वासना प्रकट होती है। सब कुछ ब्रह्म ही है, ऐसी भावना करने से जिसका अज्ञान नाश हो गया हो उनके मन में वासना उत्पन्न ही नहीं है, जिस प्रकार बुद्धिमान पुरूष को मरूस्थल में भ्रम नहीं होता है। अपने अन्दर से वासना मात्र का पूर्णतया परित्याग कर देने से जीवात्मा जन्म-आयु-मृत्यु एवं पुनर्जन्म से रहित होकर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

जब तक स्थूल शरीर है तब तक उसकी अच्छी बुरी दशा होती रहती है। परन्तु योग के अभ्यास के द्वारा जब चित्त समता अवस्था को प्राप्त होता है, तब वही स्थूल शरीर की अच्छी बुरी दशाओं द्वारा प्राप्त दुःख से रहित हो जाता है। तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुष तो जब तक प्राप्त हुए अन्तिम स्थूल शरीर का पतन (मृत्यु) नहीं हो जाता है, तब तक चित आदि की समता तथा हाथ-पैर आदि के संचालन से ईश्वरीय नियम के अनुसार अपना समय बिताते रहते हैं।

चेतन ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का तत्त्वतः बोध प्राप्त हो जाने पर जब अहंकार आदि के साथ ही सम्पूर्ण शांत हो जाता है, तब तेल के समाप्त हो जाने पर बुझे हुए दीपक की भाँति सम्पूर्ण दृश्य जगत् का त्याग हो जाता है, अन्यथा नहीं होता है। कर्मों का त्याग, त्याग नहीं कहा जाता है। जब जगत् का भान किसी प्रकार का नहीं रह जाता है, तब मात्र चेतन आत्मा ही अहंकार आदि विकारों से रहित अविनाशी है। इस प्रकार अहंकार, ममता आदि का सर्वथा अभाव हो जाने पर जो शेष रह जाता है, वही शांत एवं बोधस्वरूप परमात्मा है। अहंकार की भावना करने वाला जीवात्मा एक मात्र अहंकार का त्याग कर देने मात्र से बिना किसी अवरोध के शांत स्वरूप हो जाता है। जो अपने अन्दर की मनोवृति जीत रहा है अथवा जिसने जीत लिया है वही विवेक का सुपात्र है, क्योंकि उसने पुरूषार्थ करके जीवन को सफल किया है। संसार में जितने भी पदार्थ हैं, उन सब का अंकुर अहंकार ही है। इसलिए ज्ञान के द्वारा अंहभाव के नष्ट हो जाने पर संसार रुपी वृक्ष की जड़े अपने आप उखड़ जाती हैं। अहंकार के कारण परमात्मा रूपी दर्पण मल से आवृत्त-सा हो जाता है, परन्तु अहंभाव के शांत हो जाने पर शुद्ध स्वच्छ रुप से प्रकाशित होने लगता है। अहंकार से शून्य अंहता परमात्मा में विलीन होकर ब्रह्मरूप ही हो जाती है।

जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञानी के द्वारा ब्रह्म में निष्ठा हो जाने के कारण पूर्वकाल में किए हुए कर्मों के फलस्वरूप सुख-दुःख आदि प्रारब्ध का, सांसारिक जड़ पदार्थों तथा चित्त का भी अनुभव नहीं करता है। ब्रह्म के स्वरूप को यथार्थ रूप से जान लेने पर जिस तत्त्वज्ञानी के समस्त व्यवहार तत्त्वज्ञानी के अनुरूप ही होते हैं और जिनके चित्त में सम्पूर्ण वासनाओं का अभाव हो चुका है, वह तत्त्वज्ञानी कहलाता है। वह ब्रह्म लाभ से सन्तुष्ट होकर स्वाभाविक रूप से परम् शांत रहता है तथा उसके व्यवहार अथवा चेष्टा से बुद्धिमान पुरूष आंतरिक शांति का अनुभव प्राप्त करते हैं। यह जीव जब अपने से भिन्न जड़ अहंकार

और स्थूल शरीर आदि का अनुभव करता है, तब तत्काल ही उसके साथ अपना तादात्म्य मानकर उसको अपना स्वरूप समझ लेता है। यही इसका बन्धन में पड़ना है। यह जीव जो अज्ञान निद्रा में पड़कर अचेत हो रहा है, जब जाग उठता है, तब परमात्मरस के आवेश से ब्रह्मस्वरूप को ही प्राप्त हो जाता है। जब पुरूष तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर लेता है, तब इस दृश्य जगत् के विद्यमान होने पर इसका भान नहीं होता है, क्योंकि उसे सर्वत्र चेतन ब्रह्म की ही अनुभूति होती रहती है। दृश्य जगत् का भान न होने के कारण उनकी चेष्टा वास्तव में चेष्टा नहीं होती है। तत्त्वज्ञानी कभी भी दृश्य जगत् के अभिमान से बंधते नहीं हैं। इसलिए वे बन्धन मुक्त होकर सांसारिक कर्म बन्धन से रहित रहते हैं। वह अपने जीवन निर्वाह के लिए सब कार्य करता हुआ भी ब्रह्म से चिंतन में रत होने के कारण दृश्य प्रपंच में लिप्त नहीं होता है। तत्त्वज्ञानी पुरुष सम्राटों का भी सम्राट है। प्रारब्ध वश जब कोई उसे वस्त्र देकर शरीर ढक देता है, जो भी उसे भोजन करा देता है वह भोजन कर लेता है, उसकी जहाँ इच्छा आई सो जाता है। अन्दर से शून्य होता हुआ भी वह परिपूर्ण आत्मा होता है। उसका अंतःकरण ब्रह्म से भरा होता है। तत्त्वज्ञानी तथा अज्ञानी में दोनों के सम्पूर्ण उत्पत्ति और विनाश कर्मों में वासना शून्यता के सिवाय दूसरा कोई अंतर नहीं होता है अर्थात् तत्त्वज्ञानी वासना रहित होकर कर्म करता है और अज्ञानी वासना युक्त होकर कर्म करता है। यह सम्पूर्ण संसार प्रलय के समय नष्ट हो जाता है और फिर सृष्टि के समय उत्पन्न हो जाता है, इसलिए यह असत् है। मगर जो न कभी नष्ट होता है और न ही कभी उत्पन्न होता है, वही सत्य स्वरूप चेतन ब्रह्म है।

जो पुरूष अपनी इन्द्रियों को अन्तर्मुखी करके अभ्यास करता हुआ सदा ब्रहा के आनन्द में मग्न हो शांत और उदार भाव से कार्य करता है, वह कर्तापन दोष से रहित होता है। जो समस्त संकल्प विकल्प से रहित हो अपनी हृदय गुफ़ा में अर्थात् हृदयकाश में विराजमान हो स्थित रहता है, वह अपने आत्मा में रमण करने वाला परमेश्वर ही है, क्योंकि उसमें बाह्य तथा आंतरिक विषयों का सर्वथा अभाव रहता है। वह समस्त कल्पनाओं से परे होता है। उसे ज्ञात होता है कि वह निर्मल अनन्त चेतन है तथा सब कुछ अनन्त चेतन मात्र ही है। विशुद्ध ज्ञानस्वरूप परमात्मा में विशुद्ध ज्ञान स्वरूप परमात्मा ही है। उसमें भेद ज्ञान की दृष्टि नहीं होती है, अतः वह किसी वस्तु को अपने से भिन्न नहीं मानता है। जीवित रहकर व्यवहार परायण होता हुआ भी परम् शांत रहता है। तत्त्वज्ञानी पुरूष की यह जो स्थिति है, वह अन्दर और बाहर के साधनों से रहित सम है। अनावृत स्वप्रकाश निरतिशय आनन्द रूप से स्थित हुए तत्त्वज्ञानी पुरूष संसार के आन से रहित तथा दुःखों से शून्य रहते हैं। परमात्म ज्ञान के साथ सांसारिक पदार्थों के ज्ञान से युक्त हो मनुष्य तत्त्वज्ञानी बन जाता है। जो मनुष्य परमात्म ज्ञान से रहित होता है उसे पशु के समान होने की

संज्ञा दी जाती है। परन्तु जो मनुष्य परमात्मा के ज्ञान से रहित तथा सांसारिक पदार्थों के ज्ञान से शून्य से होता है, वह पशु-पक्षी एवं वृक्ष आदि बन जाता है।

तत्त्वज्ञान का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर इच्छा ब्रह्मस्वरूप ही हो जाती है, उससे भिन्न नहीं रहती है। जैसे सूर्य के उदय होने पर रात्रि विलीन हो जाती है, वैसे ही आत्मज्ञान हो जाने पर इच्छा आदि सभी विकार शांत हो जाते हैं। जैसे-जैसे ज्ञान का उदय होता है, वैसे-वैसे द्वैत की शांति तथा वासना का विनाश होता जाता है। ऐसी अवस्था में इच्छा कैसे उत्पन्न हो सकती है? सम्पूर्ण दृश्य पदार्थों से वैराग्य हो जाने के कारण जिस पुरूष की किसी विषय में इच्छा उत्पन्न ही नहीं होती है, उस पुरूष की अविद्या शांत हो जाती है, तब दृश्य पदार्थ विषयक वैराग्य और अनुराग दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। इस अवस्था में तत्त्वज्ञानी की इच्छा और अनिच्छा दोनों ही ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं। तत्त्वज्ञानी में इच्छा उत्पन्न नहीं होती है, इसमें जरा भी संशय नहीं है। जिस प्रकार प्रकाश और अंधकार दोनों एक साथ नहीं रह सकते हैं, उसी प्रकार इच्छा और तत्त्वज्ञान दोनों एक साथ नहीं रह सकते हैं। जिसकी सारी इच्छाएँ शांत हो गई हैं, उसे किस प्रयोजन से क्या उपदेश दिया जा सकता है? समस्त इच्छाओं का अत्यन्त क्षीण हो जाना ही आत्मानन्द का अनुभव है, यही तत्त्वज्ञान प्राप्ति का लक्षण है। तत्त्वज्ञानी को जब किसी भी भोग पदार्थ में स्वाद का अनुभव नहीं होता है, तब उसे सारा दृश्य जगत् फीका लगने लगता है। उस समय उसकी इच्छा का प्रसार रुक जाता है। एकता और अनेकता अर्थात् द्वैत और अद्वैत के प्रपंच से मुक्त होकर शांत हो जाता है। उसे इच्छा-अनिच्छा, अपने-पराये, जीवन-मरण आदि से कोई मतलब नहीं रहता है।

जिस तत्त्वज्ञानी को मोक्ष का तत्त्वज्ञान हो जाता है, उसके अन्दर यदि इच्छा उत्पन्न भी हो जाए, तो भी वह शाश्वत ब्रह्म स्वरूप ही होती है। यह सम्पूर्ण जगत् न दुःख स्वरूप है और न ही सुख स्वरूप है, बल्कि शिव स्वरूप और शांत है। ऐसी भावना से जिसका अन्त:करण पत्थर के समान दृढ़ हो जाता है, उसे तत्त्वज्ञानी कहा जाता है। जगत् की सत्ता का अभाव समझ में आ जाने पर और दृश्य के अनुभव रहित हो जाने पर चिन्मय आकाश ही सर्वत्र व्याप्त दिखाई देता है। ब्रह्म का स्वरूप सबसे सूक्ष्म है। इसलिए जो-जो वस्तु जिस-जिस रूप से अत्यन्त अणु स्वरूप है, वह उसी-उसी रूप में सूक्ष्म-भूत ब्रह्म वस्तु है। ऐसी दशा में ब्रह्म-वस्तु ही सर्वत्र वर्तमान है। इस जगत् को जिसने जिस तरीके से अभ्यास के द्वारा देखा उसे वस्तुतः यह ब्रह्म रूप ही दिखाई दिया। जैसे सोने के आभूषण सैंकड़ो रूपों में परिवर्तित हो जाने पर भी तत्त्व रूप से सोना ही रहता है, वैसे ही शांत ब्रह्म के अनेक रूप जगत्-जीव और जीव भाव में परिणित होने पर वह उनमें अपने शांत ब्रह्म स्वरूप से ही स्थित रहता है।

तत्त्वज्ञानी पुरूष ने संसार को क्षीण कर देने वाले स्वाभाविक सत्य अर्थ का साक्षात् कर लिया है। इसी कारण वह संकल्प रहित हो जाता है, क्योंकि वह संकल्प को आत्मा से पृथक मानता ही नहीं हैं। इसलिए संकल्प आभास असत् है। उसके सारे आवरण क्षीण हो जाते हैं तथा उसका चित्त ज्ञान लोक से प्रकाशित हो जाता है। तत्त्वज्ञान से देखने पर इस संसार का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता है। संसार सदा के लिए सत्ताहीन हो जाता है, इसलिए जगत् का रूप स्वरूप रहित है। ब्रह्म स्वयं अपने आप में स्थित है। तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो जाने से जाग्रत के समय जो राग और वासना से रहित सुषुप्त अवस्था प्राप्त होती है, उसे तत्त्वज्ञानी पुरूष स्वभाव कहते हैं और उसमें निष्ठित हो जाना मुक्ति कहा जाता है। ऐसी निष्ठा प्राप्त हो जाने पर तत्त्वज्ञानी को कर्ता, कर्म और कारण से शून्य, बाह्य और आंतरिक विषयों से रहित ब्रह्म ही जगत् रूप से स्थित अनुभूत होता है अर्थात् जगत् ब्रह्म स्वरूप ही प्रतीत होता है। उस तत्त्वज्ञानी को ऐसा दिखाई देता है जैसे प्रकाशमान वस्तु में प्रकाशमान वस्तु प्रकाशित हो रही है अर्थात् पूर्ण में पूर्ण स्थित है। द्वैत और अद्वैत से रहित ब्रह्म ही अखण्ड रूप में स्थित है। चित्त की वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाने पर सारे संकल्प शांत हो जाते हैं। जैसे जाग्रत पुरूष के लिए स्वप्न नष्ट हो जाता है, वैसे ही तत्त्वज्ञानी की दृष्टि में यह सारा जगत् नष्ट हुए के समान ही दिखाई देता है। जब कोई उपदेशक या प्रवचन कर्ता अविद्या स्वरूप किसी काल्पनिक उपदेश या प्रवचन में कहता है– "मैं कृतार्थ हो गया" अथवा अपने को कृतार्थ मानने लगता है, वह अज्ञानी होने के कारण वास्तव में अकृतार्थ ही है। वह मूर्खता से मोहित होकर ही ऐसा समझने लगता है। मगर जब उसे विभिन्न प्रकार के कष्ट आ जाते हैं, तब उसे अपनी अकृतार्थता का ज्ञान होता है। अतः कृतार्थ होने का यही उपाय है कि जगत् भ्रम का पूर्णतया ज्ञान हो जाने पर जो वासना रहित स्थिति प्राप्त होती है, उसे कृतार्थ होना कहा जाता है। उसके प्राप्त हो जाने पर सम्पूर्ण जगत् स्वयं नीरस हो जाते हैं।

यदि इस जगत् को तत्त्वज्ञान की दृष्टि से देखा जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि सृष्टि का वास्तव में कोई कारण नहीं है। इसलिए यह न उत्पन्न होती है और न ही नष्ट होती है। जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य उत्पन्न होता है। जब सृष्टि का कारण ही कल्पित और मिथ्या है, तब उससे होने वाली सृष्टि भी कल्पित और मिथ्या ही सिद्ध होती है। जैसे समुद्र में उत्पन्न होने वाली लहरें आदि उसी का ही रूप है, उसी प्रकार विकार रहित परमात्मा में जगत् और चित्त आदि स्थित हैं। जगत् और चित्त परमात्मा से भिन्न नहीं हैं। परमात्मा अपने उदर में अनेक ब्रह्माण्ड धारण करने वाला एक ही है। तत्त्वज्ञानी पुरूष स्वप्न काल में स्वप्न को जाग्रत रूप मानते हैं, क्योंकि उसने वासनाओं से युक्त मन को ग्रहण नहीं किया है। उसी को योगनिद्रा भी कहते हैं तथा वह जाग्रत काल में जाग्रत को भी स्वप्न समझते हैं, क्योंकि उन्हें आत्मबोध हो चुका है। तत्त्वज्ञानी होते ही इन्द्रियों के बार-बार सम्पर्क में आने पर भी यह दृश्य जगत् मिथ्या सिद्ध हो

जाता है। जैसे अग्नि में घी और ईंधन सब विलीन होकर एक रूप हो जाते हैं, वैसे ही ज्ञान काल में जगत्, मन और द्रष्टा आदि सब एक मात्र ब्रह्म भाव को प्राप्त हो जाते हैं। तत्त्वज्ञानी पुरूष अत्यन्त तुच्छता को प्राप्त हुआ धन विद्यमान होने पर भी उसमें रूचि नहीं लेता है, बल्कि स्वप्न की भाँति उसे मिथ्या समझ लेने के कारण वह उसमें रस नहीं लेता है। जैसे मृगतृष्णा का मिथ्या जल किसी की प्यास नहीं बुझा सकता है, वैसे ही असत् पदार्थ किसी भी तत्त्वज्ञानी पुरूष को कैसे रूचिकर प्रतीत हो सकता है? ऐसा कौन-सा पुरूष होगा जो स्वप्न को स्वप्न समझ लेने पर उसमें देखी हुई वस्तु को प्राप्त करने के लिए चल देगा। जब इस जगत् को स्वप्न के समान मिथ्या समझ लिया जाए, तब उसके प्रति होने वाली आसक्ति दूर हो जाती है तथा द्रष्टा और दृश्य के सम्बन्ध में जो चेतन तथा जड़ ग्रन्थि रूप दोष प्राप्त हुआ है, उसका विच्छेद हो जाता है। यह दिखाई देने वाला भ्रान्ति-पूर्ण सम्पूर्ण जगत् अज्ञान के द्वारा दिखाई देता है। परन्तु तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जाने पर सब ओर फैले हुए सूर्य के प्रकाश के समान प्रकाशित हो जाता है। जैसे बादलों के हट जाने पर स्वच्छ आकाश दिखाई देता है, उसी प्रकार जगत् की भ्रान्ति दूर हो जाने पर शुद्ध परमात्मा का अनुभव हो जाता है।

मनुष्य को उद्धार करने के लिए अभ्यास के द्वारा वासना को क्षीण करने के सिवाय दूसरा और कोई उपाय कभी सफल नहीं होता है। इन भौतिक पदार्थों में अनुकूल बुद्धि होने पर वासना होती है। मगर इन भौतिक पदार्थों की सत्ता खरगोश के सींग के समान होती ही नहीं है, फिर भी इनमें बनी रहने का क्या कारण है? वासना से रहित हो जाने पर सभी जीव समान हो जाते हैं। परन्तु वासना की विषमता के कारण वे सूखे हुए पत्ते के समान उड़-उड़कर कर्म भोगने के लिए स्वर्ग-नरक आदि विभिन्न लोकों में गिरते हैं। जगत् के सभी पदार्थ तभी तक अच्छे प्रतीत होते हैं, जब तक उनके स्वरूप पर सम्यक विचार नहीं किया जाता है। विचार करने पर इन पदार्थों की सत्ता ही सिद्ध नहीं होती है अतः वह अदृश्य होकर न जाने कहाँ विलीन हो जाते हैं। यह ज्ञान अभ्यास के द्वारा परिपक्व हुए बिना मन के अन्दर वैसे ही प्रवेश नहीं करता है, जैसे कमण्डल आदि के आकार में परिणित हुए बिना काठ (लकड़ी) में जल नहीं टिक सकता है। एक मात्र योग के अभ्यास द्वारा बोध में विश्राम प्राप्त होने पर द्वैत और अद्वैत की दृष्टि शांत हो जाती है। जिन्होंने मोह, अभिमान और आसक्ति पर विजय प्राप्त कर ली है तथा नित्य ज्ञान में लीन रहते हैं, जिनकी कामनाएं पूर्ण रूप से निवृत हो गई हैं तथा सुख-दुःख आदि द्वन्दों से मुक्त हैं, ऐसे ज्ञानी पुरूष अविनाशी पद को प्राप्त होते हैं।

ब्रह्म की सत्ता स्वरूप प्रकृति स्वयं ही अपने से अपना सृजन करती है तथा उसी के प्रभाव से अविद्या एवं अनादि रूप से अनुभूति होती है। ज्ञान दृष्टि से सभी कुछ क्षण भर में ही इसकी जानकारी हो

जाती है। अन्य दृष्टि से अथवा अन्य किसी प्रकार से इस विषय में नहीं जाना जा सकता है। इसलिए तत्त्वज्ञानी पुरूष ज्ञान दृष्टि सिद्ध वस्तु को ही सारभूत मानते है। पूर्णता के प्राप्त होने अर्थात् पूर्ण दृष्टि होने पर ज्ञानता और अज्ञानता एवं सत् और असत् की स्थिति में कुछ भी अंतर या भेद नहीं है, क्योंकि सत्य ब्रह्म में सत् और असत् दोनों एक समान ही हैं। जिसका चित्त अन्तर्मुखी होकर निजस्वरूप में अथवा ईश्वर में लगा हुआ है, उसे सुख के साधन सुख तथा दुःख के साधन दुःख नहीं दे सकते हैं। ब्रह्म में निष्ठा रखने वाले तत्त्वज्ञानी पुरूष की बुद्धि कभी विचलित नहीं होती है। वह एक मात्र चेतन आकाश स्वरूप परमात्मा के चिंतन में दृढ़ता पूर्वक मग्न होने के कारण लौकिक सुख का अनुभव नहीं करता है। सांसारिक व्यवहार में लगे होने पर मन किसी भी पदार्थ के प्रति आसक्त नहीं होता है। प्रारब्ध अनुसार जो कुछ मिल जाए उसी से निर्वाह करता है। जन्म-मृत्यु आदि सांसारिक दुःखों से ऊपर उठकर ऐसा तत्त्वज्ञानी पुरूष आत्मा में अवस्थित हो जाता है।

अज्ञानी की दृष्टि में जो स्फुरित होने वाला संसार है, वह तत्त्वज्ञानी की दृष्टि में नष्ट हुए के समान हो जाता है। तत्त्वज्ञानी चाहे अज्ञानियों की भाँति भौतिक संसार में व्यवहार करने में लगा हो, तो भी पहले की भेद बुद्धि नष्ट हो जाती है। वास्तव में यहाँ पर अज्ञान, भ्रम, दुःख-सुख, विद्या-अविद्या आदि सब कुछ ब्रह्म ही तो है। जिसको ज्ञान प्राप्त हो गया हो वह पुरुष चेतन स्वरुप में स्थित रहता है। चाहे वह समाधि लगाए हुए बैठा हो और चाहे संसार में व्यवहार कर रहा हो, वह सदा अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है अर्थात् वह चाहे समाधि में स्थित रहे अथवा व्यवहार में रहे, वह सदैव एक-सा रहता है। ज्ञानी पुरुष सब कुछ देखता हुआ भी निष्क्रिय रहता है। ऐसे तत्त्वज्ञानी को समाधि काल में ब्रह्म नामक चेतन-स्वरूप परमार्थ सत्य का तथा व्यवहार करते समय विश्वरूप नामक चेतन स्वरूप का सर्वत्र दर्शन होता है। उसे सृष्टि और प्रलय भी चिन्मात्र ही प्रतीत होते हैं। सम्यक ज्ञान होने पर शरीर से सम्बन्ध रखने वाले भोग पदार्थों तथा उनकी प्राप्ति के उपायों से सर्वथा विरक्ति रहती है। ज्ञान से वैराग्य की, वैराग्य से ज्ञान की वृद्धि होती है। ज्ञान का ज्ञानत्व इतना ही है कि उससे वैराग्य की वृद्धि हुई और वैराग्य होने से ज्ञान सार्थक समझा जाता है। ज्ञान और वैराग्य रूपी उत्कृष्ट धन ही मोक्ष कहलाता है। मोक्ष को प्राप्त हुए तत्त्वज्ञानी पुरूष को कभी शोक या दुःख की अनुभूति नहीं होती है। सैकड़ों हजारों प्रयत्नशील पुरूषों में से कोई विरला ही योग का अभ्यासी बलवान और उत्साही होता है जो इस जगत् के वासना जाल को इस तरह छिन्न-भिन्न कर डालता है, जैसे कोई सिंह मजबूत लोहे के पिंजरे को तोड़ डालता है। ऐसे महापुरूष के अन्दर वासना-शून्य भाव प्रकट होने पर सुदृढ़ बोध (ज्ञान) की प्राप्ति होती है, तब उसकी बुद्धि एक मात्र पर-ब्रह्म में ही स्थिर हो जाती है। इसके पश्चात अनन्त शांति का (मोक्ष) का उदय होता है।

यह सम्पूर्ण जगत् मन से ही व्याप्त है। तत्त्वज्ञान प्राप्त होने पर जब मन विलीन हो जाता है, तब सर्वव्यापी ब्रह्म ही शेष रहता है अर्थात् मन से भिन्न केवल परमात्मा ही शेष रहते हैं। परमात्मा सर्वव्यापी तथा सभी का आधार है तथा परमात्मा की शक्ति से ही मन को शक्ति मिलती है। इसी शक्ति से सम्पन्न होकर मन सम्पूर्ण संसार में दौड़ लगाता रहता है, वही विभिन्न शरीरों का कारण है। ऐसा समझो की मन ही जन्म लेता है और मन ही मरता है, क्योंकि इन गुणों अथवा भावों का विकार आत्मा में नहीं है। मन के विलीन होने मात्र से जीव को मुक्ति की प्राप्ति होती है, फिर वह इस संसार में जन्म ग्रहण नहीं करता है।

जिन अभ्यासियों ने योग के अभ्यास द्वारा अपना विकास कर लिया है, उनमें तीन प्रकार के आकाश विद्यमान रहते हैं। **एक**– भूताकाश, **दो**– चित्ताकाश, **तीन**– चिदाकाश।

भूताकाश– यह आकाश दसों दिशाओं में मण्डलाकार विस्तार से युक्त है। वायु और मेघ आदि का यह आकाश आश्रय होता है। यह भूतात्मक आकाश ही भूताकाश कहा जाता है।

चित्ताकाश– यह इन्द्रियों और महाभूतों से श्रेष्ठ है जिसने अपने संकल्प के द्वारा इस सम्पूर्ण जगत् का विस्तार किया है। वह समस्त प्राणियों का हितकारी संकल्पात्मक मन ही चित्ताकाश कहा जाता है।

चिदाकाश– जगत् उत्पत्ति और विनाश का ज्ञाता है तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियों में व्यापक है। जो अन्दर और बाहर से परिपूर्ण है, वह परमात्मा ही चिदाकाश कहलाता है।

भूताकाश और चित्ताकाश ये दोनों परमात्मस्वरूप चिदाकाश की शक्ति से उत्पन्न हुए हैं। जिसे ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान नहीं है, उसके लिए तीनों आकाशों की कल्पना हुई है। जिसे ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान हो गया है अर्थात् जो बोध को प्राप्त हो गया है उसके लिए यह कल्पना नहीं है, क्योंकि ब्रह्मज्ञानी की दृष्टि में तो सर्वव्यापी एक मात्र चेतन ब्रह्म ही नित्य स्थित है। अज्ञानी पुरूष को ही द्वैत-अद्वैत के भेदों को समझाने के लिए तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया जाता है। जो पुरुष तत्त्वज्ञानी है, उसे तत्त्वज्ञान का उपदेश नहीं दिया जाता है।

जो पुरूष इस संसार में भोग पदार्थों को भोग-भोग कर थक चुका है तथा जिसे समझ में आने लगा है कि यह संसार दुःख स्वरूप व बन्धन ही है, ऐसे पुरूष के लिए मोक्ष प्राप्ति का ज्ञान तथा वासना रहित बनने का ज्ञान शांति प्रदान करने वाला है। वास्तव में जगत् रूपी पदार्थ अनिर्वचनीय हैं। इस जगत् को तत्त्वज्ञानी जैसा समझता है वैसा अज्ञानी पुरूष नहीं जानता है और जैसा अज्ञानी जानता है वैसा तत्त्वज्ञानी पुरूष नहीं समझता है अर्थात् अज्ञानी के लिए यह जगत् दुःख स्वरूप ही है। मगर तत्त्वज्ञानी के लिए यह जगत् चेतन ब्रह्म स्वरूप है। तत्त्वज्ञानी के लिए जगत् की भ्रान्ति समाप्त हो जाने पर यह जगत् नष्ट हुए के

समान हो जाता है। जैसे खूब जले हुए घास-फूस की राख वायु के वेग से उड़कर न जाने कहाँ विलीन हो जाती है, वैसे ही योग के अभ्यास के द्वारा अपने निज स्वरूप में स्थिति प्राप्त हो जाने पर जगत् का अस्तित्व न जाने कहाँ विलीन हो जाता है।

ज्ञान की सात भूमियाँ होती हैं। जब अभ्यासी पुरूष ज्ञान की चौथी भूमि पर अभ्यास कर रहा होता है, तब उसे जीवन्मुक्त कहते हैं। मुक्ति के लिए चौथी भूमि पर किया गया अभ्यास पर्याप्त नहीं है। धीरे-धीरे उसे अपना अभ्यास बढ़ाना होगा और जब छटवीं भूमि पर (तुरीयावस्था) परिपक्व हो जाती है, तब उसे पूर्ण रूप से जीवन्मुक्त कहा जाए तो उचित होगा अर्थात् तुरीयावस्था को प्राप्त हुआ पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है। उसे जाग्रत अवस्था जब स्वप्न -सी भासित होने लगती है, तब इस अवस्था में चित्त का अरूप नाश हो जाता है। अरूप में ही चित्त की भूमियाँ होती हैं। इसी भूमि पर प्राणी द्वारा किए गये कर्मों के कर्माशय विद्यमान रहते हैं। अभ्यास के द्वारा धीरे-धीरे कर्माशयों का नाश होता है तथा चित्त की भूमि टूटने लगती है। भूमि में बड़े-बड़े छिद्र होने लगते हैं तथा अनुभव में भी कभी-कभी ये छिद्र दिखाई भी देते हैं। इसका वर्णन चित्त वाले पाठ में किया गया है। जीवन्मुक्त पुरूष सांसारिक व्यवहार करते रहते हैं।

ज्ञान की छटवीं भूमि पर जब अभ्यास परिपक्व हो जाता है, तब वह सातवीं भूमि अर्थात् ज्ञान के सर्वोच्च स्थान पर आरूढ़ हो जाता है। इस अवस्था को तुरीयातीत कहते हैं। यह अवस्था विदेह मुक्त पुरूषों की होती है। विदेह मुक्त पुरूषों में लेशमात्र भी देहाभिमान नहीं होता है। उनके लिए जाग्रत अवस्था सुषुप्त के समान हो जाती है तथा चित्त का स्वरूप भी नष्ट हो जाता है। चित्त का स्वरूप नष्ट हो जाने के कारण उन्हें जगत् का भान बिल्कुल नहीं रहता है, तब वे पूर्ण रूप से ब्रह्म में स्थित हो जाते हैं। अब प्रश्न किया जा सकता है– यदि चित्त नष्ट हो गया है तो उनका शरीर कैसे सधा हुआ है तथा वे भोजन कैसे करते हैं? समाधान- प्रारब्ध वेग के कारण उनका शरीर सधा रहता है, जैसे तीर कमान से छूटने के बाद भी आगे की ओर गति करता है। तीर की जो आगे की ओर गति होती है, उसमें कमान के द्वारा शक्ति लगी होती है। भोजन करते समय वह मात्र कुछ समय के लिए व्युत्थान अवस्था में आता है, मगर उसे भोजन के स्वाद की अनुभूति नहीं होती है, सिर्फ आभास होता है। ऐसे पुरूषों को भोजन दूसरे मनुष्य ही उपलब्ध कराते हैं। वह भोजन प्राप्त करने के लिए संसार में व्यवहार नहीं करता है। ऐसे महापुरूष स्वयं अपने आप में स्थित रहते हैं। संसार से उनका कुछ लेना देना नहीं होता है। अभ्यासी पुरूष जब सातवीं भूमि पर प्रवेश करता है, तब उसे किसी प्रकार की समाधि लगाने की आवश्यकता नहीं होती है, क्योंकि वह सहज अवस्था में स्थित रहता है। ऐसे पुरूषों पर माया का प्रभाव बिल्कुल नहीं पड़ता है, बल्कि माया उनसे दूर

खड़ी रहती है। ऐसे महापुरूष संकल्प के द्वारा सिद्धियों को प्रकट कर सकते हैं, क्योंकि प्राकृतिक पदार्थों पर इनका पूर्ण अधिकार होता हैं।

भक्त योगी अपनी सत्ता को ब्रह्म में विलीन नहीं करना चाहते हैं। वे अपना अस्तित्व खोना नहीं चाहते हैं, क्योंकि उन्हें ज्ञानियों के समान मुक्ति मंजूर नहीं है। वे चिन्मय अक्षरीय देह प्राप्त करके अनन्त काल तक ईश्वरीय आनन्द की अनुभूति करना चाहते हैं। दूसरे शब्दों में कहें- भक्त योगी सदैव ईश्वर का चिंतन करता रहता है, क्योंकि ईश्वर का चिंतन करना ही उसका स्वभाव होता है। इसलिए उनका द्वैत भाव कभी समाप्त नहीं होता है। द्वैत भाव समाप्त ना होने के कारण चित्त का नाश नहीं होता है। उनके चित्त पर सात्विक वृत्तियाँ विद्यमान रहती हैं। वे स्थूल शरीर त्यागने के बाद ईश्वर के लोक में स्थित हो जाते हैं। उन्हें उनकी भावनानुसार चार प्रकार की मुक्तियों में से एक प्रकार की मुक्ति प्राप्त हो जाती है तथा वहाँ अनन्त काल तक ईश्वरीय आनन्द की अनुभूति करते रहते हैं। अंत में ईश्वर के अन्त:करण में विलीन हो जाते हैं।

आत्मानन्द, निजानन्द, चिदानन्द और ब्रह्मानंद इन सभी शब्दों को पर्यायवाची शब्द समझना चाहिए। इस आनन्द की मुक्त योगी पुरूष ही अनुभूति करता है, मगर विषयानन्द पशु, पक्षी, कीड़े आदि भोगते हैं। मनुष्य भी यदि इसी तरह विषयों का आनन्द भोगता रहा तो मनुष्य और पशु-पक्षी में कुछ भी अंतर नहीं रहता है। मनुष्य का शरीर प्राप्त हुआ है तो ब्रह्मानंद अथवा ईश्वरीय आनन्द प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। ब्रह्मानंद की प्राप्ति ब्रह्म साक्षात्कार होने पर होती है। ब्रह्मानंद को ब्रह्मज्ञान भी कहते हैं। स्कूल, कालेज व विश्वविद्यालयों में कोई चाहे जितनी शिक्षा ग्रहण कर ले, चाहे जितना भी शास्त्रों को पढ़ले अर्थात् शब्द ज्ञान में चाहे जितना विद्धान हो जाए मगर उसे ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि पुस्तकों को रटने व शास्त्र-ज्ञान से अज्ञान और अविद्या के बन्धन को नष्ट नहीं किया जा सकता है। बन्धन तभी टूटता है जब अविद्या का नाश होता है। शब्दों के ज्ञान से अगर मोक्ष मिलता होता तो भूलोक के ना जाने कितने ही मनुष्यों को मोक्ष मिल गया होता अर्थात् सभी पढ़े लिखे मनुष्य इस संसार को पार करके मोक्ष को प्राप्त कर चुके होते। कुछ शिक्षित पुरूषों को अहंकार होता है कि उन्होंने इतनी उपाधियाँ प्राप्त कर ली हैं, मगर ऐसे पुरूषों का ज्ञान मिथ्या ज्ञान होता है। उनकी उपाधियाँ उन्हें इस संसार से अथवा दु:खों से निवृत्ति नहीं दिला सकती हैं। तत्त्वज्ञान के समक्ष समस्त लोकों का सम्पूर्ण ज्ञान नगण्य है। ऐसे पुरूषों को (सांसारी) अपने ज्ञान का अभिमान त्याग देना चाहिए तथा सदगुरू के मार्गदर्शन में वैराग्य युक्त होकर ब्रह्मज्ञान प्राप्ति के लिए अभ्यास करना चाहिए। अभ्यास करते हुए जब कई जन्म बीत जाएँगे तब आखिरी जन्म में ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हो जाएगी। ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति पर अविद्या का पूर्ण नाश

हो जाता है तथा सांसारिक बन्धन भी टूटकर नष्ट हो जाते हैं। ऐसा पुरूष अपने निज स्वरूप में स्थित हो जाता है, जिसे मोक्ष कहते हैं। एक बात महत्वपूर्ण है कि आत्मा से मोक्ष प्राप्त नहीं होता है, बल्कि आत्मज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है। आत्मा तो सबके अन्त:करण में स्थित है पर सभी प्राणी मुक्त तो नहीं हैं। अविद्या के बन्धन से छुड़ाने वाला आत्मज्ञान शब्द ज्ञान नहीं है। जिज्ञासु अच्छी तरह से जान लें कि आत्माकार वृत्ति को ही आत्मज्ञान कहते हैं।

निर्बीज समाधि में वृत्तियों के निरोध का प्रयास किया जाता है। अभ्यास करते-करते साधक बिना प्रयास किए ही समाधिस्थ हो जाता है। उस समय ब्रह्म अनुभूति के कारण किसी प्रकार की वासना नहीं रहती। इस अवस्था में संसार की अनुभूति नहीं होती है। उसे ज्ञान हो जाता है कि सर्वत्र ब्रह्म ही है। संसार का अस्तित्व नहीं है अर्थात् संसार की सत्ता ही नहीं है। जो कुछ भासित हो रहा है, वह ब्रह्म का संकल्प होने के कारण ब्रह्म स्वरूप ही है। ऐसा वृत्ति निरोध होने पर होता है, मगर समाधि भंग होने पर यह संसार जड़ दिखाई देने लगता है। योगी यह न सोचे कि मुझे तो समाधि में आत्म-साक्षात्कार हो चुका है अथवा मैं आत्मा में स्थित हो चुका हूँ। यह जड़ संसार हमसे भिन्न है और अब हमारा इस संसार से किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है। चेतन आत्मा को अपना स्वरूप मानना तथा संसार को जड़ मानना अथवा जड़ रूप में देखना व्यतिरेक योग है। इस अवस्था को जीवन्मुक्त अवस्था कह सकते हैं, क्योंकि जन्म-मृत्यु से छुटकारा भी मिल जाता है मगर मुक्ति मृत्यु के पश्चात ही मिलेगी। पूर्णता प्राप्त करने के लिए अन्वय योग का अभ्यास करना अति आवश्यक है। अन्वय योग समदर्शन या समता के द्वारा प्राप्त होता है। समस्त प्राणियों को अपना ही स्वरूप मानना अर्थात् इस संसार में भासित होने वाले सब शरीर मेरे ही हैं, सर्वत्र मैं ही हूँ, ऐसा अनुभव करना। जिस ज्ञान से सारा जड़ संसार चिन्मय दिखाई देने लगे वही पूर्ण ज्ञान है अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ', 'यह सब कुछ ब्रह्म ही है'। सोने में गहनों को देखना व्यतिरेक है तथा गहनों में सोने को देखना अन्वय है। इसी प्रकार ब्रह्म में जगत् को देखना व्यतिरेक है और जगत् में ब्रह्म को देखना अन्वय है। व्यतिरेक योग से आवरण नष्ट होता है तथा अन्वय योग से विक्षेप नष्ट होता है। व्यतिरेक ज्ञान एकदेशीय होने से अपूर्ण है, इसलिए अन्वय ज्ञान ही पूर्ण है।

चेतनतत्त्व का त्रिगुणात्मक प्रकृति से अपने आपको अलग करके अपने स्वरूप में स्थित होने को कैवल्य कहते हैं। कैवल्य प्राप्ति का उपाय विवेक ज्ञान है। निर्विचार समाधि की चरम अवस्था में ऋतम्भरा-प्रज्ञा का उदय होता है। फिर अभ्यास के द्वारा इस ऋतम्भरा-प्रज्ञा का क्रम विकास होता है। प्रज्ञा की चरम अवस्था में अविवेक को दूर करने के लिए जड़ तत्त्व से चेतन पुरूष को क्रमशः अलग करके अपने स्वरूप में स्थित करते हैं। यह विवेक-ख्याति अवस्था प्राप्त किए बिना सम्भव नहीं है। विवेक-

ख्याति के फलस्वरूप ब्रह्म के स्वरूप का दर्शन होता है, तब उसे चिदालोक में अपरिणामी पुरूष (ईश्वर) और परिणामी गुण देखने को मिलते हैं, तब पर-वैराग्य का उदय होता है। अभ्यास के द्वारा पूर्ण विवेक हो जाने पर जीवात्मा अपना जीवत्व त्याग कर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। अब यहाँ पर थोड़ा दूसरे ढंग से वर्णन कर रहा हूँ। चेतन तत्त्व एक बार में ही अपने स्वरूप में स्थित नहीं हेाता है, बल्कि धीरे-धीरे अभ्यास के द्वारा स्थित होने का समय बढ़ता रहता है।

जड़ सत्ता से अलग होने पर जीवात्मा को पूर्णत्व प्राप्त नहीं होता है। जब तक उसमें शिवत्व का विकास नहीं होता है, तब तक पूर्णत्व सम्भव नहीं है। चितिशक्ति का (उन्मनी शक्ति) विकास हुए बिना जीवात्मा को शिवरूप में नहीं पहचाना जा सकता है। चितिशक्ति चित्तस्वरूप शिवभाव के साथ नित्य विद्यमान है। चिति शक्ति का पूर्ण विकास होने पर जीवात्मा शिव रूप में प्रकाशवान हो जाता है, तब चितिशक्ति निवृत हो जाती है तथा शिव शक्ति अभिन्न होकर प्रकाशित हो जाती है।

ज्ञान मार्ग में (सांख्य योग में) विवेक ज्ञान के द्वारा कैवल्य की प्राप्ति होती है। इस स्थिति में चेतन तत्त्व जड़ तत्त्व से अलग होकर निजस्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। योग के द्वारा एक ओर अवस्था प्राप्त होती है, उसे प्रकृति ऐश्वर्य कहा जाता है। विवेक के द्वारा प्रकृति और चेतन तत्त्व अलग हो जाते हैं। चेतन तत्त्व अपने को जड़ तत्त्व से अलग समझता है। योग के द्वारा प्रकृति और जीवात्मा एक हो जाते हैं। यही अवस्था ईश्वर की है। एक मार्ग से कैवल्य तथा दूसरे मार्ग से ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। विवेक मार्ग में प्रकृति को क्रमशः त्यागना पड़ता है और योग मार्ग में प्रकृति को अपनाना पड़ता है। प्रकृति को अपना बनाने को ही अन्वय योग कहते हैं। उसे अपना बना लेना तभी सम्भव है जब स्थूल से लेकर चित्त तक की मलिनता दूर हो जाए। आसक्ति और अहंकार के रूप में यह मलिनता अस्मिता समाधि के बाद भी विद्यमान रहती है। इसको दूर किए बिना प्रकृति को अपना बना लेना सम्भव नहीं है। इससे ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। इसे इच्छा शक्ति का पूर्णत्व कहते हैं। इस इच्छा शक्ति का भी समर्पण करना पड़ता है, तब महा इच्छा प्रकट होती है। इसी के द्वारा विश्व कल्याण सम्भव होता है। ऐसा महापुरूष ब्रह्म में स्थित हुआ जगत् का कल्याण करता है। दोनों प्रकार के योग में भले ही अलग-अलग अवस्था भासित हो मगर दोनों ब्रह्मस्वरूप ही होते हैं। ज्ञान मार्ग में जगत् का अस्तित्व भ्रम-स्वरूप बताया गया है। जैसे समुद्र में लहर उत्पन्न होती हैं, तो समुद्र और लहर में कोई अंतर नहीं होता है, चाहे समुद्र शांत हो अथवा वायु के कंपन से लहर प्रकट हो जाए। दोनों अवस्थाओं में जल अपने स्वरूप से विद्यमान रहता है। जल के स्वरूप में किसी भी प्रकार का फर्क नहीं आता है। कंपन शांत हो जाने पर लहरों का अस्तित्व नहीं रहता है। इसी प्रकार ब्रह्म एक स्वरूप में रहे अथवा भिन्न-भिन्न स्वरूप वाला हो जाए, उसके स्वरूप पर किसी प्रकार

का अंतर नहीं पड़ता है। वह अपने स्वरूपों में ही स्थित रहता है। सिर्फ अविद्या के कारण ब्रह्म और जगत् में भिन्नता दिखाई देती है। मनुष्य का परम् कर्तव्य है कि वह अपनी अविद्या को नष्ट कर दे। अविद्या के नष्ट होते ही वह अपने स्वरूप में स्थित हो जाएगा।

अभ्यास के द्वारा जब चित्त का विक्षेप व चित्त पर स्थित आवरण दूर हो जाते हैं अर्थात् चित्त पर स्थित मल नष्ट हो जाता है, तब आत्मज्ञान का प्रकाश चित्त पर पड़ने के कारण चित्त चिन्मय सा हो जाता है। उस समय इन्द्रियों से सम्बन्धित वृत्तियाँ बहिर्मुखता को त्याग कर अन्तर्मुखता को धारण करती हैं। इसी प्रकार का निश्चय करने वाली वृत्ति अर्थात् बुद्धि निज स्वरूप में ही स्थित हो जाती है। इस अवस्था में दोनों प्रकार की वृत्तियाँ आत्मा की ओर उन्मुख हो जाती हैं अथवा आत्माकार होती हैं। जब तक चित्त को चिदाकार नहीं बनाया जाएगा, तब तक पूर्णता प्राप्त नहीं हो सकती है। जिन योगियों ने यह जान लिया है कि जड़तत्त्व से चेतन तत्त्व भिन्न है तथा अब उनकी अविद्या नष्ट हो गई है, तो वे बहुत बड़ी गलती कर रहे हैं। विवेक-ख्याति अवस्था में आत्मा अनात्मा के विषय में ज्ञान हो जाता है मगर इससे अविद्या पूर्ण रूप से नष्ट नहीं होती है। हाँ, यह अवस्था अविद्या नाश का द्वार है, इससे चित्त का चिदाकार होना आवश्यक है। चित्त-वृत्ति निरोध को योग कहा जाता है, यह सच है। मगर चित्त का चैतन्य में समरस होना ही पूर्ण योग है। इस अवस्था में ब्रह्मानंद की अनुभूति होती है, फिर द्वैत का भान नहीं रहता है। सर्वत्र चेतन परमात्मा ही व्याप्त दिखाई देता है। ऐसे योगी के अन्दर संसार के कल्याण के लिए विलक्षण सामर्थ्य आ जाता है।

जिस योगी का द्वैत भाव नष्ट हो गया है तथा सर्वत्र चेतन ब्रह्म की ही अनुभूति करता है, ऐसा महापुरूष इस संसार में किस अवस्था में रहेगा तथा संसार के साथ कैसा व्यवहार करेगा, इसका कोई नियम नहीं है। ये सभी प्रकार के बन्धन से मुक्त होते हैं। किसी प्रकार के नियम और कायदे इन पर लागू नहीं होते हैं। वे जब चाहे बोलते हैं और जब न चाहे किसी से बात नहीं करते हैं। कभी-कभी मौन भी धारण करते हैं तथा अपने स्वरूप में सदैव स्थित रहते हैं। ऐसे पुरूष कभी भी संसार के सामने सिद्धियों का चमत्कार नहीं दिखाते हैं, जबकि इनकी इच्छा मात्र से ही सिद्धियाँ प्रकट हो जाती हैं। चित्त की सर्ववृत्ति निरोध के अभ्यास में परिपक्व होने से मुख्य कारण शक्ति के स्वामी होते हैं फिर भी वे सदैव गुप्त रहते हैं। वे अपना सामर्थ्य किसी के सामने प्रकट नहीं करते हैं तथा गुप्त रहते हुए ही संसार का कार्य किया करते हैं। इनकी ज्ञान दृष्टि परम् शुद्ध होती है तथा इच्छा शक्ति अजेय होती है। चित्त रूपी साम्राज्य के स्वामी होने के कारण सब शक्तियाँ इनके अधीन होती हैं तथा ये मन को अपने वश में किए रहते हैं। तत्त्वज्ञान रुप और आनन्दरुप होने के कारण ईश्वर के अति नजदीक रहते हैं। ऐसे महापुरूषों के विषय में जानना अथवा

परखना संसारी मनुष्यों के सामर्थ्य से बाहर है, क्योंकि वह अपने गुणों को किसी को दिखाते नहीं है तथा कोई उनके गुणों की पहचान नहीं कर सकता है।

मनुष्य चाहे जितना भी पुस्तकीय ज्ञान से युक्त हो जाए, चाहे कोई जितना भी अपने को धर्म का मर्मज्ञ कहे, चाहे घर से विरक्त होकर जंगल अथवा दूसरे स्थानों पर चला जाए, कोई चाहे जितना अपने को जितेन्द्रिय कहे, मनुष्य क्या देवता भी क्यों न हो, बिना योग के अभ्यास द्वारा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती है। सांसारिक ज्ञान से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है, क्योंकि अविद्या ग्रन्थि का नाश समाधि द्वारा ही हो सकता है, अन्यथा नहीं। योगाग्नि के द्वारा पाप पुंज जल कर राख हो जाते हैं एवं जब अभ्यास शिखर पर होता है, तब तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है। तत्त्वज्ञान के द्वारा ही कैवल्य की प्राप्ति होती है।

तत्त्वज्ञान अनुभूति का विषय है। इसे शब्दों में लिखा जाना असम्भव है। जो अनुभूति का विषय होता है, वह अनुभूति के द्वारा ही जाना जा सकता है, उसे शब्दों के द्वारा कैसे बताया जा सकता है? चीनी मीठी होती है, उसका मीठापन कैसा होता है, उसे शब्दों के द्वारा नहीं समझाया जा सकता है। चीनी को केवल खाकर ही इसके मीठेपन को जाना जा सकता है। इसी प्रकार ब्रह्म के विषय में शब्दों द्वारा नहीं बताया जा सकता है, बल्कि शब्दों के द्वारा बताने का केवल प्रयास किया जा सकता है। आजकल बहुत से उपदेशक या प्रवचनकर्ता ईश्वर अथवा ब्रह्म के विषय में बहुत उपदेश करते हैं, किंतु यदि प्रवचनकर्ता से पूछा जाए कि क्या उसने ईश्वर की प्राप्ति की है? अर्थात् जिसने योग के द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार किया है, वही ईश्वर के विषय में उपदेश करने का अधिकारी है। ऐसे अधिकारी वर्तमान समय में कितने होंगे अथवा कहाँ मिलेंगे, मैं नहीं जानता हूँ। मुझे इतना अवश्य मालूम है कि वर्तमान समय में ईश्वर के विषय में प्रवचन करने वालों का बाजार लगा हुआ है। जो ईश्वर के विषय में कुछ भी नहीं जानते हैं, वह दूसरों को ईश्वर के विषय में कैसे उपदेश दे सकते हैं? ऐसे पुरूष स्वयं अपने आप को गुमराह कर रहे हैं अथवा समाज को गुमराह कर रहे हैं। ऐसे प्रवचनकर्ता को मेरी यही राय है कि पहले अभ्यास के द्वारा स्वयं ईश्वर का साक्षात्कार करें, फिर ईश्वर के विषय में उपदेश करें, तभी समाज का कल्याण होगा।

ब्रह्म

ब्रह्म देवताओं का भी देवता है। ब्रह्म के ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। संसार के बन्धन से निवृत्ति के लिए अथवा मोक्ष की प्राप्ति के लिए ब्रह्म के ज्ञान का होना अति आवश्यक है। संत पुरूषों का संग, सतशास्त्रों का स्वाध्याय करना तथा योग के कठोर अभ्यास में तत्पर होना ब्रह्मज्ञान प्राप्ति में हेतु है। ब्रह्मज्ञान से ही जीवों के दुःखों का निवारण होता है। ब्रह्म कहीं दूर नहीं रहते हैं, बल्कि हम सब प्राणियों के शरीर में ही स्थित हैं। चिन्मय शिव निर्गुण-ब्रह्म का ही स्वरूप हैं, इन्हीं शिव को परमात्मा व ईश्वर भी कहते हैं। कार्य कारण स्वरूप इन्हीं परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार हो जाने पर अभ्यासी पुरूष के अन्त:करण में जो चेतन और जड़ की ग्रन्थि होती है, वह खुल जाती है। इसके खुलने से सारे संशय नष्ट होने पर कर्म भी, जो शुभ और अशुभ होते हैं, वह क्रमशः धीरे-धीरे अभ्यासानुसार जल कर नष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार आकाश में नीले रंग की प्रतीति होती है, उसी प्रकार सच्चिदानन्दमय ब्रह्म में जगत् रूपी भ्रम उत्पन्न हुआ है। इस भ्रम के अत्यन्त अभाव के ज्ञान में यदि पूरी दृढ़ता हो जाए तभी चेतन ब्रह्म का स्वरूप ज्ञान होता है। दृश्य जगत् के अत्यन्त अभाव का निश्चय हो जाने पर जिस परमार्थ वस्तु का बोध होता है, वह परमात्मा उस जानने वाले पुरूष का आत्मा ही हो जाता है। जब तक इस जगत् का अत्यन्त अभाव नहीं होता है, तब तक परम् तत्त्व परमात्मा को कोई जान नहीं सकता है।

सत्य वस्तु की ही सत्ता है, उसका कभी नाश नहीं होता है। यह जो आकाश आदि भूत और अहंकार आदि में लक्षित हो रहा है, वह सब व्यवहार दशा में जगत् है। तत्त्वज्ञान होने पर अर्थात् परमार्थ दशा में ब्रह्म ही है, ब्रह्म के सिवाय और अन्य वस्तु नहीं है, हमारे सामने जो दृश्य जगत् दिखाई दे रहा है वह परब्रह्म परमात्मा ही है। सर्वत्र पूर्णब्रह्म का ही प्रसार हो रहा है। परब्रह्म परमात्मा के साथ जीवात्मा की एकता का जो बोध है, वही पूर्ण में पूर्ण का प्रसार है। परब्रह्म परमात्मा सर्वत्र व्यापक होने के कारण पूर्ण है। जीवात्मा भी परमात्मा का अंश होने के कारण पूर्ण ही है। परमात्मा और जीवात्मा में जो भेद का भ्रम है उसका मिट जाना ही उनकी एकता है। इस एकता की अनुभूति ही पूर्ण का प्रवेश होना है। वास्तव में जीवात्मा ब्रह्म से कभी अलग नहीं होता है और न ही कहीं किसी जगत् से आकर उसमें प्रवेश करता है, यह सब औपचारिक है। ब्रह्म शांत स्वरूप होता है। ज्ञान दृष्टि प्राप्त होने पर जगत् दृष्टि शांत हो जाती है, इसलिए जगत् को भी शांत कहा गया है। जिस प्रकार मिट्टी से घड़ा आदि प्रकट होता है तथा अंत में घड़ा मिट्टी में ही मिल जाता है, उसी प्रकार यह जगत् ब्रह्म से प्रकट हुआ है। अंत में ब्रह्म में ही विलीन हो जाता है।

सम्पूर्ण संकल्पों के त्याग तथा जगत् की प्रतीति के अत्यन्त अभाव से ब्रह्म के स्वरूप का परम् अनुभव होता है, जिसके संकोच से संसार का प्रलय और विकास से उसकी सृष्टि होती है। यह चराचर जगत् जिसकी चिन्मयी लीला है, जगत् रूप होने पर भी जिसकी अखण्डता खण्डित नहीं होती है, वह शाश्वत ब्रह्म कहा गया है। ब्रह्म अणु से भी अणु है, वह अपने संकल्प से स्वयं वायुरूप में प्रकट हो जाता है। वायुरूप में वह भ्रम स्वरूप वाला ही है। वास्तव में वह वायु आदि कुछ भी नहीं है, केवल शुद्ध चेतन ही है। वही ब्रह्म शब्द के संकल्प द्वारा शब्द बनता है, किन्तु उसकी शब्द रूपता का दर्शन भ्रम मूलक है। वास्तव में वह शब्द और शब्दार्थ की दृष्टि से अत्यन्त परे है। ब्रह्म की प्राप्ति के लिए ढेरों साधन हैं, उसके प्राप्त होने पर कुछ भी पाना शेष नहीं रहता है।

परमात्मा चिन्मय और अत्यन्त सूक्ष्मतम है। परमात्मा से यह सम्पूर्ण विश्व सब ओर से परिपूर्ण है। अणु रूप होता हुआ भी यह परमात्मा अनन्त दूरी में भी नहीं समाता है, क्योंकि सर्वव्यापी रूप रहित होने के कारण परमात्मा निराकार है। जिस प्रकार से बीज के अन्दर भावी वृक्ष, पत्ते, फल आदि विद्यमान रहते हैं, उसी प्रकार परमात्मा में भूत, वर्तमान और भविष्य के प्राणी सदा विद्यमान रहते हैं। परमात्मा उदासीन की भाँति सम्पूर्ण जगत् में स्थित है। उसमें कर्तापन और भोक्तापन का बिल्कुल सम्बन्ध नहीं है। परमात्मा इस जगत् में अन्दर और बाहर समान रूप से स्थित है। स्वर्ण (सोने) में यह सामर्थ्य होती है कि उसका कुण्डल आदि बन सके, मगर कुण्डल यह सामर्थ्य नहीं रखता है कि वह स्वर्ण का निर्माण कर सके। उसी प्रकार चिन्मय होने के कारण द्रष्टा में यह शक्ति होती है कि वह दृश्य जगत् का निर्माण कर सकता है। मगर जड़ होने के कारण दृश्य जगत् में यह शक्ति नहीं होती है कि वह द्रष्टा (परमात्मा) का निर्माण कर सके। यह दृश्य जगत् असत् होता हुआ भी अज्ञान वश सत्-सा प्रतीत होता है। यह दृश्य जगत् अज्ञान मात्र से उत्पन्न है। जब तक अज्ञान रहता है तभी तक जगत् की स्थिति रहती है। कुण्डल और कड़े आदि की प्रतीति के समय स्वर्ण की स्वर्णता सत्य होने पर भी कोई यह नहीं कहता है कि यह स्वर्ण है, क्योंकि अज्ञानी पुरूष की बुद्धि उस आभूषण के नाम-रूप में उलझी रहती है। उसी प्रकार द्रष्टा के दृश्य रूप में स्थित होने पर उसके वास्तविक स्वरूप की स्फूर्ति नहीं होती है। जैसे कुण्डल के रूप में प्राप्त होने पर स्वर्ण अपनी स्वर्णता का लक्ष्य कराता है, वैसे ही दृश्य रूप में स्थित हुआ द्रष्टा अपने द्रष्टापन को लक्षित कराता है। द्रष्टा जब अज्ञान वश अपने आप को दृश्य रूप में देखता है, तब अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं देख पाता है। द्रष्टा में दृश्यत्व की प्राप्ति होने पर उसकी सत्ता भी असत्ता सी हो जाती है अर्थात् सत्यरूप होने पर भी असत्य-सा भासित होने लगता है। परन्तु जब तत्त्वज्ञान के द्वारा दृश्य नष्ट हो जाता है, तब केवल द्रष्टा की ही सत्ता रह जाती है।

तत्त्वज्ञानी को भली भाँति ज्ञात हो जाता है कि जैसे कुण्डल और कड़े की सत्ता स्वर्ण से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार द्वैत भी चेतन ब्रह्म से भिन्न नहीं है। जैसे आकाश की शून्यता आकाश से तथा वायु का स्पन्दन वायु से भिन्न नहीं है, वैसे ही द्वैत भी चेतन ब्रह्म से भिन्न नहीं है। द्वैत और अद्वैत की प्रतीति दुःख की अनुभूति से युक्त है, यह निवृत्ति के लिए नहीं है। वास्तव में जिस पुरुष को द्वैत और अद्वैत की प्रतीति अच्छी तरह से समझ में आ जाए, तो उस पुरूष की स्थिति पूर्ण रूप से चेतन ब्रह्म में हो जाएगी। द्रष्टा-दृष्टि और दृश्य रूप जो यह जगत् है, वह अणु से भी अणु परमात्मा में स्थित है। परमात्मा ने अपने स्वरूप में इस जगत् को कई बार उत्पन्न तथा विलीन किया है। जैसे किसी बीज के अन्दर वृक्ष, पत्तियाँ, टहनियाँ और फल आदि विद्यमान हैं। जिस प्रकार टहनियों, पत्तियों और फलों का त्याग न करता हुआ वृक्ष स्थित रहता है, उसी प्रकार इस चेतन ब्रह्म में अनन्त शाखाओं व प्रशाखाओं से युक्त जगत् स्थित है। जिस योग के अभ्यासी को दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गई है तथा सगुण ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है, ऐसा अभ्यासी इन शब्दों को अच्छी तरह समझ सकता है। अज्ञानी अथवा संसारी पुरूष इस सत्यता की अनुभूति नहीं कर सकता है, क्योंकि वह अपना आंतरिक विकास न करने के कारण अज्ञानता को नष्ट नहीं कर पाया है। इसलिए उसे यह सारा ज्ञान असत्य-सा लगता है। चेतन परमात्मा के अन्दर स्थित हुआ द्वैत रूप जगत् जो अद्वैत रूप में देखता है, वह अद्वैत रूप में देखना ही तत्त्वदर्शन है। मगर वास्तव में तो न द्वैत है और न ही अद्वैत है, न वह सौम्य है और न ही वह क्षुब्ध है। चेतन परमात्मा के अन्दर आकाश और वायु आदि कुछ भी नहीं है, वह केवल चेतन परमात्मा ही है, अद्वितीय परमात्मा में भेद और अभेद की भ्रान्ति हो रही है। इस भ्रम का नाश हो जाने पर सब कुछ ब्रह्मतत्त्व के रूप में शेष रह जाता है। जब तक ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो जाता है तभी तक शरीर आदि के पीड़ित होने पर पीड़ा रहित जीवात्मा पीड़ा से युक्त-सा दिखाई देता है। परन्तु जब साक्षात्कार हो जाता है, तब यह सब बातें नहीं रह जाती है।

यह जगत् ब्रह्म का ही स्वरूप है। तत्त्वज्ञान हुए बिना यह जगत् दुःख की अनुभूति कराता है। जब योग के अभ्यास के द्वारा अभ्यासी को ऐसा ज्ञान हो जाता है, तब यह दृश्य जगत् मोक्ष प्रदान करने वाला हो जाता है। एकत्व बोध से यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है। अमुक मनुष्य जिससे प्रेम न हो, उससे मिलने अथवा बिछुड़ने से न सुख होता है और न ही दुःख होता है। इसी प्रकार जिसे ब्रह्म का तत्त्वज्ञान हो गया है, वह स्थूल शरीर के रहने अथवा बिछुड़ने से सुख अथवा दुःख में लिप्त नहीं होता है। वासना रहित तथा शांत चित्त हुआ इस शरीर का स्वामी जीवात्मा सर्वव्यापी और सबका अधिपति हो जाता है। जीवात्मा को चिन्मय परम् आकाश स्वरूप, अविनाशी, सच्चिदानन्द परमात्म स्वरूप ही जानना चाहिए। इस शरीर में दो प्रकार का सर्वभूत स्वरूप चेतन है। एक तो चंचल स्वरूप वाला जीवात्मा है और दूसरा निर्विकल्प

परम् चेतन स्वरूप परमात्मा है। चेतन परमात्मा ही अपने संकल्प से जीवात्मा के रूप में अपने से भिन्न-सा होकर स्थित है। वह चेतन परमात्मा ही अपने संकल्प से आकाश आदि पंचभूतों में, शब्द आदि पाँच विषयों में, प्राण-अपान आदि पाँच प्राणों तथा देशकाल आदि रूप में परिणित होता है। वास्तव में यह चेतन परमात्मा जब-जब जहाँ संकल्प करता है, तब-तब वहाँ वैसा ही बन जाता है।

चेतन जीवात्मा अज्ञान के कारण, "मैं दुःखी हूँ", ऐसी भावना व्यर्थ में ही करता रहता है। "मेरा यह चला गया, वह चला गया, अमुक मेरा प्रिय था, वह मर गया", ऐसी भावना करके वह रोता रहता है। जिस प्रकार बालू में तेल नहीं होता है, उसी प्रकार शुद्ध आत्मा में द्रष्टा, दृष्टि, दृश्य की त्रिपुटी नहीं होती है। जिस प्रकार जड़ लोहा चुम्बक के सानिध्य से क्रियाशील हो जाता है, उसी प्रकार सर्वव्यापी चेतन स्वरूप परमात्मा के सानिध्य से यह जीवात्मा चेष्टावान होता है अर्थात् सर्वस्थित परमात्म शक्ति से ही वह जीव चेष्टा करता है। यह जीव अज्ञानता से अपना वास्तविक स्वरूप भूल जाने के कारण ही चेतन चित्त-सा बन गया है। परमात्मा ने शरीर रूपी रथ चलाने के लिए प्राण-शक्ति और मन-शक्ति रूपी दो शक्तियाँ उत्पन्न की हैं। जब तक स्थूल शरीर में सूक्ष्म शरीर विद्यमान रहता है, तब तक स्थूल शरीर जीवित रहता है। जब स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर का सम्बन्ध समाप्त हो जाता है, तब शरीर मृत कहा जाता है। परन्तु जब तक शरीर में ह्रदय कार्य करता रहता है अथवा ह्रदय धड़कता है, तब तक जीव अपने संकल्प वश अधीन हुआ कर्म करता रहता है।

चेतन जीवात्मा आकाश से बढकर निर्मल और अव्यक्त है। परमात्मा की सत्ता ही जीवात्मा के अस्तित्व में कारण है। जीवात्मा के बिना स्थूल शरीर और प्राण दोनों नष्ट हो जाते हैं। शरीर वियोग में प्राण वायु में विलीन हो जाता है। आकाश से भी निर्मल आत्मा को कभी कष्ट नहीं होता है। ब्रह्मज्ञान के द्वारा दोषों से रहित जीवात्मा परम्-शिव स्वरूप हो जाता है। परमात्मा परम्-शिव ही एक मात्र सगुण ब्रह्म हैं। यही सभी ज्ञानों के उत्पादक और सभी को स्फूर्ति देने वाले हैं। इस परमात्म तत्त्व का साक्षात्कार करके अभ्यासी पुरूष फिर संसार में भुने हुए बीज के समान जन्म नहीं लेता है। परम्-शिव ही समस्त कारणों के कारण हैं, मगर वास्तव में उनका कोई कारण नहीं है। वे अपनी सत्ता से समस्त भावों को सत्ता प्रदान करते हैं, किन्तु स्वयं भावना का विषय नहीं हैं। वह विशुद्ध और अजन्मा हैं, दृश्य विषयों के प्रकाशक एवं दृश्य जगत् का परम् आधार हैं। वह कर्तापन के अभिमान से रहित होकर जगत् की रचना करता है तथा जगत् का उद्धार रूप महान कार्य करता हुआ भी कुछ नहीं करता है। वास्तव में शुद्ध, निर्विशेष, अद्वितीय ब्रह्म न तो कार्य है और न ही कारण है, क्योंकि निर्विशेष होने से उसमें कारणत्व और कार्यत्व का अभाव है। इसलिए शुद्ध चेतन ब्रह्म न ही कर्ता है और न ही कर्म है, न ही कोई उसका निमित्त है और न ही कोई

उपादान है। कारण की सत्ता न होने से यह जगत् किसी का भी कार्य नहीं है, क्योंकि कारण का स्वरूप न रहने से जो कार्य स्वरूप दिखाई देता है, वह केवल भ्रम मात्र है। इसलिए इस जगत् का तीनों कालों में अत्यन्त अभाव है। जगत् का तीनों कालों में अभाव होने से समस्त पदार्थ मिथ्या सिद्ध होते हैं। पदार्थों के मिथ्या सिद्ध हो जाने पर ज्ञान किसका होगा। जब ज्ञान का अभाव सिद्ध हो गया हो, तब अहंकार का कोई कारण नहीं रहता है। फिर न ही बन्धन है और न ही मोक्ष है, केवल चेतन स्वरूप ब्रह्म ही सर्वत्र है।

परमात्मा का जो सूक्ष्म तत्त्व है, वह अज्ञानी पुरूषों के लिए अज्ञान से आवृत रहता है। इसलिए अज्ञानी मनुष्यों को अनात्मा में आत्मा का और आत्मा में अनात्मा का भ्रम हो जाता है। वास्तव में असत् वस्तु की कभी उत्पत्ति नहीं होती है तथा सत् वस्तु का कभी अभाव नहीं होता है, बल्कि केवल माया द्वारा रचित रचनाओं का आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। परमात्मा के शुद्ध स्वरूप का अनुभव करने के लिए मनुष्य को योग का अभ्यास करना चाहिए। समाधि द्वारा यह सब सम्भव हो सकता है। परमात्मा के अनुभव से अज्ञान से आच्छादित उसकी बुद्धि रूपी रात्रि दिन के रूप में परिणित हो जाती है। मनुष्य को विवेक से मोह का त्याग कर देना चाहिए, फिर वह असाधारण परमात्मा के यथार्थ ज्ञान को प्राप्त कर लेता है। कामना और आसक्ति होने पर पुण्य कर्म से बन्धन की प्राप्ति होती है तथा कामना और आसक्ति से रहित होने पर उसी पुण्य कर्म से ज्ञान तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है।

विशुद्ध परमात्मा में सृष्टि के कारण भूत माया, बीज, आकार, मल, मोह, भ्रम आदि किसी का होना वास्तव में सम्भव नहीं है। वह केवल शांत, अत्यन्त निर्मल, आदि, अंत से रहित है। परमात्मा इतना सूक्ष्म है कि उसके अन्दर स्थित आकाश भी स्थूल कहा जा सकता है। जिसकी उत्पत्ति का कोई कारण नहीं है, जो सदा स्वयं अनुभव के द्वारा माना जाता है, उसकी सत्ता का निराकरण कोई नहीं कर सकता है। जगत् ब्रह्म स्वरूप होने के कारण चैतन्यमय है। इसमें जड़ स्वरूप की जो प्रतीति होती है वह भ्रम रूपी है। पूर्ण ब्रह्म परमात्मा से पूर्ण विस्तार हो रहा है। पूर्ण ही विराजमान है, पूर्ण से पूर्ण का उदय हुआ है। पूर्ण में पूर्ण ही प्रतिष्ठित है। वह ब्रह्म अजन्मा, निराकार, सर्वव्यापक और अद्वितीय तथा ज्ञानस्वरूप है। वह एक होकर ही सदा स्थित रहता है।

परमात्मा (जीव रूप से) जब तक अज्ञान में रहता है, तभी तक उस पुरूष के चित्त में अविद्या रूपी मल विद्यमान रहता है। इसका यथार्थ ज्ञान हो जाने पर सब शुद्ध निर्मल परमात्मा ही शेष रह जाता है अर्थात् सब शुद्ध निर्मल परमात्मा ही है, यह दृढ़ निश्चय हो जाता है। जो अनादि चिन्मय सर्वव्यापक परम् आकाश रूप है, उस परमात्मा में मल कहाँ से आ सकता है, क्योंकि जिस परमात्मा के ज्ञात होने से अविद्या रुपी मल धुल जाता है, उसमें मल कैसे हो सकता है अर्थात् जो सर्वव्यापक हो उसमें मल नहीं हो

सकता है। अंश रूप में मल के हो जाने पर व्यापकता समाप्त हो जाएगी और वह सीमाओं में आ जाएगा। इसलिए परमात्मा का स्वरूप विशुद्ध है। यदि गहरी दृष्टि से देखा जाए तो कुछ भी स्फूरित नहीं हो रहा है, क्योंकि परम् चेतन तो अत्यन्त विशुद्ध स्वरूप वाला है जो एक मात्र सच्चिदानंदमय है, जिसे परमात्मा कहते हैं। उसका अपने आप मे कल्पित संकल्प ही इस जगत् के रूप में फैला हुआ है। जीवन्मुक्त पुरूष संसार में व्यवहार की दशा में शुद्ध चिदाकाश रूप ही होता है। वह उसी चिदाकाश रूप में चुपचाप शांत रहता है।

ब्रह्म के अन्दर जगत् की सत्ता सिद्ध नहीं है। जगत् की जो सत्ता उपलब्ध होती है, यदि वह सत्ता ब्रह्म के अन्दर सूक्ष्म रूप से है तो वह नित्य ब्रह्म ही है, क्योंकि ब्रह्म तो अविकारी है। उसके अन्दर किसी प्रकार का कोई विकार नहीं है। इसलिए ब्रह्म से अलग जगत् की सत्ता बिल्कुल सिद्ध नहीं होती है। इसी कारण जगत् को अनिर्वचनीय भी कहा गया है। तत्त्वज्ञान हो जाने पर जगत् दिखाई नहीं देता है अर्थात् अनुभव में नहीं आता है। अज्ञान की अवस्था में प्रतीति होने के कारण सत्ता वाला कहा जाता है, मगर वास्तव में यह जगत् असत्ता से पुष्ट, स्वयं अनुभव गम्य होने के कारण अनिर्वचनीय ही है। अतः यह जगत् अज्ञानी की दृष्टि में सत्य है तथा तत्त्वज्ञानी की दृष्टि में असत्य है। समस्त भूतों में नित्य चिदात्मा ही सत्ता रूप से सर्वत्र परिपूर्ण है। जो मनुष्य इस जगत् के नित्य चैतन्य रूपता का निराकरण करके अंधकार रूपी कुँए में रहने वाले मेंढक के समान बेकार में ही बोलते रहते हैं तथा वर्तमान नाम-रूप के अनुभव को ही प्रमाण मान कर कहते हैं कि चेतनता नाम की कोई वस्तु नहीं है। वह शरीर से उत्पन्न होती है अर्थात् जड़ से ही चैतन्य की अभिव्यक्ति हुई है। ऐसे मनुष्य अज्ञानी, मोह से ग्रस्त व पागल हैं, उनका मस्तिष्क ठीक नहीं है। ऐसे मनुष्यों से ज्ञानी पुरूषों को शास्त्रीय एवं तत्त्वज्ञान की चर्चा नहीं करनी चाहिए।

समस्त संसार जो भोग रूप में स्थित दिखाई दे रहा है, वह शुद्ध चेतन ब्रह्म ही है। इस संसार में जितने लोक हैं, उन लोकों में स्थित विभिन्न प्रकार के प्राणी ब्रह्म स्वरूप ही हैं। जीवात्मा व आकाश आदि ब्रह्म ही है, चाहे शत्रु हो, मित्र हो या सगे सम्बन्धी आदि भी ब्रह्म स्वरूप ही हैं, क्योंकि ये सभी ब्रह्म में ही अवस्थित हैं। ब्रह्म ही ब्रह्म में स्थित है, ब्रह्म ही ब्रह्म में स्फुरित हो रहा है, "मैं भी ब्रह्म ही हूँ"। ब्रह्म से अलग किसी वस्तु की कल्पना नहीं की जा सकती है। जिस प्रकार तरंग जल से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार प्रकृति हुए बिना ही ब्रह्म में प्रतीत हो रही है। जीवात्मा चेतन है, प्रकृति के पदार्थ जड़ हैं, ऐसा मोह सिर्फ अज्ञानी को होता है, तत्त्वज्ञानी को कभी नहीं होता।

आत्मा और संसार रूपी बन्धन का वास्तव में आपस में कोई सम्बन्ध नहीं है। उसी तरह संसार में शरीर का और आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है। सुख-दुःख आदि के अनुभव केवल शुद्ध चेतन आत्मा

और केवल जड़ शरीर को ही नहीं होते हैं, बल्कि शरीर और आत्मा के तादात्म्य के कारण होते हैं। जब तत्त्वज्ञान के द्वारा अज्ञान का नाश हो जाता है, तब सुख-दुःख का अत्यन्त अभाव होकर केवल आत्मा शेष रहती है। अज्ञानी पुरूष जिस रूप में संसार को देखता है, उसी रूप में संसार को सत्य मानता है। परन्तु तत्त्वज्ञानी पुरूष के लिए ऐसा नहीं है, उसे ज्ञात है कि संसार अज्ञान के द्वारा प्रतीत होता है।

अभ्यास के द्वारा जीव और ईश्वर की जो रूपता होती है, यह एक निर्गुण ब्रह्म में स्थित होने के समय नहीं होती है। निगुर्ण ब्रह्म में स्थित होना तो योग की समाप्ति ही है। जीव और ईश्वर की एकरूपता तो इससे पहले की अवस्था है। यह अवस्था जीवन्मुक्त अवस्था की शुरूआत होती है, क्योंकि जीव और ईश्वर की एकरूपता में मोक्ष मिल जाता है। ऐसा जीवन्मुक्त संसार में व्यवहार तो करता है, यदि ऐसी अवस्था में स्थूल शरीर त्याग दिया जाए तो उसका अस्तित्व परा-प्रकृति अर्थात् ईश्वर के लोक में बना रहता है। ईश्वर और जीव इस संसार में भी एक रूप होते हैं। ऐसा तब होता है जब ईश्वर (सगुण-ब्रह्म) का साक्षात्कार हो जाता है। पहले ईश्वर का साक्षात्कार होता है, फिर निर्गुण ब्रह्म में अवस्थिति होती है। ईश्वर और जीव में भेद तो है परन्तु परमार्थता भेद नहीं है। चेतन तत्त्व का सम्बन्ध जब परा-प्रकृति से होता है, तब चेतन तत्त्व की संज्ञा ईश्वर नाम से कही जाती है। जब चेतन तत्त्व का सम्बन्ध अपरा-प्रकृति से होता है, तब चेतन तत्त्व की संज्ञा जीव नाम से होती है। ईश्वर एक ही है, जीव अनेक हैं। दोनों के अंतःकरण में अंतर होता है। ईश्वर का चित्त (अंतःकरण) परा-प्रकृति से बना होता है। जीव का चित्त अपरा-प्रकृति से बना होता है। अपरा-प्रकृति की उत्पत्ति परा-प्रकृति से होती है तथा अंत में परा-प्रकृति में ही लीन हो जाती है। सम्पूर्ण अपरा-प्रकृति परा-प्रकृति की अंश मात्र है। इसलिए चित्त के सम्बन्ध से ईश्वर तथा जीव में अंतर है। परा-प्रकृति साम्यावस्था वाली, अपरिणामी, व्यापक तथा अक्षर स्वरूप वाली है, जबकि अपरा-प्रकृति इससे सर्वथा भिन्न है। यह विषमावस्था वाली, परिणामी, सीमित तथा क्षर स्वरूप वाली है। इसी कारण ईश्वर और जीव में अंतर है, जबकि मूल रूप से तो दोनों चेतन तत्त्व ही हैं। इनके चित्त में भिन्नता है। चित्त के सम्बन्ध से ईश्वर पिता है और जीव पुत्र है, क्योंकि अपरा-प्रकृति का प्रकट होना तथा विलीन होना परा-प्रकृति में है। इसलिए जीवात्मा का जीवत्व जब नष्ट हो जाता है, तब चेतन तत्त्व शेष रहने पर अपने स्वरूप ब्रह्म में स्थित हो जाता है।

जीवात्मा का जीवत्व नष्ट होने पर ममत्व व तमोगुणी अंहकार नष्ट हो जाता है, तब अभ्यासी की चित्त-वृत्ति अत्यन्त व्यापक हो जाती है। चित्त-वृत्ति व्यापक होने पर अहंकार रहित स्वरूप का बोध होता है, तब चित्त को सब प्रकार की सीमाओं से मुक्त कर देता है। ईश्वर (सगुण ब्रह्म) के साथ एकरूपता होने पर अहंता और ममता की सत्ता का स्वरूप बदल जाता है। कभी-कभी व्युत्थान की अवस्था में अहम

भाव वाली वृत्तियाँ प्रकट होने लगती हैं। ऐसी अवस्था में साधक को ईश्वर के साथ एकात्मता भाव बनाए रखना चाहिए, जिससे अहम भाव से पूर्ण रूप से मुक्ति मिल सके। जब धीरे-धीरे निरन्तर अभ्यास से अहंकार से मुक्ति मिल जाती है, तब ईश्वर से एकात्मता का भाव बना रहता है तथा प्रयास की आवश्यकता नहीं पड़ती है। तब अन्त:करण में अनन्त की सत्ता स्थापित होती है, जिससे बाह्य जगत् को अनुभव करने का तरीका भी बदल जाता है और ईश्वरीय सत्ता की अनुभूति होने लगती है। इस अवस्था में शरीर त्यागने पर ईश्वर के लोक में अनन्त काल तक रहना होगा। वहाँ अभ्यास करके निर्गुण ब्रह्म में लीन होना होगा, इसलिए यह अवस्था साधन की ही अवस्था है। चेष्टा चाहे जितनी स्वयं स्फुर्त हो यह बद्धता का ही लक्ष्ण है। कैवल्य की अवस्था प्राप्त करने के लिए सगुण ब्रह्म (ईश्वर) की अवस्था से पार होना जरूरी है। जहाँ न किसी प्रकार की इच्छा हो और न ही किसी प्रकार की चेष्टा हो, सिर्फ चेतन तत्त्व हो।

मनुष्य के अंत:करण में परमात्मा (ब्रह्म) स्थित रहता है। अंत:करण आवरणों व विक्षेपों से युक्त रहने के कारण ब्रह्म के स्वरूप का दर्शन नहीं होता है। जब योग के अभ्यास के द्वारा धीरे-धीरे वृत्तियाँ शांत होते-होते पूर्ण रूप से शांत हो जाती है अर्थात् निरुद्ध हो जाती हैं, तब परमात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है। जिस प्रकार किसी जलाशय में तरंगों के उठने पर सूर्य का प्रतिबिम्ब नहीं देखा जा सकता है अथवा मलिन दर्पण में अपना मुख नहीं देखा जा सकता है, उसी प्रकार अंत:करण में आवरणों और विक्षेपों के कारण ब्रह्म के स्वरूप का दर्शन नहीं किया जा सकता है। दर्पण की मलिनता दूर होने पर प्रतिबिम्ब दिखाई देने लगता है। आवरणों और विक्षेपों के दूर होते ही परमात्मा का स्वरूप अवश्य दिखाई देने लगता है। चित्त की वृत्तियों की चंचलता के कारण सर्वव्यापक ब्रह्म अंत:करण में स्थित रहने पर भी छिपे हुए के कारण दूर-सा रहता है। वृत्तियों की चंचलता शांत होने पर ब्रह्म प्रकट होकर प्रत्यक्ष हो जाता है और फिर कभी दूर नहीं रहता है। जिस प्रकार आकाश में मेघों के आच्छादित हो जाने से सूर्य का प्रकाश ढक जाता है और इन्हीं मेघों के दूर हो जाने से सूर्य का प्रकाश ऊपर पड़ने लगता है। यदि देखा जाए तो सूर्य अपनी जगह पर पहले भी था, जब उसका प्रकाश नहीं दिखाई दे रहा था। मेघों के छिन्न-भिन्न होने पर जब प्रकाश दिखाई देने लगता है, तब भी सूर्य पहले की भाँति स्थित रहता है। वह न दूर जाता है न ही नजदीक आता है, वह सदैव प्रकाशित रहता है। इसी प्रकार सर्वव्यापक ब्रह्म सदैव अंत:करण में विद्यमान रहता है। अंत:करण में आवरण और विक्षेपों के कारण ऐसा लगता है जैसे ब्रह्म उससे बहुत दूर है। आवरण और विक्षेपों के दूर होने पर चेतन ब्रह्म का प्रकाश प्रकाशित हो जाता है। जब तक अंत:करण में आवरण और विक्षेप रहेंगे तब तक जगत् सत्य दिखाई देगा अथवा जगत् की सत्ता सत्य लगेगी। मगर जब अभ्यास

के द्वारा अंतःकरण के आवरण और विक्षेप दूर हो जाते हैं, तब सर्वत्र ब्रह्म का प्रकाश प्रकाशित होने के कारण जगत् का स्वरूप अदृश्य हो जाता है। फिर जगत् भ्रम रूपी व मिथ्या भासित होने लगता है।

ईश्वर को सच्चिदानन्द भी कहते हैं अर्थात् उसका स्वरूप सत्-चित्त और आनन्द स्वरूप है। इसी आनन्द ईश्वर से अंशरूप में जीव उत्पन्न होता है। जीव आनन्द से उत्पन्न होते हैं और अंत में आनन्द में डूबकर विलीन हो जाते हैं। इसलिए आनन्द की इच्छा करना जीव का स्वभाव है तथा उसका स्वरूप धर्म है, क्योंकि जीव भूत परा-प्रकृति है। परा-प्रकृति अर्थात् ईश्वर का चित्त अथवा महाशक्ति स्वरूपा है। आनन्द उसका स्वरूप धर्म होने के कारण सदा आनन्द की प्राप्ति का प्रयास करता रहता है। मगर अज्ञानता के कारण माया वश इस संसार रूपी बन्धन में बंध जाने के बाद वह अपने स्वरूप को भूल गया है। आनन्द प्राप्त करने के लिए जीव एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ के भोग में लगा रहता है। परन्तु इन पदार्थों में वह अविनाशी आनन्द की प्राप्ति नहीं हो पाती है, क्योंकि उसे मालूम है कि संसार के जितने भी पदार्थ हैं, वह सब नश्वर हैं। ये पदार्थ आज हैं, कल नहीं हैं। नश्वर और परिणामी होने के कारण उनका रूपान्तरण होता रहता है तथा अवस्था भेद के कारण उसे उन पदार्थों से कभी सुख की प्राप्ति होती है तो कभी दुःख की अनुभूति होती है। जीव का यही क्रम अनन्त तक चलता रहता है। दुःखी हुआ जीव जब योग के अभ्यास द्वारा इन सांसारिक पदार्थों से उदासीन होकर शांत हो जाता है, तब उसे अपनी भूल का एहसास होता है। अज्ञानता के नष्ट होने पर फिर अपने चिदानन्द रूपी आनन्द सागर में डूब जाता है। फिर उसे इस संसार में रहते हुए भी कभी दुःखों की अनुभूति नहीं होती है, क्योंकि उसे तो दुःखों से अत्यन्त निवृत्ति मिल चुकी होती है। उसकी अविद्या नष्ट हो जाने के कारण अपने स्वरूप में अवस्थित हो चुका है। जीव जब तक इस संसार में अनित्य पदार्थों में नित्य आनन्द को ढूंढता रहा, तब तक उसे आनन्द की प्राप्ति तो दूर की बात रही, उसे सदैव दुःखों की ही अनुभूति हुई, क्योंकि अनित्य में नित्य की प्राप्ति नहीं हो सकती है। जब उसने इन अनित्य पदार्थों का पूर्णतया त्याग कर दिया, उसी समय उसे अपने आप नित्य आनन्द प्राप्त हो गया। उसे नित्य आनन्द प्राप्त करने का कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ा, नित्य आनन्द तो उसका स्वरूप धर्म ही है। यह नियम है कि एक बार में ही सत् और असत् वस्तु दोनों को धारण नहीं किया जा सकता है। जब जीव अज्ञान वश असत् वस्तु को धारण करता है, तब सत् वस्तु अज्ञानता के कारण उससे दूर हो जाती है और जब सत् वस्तु को धारण करता है, तब भ्रम रूपी असत् वस्तु (संसार व सांसारिक पदार्थ) उसके लिए नष्ट हुए के समान हो जाते हैं।

ईश्वर की परा-प्रकृति के सम्बन्ध से सभी जीव समुदाय अभिन्न हैं। मगर जीवों के अनादि कर्म संस्कारों का जो समूह है, उसके फलस्वरूप प्राप्त हुए स्थूल शरीर, मन, बुद्धि और शक्ति के तारतम्य से

आपस में भिन्नता है। प्रलय काल में सभी जीव अपरा-प्रकृति में गहरी निद्रा जैसी अवस्था को प्राप्त होकर अवस्थित हो जाते हैं, फिर सृष्टि के समय पुनः अपरा-प्रकृति से प्रकट हो जाते हैं। ऐसा तब होता है जब अपरा-प्रकृति परा-प्रकृति से प्रकट होकर सृष्टि उन्मुख हो जाती है। ईश्वर की परा-प्रकृति के अन्तर्गत होने से उसी के अंश हैं, इसलिए जीव ईश्वर से अभिन्न कहलाता है। ईश्वर उसका नियामक है, जीव उसका नियमन है। ईश्वर एक है और जीव अनेक है।

आत्मा के दो स्वरूप होते हैं। एक आत्मा और दूसरा जीवात्मा। आत्मा की अनुभूति इनमें से किसी एक रूप में अथवा दोनों ही रूपों में हो सकती है। इन दोनों अनुभूतियों में थोड़ा-सा अंतर होता है। आत्मा सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त प्रतीत होता है। जीवात्मा व्यक्ति विशेष के मन प्राण शरीर को धारण करने वाला व्यष्टि पुरूष प्रतीत होता है। सबसे पहले साधक को जब आत्मा का अनुभव होता है, तब आत्मा सब जड़ पदार्थों से पृथक अपने आप में ही स्थित दिखता है। यह साधक की विवेक-ख्याति अवस्था है। इस प्रकार के अनुभव के बाद भी साधक को अभी बहुत अभ्यास करना होता है। जीवात्मा का अनुभव ऐसा नहीं है। इस अनुभव में ईश्वर के साथ एकता तथा ईश्वर ही एकमात्र आश्रय दिखाई देता है। फिर अपरा-प्रकृति को पूर्ण शुद्ध कर देने की तथा अंतःकरण आत्मा, प्राणात्मा और शरीरात्मा को खोज निकालने की शक्ति की अनुभूति होने लगती हैं। योग में इन दोनों प्रकार के अनुभवों की आवश्यकता होती है, तभी साधक पूर्णता में स्थित हो पाता है।

मोक्ष

भोग और अपवर्ग ये दोनों पुरूषार्थ चित्त द्वारा होने से और चित्त में ही होने से चित्त के ही धर्म हैं। जिस प्रकार हार और जीत योद्धाओं द्वारा योद्धाओं में ही होती है, मगर हार और जीत राजा की कही जाती है, इसी प्रकार बन्धन चित्त में होते हुए भी व्यवहार रूप में आत्मा के लिए कहा जाता है क्योंकि आत्मा चित्त का द्रष्टा है और उसका स्वामी भी है। जब तक चित्त में भोग और अपवर्ग का कार्य पूरा नहीं हो जाता है, तब तक चित्त में बन्धन बना रहता है। पुरूषार्थ से चित्त का वियोग ही बन्धन से वियोग है अर्थात् मुक्ति है। बन्धन तीन प्रकार का होता है।

पहला बन्धन– जो साधक चित्त की प्रथम भूमि में आसक्त हो रहे हैं अथवा जिन योगियों का अभ्यास सिर्फ चित्त की प्रथम भूमि तक ही है अर्थात् सिर्फ स्थूल वृत्तियों का ही साक्षात्कार कर पाये हैं, इनके अन्तर्गत स्थूल पंचभूत आते हैं, ऐसे साधक विकारों में आसक्त होकर शीघ्र ही भूलोक पर जन्म ग्रहण करते हैं। उचित समय आने पर फिर इसी भूमि (चित्त की प्रथम भूमि) को शीघ्र समाप्त कर अभ्यास करने लगते हैं।

दूसरा बन्धन– जो साधक चित्त की प्रथम भूमि का साक्षात्कार कर चुके हैं अर्थात् पंचभूतों का साक्षात्कार कर चुके हैं तथा चित्त की दूसरी भूमि का साक्षात्कार करने के लिए अभ्यास कर रहे हैं, चित्त की दूसरी भूमि के अन्तर्गत सूक्ष्म पंचभूत व तन्मात्राएँ आती हैं, इस अवस्था में साधक सूक्ष्म विषयों में आसक्त रहते हैं। परोपकार, अहिंसा और सात्विक कार्यों में लगे रहते हैं तथा फल की कामना रखते हैं। इस अवस्था को प्राप्त साधक को यश, सम्मान, सुख आदि बहुत मिलता है। ऐसे साधक स्थूल शरीर के पश्चात अपनी योग्यतानुसार सूक्ष्म लोकों में, पितर लोक से लेकर ब्रह्म लोक तक, सात्विक वासनाओं का फल भोगते हैं। फिर वे अपने कर्माशयों के अनुसार भूलोक पर जन्म लेते हैं। ऐसे साधकों का चित्त शरीर में बंधे रहने का कारण धर्म-अधर्म से युक्त उनकी वासनाएँ हैं। फिर इसी बन्धन के कारण मनुष्य लोक (भूलोक) पर जन्म लेते हैं। उचित समय आने पर अभ्यास के द्वारा अति शीघ्र इसी भूमि को प्राप्त कर अभ्यास में लग जाते हैं।

तीसरा बन्धन– जो साधक सबीज समाधि की उच्चतर व उच्चतम अवस्था को प्राप्त किए हुए हैं। उच्चतर अवस्था वाली चित्त की भूमि अहंकार के अन्तर्गत आती है। इसमें सात्विक अहंकार के कारण आनन्द की अनुभूति होती है, इसलिए इस भूमि को आनन्दानुगत भी कहते हैं। उच्चतम अवस्था वाली चित्त की भूमि अस्मिता के अन्तर्गत आती है, इसलिए इसे अस्मितानुगत भूमि भी कहते हैं।

जो साधक अभ्यास के द्वारा इन्हीं भूमि को प्राप्त पाते हैं अथवा इन्हीं भूमि में आसक्त रहते हैं, विवेक-ख्याति के द्वारा अपने स्वरूप में अवस्थित होने का प्रयत्न नहीं करते हैं अथवा प्राप्त नहीं कर पाते हैं, वे स्थूल शरीर त्यागने के पश्चात सूक्ष्म वासनाओं के अधीन बहुत समय तक विदेह और प्रकृतिलय अवस्था में मोक्ष जैसी स्थिति में रहकर अपने स्वरूप में अवस्थित होने के लिये फिर भूलोक पर जन्म ग्रहण करते हैं। इस बन्धन को प्राकृतिक बन्धन कहते हैं। विदेहों को अहंकार का और प्रकृतिलय को अस्मिता का बन्धन रहता है। ऊपर लिखे बन्धनों से स्पष्ट है कि जीवात्मा स्वयं अपने बन्धन का जिम्मेदार है।

सृष्टि का जो अवरोहण क्रम है अर्थात् पहला विषम परिणाम है– चित्त से अहंकार बहिर्मुखी हो रहा है। अहंकार से तन्मात्राएँ, मन और दसों इन्द्रियाँ तथा तन्मात्राओं से सूक्ष्म पंचभूत, सूक्ष्म पंचभूतों से स्थूल पंचभूत बहिर्मुखी हो रहे हैं। शुरूआत से लेकर (चित्त से लेकर) अन्त तक (स्थूल पंच-भूत तक) जैसे-जैसे बहिर्मुखता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे रजोगुण व तमोगुण की मात्रा बढ़ती जाती है। स्थूल जगत् व स्थूल शरीर में रजोगुण व तमोगुण का ही व्यवहार चल रहा है। सत्त्वगुण केवल नाम मात्र का (गौण रूप में) रह जाता है। जब साधक के अभ्यास के द्वारा अवरोहण क्रम से उल्टे आरोह क्रम में होने लगता है, तब अभ्यासानुसार अन्तर्मुखता बढ़ने लगती है। जितनी अन्तर्मुखता बढ़ेगी उतना ही रजोगुण व तमोगुण का आवरण (मात्रा) कम होता जाएगा तथा सत्त्वगुण की मात्रा बढ़ती जाएगी, तब सत्त्वगुण के प्रकाश में चेतन तत्त्व की अनुभूति बढ़ती जाएगी। जैसे-जैसे चेतन तत्त्व की स्पष्टता से अनुभूति बढ़ती जाएगी, वैसे-वैसे जीवात्मा का बन्धन ढ़ीला होता जाएगा।

यह जो बन्धन है वह वास्तव में चित्त में ही होता है। आत्मा का इससे (बन्धन और मोक्ष) कुछ लेना देना नहीं है, क्योंकि आत्मा पर इसका (बन्धन और मोक्ष का) किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता है। आत्मा द्रष्टा मात्र है, किसी से सम्बद्ध नहीं होता है। वह न बन्धन में बँधता है और न ही मुक्त होता है। बन्धन में बँधना और मुक्त होना तो प्रकृति का कार्य है, न कि आत्मा का। अज्ञान ही बन्धन का कारण है, विशुद्ध ज्ञान मोक्ष का कारण है। मनुष्य जो भी अच्छे बुरे कर्म करता है वह धर्म-अधर्म की प्रवृत्ति है। यह सब चित्त के कार्य हैं। इनका सम्बन्ध पूरी तरह से चित्त से है, क्योंकि तीनों गुणों का विषम परिणाम तो चित्त में ही हो रहा है। अज्ञान अथवा अविद्या में जो चित्त की अवस्था रहती है, विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति पर चित्त की यह अवस्था पहले की अपेक्षा से भिन्न हो जाती है। यदि प्राकृतिक बन्धन से युक्त योगियों पर गौर करें तो स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि उन्हें भी मुक्ति नहीं है, जबकि ऐसा योगी सूक्ष्म जगत् से परे प्रकृति के आवरण में बहुत समय तक अवस्थित रहता है तथा मोक्ष जैसी ही अनुभूति करता है। मगर उसको भी

किसी-न-किसी समय जन्म ग्रहण करना होता है, क्योंकि ऐसे योगी अपने स्वरूप में अवस्थिति की अवस्था प्राप्त नहीं कर पाये हैं। स्वरूप अवस्थिति की अवस्था प्राप्त करने के लिए उन्हें जन्म ग्रहण करना होता है, क्योंकि प्रकृतिलयों को अस्मिता में आसक्ति बनी रहती है। अस्मिता में आसक्ति का कारण यह है कि जहाँ तक तीनों गुणों का अधिकार है, उसमें किसी-न-किसी पदार्थ से अविद्या के कारण कुछ-न-कुछ आसक्ति शेष रह जाती है। यही बन्धन का कारण है। यह आसक्ति निर्बीज समाधि के अभ्यास के समय समाप्त हो जाती है, क्योंकि निर्बीज समाधि के अभ्यास के समय व्युत्थान के संस्कार दब जाते हैं, तब यह प्राकृतिक बन्धन भी समाप्त हो जाता है।

मिथ्या ज्ञान (अविद्या) के वासना से युक्त जो चित्त है, वह न तो अपने भोगों के अधिकार को समाप्त करता है और न ही आत्मा के दर्शन को प्राप्त होता है। ऐसा चित्त अपने भोगों से युक्त होने के कारण पुनरावृत्ति शील हो जाता है अर्थात् फिर से अपने भोगों में लग जाता है। ऐसा चित्त में स्थित कर्माशय रूप में सूक्ष्म वासनाओं के कारण होता है। मगर विवेक-ख्याति द्वारा आत्मा का दर्शन हो जाने पर चित्त अपने भोगों के अधिकार की समाप्ति को प्राप्त हुआ अविद्या से रहित होकर बन्धन के कारण के अभाव हो जाने से पुनरावृत्ति से रहित हो जाता है। विवेक-ख्याति के द्वारा आत्मा और चित्त की भिन्नता का ज्ञान होता है। निरन्तर अभ्यास से विवेक ज्ञान निर्मल व शुद्ध हो जाता है, तब क्लेशों का सर्वथा नाश हो जाता है और मिथ्या ज्ञान का बीज भुने हुए बीज के समान हो जाता है। फिर यह बन्धन की उत्पत्ति करने में असमर्थ हो जाता है।

संसार में जो उत्पन्न हुआ है वही आयु और मृत्यु को प्राप्त होता है। वही बन्धन में पड़ता है तथा वही मोक्ष को प्राप्त होता है। अपने वास्तविक स्वरूप का तत्त्वज्ञान न होने से जीव बन्धन में पड़ता है। उत्पन्न होने का सम्बन्ध इस दृश्य जगत् से है, आत्मा से नहीं। आत्मा उत्पत्ति से पहले जैसा था वैसा ही उत्पत्ति के बाद भी रहता है। उत्पत्ति का आत्मा पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता है, वह सदा एक रहता है। दृश्य जगत् का अस्तित्व ही बन्धन स्वरूप है। इस दृश्य जगत् का सम्बन्ध चित्त पर स्थित वृत्तियों से है। वृत्तियों के द्वारा ही दृश्य जगत् की अनुभूति की जाती है। इसी दृश्य जगत् के द्वारा ही जीवात्मा बन्धन में पड़ता है। चित्त पर स्थित वृत्तियों का अभ्यास के द्वारा निरुद्ध हो जाने पर दृश्य जगत् का दिखाई देना बन्द हो जाता है। दृश्य का निवारण हो जाने पर दृश्य जगत् नष्ट हुए के समान हो जाता है, तब जीवात्मा बन्धन से मुक्त हो जाता है। चित्त पर स्थित वृत्तियाँ जब तक वायु स्पन्दन के द्वारा बाहर निकलती रहती हैं, तब तक दृश्य जगत् बना रहता है। ऐसी अवस्था में दृश्य जगत् की सत्ता का भ्रम बना रहेगा। सत्ता का नष्ट होना तथा अपने स्वरूप में स्थित होना ही मोक्ष है। इसलिए कहा जाता है कि जब

तक दृश्य बना रहेगा तब तक मोक्ष प्राप्त नहीं होगा। जो असत् वस्तु है उसका अस्तित्व नहीं है। यह असत् वस्तु जो भ्रम रूपी है, उसे सत्य रूप में अज्ञानी पुरूष ही देखते है। यह जीवात्मा का बन्धन है। जो पुरूष निर्विकल्प समाधि का अभ्यास कर रहे हैं, उस समाधि अवस्था में जगत् का भान नहीं रहता है। समाधि से उठने के बाद उसे सांसारिक दुःख अनुभव में आने लगता है। वृत्ति रूप दृश्य के रहते हुए कोई भी अभ्यासी समाधि का कितना भी अभ्यास करे, क्या उसे संसार की प्राप्ति नहीं होगी? अर्थात् अवश्य होगी, क्योंकि उस पुरूष की जहाँ-जहाँ चित्त-वृत्ति जाएगी, वहाँ-वहाँ उससे सम्बन्ध रखने वाले जगत् की अनुभूति होगी। द्रष्टा चाहे जहाँ भी हो उसके अन्दर ही जगत् का प्रादुर्भाव होता है। जिस प्रकार पुरूष स्वप्न को अपने हृदय के अन्दर ही देखता है, उसी प्रकार यह जगत् चित्त में ही स्थित है। यह अपने अनुभव के द्वारा दिखाई देता है। इसलिए इस जगत् की अत्यन्त विस्मृति होना ही मोक्ष कहलाता है। इस अवस्था को प्राप्त करने वाले पुरूष के लिए कोई भी वस्तु प्रिय अथवा अप्रिय नहीं होती है। वैसे मोक्ष स्वाभाविक रूप से सदैव विद्यमान रहता है, मगर अविद्या के कारण उदय नहीं होता है। जैसे कपड़े में उज्ज्वलता विद्यमान रहती है, मगर कपड़ा मलिन होने के कारण उज्ज्वलता दिखाई नहीं देती है। मैल के दूर होते ही उज्ज्वलता प्रकट हो जाती है। इसी प्रकार अविद्या के कारण जगत् सत्य दिखाई देता है, अविद्या के नष्ट होते ही जगत् का अत्यन्त अभाव हो जाता है। जगत् के अत्यन्त अभाव होने पर जीवत्व नष्ट हो जाता है तथा आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।

जिसके अन्दर सृष्टि और प्रलय होते रहते हैं, जो जन्म और मृत्यु से रहित हैं, अखण्ड नित्य रस प्रकाश से युक्त हैं, चेतन स्वरूप सर्वव्यापी और विकार रहित हैं, जो सभी का आधार है, उसका कोई आधार नहीं है। वह स्वयं अपने आप में स्थित है। ऐसे परमात्मा का तत्त्वज्ञान होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार मिट्टी के अन्दर घड़ा आदि विद्यमान रहते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म में नाना प्रकार की सृष्टियाँ विद्यमान रहती हैं। ये सृष्टियाँ तत्त्व रूप से असत्य ही हैं, परन्तु माया के प्रभाव से सत्य प्रतीत होती हैं। इसी कारण ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण भी भिन्न-सी दिखाई देती हैं। अभ्यासी पुरूष जिस-जिस वस्तु से विरक्त होता जाता है, उस-उस वस्तु से मुक्त होता जाता है। जब अभ्यास करते-करते धीरे-धीरे सब और से निवृत हो जाता है, तब उसे किसी प्रकार का दुःख नहीं होता है। इस अवस्था में वह मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

मुक्त पुरूष दो प्रकार के होते हैं। **एक**– विदेह मुक्त, **दूसरा**– जीवन्मुक्त। विदेह मुक्त पुरूष के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है अर्थात् जो भी उसके विषय में कहा जाएगा, वह कम ही होगा। उसका शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता है क्योंकि वह तो साक्षात् ब्रह्म स्वरूप ही होता है तथा सदैव

अपने स्वरूप में स्थित होता है। वह संसार में व्यवहार नहीं करता है और उसे तो संसार का भान ही नहीं होता है। यदि मुझसे पूछा जाए कि मैंने कभी विदेह मुक्त पुरूष को प्रत्यक्ष देखा है, तो मैं यही उत्तर दूँगा– मैंने अभी तक ऐसे पुरूष को नहीं देखा है। यह सारी जानकारियाँ हमें ज्ञान के द्वारा मिली हैं तथा हमें भी कभी ऐसी अवस्था कुछ समय के लिए प्राप्त हुई थी। तब हमने ऐसा जान पाया था कि विदेह मुक्त पुरूष संसार में ऐसे रहता है। मैंने इस अवस्था की प्राप्ति के लिए अभ्यास रोक दिया। अभी मैं जीवन्मुक्त अवस्था में ही रहना चाहता हूँ, क्योंकि संसार में अभी बहुत से कार्य करने हैं। वर्तमान समय में हमारी परिस्थितियाँ कुछ इस प्रकार की है कि मैं विदेह मुक्त अवस्था का अभ्यास नहीं कर सकता हूँ। मैं भविष्य में विदेह मुक्त अवस्था प्राप्त करके ही इस स्थूल शरीर को त्यागना चाहता हूँ। मैं जीवन्मुक्त पुरूषों के विषय में बहुत कुछ लिख सकता हूँ, क्योंकि मैंने यह अवस्था कई वर्षों से प्राप्त कर रखी है तथा संसार में मैं संसारी पुरूषों के समान व्यवहार करता हूँ। संसारी पुरूष हमें नहीं समझ सकता है कि मैं जीवन्मुक्त हूँ। बहुत से अज्ञानी पुरूष तो ढोंगी, पाखण्डी तथा पता नहीं कौन-कौन सी उपाधियाँ देते रहते हैं। मैं उन उपाधियों को सुनकर भी प्रसन्न बना रहता हूँ, क्योंकि मैं सभी प्रकार के प्राणियों में विद्यमान हूँ। मुझमें और अन्य प्राणियों में तत्त्वरूप से कुछ भी भिन्न नहीं है। यदि भौतिक दृष्टि से सोचूं तो यह स्थूल शरीर गन्दगी से भरा होने के कारण एवं अपरा-प्रकृति से बना होने के कारण निन्दनीय ही है। संसारी पुरुष तो इस स्थूल शरीर की निन्दा करते हैं। निन्दक तथा मेरी आत्मा तो एक ही है। अतः मैं और निन्दक एक ही हुए। जब तत्त्व रूप से एक ही हैं तो निन्दक के प्रति विकार आने का कोई कारण नहीं बनता है।

जीवन्मुक्त पुरूष के अन्त:करण में भोग पदार्थ मिथ्या हैं। इस निश्चय से भोग पदार्थों के प्रति संकल्प रहित संसार में व्यवहार करते रहते हैं। मुझे अमुक वस्तु प्राप्त हो जाए, यह जो भावना है वह तृष्णा से सम्बन्धित है। इस तृष्णा का त्याग करके ही परम् उदार हो गया है। अज्ञानी पुरूषों के अन्दर यह भावना होती है कि यह स्थूल शरीर हमारे माता-पिता द्वारा उत्पन्न किया गया है। मगर जीवन्मुक्त पुरूष का निश्चय होता है कि मैं स्थूल शरीर से लेकर चित्त आदि से भी सूक्ष्मतर हूँ। जगत् के समस्त पदार्थ परमात्मा के ही स्वरूप हैं। सारा जगत् आकाश के समान ही है। शुद्ध भावना से यह निश्चय ही जीवन्मुक्त पुरूष को मोक्ष प्राप्त कराता है। इसलिए ब्रह्म का साक्षात्कार करने के लिए सभी विषयों का त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि सब कुछ त्यागने के पश्चात जो कुछ शेष रहता है, वह मोक्ष का ही स्वरूप है।

अभ्यासी पुरूष को अभ्यास के द्वारा चित्त की वृत्ति को निरुद्ध कर देना चाहिए क्योंकि जब प्राण, मन की वृत्ति तथा वासना का अत्यन्त अभाव हो जाता है, तब मोक्ष की प्राप्ति होती है। इच्छाओं अथवा वासनाओं को चित्त कहते हैं। जब अभ्यास के द्वारा चित्त विलीन हो जाता है, तब संसार की निवृत्ति हो

जाती है। यह संसार मन के संकल्प से उत्पन्न हुआ है। जब मन अर्थात् चित्त की वृत्ति निरुद्ध हो जाएगी तब संसार रह ही कहाँ जाएगा। तब केवल परमार्थ तत्त्व ही शेष रहेगा, यही मोक्ष का स्वरूप है। मन, प्राण, वासना इन तीनों में किसी एक का विनाश करने से संसार का अभाव हो जाता है। इनमें मन मुख्य है, क्योंकि मन के संकल्प से संसार उत्पन्न हुआ है। इसलिए समाधि के अभ्यास से मन की वृत्ति को निरुद्ध कर देना चाहिए। फिर जीवात्मा को उस परम् पद की प्राप्ति हो जाएगी। जब प्राणायाम किया जाता है, तब मन अपने आप अपनी चंचलता को छोड़कर शांत होने लगता है। जब वायु का चलना रुक जाता है, तब गन्ध का प्रसार भी रुक जाता है। इसी तरह मन के रुकने पर प्राणों का चलना रुक जाता है। प्राण और मन दोनों एक दूसरे से मिलते जुलते रहते हैं। इन दोनों में से कोई भी अकेला नहीं रह सकता है। एक के रुकने से दूसरा रुक जाता है अर्थात् एक के विलीन होने पर दूसरा विलीन हो जाता है अर्थात् दोनों विलीन हो जाते हैं। दोनों के विलीन होने पर जीवात्मा का जीवत्व नष्ट हो जाता है तथा शुद्ध निर्मल आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। चित्त का स्वभाव है कि वह जिस वस्तु में तन्मय हो जाता है, शीघ्र ही उसी रूप वाला बन जाता है। इसलिए अभ्यासी को परमात्म-तत्त्व में तब तक तदाकार वृत्ति बनाए रखना चाहिए जब तक उस वृत्ति का ही अभ्यास के द्वारा निरुद्ध (अभाव) न हो जाए। वृत्ति के निरुद्ध होने से अभ्यासी का चित्त स्वयं ही प्राण के साथ विलीन हो जाएगा, तब मोक्ष स्वरूप ब्रह्म में स्थित हो जाएगा।

सांसारिक पदार्थों का जो प्रसारण है, जीवात्मा को उसका अनुभव अज्ञान के द्वारा ही सिद्ध होता है। जब ज्ञान के द्वारा इस प्रकार के अनुभव रुक जाते हैं, तब अभ्यासी पुरूष को असत् पदार्थों का अनुभव नहीं होता है। तब वह सोचता है- मैं बेकार में ही अब तक असत् पदार्थों का अनुभव करता रहा हूँ। जब पुरूष सोचता है, मैं यह हूँ, मैं वह हूँ, मैंने ऐसा किया आदि अहंभाव ही बन्धन का कारण होता है। यही बन्धन दुःख स्वरूप है। परन्तु जब अहंभाव नहीं रहता है, तब मोक्ष का कारण बन जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि बन्धन और मोक्ष अपने ही अधीन हैं। वासनाओं के क्षीण होने पर दुःख का अनुभव नहीं होता है तथा वासना अत्यन्त सूक्ष्म होकर मोक्ष रूप में बदल जाती है।

जब अभ्यास के द्वारा द्वैत और एकत्व आदि भेद न रह जाए, सब कुछ ब्रह्म है, मैं भी ब्रह्म ही हूँ अर्थात् दृश्य का अत्यन्त अभाव रूप जो अनुभूति है, वह मोक्ष ही है। तत्त्वज्ञानी पुरूष ब्रह्म को इसी रूप में अनुभूत करता है। सम्यक ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। वहाँ न एकत्व है और न अनेकत्व है। वहाँ कुछ भी नहीं है अर्थात् जहाँ दृश्य की सत्ता का अत्यन्त अभाव है, सभी प्रकार के सद्भावों की सीमा का जहाँ पर अन्त है, समस्त विकारों का जहाँ अभाव है, निरतिशय आनन्द रूप से स्थित और परम् शांत पद को मोक्ष कहा जाता है।

जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त पुरुषों में कोई अंतर नहीं है। दोनों प्रकार के पुरूष मोक्ष को प्राप्त हो चुके हैं, क्योंकि दोनों प्रकार के पुरूष बोध स्वरूप हैं। उनका भोग पदार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है। इन्हें भोगों की अनुभूति भी नहीं होती है, सिर्फ भोगाभास होता है। भेद कराने वाला अज्ञान होता है। इन दोनों का अज्ञान नष्ट हो चुका है। अज्ञान के नष्ट होने पर ज्ञान ही शेष रह जाता है, फिर भेद का क्या मतलब। समुद्र का जल शांत रहे अथवा लहरें उठ रही हों, दोनों ही दशाओं में जल की रूपता में कोई फर्क नहीं होता है अर्थात् किसी प्रकार का अंतर नहीं होता है। इसी प्रकार शरीर के रहते हुए और शरीर के न रहने पर मुक्त पुरूष की स्थिति एक सी ही होती है। जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त में थोड़ा-सा भी भेद नहीं है। जैसे वायु गतिशील रहे अथवा शांत रहे, दोनों दशाओं में वह वायु ही है। सांसारिक दृष्टि से देखने पर दोनों पुरूषों की बाह्य दशाओं में अंतर दिखाई देता है, मगर दोनों पुरूषों के अंतःकरण सदैव ब्रह्म अनुभूति में ओत-प्रोत रहते हैं। जीवन्मुक्त पुरूष संसार में व्यवहार करता रहता है। वह एक मात्र बोध निष्ठा को प्राप्त हुआ राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि से रहित है। उसे प्रारब्ध के अनुसार जो कुछ मिल जाए उसी पर अपना जीवन निर्वाह करता रहता है तथा अपने निज स्वरूप में गहरी निद्रा की भाँति स्थित रहता है। अज्ञान रूपी निद्रा से जाग जाने के कारण अर्थात् अज्ञान नष्ट हो जाने के कारण सदैव जागता रहता है अर्थात् तत्त्वज्ञान में स्थित रहता है। वह कर्म करते समय कर्तृत्व और न करते समय अकर्तृत्व के अभिमान से लिप्त नहीं होता है। वह चित्त युक्त होते हुए भी चित्त से शून्य है, ऐसा जीवन्मुक्त पुरूष होता है। विदेह मुक्त पुरूष को ब्रह्म कहा जाता है। यह संसार के व्यवहार में लिप्त नहीं होता है। भोजन करते समय उसे किसी प्रकार की अनुभूति नहीं होती है। मात्र कुछ समय के लिए (भोजन करने के समय) व्युत्थान अवस्था में आता है, फिर अपनी आत्मा में स्थित हो जाता है।

कैवल्य मुक्ति की प्राप्ति ही मानव जीवन का मुख्य उदेश्य होना चाहिए। कैवल्य मुक्ति प्राप्त होने पर दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति हो जाती है। दुःखों के नष्ट हो जाने पर दुबारा दुःखों की उत्पत्ति न होने को ही अत्यन्त निवृत्ति कहते हैं। कैवल्य प्राप्त होने पर जीव को फिर जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता है। मोक्ष और मुक्ति इन दोनों शब्दों का अर्थ छुटकारा होता है। यहाँ पर छुटकारा का भाव दुःख से है अर्थात् दुःखों से छुटकारा तथा इसका अर्थ बन्धन से भी लगाया जा सकता है। अब मोक्ष और मुक्ति का अर्थ 'दुःखों तथा बन्धन का छुटकारा' कह दिया जाए तो शायद गलत नहीं होगा, अर्थात् दुःखों से छूट जाना। दुःखों से अत्यन्त निवृत्ति होना ही मोक्ष कहा जाता है।

श्री रामचरितमानस में कई जगह 'अपवर्ग' शब्द आया है। 'अपवर्ग' मोक्ष का ही पयार्यवाची शब्द है। अपवर्ग का अर्थ भी दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति से ही है। जब ब्रह्मानंद की प्राप्ति होती है, तभी

दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति होती है। दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति के लिए पुरूषों को योग का अभ्यास करना होगा, तभी निवृत्ति सम्भव हो सकती है। जैसे गन्दे वस्त्र का मैल धो दिया जाए तो मैल धुलने के बाद वस्त्र स्वमेव स्वच्छ हो जाएगा। वस्त्र की स्वच्छता के लिए अन्य पुरूषार्थ की जरूरत नहीं है, सिर्फ मैल दूर करने की जरूरत है। स्वच्छता तो स्वमेव प्रकाशित हो जाती है। इसी प्रकार दुःखों की निवृत्ति होते ही आनन्द की प्राप्ति हो जाती है।

कैवल्य शब्द का अर्थ होता है 'केवल वही होना', अर्थात् आत्मा अपने आप में हो, उसका किसी के साथ सम्बन्ध न हो। कैवल्य दुःख निवृत्ति के बाद की अवस्था विशेष पर ध्यान आकर्षित करता है। बौद्ध धर्म के अनुयायी निर्वाण शब्द का प्रयोग करते हैं। निर्वाण शब्द का अर्थ है 'बुझ जाना'। जिस तरह से दहकता हुआ अंगारा शांत होकर (बुझकर) राख का ढेर हो जाता है, राख सदैव शांत होती है। इसी प्रकार चित्त में स्थित सभी प्रकार की सांसारिक इच्छाएँ शांत हो जाना ही निर्वाण है। जिस दीपक में तेल की समाप्ति होने पर दीपक बुझ जाता है, इसी प्रकार चित्त पर से इच्छाओं अर्थात् मन के निरुद्ध हो जाने पर चित्त परम् शांत हो जाता है। चित्त अत्यन्त शून्य होकर ब्रह्म स्वरूप हो जाता है।

संस्कारों का मन में, मन का अहंकार में, अहंकार का चित्त में और चित्त का मूल प्रकृति में विलीन हो जाना अर्थात् कार्य गुणों का अपने कारण गुणों में विलीन हो जाना कैवल्य कहा जाता है। प्रकृति का जीवात्मा के भोग और मुक्ति के कार्य से निवृत्त होकर मन और चित्त का अपने कारण में लीन हो जाना कैवल्य है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जीवात्मा का अपने स्वरूप में स्थित हो जाना कैवल्य है। आत्मा को भोग उपलब्ध कराने के लिए प्रवृत्त हुई प्रकृति जब अपने स्वरूप को कार्य रूप में परिणित करती है, तब गुणों में क्रमशः कारण-कार्य भाव उत्पन्न होकर कार्य क्षमता आ जाती है। इस समय चितिशक्ति ही प्रकृति के भोग की अनुभूति करती है। जीव अज्ञानता वश प्रकृति को अपना समझता है। शुद्ध आत्मा तो विकार से रहित है। जब गुण मोक्ष दिलाने का कार्य करते हैं तो क्रमशः अपने-अपने कारण में लीन हो जाते हैं, उसे कैवल्य कहते हैं। जीवात्मा के भोग समाप्त हो जाने पर मन और चित्त से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रह जाता है, तब जीवात्मा अपने निजस्वरूप में स्थित हो जाता है। जीवात्मा का अपने निज स्वरूप में स्थित हो जाने को कैवल्य कहते हैं। योग के अभ्यास के द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है, तब जीवात्मा के भोग शेष नहीं रह जाते हैं, क्योंकि वह वृत्तियों के द्वारा ही भोग करता है। जब वृत्तियाँ ही निरुद्ध हो गई तो भोग किसका करें, क्योंकि भोग्य पदार्थ ही नहीं रह गया। ऐसी अवस्था में चेतन शक्ति अपने स्वरूप में स्थित हो जाती है। आत्मा का अपने स्वरूप में स्थित होना ही कैवल्य है। कैवल्य का अर्थ है– 'केवल उसी का होना' अर्थात् उसके साथ किसी अन्य का न होना।

जब आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाती है, तब उसे किसी प्रकार की अनुभूति नहीं होती है। अपने स्वरूप में स्थित होने को कैवल्य कहा जाता है। किसी-किसी जगह लिखा मिलता है- ब्रह्मानंद में स्थित होना अथवा निजानन्द में स्थित होना आदि। जब सिर्फ ब्रह्म ही होता है अथवा सिर्फ आत्मा ही अपने स्वरूप में अकेले होता है, चितिशक्ति अपने स्वरूप में स्थित हो जाती है, तब भोग की अनुभूति कौन करेगा? निर्गुण ब्रह्म में आनन्द नहीं है, ब्रह्म में स्थित होना ही मोक्ष है। इससे सिद्ध होता है कि मोक्ष में आनन्द की प्राप्ति नहीं है, क्योंकि सुख-दुःख की अनुभूति तो चिति शक्ति द्वारा होती है। मगर निरूद्धावस्था में तो चित्त अत्यन्त सूक्ष्म होकर आत्माकार हो जाता है अथवा आत्मा में विलीन हो जाता है, फिर आनन्द की अनुभूति कैसे हो सकती है, कौन आनन्द की अनुभूति कराएगा? आत्मा का चित्त के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता है। यदि किसी प्रकार का सम्बन्ध मानेंगे तो वह मिथ्या ज्ञान हुआ। मिथ्याज्ञान के रहते मोक्ष प्राप्त करना असम्भव है। चेतन की अनुभूति ही नहीं की जा सकती है। चेतन को किस कारण के द्वारा जानें। ऐसा नियम है- कारण के द्वारा अपने से भिन्न पदार्थ की अनुभूति की जाती है। चेतनता अपने स्वरूप अथवा अपनी सत्ता के ज्ञान को किस कारण के द्वारा जाने। जो सबको जानता है, उसे किसके द्वारा जाना जाए। इसका मतलब हुआ- केवल चेतन रूप स्थिति को कैवल्य कहते हैं। दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति और आनन्द की प्राप्ति ये दोनों कैवल्य में विलीन हो जाते हैं।

सगुण ब्रह्म और ईश्वर दोनों पयार्यवाची शब्द हैं। ईश्वर को सच्चिदानन्द स्वरुप कहा जाता है, क्योंकि उसके अन्दर ये गुण पाये जाते हैं। जबकि वह गुणों व विकारों से परे है। आत्मा को सच्चिदानन्द स्वरूप मानना उचित नहीं है। हाँ, किसी को समझाने की दृष्टि से ऐसा कहा जा सकता है, मगर सैद्धान्तिक रूप से ऐसा नहीं कहा जा सकता है।

सचिच्दानन्द का अर्थ है– **सत् स्वरूप, चित्त स्वरूप, और आनन्द स्वरूप का होना**। ईश्वर सत्त स्वरूप तथा आनन्द स्वरूप वाला है। मगर निर्गुण ब्रह्म ही सगुण ब्रह्म अर्थात् ईश्वर स्वरूप वाला बन जाता है। ईश्वर द्वारा ही सारी सृष्टियाँ अपने उदर में की जाती हैं। उदर में इसलिए कहा क्योंकि वह सर्वव्यापक है, असीमित हैं। इसलिए सारी सृष्टियाँ उसके अन्दर ही विद्यमान हैं। मैंने स्वयं भी अनुभूति के द्वारा जाना है कि ईश्वर सारी सृष्टि अपने उदर के अन्दर करता है। एक वाक्य भी है 'साक्षी चेता केवल निर्गुणश्च', अर्थात् साक्षी आत्मा केवल चेतन स्वरूप है। उसका किसी गुण के साथ किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा का वास्तविक स्वरूप केवल चेतन है।

कैवल्य स्वरूप की उपलब्धि होने पर समस्त क्लेश कर्म नष्ट हो जाते हैं। अभ्यासी अपने को सर्वथा मुक्त अनुभव करता है। गुणों का अपना कार्य भोग और अपवर्ग सिद्ध होने पर गुण अपना कार्य

बन्द कर देते हैं, क्योंकि जीवात्मा को भोग उपलब्ध कराने के लिए गुणों का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है। इसलिए गुण अपने कारण में लीन हो जाते हैं, अब उसके लिए भूतकाल और भविष्य काल वर्तमान में मिल जाते हैं, इससे प्रत्येक वस्तु वर्तमान हो जाती है। कैवल्य प्राप्त योगी के ज्ञान के सामने भौतिक ज्ञान कुछ भी नहीं है।

भक्ति योग के साधक को उसकी भावना के अनुसार क्रम मुक्ति मिलती है। ये मुक्तियाँ चार प्रकार की होती हैं- सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य। भक्ति योगी इस क्रम मुक्ति को प्राप्त करने पर ईश्वर के लोक में रहता है। वह वहाँ पर अपनी भावना के अनुसार अनन्त काल तक रहता है, फिर ईश्वर के स्वरूप में विलीन हो जाता है। तत्त्वज्ञानी पुरूष इस प्रकार की क्रम मुक्ति को प्राप्त नहीं होता है। वह किसी लोक में नहीं जाता है, बल्कि वह स्थूल शरीर त्यागने के पश्चात ब्रह्म में लीन हो जाता है।

योगी जब अपने चेतन स्वरूप में सदैव स्थित रहता है, उसे स्थित प्रज्ञ कहते हैं। इस अवस्था को 'निरोध स्थिति', 'स्वरूप स्थित' अथवा 'स्थिर चित्त' भी कहते हैं। गीता में इस अवस्था को किसी-किसी स्थान पर स्थिर बुद्धि वाला भी कहा गया है। यह अवस्था योगी को तब प्राप्त होती है, जब वह निर्बीज समाधि का अभ्यास कर रहा होता है। समाधि अवस्था में व्युत्थान के संस्कार दब जाते हैं। मगर जब समाधि भंग होती है, तब निरोध के संस्कार दब जाते हैं तथा व्युत्थान के संस्कार प्रबल हो जाते हैं। ऐसा धर्मी चित्त के कारण होता है। ऐसा इसलिए होता है, क्योंकि निर्बीज समाधि में वृत्तियों का निरोध हो जाता है। मगर व्युत्थान के संस्कारों का निरोध नहीं होता है, क्योंकि ये संस्कार चित्त के धर्म हैं। इसलिए वृत्तियों के रुकने पर संस्कार नहीं रुकते है, धर्मी चित्त में बने रहते हैं। इसी प्रकार निरोध के संस्कार भी (पर-वैराग्य के संस्कार) चित्त के धर्म हैं। निर्बीज-समाधि के समय निरोध परिणाम होता है। उस समय व्युत्थान के संस्कार दबते हैं और निरोध के संस्कार प्रकट होते हैं।

निर्बीज समाधि के समय पर-वैराग्य की वृत्ति का भी निरोध हो जाता है, क्योंकि निर्बीज-समाधि के समय सभी प्रकार की वृत्तियों का निरोध हो जाता है। तब निरोध के संस्कार कैसे शेष रह जाते हैं? यह तो मालूम हो चुका होगा कि वृत्तियों से संस्कार उत्पन्न होते हैं। वृत्तियाँ स्थूल है और संस्कार सूक्ष्म हैं। इसलिए वृत्तियाँ संस्कारों की निमित्त कारण हुई, मगर संस्कारों का उपादान कारण चित्त ही है। उपादान कारण को धर्मी कहते हैं तथा उसके कार्य को धर्म कहते हैं। इसलिए जब तक चित्त विद्यमान है, तब तक निरोध के संस्कार (पर-वैराग्य के संस्कार) विद्यमान रहेंगे। जब योगी को कैवल्य की प्राप्ति होती है, तब चित्त अपने उपादान कारण में (प्रकृति) लय हो जाता है, तब उसके साथ चित्त के धर्म, निरोध के संस्कार निवृत्त हो जाते हैं। जब निरोध के संस्कार समाधि अवस्था में प्रबल हो जाते हैं, तब व्युत्थान के संस्कार

पूर्ण रूप से दब जाते हैं। व्युत्थान के संस्कार रूपी मल से रहित निर्मल संस्कारों अर्थात् निरोध के संस्कारों का प्रवाह रहता है। चित्त के इसी प्रवाह को 'प्रशांत वाहिता स्थिति' कहते हैं अथवा चित्त की प्रशांत अवस्था कहते हैं। मगर समाधि भंग होने पर यह प्रवाह समाप्त हो जाता है, क्योंकि व्युत्थान के संस्कार प्रकट हो जाते हैं।

योगी जब काफी समय तक निर्बीज समाधि का कठोर अभ्यास करता रहता है, तब बार-बार की इस अवस्था से कभी निरोध के संस्कार प्रकट होते हैं तो कभी व्युत्थान के संस्कार निरोध के संस्कारों को दबाकर प्रकट होते हैं। इससे निरोध के संस्कार पुष्ट (शक्तिशाली) होते रहते हैं। जैसे-जैसे निरोध के संस्कार पुष्ट होते जाएँगे, वैसे-वैसे व्युत्थान के संस्कार कमजोर होते जाएँगे। इस क्रिया से व्युत्थान के संस्कार धीरे-धीरे क्षीण होकर कम होते जाएँगे। एक समय ऐसा आता है जब व्युत्थान के संस्कार पूर्ण रूप से दब जाते हैं। निरोध के संस्कारों का चित्त में लगातार प्रवाह बना रहता है। चित्त में निरोध के परिणाम के कारण आत्मा बाह्य दृश्य का द्रष्टा नहीं रहता है, तब अपने शुद्ध परमात्म-स्वरूप में अवस्थित हो जाता है और चित्त आत्मा को दृश्य दिखाने का कार्य बन्द करके अपने स्वरूप से आत्माकार हो जाता है। चित्त को बनाने वाले गुण निरोधावस्था में अपने 'सत्त्वचित्त' में अवस्थित रहते हैं। सत्त्व चित्त में केवल आंतरिक परिणाम होता रहता है।

जब निरोध परिणाम के समय आत्मा बाह्य दृश्य का द्रष्टा नहीं रहता है, उस समय चित्त में जो विभिन्न प्रकार की वृत्तियों में बाह्य परिणाम होता है, वह बन्द हो जाता है। उस बाह्य परिणाम के बन्द होने पर चित्त आत्मा को किसी प्रकार का दृश्य नहीं दिखा पाता है। आत्मा इन्हीं वृत्तियों द्वारा बाह्य दृश्य (सांसारिक दृश्य) देखता है। जब गुणों का बाह्य परिणाम ही होना बन्द हो जाएगा, तब वृत्तियाँ रुक जाती हैं, क्योंकि चित्त के अन्दर वृत्तियों को रोकने का परिणाम होता रहता है। जब वृत्तियाँ रुक जाती हैं, तब आत्मा बाह्य दृश्य नहीं देख पाता है अर्थात् द्रष्टा रूप में नहीं रहता है। तब आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप परमात्मा में अवस्थित हो जाता है। जब चित्त में बाह्य परिणाम होना बन्द हो जाता है, तब योगी को समाधि अवस्था में इससे सम्बन्धित अनुभव भी आता है। अनुभव दो प्रकार का आता है- **एक-** अंडों के रूप में, **दूसरा-** छोटे-छोटे बच्चों के रूप में। अनुभव में दिखाई देता है कि एक अंडे के ऊपर दो अंडे रखे हैं अथवा तीन छोटे-छोटे एक समान बच्चे दिखाई देते हैं। एक बच्चे को नीचे दबाकर उसके ऊपर दो बच्चे सो रहे होते हैं अर्थात् तीनों बच्चे सो रहे होते हैं। बच्चों वाला यह दृश्य बहुत अच्छा होता है। ये दोनों अनुभव आप हमारे अनुभवों पढ़ सकेंगे। ये तीनों अंडे अथवा बच्चे गुणों के प्रतीक हैं। इस प्रकार अनुभव आने का कारण यह है कि विवेक-ख्याति के बाद तमोगुण सत्त्वगुण का साथ देने लगता है।

तमोगुण इस अवस्था में सिर्फ नाम मात्र का होता है। अविद्या क्लेश आदि भुने हुए बीज के समान हो जाते हैं, क्योंकि भुने हुए बीज अंकुरित नहीं होते हैं। तमोगुण अब सत्त्वगुण का सहायक बनकर आत्मा और चित्त की भिन्नता का ज्ञान कराने वाली वृत्ति (विवेक-ख्याति) को स्थिर बनाए रखता है। इसलिए निरोध परिणाम के समय सत्त्वगुण व तमोगुण एक साथ मिलकर रजोगुण को दबाए रहते हैं। इसी कारण स्थित-प्रज्ञ योगी अथवा निर्बीज समाधि का अभ्यास करने वाले योगी की आँखों में चंचलता नहीं होती है। उसकी दृष्टि में स्थिरता आ जाती है, क्योंकि रजोगुण शांत हो जाता है। रजोगुण के शांत हुए बिना चित्त में स्थिरता नहीं आ सकती है।

चित्त में दो प्रकार के परिणाम होते हैं। **एक**– आंतरिक परिणाम, **दूसरा**– बाह्य परिणाम। बाह्य परिणाम के विषय में हम अभी-अभी लिख चुके हैं। आंतरिक परिणाम के विषय में पहले थोड़ा-सा लिखा जा चुका है, जो धर्मी चित्त में होता है। व्युत्थान के संस्कारों व निरोध के संस्कारों का प्रकट होना व दबना धर्मी चित्त का आंतरिक परिणाम है। निर्बीज समाधि काल में निरोध के संस्कारों का प्रकट होना तथा व्युत्थान के संस्कारों का दब जाना, आंतरिक परिणाम में अभ्यास के द्वारा व्युत्थान के संस्कारो को क्षीण कर-कर के सर्वथा दबा दिए जाते हैं। फिर एक समय ऐसा भी आता है जब निरोध के संस्कारों का प्रवाह बिना समाधि के बराबर बना रहता है, क्योंकि व्युत्थान के संस्कार क्षीण होकर दबे रहते हैं। इस अवस्था को स्थित-प्रज्ञ कहते हैं। स्वरूपावस्थिति जब स्वाभाविक रूप से रहने लगे अथवा बिना प्रयास किए ही बनी रहे, उसे स्वरूप स्थिति अथवा स्थित-प्रज्ञ कहते हैं। जब समाधि अवस्था में निरूद्धावस्था प्राप्त होती है, उसे स्वरूप में 'अवस्थित' कहते हैं। जब प्रयास करने पर यह अवस्था प्राप्त हो उसे अवस्थिति कहा जाता है। जब बिना प्रयास के यह अवस्था बनी रहे तब 'स्थिति' कहते हैं। इसलिए स्वरूप में अवस्थिति और 'स्वरूप स्थिति' में बहुत अंतर है।

योगी को शुरूआत में 'स्वरूप में अवस्थित' या निरूद्धावस्था मात्र कुछ क्षणों के लिए प्राप्त होती है। फिर धीरे-धीरे इस अवस्था का समय बढ़ता रहता है। इस अवस्था को स्थित-प्रज्ञ नहीं कहा जा सकता है, मगर जब अभ्यास के परिपक्व हो जाने पर सहज रूप से ही निरूद्धावस्था रहने लगे, तब उसे स्थित-प्रज्ञ कहते हैं। स्थित-प्रज्ञ अवस्था को प्राप्त योगी के चित्त में व्युत्थान के संस्कार प्रकट नहीं होते हैं। स्थित-प्रज्ञ अवस्था प्राप्त हो जाने पर योगी अपने भौतिक कार्य कैसे करता है, क्योंकि उसे जीवित रहने के लिए भोजन आदि ग्रहण करने की जरुरत होती है, तब उसे व्युत्थान की अवस्था में आना पड़ता है। भोजन आदि ग्रहण करने के पश्चात वह अपनी पूर्व स्थिति में फिर से हो जाता है। इससे योगी को किसी प्रकार का अवरोध नहीं होता है, क्योंकि वह सदैव स्थित-प्रज्ञ या 'स्वरूप स्थिति' में रहता है।

स्थित-प्रज्ञ योगी के द्वारा किए गये कर्म आसक्ति से रहित निष्काम भाव के द्वारा होते हैं। प्रत्यक्ष देखने में योगी भले ही साधारण मनुष्यों की भाँति कर्म कर रहा हो, मगर योगी सदैव आसक्ति से रहित होकर कर्म कर रहा होता है। इसलिए ऐसे कर्म योगी को बन्धन के संस्कार उत्पन्न नहीं करता है, क्योंकि उस समय योगी की स्थिति व्युत्थान की नहीं होती है, बल्की व्युत्थान में अवस्थिति होती है। स्थिति तो उसकी निरोध की ही रहती है, इसलिए साधारण मनुष्यों को भ्रम हो जाता है। मगर वास्तव में योगी अपने कर्म ईश्वर की आज्ञा समझकर अथवा प्राणियों के कल्याण हेतु करता है।

मोक्ष के सम्बन्ध में द्वैतभाव व अद्वैतभाव वाले योगी शब्दों का अर्थ निकालने में थोड़ा अलग-अलग अर्थ रखते हैं। अद्वैतवादी मोक्ष की अवस्था में आत्मतत्त्व और परमात्मा की भिन्नता नहीं मानते है। उनके अनुसार व्यवहार की दशा में आत्मतत्त्व के रूप में परमात्म-तत्त्व का ही व्यवहार होता है। मोक्ष की अवस्था में आत्मतत्त्व परमात्म-तत्त्व में, जो इसका ही वास्तविक स्वरूप है, उसमें अवस्थित रहता है। द्वैतवादी योगी आत्मतत्त्व और परमात्म-तत्त्व में जड़-तत्त्व-सा विजातीय भेद मानते हैं। आत्मा और परमात्मा आपस में जड़ तत्त्व के समान भिन्न नहीं हैं, किन्तु एक जातीय होते हुए भी अपनी-अपनी अलग-अलग सत्ता रखते हैं। मुक्त की अवस्था में आत्मा परमात्मा को प्राप्त होकर उसी के समान हो जाता है। इसी प्रकार अद्वैतवादी योगी का जड़ तत्त्व के सम्बन्ध में भी मतभेद है। अद्वैतवादी जड़ तत्त्व की सत्ता परमात्म-तत्त्व से भिन्न नहीं मानते हैं, बल्कि उसी में आरोपित करते हैं। जैसे- रस्सी में साँप और सीप में चाँदी की सत्ता आरोपित है, परन्तु वास्तविक नहीं है। जड़-तत्त्व को अनिर्वचनीय माया अथवा अविद्या मानते हैं, जो न सत्य है और न ही असत्य है। सत्य इस कारण से नहीं है, क्योंकि मोक्ष की अवस्था में उसका नितांत अभाव (जड़ तत्त्व का) हो जाता है और असत्य इस कारण नहीं है, क्योंकि सारा व्यवहार इसी में (जड़ तत्त्व में) चल रहा है। यहाँ पर केवल शब्दों का उल्ट-फेर है। वास्तव में जगत् का उपादान कारण तो माया (अविद्या) ही सिद्ध होती है। माया को चाहे सत् कहो या असत् कहो, चाहे सत् और असत् दोनों से विलक्षण कहो। माया रूपी मेघ से जगत् रूपी पानी बरस रहा है और आकाश के समान चेतन तत्त्व की कुछ भी हानि नहीं है। वह आकाश रूपी ब्रह्म भीगता नहीं है। द्वैतवाद में जड़ तत्त्व प्रकृति को एक स्वतंत्र तत्त्व के रूप में मानते हैं। सिर्फ मोक्ष की अवस्था में प्रकृति का नाश केवल मोक्ष वालों को होता है। इसका अपने स्वरूप से अभाव नहीं होता है, क्योंकि जिन्हें मोक्ष नहीं मिला अर्थात् जिनका भोग-अपवर्ग का प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ है, उनके लिए प्रकृति बनी रहती है।

दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति अर्थात् स्वरूप स्थिति द्वैत-अद्वैत दोनों ही सिद्धान्तों का अन्तिम लक्ष्य है। वह स्वरूप स्थिति ब्रह्म सदृश हो अथवा ब्रह्म स्वरूप होना हो। इसी प्रकार दुःख का कारण जड़ तत्त्व

है। इसका आत्म-तत्त्व से संयोग हटाना दोनों सिद्धान्त वालों का ध्येय है। अद्वैतवादियों ने इसको रस्सी में सर्प के सदृश परमात्म-तत्त्व में आरोपित एक कल्पित वस्तु बताकर आत्म-तत्त्व से इसका संयोग छुड़ाया है। द्वैतवादियों ने जड़तत्त्व को सर्वथा भिन्न एक अलग तत्त्व दिखाकर उसमें से आत्म-तत्त्व का अध्याय हटाया है। दुःख की निवृत्ति का साधन परमात्म-तत्त्व का ज्ञान दोनों सिद्धान्त वालों के लिए समान रूप से माननीय है। जो कामनाओं से रहित है, जो कामनाओं से बाहर निकल गया है, जिसकी कामनाएं पूरी हो गई हैं अथवा जिनको केवल आत्मा की कामना है, वह ब्रह्म ही हुआ। इस प्रकार की मुक्ति ही कैवल्य है। ब्रह्म के सबल स्वरूप की (ईश्वर की) उपासना और साक्षात्कार कारण शरीर अथवा चित्त से होता है। शुद्ध चेतन तत्त्व में कारण शरीर व कारण जगत् परे रह जाता है। वहाँ द्वैत भी नहीं रह जाता है और न अद्वैत रह जाता है, ऐसा उपनिषदों में वर्णन मिलता है। स्वरूप अवस्थिति में पहुँच कर चित्त के सारे संस्कारों का नाश कर लेने पर भी योगी सब प्राणियों के कल्याण का संकल्प अपने चित्त में बनाए रखते हैं। इनके चित्तों को बनाने वाले गुण अपने कारण में लीन नहीं होते हैं। ये चित्त अपने विशाल, सात्विक, शुद्ध स्वरूप से ईश्वर के विशुद्ध, सत्त्वमय चित्त में जिसमें सारे प्राणियों के कल्याण का संकल्प विद्यमान है, में लीन रहते हैं। ईश्वरीय नियमानुसार संसार के कल्याण में जब-जब उनकी आवश्यकता होती है, तब-तब वे अपने शुद्ध स्वरूप से इस भौतिक जगत् में अवतीर्ण होते हैं। इन्हीं को अवतार कहते हैं, जैसे- राम और कृष्ण आदि।

मोक्ष और बन्धन वास्तव में प्रकृति के कार्य चित्त में ही होते हैं। आत्मा अपने स्वरूप से सदा असंग है। वह न तो बन्धन में पड़ता है और न ही मुक्त होता है। इसलिए न कोई बन्धन में पड़ता है और न कोई छूटता है और न ही कोई जन्मान्तरों में घूमता है। प्रकृति ही विभिन्न (देवता, मनुष्यों, पशु-पक्षी आदि के शरीर में) आश्रय वाली घूमती है। प्रकृति ही बँधती और छूटती है। अज्ञान जो बन्धन का कारण है और ज्ञान जो मोक्ष का कारण है, इसका साक्षात् सम्बन्ध चित्त से है, क्योंकि गुणों का परिणाम चित्त में होता है न कि अपरिणामी आत्मा में होता है। धर्म-अधर्म जो संसार का कारण है, ये सब चित्त के धर्म हैं। इसलिए इनका फल, बन्धन, मोक्ष और संसार का सम्बन्ध चित्त से है। आत्मा बन्धन, मोक्ष और संसार में सदा एक सा रहता है, जबकि चित्त में भेद होता है। अज्ञान में जो अवस्था चित्त की है, ज्ञान में उससे भिन्न हो जाती है। विषमावस्था वाली, निम्नगमन वाली व्यष्टि प्रकृति दुःखों व बन्धनों से युक्त है। इन्हीं दुःखों व बन्धनों से मुक्त होने को मोक्ष या मुक्ति कहते हैं। दुःख व बन्धन रूपी प्रकृति से जब तक योगी परे नहीं होगा, तब तक मोक्ष मिलना सम्भव नहीं है। इसलिए त्रिगुणात्मक प्रकृति से छुटकारा प्राप्त करने पर ही मोक्ष की प्राप्ति हो पायेगी।

गुणों की प्रवृत्ति जीवात्मा के भोग-अपवर्ग के लिए है। जब यह प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, तब उस जीवात्मा के प्रति गुणों का कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता है, इसलिए वह अपने कारण में लीन हो जाते हैं। इस प्रकार जीवात्मा का अन्तिम लक्ष्य अपवर्ग सम्पादन करने के पश्चात गुणों का अपने कारण में लीन हो जाने का नाम कैवल्य है अथवा यह समझना चाहिए कि धर्मी चित्त के परिणाम क्रम बनाने वाले गुणों का अपने कारण में लीन हो जाने पर जीवात्मा का चित्त से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रहने पर अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित हो जाने का नाम कैवल्य है। जो योगी स्वरूप स्थिति को प्राप्त कर चुके हैं, वे दो प्रकार के होते हैं **एक**– जिनके कर्म केवल भोग निवृत्ति के लिए ही होते हैं, **दूसरे**– वे योगी जिनके कर्म भोग निवृत्ति तथा निष्काम भाव से करने के लिए होते हैं। वे आसक्ति रहित परमात्मा की आज्ञा पालन करते हुए समस्त प्राणियों के कल्याणार्थ ईश्वर परायण होते हैं। इसी के अनुसार इन दोनों प्रकार के स्वरूप स्थिति वाले योगियों की मुक्ति भी दो प्रकार ही होती है। **प्रथम** प्रकार की मुक्ति में योगियों के चित्त को बनाने वाले गुण अपने कारण में लीन हो जाते हैं, यही कैवल्य है। **दूसरे** प्रकार के योगियों को मुक्ति में सत्त्व चित्त अपने स्वरूप सहित ईश्वर के विशुद्ध सत्त्वमय चित्त में (ईश्वर के लोक में) अवस्थित रहता है। ईश्वरीय नियमानुसार जब उनकी आवश्यकता होती है, तब वे सम्पूर्ण प्राणियों के कल्याणार्थ तथा संसार में धर्म की मर्यादा स्थापित करने के लिए शुद्ध चैतन्य स्वरूप से भौतिक जगत् में अवतार ग्रहण करते हैं।

जिस जीवात्मा का प्रयोजन सिद्ध हो गया है अर्थात् भोग और अपवर्ग का प्रयोजन सिद्ध हो गया है, उसके लिए यह दृश्यमान जगत् नष्ट होने के समान होकर भी नष्ट नहीं होता है, क्योंकि वह दूसरे जीवात्माओं के साथ साझे की वस्तु है। अर्थात् इस सारे दृश्यमान जगत् की संरचना समस्त जीवात्माओं के भोग अपवर्ग के लिए है न कि किसी विशेष जीवात्मा के लिए है। इसलिए जिसका प्रयोजन सिद्ध हो गया है, उसके लिए यह दृश्यमान जगत् का कार्य समाप्त और नाश होने के तुल्य हो जाता है। मगर दृश्यमान जगत् नाश नहीं होता है, क्योंकि एक जीवात्मा के मुक्त हो जाने से सभी जीवात्माएँ मुक्त नहीं हो जाती हैं। यह दृश्यमान जगत् दूसरों के इसी प्रयोजन (भोग और अपवर्ग) को साधने में लगा रहता है। चित्त जीवात्मा का दृश्य रूप है, वही वृत्ति रूप से अन्य सब दृश्यों को जीवात्मा का बोध कराने का साधन है। एक चित्त के नष्ट हो जाने से उससे दृश्यमान सारा जगत् भी उसके प्रति नष्ट होने के तुल्य है, किन्तु अनन्त जीवों के चित्त जिन्होंने जीवात्माओं के भोग-अपवर्ग का प्रयोजन सिद्ध नहीं किया है, उनके विषय सारे दृश्यमान जगत् सहित वर्तमान रहते हैं।

वेदान्त में मोक्ष के मुख्य रूप से दो प्रकार के भेद माने गये हैं। **एक**– वे निष्काम कर्म योगी जो सबल ब्रह्म का (ईश्वर का) साक्षात्कार कर चुके हैं, किन्तु शुद्ध ब्रह्म (निगुर्ण ब्रह्म) का साक्षात्कार करने से

पूर्व ही इस लोक से स्थूल शरीर को त्याग कर चल देते हैं, वे ईश्वर के लोक में पहुँच कर वहाँ शुद्ध ब्रह्म का साक्षात् करके मुक्त हो जाते हैं। अर्थात् निर्बीज समाधि की भूमि को प्राप्त किए हुए वे योगी जो निरोध के संस्कारों द्वारा बहुत अंश में व्युत्थान के संस्कारों को नष्ट कर चुके हैं, अथवा कुछ शेष रह गये हैं। जिस अवस्था में उन्होंने स्थूल शरीर त्यागा है, वे ईश्वर के लोक को प्राप्त होते हैं। फिर वहाँ समाधि के द्वारा व्युत्थान के शेष संस्कार निवृत्त हो जाने पर कैवल्य को प्राप्त होते हैं। ईश्वर का लोक ईश्वर का विशुद्ध सत्त्वमय चित्त है जो सारे सूक्ष्म लोकों से सूक्ष्मतम कारण लोक (महाकारण लोक) अर्थात् कारण जगत् है। **दूसरा**– वे निष्काम कर्म योगी जो निगुर्ण ब्रह्म को पूर्णतया साक्षात् कर चुके हैं अर्थात् निर्बीज समाधि को प्राप्त किए हुए वे योगी जो व्युत्थान के संस्कारों को सर्वथा निरुद्ध कर चुके हैं, उन्हें ईश्वर के लोक में जाने की जरूरत नहीं है। वे स्थूल शरीर त्यागते ही मुक्त हो जाते हैं।

चित्त और जीवात्मा की समान शुद्धि होने पर कैवल्य होता है। सत्त्व चित्त का जीवात्मा के समान शुद्ध होना यह है कि उसमें रजोगुण व तमोगुण का मैल यहाँ तक दूर हो जाए कि आत्मा और चित्त का भेद दिखाकर, गुणों के परिणाम का यथार्थ ज्ञान कराकर, जीवात्मा को अपना स्वरूप साक्षात् कराने योग्य हो जाए। जीवात्मा की शुद्धि यह है कि चित्त में आत्म-अध्यास के कारण उसके भोग को उपचार से अपना समझ रहा था। उसका चित्त और आत्मा के भेद के यथार्थ ज्ञान से सर्वथा अभाव हो जावे, यही कैवल्य है। पुरूषार्थ से शून्य हुए गुणों का अपने कारण में लीन होना कैवल्य है अथवा जीवात्मा का अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाना कैवल्य है। गुणों की प्रवृत्ति जीवात्मा के भोग-अपवर्ग के लिए है, इसी पुरूषार्थ के लिए गुण चित्त-इन्द्रिय-शरीर आदि में परिणित हो रहे हैं। जिस जीवात्मा का प्रयोजन सिद्ध हो गया है। उसके प्रति कोई कार्य शेष नहीं रहता है, तब उस जीवात्मा के लिए भोग अपवर्ग रूप पुरूषार्थ के सम्पादन के कृतार्थ हुए गुण अपने कारण में प्रतिलोम परिणाम से लीन हो जाते हैं अर्थात् व्युत्थान समाधि और निरोध के संस्कार मन में लीन हो जाते हैं। मन अहंकार में, अहंकार चित्त में तथा चित्त मूल प्रकृति में लीन हो जाता है। जीवात्मा का अन्तिम लक्ष्य अपवर्ग सम्पादन करने के पश्चात गुणों का अपने कारण में लीन हो जाने का नाम कैवल्य है अथवा चित्त को बनाने वाले गुणों का अपने कारण में लीन हो जाने पर जीवात्मा का चित्त से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रहने पर अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाने का नाम कैवल्य है।

द्वितीय अध्याय

सन् 1999

समाधि अवस्था में आए कुछ अनुभव

इस द्वितीय अध्याय में समाधि अवस्था में आने वाले कुछ महत्वपूर्ण अनुभवों को लिख रहा हूँ। इससे अभ्यास करने वाले साधकों व पाठकों को यह जानकारी प्राप्त हो जाएगी कि योग का अभ्यास करते समय अभ्यासियों को किस अवस्था में कैसे अनुभव आते हैं तथा उनका अर्थ क्या होता है? प्रत्येक अभ्यासी को उसके चित्त वृत्तियों के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुभव आते हैं। जरूरी नहीं है कि सभी अभ्यासियों को एक जैसे ही अनुभव आएँ। योग में अवस्थानुसार कुछ ऐसे अनुभव आते हैं जो सभी अभ्यासियों के अनुभवों के अर्थ सूक्ष्मरूप से एक जैसे ही होते हैं। कुछ शास्त्रीय अनुभव ऐसे होते हैं जो भिन्न-भिन्न अभ्यासियों को एक जैसे ही आते हैं। ये अनुभव महत्वपूर्ण होते हैं। इस समय मैं सिर्फ उन्हीं अनुभवों को लिखना चाहता हूँ जिन अनुभवों को पढ़कर अभ्यासियों एवं जिज्ञासुओं को इस मार्ग के विषय में ज्ञान प्राप्त हो सके। मैंने अपनी पिछली पुस्तक **'योग कैसे करें'** में सितम्बर 1984 से मई 1999 तक के अनुभव लिखे थे। इस पुस्तक को पढ़कर हमारे पास बहुत साधक व जिज्ञासु आए। हमसे योग के विषय में मार्गदर्शन भी लिया। मगर 28 मई सन् 1999 के अनुभव के विषय में बहुत से साधकों ने प्रश्न किए। उस अनुभव में मैंने लिखा है– **"तुम्हें (हमें) अगला जन्म लेना अनिवार्य है।"** इस विषय पर बहुत से जिज्ञासुओं की इच्छा है कि मैं विस्तार से बोलूं, क्योंकि वर्तमान समय में मैं तत्त्वज्ञानी हूँ। मैं अपने स्वरूप में अवस्थित रहता हूँ तथा संसार में व्यवहार भी ऐसे करता हूँ जिससे संसारी पुरूष भ्रमित रहते हैं। बहुत से लोग प्रश्न करते हैं कि पुस्तक में आपने लिखा है, **"तुम्हें अगला जन्म लेना अनिवार्य है।"** मगर वर्तमान समय में आपकी अवस्था जीवन्मुक्त है। जीवन्मुक्त पुरूष तत्त्वज्ञानी होता है, उसकी अविद्या नष्ट हो चुकी होती है, वह जन्म धारण नहीं करता है, फिर आप अगला जन्म कैसे ग्रहण करेंगे? मैं यहाँ पर प्रश्न का उत्तर लिख रहा हूँ। 28 मई सन् 1999 में जो अनुभव आया उस अनुभव के अनुसार जन्म लेना अनिवार्य था। मगर वर्तमान समय में मैं तत्त्वज्ञान से युक्त हूँ, इसलिए भविष्य में जन्म ग्रहण करने का कोई मतलब ही नहीं है। हमारी अविद्या नष्ट हो चुकी है तथा संसार नष्ट हुए के समान हो गया है। अपरा-प्रकृति

के विषय में ज्ञान हो चुका है, क्योंकि स्थूलभूत से लेकर प्रकृति पर्यन्त पदार्थों का साक्षात्कार कर चुका हूँ। इन अनुभवों में आप पढ़ेंगे कि मैंने योग के अभ्यास से उस अंडे को फोड़ दिया है। उस समय मुझे कुछ समय तक घोर अपमान, निन्दा व कष्ट सहना पड़ा। अब उस अण्डा का प्रभाव समाप्त हो चुका है, उसके प्रभाव से मुक्त हूँ अर्थात् मैं सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त हूँ, पूर्ण स्वतंत्र हूँ। अब अगला जन्म ग्रहण करने का कोई कारण नहीं रह गया है। अब स्थूल शरीर अपनी इच्छानुसार ही त्यागूंगा तथा स्थूल शरीर त्यागने के पश्चात ईश्वर के लोक की प्राप्ति होगी। यदि ईश्वर अथवा परा-प्रकृति मुझसे जन्म ग्रहण करने के लिए कहेंगी, तब उनका सम्मान करते हुए उनकी बात हमें स्वीकार होगी। उस समय भूलोक पर जन्म ग्रहण करने के लिए अवश्य आ जाऊँगा। अगला जन्म ग्रहण करना पड़ा तो अवश्य ही अपने संकल्प से सम्पूर्ण अपरा-प्रकृति को अपने अधिकार में किए रहूँगा। परा-प्रकृति हमें जो भी कार्य सौंपेगी उस कार्य को भूलोक पर अवश्य पूर्ण करुँगा।

शुरूआती अवस्था से लेकर उच्चतर अवस्था तक जो अनुभव 15 वर्ष में आए उन अनुभवों को उस पुस्तक में लिखा है। साधक को अभ्यास के समय किस प्रकार के अनुभव आते हैं, उनका अर्थ क्या होता है, यह लिखा गया है। इसके आगे आने वाले अनुभवों को यहाँ पर लिख रहा हूँ। सबीज समाधि की उच्चतर अवस्था, उच्चतम अवस्था, विवेक-ख्याति अवस्था आदि के अनुभव संक्षेप में पाठक गण पढ़ सकते है। मैंने पिछली पुस्तक में जो अनुभव लिखे हैं, उस अवस्था के अनुभव तो वर्तमान समय में बहुत-सी पुस्तकों में पढ़ने को मिल जाएँगे। मगर जो इसके आगे की अवस्था में अनुभव आते हैं, वह पाठकों को पढ़ने के लिए शायद ही मिल पायें, क्योंकि सभी अभ्यासियों को तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं होता है। तत्त्वज्ञान की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। हजारों साधकों में से किसी एक को यह अवस्था प्राप्त होती है। वर्तमान समय में बहुत से प्रवचनकर्ता तत्त्वज्ञान के विषय में प्रवचन करते मिल जाएँगे, उनका यह ज्ञान पुस्तकीय ज्ञान होता है। तत्त्वज्ञान की अवस्था उन्होंने अभ्यास के द्वारा प्राप्त नहीं की होती है। आत्मा के विषय में उपदेश करने का अधिकार सिर्फ उन्हीं पुरूषों को है जिन्होंने अभ्यास के द्वारा आत्मा की अनुभूति की हो। ऐसे उपदेशक को कम से कम विवेक-ख्याति की अवस्था प्राप्त कर लेनी चाहिए।

अभ्यास के द्वारा सबसे पहले स्थूल पंचभूतों का साक्षात्कार करने का प्रयास किया जाता है। इसलिए कई वर्षों तक अभ्यासानुसार अभ्यासी को स्थूल पंचभूतों से सम्बन्धित अनुभव आते रहते हैं। स्थूल पंचभूतों के अन्तर्गत स्थूल पदार्थों से बनी वस्तुओं व स्थूल जगत् का भी अनुभव आ सकता है। यह अवस्था कई वर्षों तक बनी रहती है। इसलिए साधक को स्थूल पदार्थों, उनसे बनी वस्तुओं व स्थूल

जगत् से आसक्ति को समाप्त करने तथा अपना शरीर शुद्ध करने का प्रयास करना चाहिए। शरीर शुद्ध करने के लिए नशीले पदार्थों का सेवन पूर्ण रूप से त्याग देना चाहिए। प्राणायाम का कठोर अभ्यास दिन में दो-तीन बार अवश्य करना चाहिए। साधना में उन्नति प्राप्त करने के लिए सभी नियमों का पालन करना चाहिए। फिर अभ्यास के द्वारा आगे का मार्ग अवश्य ही प्रशस्त होने लगेगा। स्थूल पंचभूतों के साक्षात्कार के समय भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुभव साधक को आते हैं। ये अनुभव साधक के चित्त में स्थित वृत्तियों के अनुसार आते हैं। ऐसी वृत्तियाँ चित्त की ऊपरी भूमि पर प्रधान रूप से विद्यमान रहती हैं। जब तमोगुण की अधिकता से वृत्ति द्वारा अनुभव आएगा, उस समय दृश्य में धुँधला अंधकार अथवा कम प्रकाश दिखाई देगा। डरावनी काली व विकृति आकृतियाँ भी दिखाई दे सकती हैं, जिसे साधक ने कभी नहीं देखा होता है। जब सत्त्वगुण की अधिकता से अथवा सात्विक वृत्ति द्वारा अनुभव आता है, तब दृश्य में प्रकाश फैला होता है। इसी प्रकाश में विभिन्न प्रकार के सात्विक दृश्य दिखाई देते हैं। सन्त-महात्माओं, देवी-देवताओं आदि के दर्शन होते हैं। यदि साधक सात्विक व कठोर अभ्यास करने वाला है व पिछले जन्म में भी साधना की है, तब ध्यानावस्था में स्थूल जगत् से सम्बन्धित भविष्य का भी दृश्य दिखाई दे सकता है। फिर दृश्य के अनुसार ही स्थूल जगत् में घटना घटेगी। साधक को पहले से जानकारी हो जाने का यह कारण यह है कि स्थूल जगत् में प्रधान रूप से जो घटनाएँ घटित होती हैं, वह सूक्ष्म रूप से स्थूल में विद्यमान रहती हैं। ऐसी घटनाएँ उचित समय आने पर प्रत्यक्ष हो जाती हैं। सूक्ष्म रूप से स्थूल जगत् में विद्यमान घटना साधक सूक्ष्मभूतों के विषय में ज्ञान होने पर देख लेता है, ऐसा कभी-कभी होता है। योग के अभ्यास का अर्थ यह नहीं है कि साधक को भविष्य की जानकारी होती है अथवा नहीं होती है। उसका लक्ष्य होना चाहिए– अन्तर्मुखी होकर प्रकृति की विकृतियों का साक्षात्कार करता हुआ विवेक-ख्याति अवस्था प्राप्त करने का प्रयास करे। फिर अगली अवस्था स्वयं प्राप्त कर लेता है। पहले की अवस्थाओं को प्राप्त करने का प्रयास करना होता है।

स्थूल पंचभूतों के साक्षात्कार के बाद सूक्ष्म पंचभूतों का साक्षात्कार करने के लिए साधक को चित्त की दूसरी भूमि के अन्तर्गत अभ्यास करना होता है। इस भूमि पर प्रथम भूमि की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म वृत्तियाँ स्थित रहती हैं। चित्त की दूसरी भूमि के अन्तर्गत सूक्ष्म पंचभूतों से लेकर पंच तन्मात्राओं तक की अवस्था आती है। सूक्ष्म भूतों से लेकर तन्मात्राओं तक सूक्ष्म रूप से तारतम्य विद्यमान रहता है। यह तारतम्य घनत्व के द्वारा होता है। सूक्ष्म भूतों से तन्मात्राएँ अधिक सूक्ष्म होती हैं, क्योंकि तन्मात्राओं से ही सूक्ष्म भूतों की उत्पत्ति हुई है। तन्मात्राओं की अपेक्षा सूक्ष्म-भूत स्थूल है, फिर भी सूक्ष्म-भूत से लेकर तन्मात्राओं तक घनत्व में भिन्नता होते हुए भी सूक्ष्म रुप से तारतम्य बना रहता है। जब साधक अभ्यास के

द्वारा सूक्ष्म भूतों व तन्मात्राओं का साक्षात्कार करने का प्रयास करता है, तब साधक को सूक्ष्म जगत् से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार के ढेरों अनुभव आते हैं, क्योंकि सूक्ष्म पंचभूतों से सूक्ष्म जगत् का निर्माण हुआ है। सूक्ष्म जगत् के अन्तर्गत भूलोक को छोड़कर पाताल लोक से लेकर ब्रह्म लोक तक आता है। ये लोक आपस में घनत्व की भिन्नता के कारण अपना-अपना अलग-अलग अस्तित्व रखते हैं। जब साधक का अभ्यास चित्त की दूसरी भूमि पर होता है, तब सूक्ष्म भूतों के अन्तर्गत अभ्यास करने के कारण उसका सम्बन्ध सूक्ष्म जगत् से सम्बन्धित योग्यतानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुभव आते रहते हैं। इस अवस्था में आने वाले अनुभवों में ज्यादातर प्रकाश से युक्त अनुभव आते हैं। यदि साधक के चित्त में पूर्व जन्म के कर्मानुसार तमोगुणी कर्म सूक्ष्म रूप से विद्यमान हैं, तब धुँधले प्रकाश या अंधकार से युक्त भी दृश्य दिखाई देते हैं। ऐसे दृश्य डरावने अथवा गन्दे भी हो सकते हैं। साधक को ऐसे दृश्य देखकर डरना नहीं चाहिए और न ही दुःखी होना चाहिए, बल्कि दृढ़ता के साथ अनुभवों का अवलोकन करते रहना चाहिए तथा उसे यह समझना चाहिए कि उसके चित्त की यह भूमि शुद्ध हो रही है। सूक्ष्म कर्माशय इस रूप में बाहर निकल रहे हैं।

इस अवस्था में साधक अत्यन्त प्रसन्न रहता है, क्योंकि उसे उसकी इच्छानुसार विभिन्न लोकों के अनुभव आने लगते हैं। उसके अन्दर जैसे विचार होते हैं, उन्हीं विचारों के अनुसार लोकों के दृश्य आते हैं तथा कभी-कभी विचारों के अनुसार काल्पनिक दृश्य भी दिखाई देते हैं, जो सत्य नहीं होते हैं। विभिन्न लोकों के दृश्य देखने में साधक की दिव्य दृष्टि सहायता करती है, क्योंकि संकल्प के द्वारा देखे गये दृश्यों को दिव्य-दृष्टि ही दिखाने का कार्य करती है। साधक को ऐसा लगता है जैसे उसने सम्पूर्ण जगत् (स्थूल व सूक्ष्म) अपने अन्दर समेट लिया है। इसी अवस्था में साधक भ्रम में भी पड़ जाता है। अज्ञानता वश अपने आपको देवी-देवताओं का अवतार भी समझने लगता है तथा गुरू पद पर विराजमान होकर ढेरों शिष्य बनाने लगता है। चित्त की इस भूमि पर छोटी-छोटी ढेरों सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं। साधक को ऐसी सिद्धियों से बचना चाहिए। उसे इस अवस्था में आने वाले अनुभवों में ही आसक्त नहीं होना चाहिए, बल्कि आगे बढ़ने का प्रयास करना चाहिए नहीं तो साधक का पतन होने की सम्भावना हो जाएगी, क्योंकि सिद्धियाँ साधक के लिए अवरोध स्वरूप होती हैं। अगर अभ्यासी सिद्धियों में पड़ गया तो वह अपना लक्ष्य प्राप्त नहीं कर पायेगा। सूक्ष्म पंचभूत व तन्मात्राओं का साक्षात्कार करने के पश्चात साधक चित्त की तीसरी भूमि पर अभ्यास करता है।

चित्त की तीसरी भूमि के अन्तर्गत अहंकार आता है। यह समाधि की उच्चतर अवस्था होती है। इस भूमि पर कर्माशयों की वृत्तियाँ सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहती हैं। अति सूक्ष्म होने के कारण सत्त्वगुण की मात्रा बढ़ जाती है। इस सत्त्वगुण के कारण समाधि अवस्था में आनन्द की अनुभूति होती है। सूक्ष्म होने के कारण ये वृत्तियाँ अत्यन्त शक्तिशाली होती हैं। अत्यन्त शक्तिशाली होने के कारण अहंकार की ही सात्विक वृत्ति अभ्यासी के चित्त पर समाधि अवस्था में दीपशिखा के समान जलती हुई दिखाई देती है। इस ज्योति को देखकर साधक भ्रम में पड़ जाता है। वह सोचने लगता है कि यह आत्मा का स्वरूप है, उसे आत्म साक्षात्कार हुआ है। जबकि वास्तविकता यह है कि यह चित्त की ही अत्यन्त सात्विक वृत्ति होती है, जो इस प्रकार का स्वरूप धारण करके दिखाई दे रही है। इस दृश्य को दिखाने में अन्य वृत्तियाँ भी उसका सहयोग करती हैं। बहुत से साधक यहीं पर अभ्यास करना बन्द कर देते हैं। आगे का मार्ग तय करने का प्रयास नहीं करते हैं तथा अपने को सिद्ध पुरूष समझने लगते हैं। साधक को अभ्यास करना बन्द नहीं करना चाहिए, बल्कि अगली अवस्था प्राप्त करने के लिए अभ्यास करते रहना चाहिए ताकि अहंकार का साक्षात्कार हो सके।

अहंकार का साक्षात्कार करने के बाद साधक चित्त की चौथी भूमि पर अभ्यास करता है। इस चौथी भूमि पर अस्मिता से सम्बन्धित सूक्ष्म रूप से कर्माशय विद्यमान रहते हैं। यह समाधि की उच्चतम अवस्था होती है। अस्मिता के साक्षात्कार का अभ्यास करने वाले साधक बहुत ही कम होते हैं। ऐसे साधकों को इस संसार में बहुत ही अधिक कष्ट व क्लेश सहने पड़ते हैं। इन क्लेशों का कारण स्वयं उसके चित्त पर स्थित क्लेशात्मक संस्कार होते हैं, इन्हें 'शेष संस्कार' भी कहते हैं। अभ्यास करते समय मुझे ये क्लेशात्मक संस्कार भोग कर समाप्त करने पड़े हैं। इन क्लेशात्मक संस्कारों को भोगते समय साधक को भौतिक जगत् ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण अपरा-प्रकृति की वास्तविकता का ज्ञान हो जाता है। चित्त में आत्मा का अध्यास=अभ्यास होने के कारण चित्त चेतन-सा प्रतीत होने लगता है। आत्मा और चित्त की अभिन्नता के ज्ञान को ही अस्मिता कहते हैं। यही अस्मिता सारे दुःखों की जड़ है तथा चेतन और जड़ की ग्रन्थि भी है। अभ्यास के द्वारा जब यह ग्रन्थि खुलती है, तब उसे बहुत समय तक विभिन्न प्रकार के क्लेश भोगने पड़ते है। यह क्लेश अत्यन्त कष्टदायी होते हैं। आत्मा और चित्त की भिन्नता का ज्ञान विवेक-ख्याति के द्वारा होता है। जब इस विवेक-ख्याति का प्रवाह निरन्तर बहता है, तब क्लेशों की समाप्ति हो जाती है तथा अन्त में तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है। अस्मिता के साक्षात्कार के समय साधक को बहुत अनुभव आते हैं। इन अनुभवों को मैंने इस लेख में लिखा है। इस लेख में अहंकार से लेकर (चित्त की तीसरी भूमि) तत्त्वज्ञान प्राप्ति तक के अनुभव लिखे हैं। यह अनुभव सन् 2000 से लेकर 2010 तक के

बीच में आए हैं। अपनी पिछली पुस्तक में सितम्बर 1984 में मई 1999 तक के अनुभव लिखे थे। समाधि की उच्चतर अवस्था से लेकर तत्त्वज्ञान प्राप्ति तक हमें बहुत अनुभव आए हैं, मगर सिर्फ मुख्य-मुख्य अनुभव यहाँ पर लिख रहा हूँ। इससे अभ्यासियों को मार्गदर्शन भी मिलेगा।

सन् 2000

माता आदिशक्ति द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्ति का आशीर्वाद

मुझे सन् 2000 में दो बार ध्यानावस्था में एक जैसे ही अनुभव आए। मैं किसी स्त्री का स्तनपान कर रहा हूँ। कुछ क्षणों बाद स्तनों से दूध निकलना धीरे-धीरे बन्द हो गया। स्तनों का आकार भी सिकुड़ने-सा लगा। बाह्य त्वचा में सिकुड़न पड़ने लगी, तब मैंने स्तनपान करना बन्द कर दिया। हमने उस स्त्री के चेहरे की ओर दृष्टि की जो हमें स्तनपान करा रही थी। मैं उसका चेहरा देखते ही चौंक पड़ा, क्योंकि उस स्त्री की आयु लगभग 20 वर्ष की होगी। वह अद्वितीय सुन्दर थी। उसके सिर पर चमकता हुआ छोटा-सा मुकुट था। उसने लाल रंग की सितारोंदार साड़ी पहन रखी थी। उसे देखते ही मैं समझ गया कि यह दिव्य स्त्री है। अनुभव में हमारी आयु लगभग 40 वर्ष की होगी। इतनी ही मेरी वर्तमान आयु है। वह स्त्री उम्र में हमसे आधी लग रही थी, फिर भी मैं उसे माँ कहकर सम्बोधन कर रहा था। हम दोनों एक दूसरे को निष्भाव से देख रहे थे। तभी अनुभव समाप्त हो गया।

मैंने अपनी पिछली पुस्तक '**योग कैसे करें**' में कई जगह पर लिखा है कि मुझे अनुभव में एक दिव्य स्त्री स्तनपान कराती है। इस अनुभव का अर्थ मैंने उसी जगह पर लिखा हुआ है। पहले के अनुभवों और इन अनुभवों में फर्क इतना है कि पहले स्तनपान करते समय स्तनों से दूध निकलना बन्द नहीं होता था। मैं स्तनपान करना बन्द कर देता था तथा हमारी आयु भी बहुत कम होती थी। कुछ अनुभवों में मैं बिल्कुल छोटा-सा बच्चा ही था। वह स्त्री मुझे अपने गोद में लिटा लेती थी तथा स्तनपान करवाने लगती थी। ऐसा अनुभव सबसे पहले जनवरी 1986 में आया था। इस अनुभव में मैं बहुत छोटा-सा बच्चा था। वर्तमान अनुभवों में मैं वयस्क हूँ तथा स्तनों से दूध निकलना बन्द हो जाता है और स्तनों में सिकुड़न पड़ने लगती है। स्त्री की आयु पहले के समान ही थी अर्थात् उसकी आयु लगभग 20 वर्ष ही होगी।

अर्थ– माता आदिशक्ति द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्ति का आशीर्वाद देना। जिस साधक को इस प्रकार के अनुभव आते हैं, उसे अवश्य ही तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है। दूध का अर्थ ज्ञान होता है। स्तनपान कराने का अर्थ ज्ञान प्रदान करना है। स्तनपान कराने वाली स्त्री प्रकृति का ही स्वरूप है। स्वयं प्रकृति उस साधक को तत्त्वज्ञान प्राप्त कराने में सहायता करती है। पहले के अनुभवों में स्तनों से दूध निकल रहा है, फिर बाद के अनुभवों में स्तनों से दूध निकलना बन्द हो गया अर्थात् पहले के अनुभवों के समय प्रकृति द्वारा धीरे-

धीरे ज्ञान प्रदान किया जा रहा था। फिर पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाने पर स्तनों से दूध निकलना बन्द हो जाता है। ज्ञान प्राप्त हो जाने पर उस साधक के लिए प्रकृति नष्ट हुए के समान हो जाती है। मगर दूसरे जीवों के लिए, जिनका भोग-अपवर्ग का सम्पादन नहीं हो पाया है, उनके लिए प्रकृति विद्यमान रहती है। इसलिए अनुभवों में स्तनों का आकार सिकुड़ने लगा तथा दूध निकलना बन्द हो गया। श्रेष्ठ साधकों को ही ऐसे अनुभव आते हैं। ऐसे साधकों पर माता आदिशक्ति प्रसन्न रहती है तथा साधक को पुत्र रूप में स्तनपान कराती है।

अवरोधक टूट गया

यह अनुभव 16 जनवरी को ध्यानावस्था में आया। मैं किसी जगह पर खड़ा हुआ कह रहा हूँ– "इस स्थान पर भी पानी भर जाए तो अच्छा है।" मैं अपने आप को देखता हूँ कि मैं किसी खेतनुमा जगह में खड़ा हूँ। खेत काफी बड़ा है, खेत के पास नाली बनी है। इसी नाली से खेत में पानी आ रहा है। पानी को देखकर मैं बोला– खेत की मेड़ तो अपने आप टूट गई, पानी भी आने लगा है मगर पानी आने की गति धीमी है। यदि इसी गति से पानी आया तो खेत भरने में बहुत समय लग जाएगा। मैं पानी के बहाव को देख रहा हूँ। अनुभव समाप्त हो गया।

अर्थ– यह अनुभव पढ़ने में कुछ विशेष नहीं लगता है, मगर इस अनुभव का अर्थ बहुत ही महत्वपूर्ण है। जिस खेत में मैं खड़ा था वह हमारा ही चित्त है। खेत में पानी आ रहा है– पानी धर्म का प्रतीक है अर्थात् चित्त की भूमि धर्म आदि से भरी जा रही है। पानी को देखकर मैं बोला– खेत की मेड़ अपने आप टूट गई। मेड़ अधर्म रूपी अवरोधक होती है जो अपने आप टूट गई। अधर्म रूपी अवरोध के टूटने पर ही धर्म आदि से चित्त की भूमि भर रही है। मगर धर्म आदि का प्रवाह धीमा होने के कारण चित्त की भूमि भरने में समय लग जाएगा, क्योंकि जब उस धर्म के विरोधी अधर्म का नाश किया जाता है, तब प्रतिबन्धक के न रहने पर प्रकृतियाँ अपने कार्य को करने में समर्थ होती है। जैसे किसान जब एक खेत से दूसरे खेत में पानी ले जाने की इच्छा करता है, तो पानी के अवरोधक मेड़ को हटा देता है, तब पानी स्वमेव फैलकर खेत में चला जाता है। पानी को खेत में फैलाने में किसान का कोई भी प्रयत्न अपेक्षित नहीं है। इसी प्रकार धर्म आदि निमित्त अधर्म आदि को हटाने मात्र हैं। अब अनुभव का अर्थ लिख रहा हूँ– चित्त में कुछ कर्माशय निचली भूमि पर होते हैं तथा कुछ ऊपरी भूमि पर होते हैं। ऊपरी भूमि पर स्थित कर्माशय प्रधान कर्माशय कहे जाते हैं। इन प्रधान कर्माशयों को साधक वर्तमान जन्म में भोगता है। ये कर्माशय सशक्त रूप में रहते हैं। निचली भूमि वाले कर्माशय सुषुप्त व कमजोर रूप में रहते हैं। इसलिए

ऊपरी भूमि वाले कर्माशय अवरोधक के रूप में अपने विरोधी निचली भूमि वाले कर्माशयों को दबाए रखते हैं। इसी अवरोधक का इस अनुभव में टूट जाना दिखाया है। इसके टूट जाने पर निचली भूमि वाले कर्माशय ऊपरी भूमि पर आकर प्रधान कर्माशयों का रूप धारण कर लेते हैं तथा प्रधान कर्माशयों के इच्छानुसार धर्म ग्रहण कर लेते हैं। ऐसा अपने आप होता है। यदि मनुष्य के प्रधान कर्माशय धर्मात्मा वाले हैं, तब वह धर्मात्मा बन जाएगा। अगर प्रधान कर्म अधर्मी हैं, तब वह अधर्मी बन जाएगा। इसलिए कभी-कभी देखा गया है कि अधर्मी पुरूष धर्मात्मा बन जाता है और धर्मात्मा पुरूष अधर्मी बन जाता है। जब मनुष्य के प्रधान कर्म अधर्मी के शेष रह जाते हैं (चाहे वह धर्मात्मा हो), तब निचली भूमि वाले कर्माशय अवरोधक के हटते ही प्रधान कर्माशयों के साथ मिलकर प्रधान कर्माशय बनने लगते हैं। इस समय प्रधान कर्माशय जिस रूप में होंगे (अधर्मी या धर्मात्मा वाले) वैसे ही सभी कर्माशय बन जाते हैं। इसलिए देखा गया है कि कभी-कभी दुष्ट स्वभाव वाला मनुष्य भी धर्मात्मा बन जाता है और धर्मात्मा दुष्ट स्वभाव वाला बन जाता है। ऐसा पूर्व जन्मों के कर्मों के कारण होता है।

सबीज समाधि की उच्चतम अवस्था

मैं एक खेत में खड़ा हूँ। वह खेत पानी से भर गया है। मात्र थोड़ा-सा रह गया है, तभी मैं बोल पड़ा– यह खेत तो पूरा भर गया है, सिर्फ नाममात्र का रह गया है। ये अनुभव सबीज समाधि की उच्चतम अवस्था में आया है। इस अनुभव के बाद हमारे चित्त में भारी परिवर्तन अवश्य आएगा। मैं शीघ्र ही अगली अवस्था प्राप्त करुँगा।

तीनों गुण

यह अनुभव 18 जुलाई को आया। मैं झुले पर बैठा हुआ अत्यन्त प्रसन्न हूँ। सामने तीन छोटे-छोटे बच्चे हैं। इन तीनों बच्चों की उम्र व शरीर एक समान ही हैं। इन तीनों बच्चों की उम्र दो वर्ष के बच्चे के समान है। भौतिक रूप से दो साल का बच्चा अबोध-सा होता है तथा ठीक ढंग से बात भी नहीं कर सकता है। ये तीनों बच्चे छोटे दिखाई पड़ते हैं मगर उनका हाव-भाव युवकों के समान है। उन तीनों बच्चों में एक बच्चा शांत स्वभाव वाला दिखाई दे रहा है। हमारी दृष्टि जब उसके शरीर पर पड़ी तब मैंने देखा कि उसके हाथों व विभिन्न अंगों पर कुछ शब्द लिखे हैं। मैंने उन शब्दों को पढ़ना चाहा तो सिर्फ इतना ही

पढ़ सका– वेदों के नाम व दिशाओं के नाम लिखे थे। तभी हमारा ध्यान दूसरे बच्चे पर गया। वह बच्चा कुछ कार्य कर रहा था। मैं नहीं समझ सका कि वह क्या कर रहा है? तभी तीसरा बच्चा अत्यन्त क्रोध में दाहिने हाथ की तर्जनी उँगली से दूसरे बच्चे की ओर इशारा करके बोला– "यह दुष्ट है।" मैं बोला- "नहीं, ऐसा नहीं कहते हैं।" तीसरा बच्चा फिर बोला- "शायद आपको मालूम नहीं है, यही दुष्ट है, क्योंकि यही सभी कार्यों को करता है।" उसी समय मैं सोचने लगा कि तीसरा बच्चा दूसरे बच्चे को दुष्ट क्यों कह रहा है? मगर दूसरे बच्चे पर इन शब्दों का किसी प्रकार का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह अपना कार्य करने में व्यस्त था। शांत स्वभाव वाला बच्चा हमारी ओर देखकर मुस्करा रहा था।

अर्थ– यह तीनों बच्चे चित्त के बाह्य परिणाम (वृत्तियों में होने वाले परिणाम) वाले तीनों गुण है। तीनों गुण बच्चों के रूप में दिखाई दे रहे हैं। जिस प्रकार तीनों गुण सदैव एक साथ रहते हैं, उसी तरह भिन्न-भिन्न स्वभाव होने पर भी ये बच्चे एक साथ ही अनुभवों में दिखाई देते हैं। इन तीनों बच्चों की उम्र सदैव एक समान दिखाई देती है। इनके शरीर भी एक जैसे ही होते हैं, सिर्फ स्वभाव में अंतर होता है। साधक को पहले ये तीनों गुण तीन कबूतरों के रूप में दिखाई देते हैं। उस समय साधक सबीज समाधि की उच्चतर अवस्था अर्थात् चित्त की तीसरी भूमि के अन्तर्गत अभ्यास कर रहा होता है। इस अभ्यास के अन्तर्गत अहंकार का साक्षात्कार होता है। यह अनुभव (कबुतरों वाला) पहली पुस्तक (**योग कैसे करें**) में लिख चुका हूँ। मगर साधक जब समाधि की उच्चतम अवस्था (चित्त की चौथी भूमि) के अन्तर्गत अभ्यास करता है, तब उसे तीनों गुण तीन छोटे-छोटे बच्चों के रूप में दिखाई देते हैं, क्योंकि इस अवस्था में अस्मिता का साक्षात्कार होता है। यह तीनों बच्चे बिल्कुल एक समान स्वरूप तथा शरीर वाले होते हैं। इस अनुभव में जो बच्चा शांत स्वरूप वाला है, जिसके शरीर पर वेदों के नाम लिखे थे, वह सत्त्वगुण का प्रतीक है। दूसरा बच्चा जो कार्य करने में व्यस्त था, वह रजोगुण का प्रतीक है। रजोगुण का स्वभाव है कार्य करना, कंपन करना तथा क्रिया करना आदि। तीसरा क्रोधी स्वभाव वाला बच्चा तमोगुण का प्रतीक है। क्रोध तमोगुण का स्वभाव है। वेदों और दिशाओं की उत्पत्ति सत्त्वगुण के द्वारा हुई है। दिशा का तत्त्वरूप से अस्तित्व नहीं है। जब तक साधक को समाधि अवस्था में चित्त का भान होता रहेगा, तब तक उसे दिशाएँ भासित होती रहेंगी। ऋतम्भरा-प्रज्ञा के उदय होते समय भी साधक को दिशाओं का भान होता है। जब चित्त की वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं, तब उसे दिशाओं का ज्ञान नहीं रहता है। यह निर्बीज समाधि की अवस्था है अर्थात् जब तक चित्त में बाह्य परिणाम (वृत्तियाँ) होगा, तब तक उसे दिशाएँ भासित होती रहेंगी। वेदों की उत्पत्ति सत्त्वगुण की प्रधानता से हुई है।

भेदज्ञान रूपी अश्वशाला

यह अनुभव 7 अगस्त को आया। मैं एक घोड़े को हाँकता हुआ लिए जा रहा हूँ। घोड़े की पीठ पर कुछ सामान लदा है। मैं अपने दहिने हाथ में एक डण्डा लिए हुए घोड़े को हाँकता हुआ उसके पीछे चल रहा हूँ। घोड़े का रंग लाल है तथा कद ऊँचा है। कुछ क्षणों बाद हमारे सामने बहुत बड़ा महलनुमा बना हुआ मकान दिखाई दिया। उस महलनुमा मकान का फाटक खुला हुआ था। मैं घोड़े को हाँकता हुआ उस खुले हुए फाटक के अन्दर ले गया। अन्दर जाने पर मालूम हुआ कि यह महलनुमा मकान बहुत ही सुन्दर है। घोड़ा अपने आप दाहिने ओर मुड़ गया। आगे चलकर वह कमरेनुमा जगह के अन्दर खड़ा हो गया। फिर मैं जोर से बोला– "इसका सामान उतारो और यह अपना घोड़ा लो, अब हमें इसकी जरूरत नहीं है।" तभी एक ओर से आवाज आई– "घोड़े को इधर भेज दो, मैं इधर हूँ।" मैंने आवाज की ओर देखा तो हमसे थोड़ी दूरी पर एक पुरूष बैठा हुआ था, उसी ने हमसे ये शब्द कहे थे। मैं उस पुरूष से लापरवाही से बोला– "अपनी चीज खुद सम्भालो।" इतना कहकर मैं एक ओर चल दिया।

अर्थ– घोड़ा मन का प्रतीक हैं। घोड़े की पीठ पर लदा सामान चित्त में स्थित इच्छाएँ आदि हैं। मैं डण्डा लिए घोड़े को हाँक रहा हूँ। मैं अपने मन को अपने अनुसार चला रहा हूँ अर्थात् मन को अपने अधीन किए हूँ। अपने अधीन करके उसे निर्देश दे रहा हूँ। घोड़े का रंग लाल है। लाल रंग रजोगुण का प्रतीक है। चित्त और जीवात्मा का जो अनादि स्व-स्वामी-भाव-सम्बन्ध चला आ रहा है, इस घोड़े (चित्त या मन) का मुख्य प्रयोजन अपने स्वामी जीवात्मा को भोग रूपी मार्ग को पूरा कराकर अपवर्ग रूप लक्ष्य तक पहुँचा देना है। यह मार्ग (जिस पर घोड़ा चल रहा है) चार भागों में विभक्त है– **पहला**– स्थूलभूत, **दूसरा**– सूक्ष्मभूतों से तन्मात्राओं तक, **तीसरा**– अहंकार, **चौथा**– अस्मिता। अन्तिम किनारे पर भेदज्ञान रूपी एक अश्वशाला है। इस अश्वशाला में घोड़े को छोड़ देना पड़ता है और अन्तिम लक्ष्य रूपी अपवर्ग परमात्मा स्वरूप विशाल सुन्दर राजभवन है। प्राणायाम, प्रत्याहार द्वारा अध्यात्म रूपी पक्की सड़क की ओर मुँह फेरना धारणा है। घोड़े को (मन को) उस ओर चलाना आरम्भ कर देना ध्यान है। सड़क के निकट पहुँच जाना समाधि है। वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता अनुगत रूपी एकाग्रता की अवस्थाएँ क्रमानुसार भोग रूपी मार्ग के स्थूल, सूक्ष्म अहंकार और अस्मिता रूपी भोगों को समाप्त करता है। विवेक-ख्याति द्वारा घोड़े को अश्वशाला में छोड़ कर सर्ववृति निरोध अपवर्ग नामक शुद्ध परमात्मा रूपी विशाल राजभवन में पहुँचता है। इस अनुभव से स्पष्ट होता है कि भविष्य में शीघ्र ही विवेक-ख्याति अवस्था प्राप्त होगी, क्योंकि घोड़े रूपी मन का त्याग कर दिया है।

आत्मा एक चित्त अनेक

यह अनुभव 1 सितम्बर को आया। मैंने देखा कि चारों ओर प्रकाशित जगह है। इस प्रकाश में हमें ढेर सारे आले (NICHE) दिखाई दे रहे हैं। दो-तीन आलों के अन्दर लौ जल रही है। लौ का स्वरूप बहुत सुन्दर है। लौ का प्रकाश आले से बाहर नहीं जा रहा है, परन्तु सम्पूर्ण आला प्रकाशित है। वहीं पर सुनहले रंग का पुरूष खड़ा है। वह पुरूष लौ से रहित आलों के अन्दर (जिन आलों के अन्दर लौ प्रकाशित नहीं है) हाथ बढ़ाकर लौ प्रज्वलित कर देता है, तभी उस आले के अन्दर भी लौ जलती हुई दिखाई देने लगती है। अभी और भी लौ से रहित आले थे, तभी अनुभव समाप्त हो गया।

अर्थ– हमें अनुभव में जो ढेर सारे आले दिखाई दे रहे थे, वह सभी चित्त थे। चित्त के ऊपर आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण चित्त स्वप्रकाशित-सा दिखाई देने लगता है। आले के रूप में हमें एक बार में ही ढेर सारे चित्त दिखाई दे रहे थे। चित्त की भी सीमाएं होती हैं, इसलिए एक बार में ही ढेर सारे चित्त दिखाई दे रहे थे। वह सनुहले रंग वाला पुरूष हिरण्य-गर्भ (भगवान् ब्रह्मा) थे, इन्हें प्रजापति व हिरण्यमय पुरूष भी कहते हैं। यह चित्त के अधिष्ठाता हैं। यही चित्त के अन्दर आत्मा के प्रतिबिम्ब (चितिशक्ति) को प्रतिष्ठित कर रहे थे, जिससे चित्त स्वप्रकाशित व चैतन्य-सा दिखाई दे रहा है। जिस प्रकार एक ही सूर्य का प्रतिबिम्ब पानी से भरे ढेर सारे घड़ों के अन्दर अलग-अलग दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार चित्त के विषय में भी समझना चाहिए। इस अनुभव का अर्थ है– आत्मा एक है और चित्त अनेक हैं।

एक बार मैंने भगवान् गौतम बुद्ध से पूछा– "प्रभु ! क्या आप नास्तिक थे?" भगवान् गौतम बुद्ध बोले– "योगी, ये कौन कहता है कि मैं नास्तिक था।" मैं बोला– "प्रभु! आपके विषय में मैंने पुस्तकों में पढ़ा है।" भगवान् गौतम बुद्ध जी बोले– "हमारे कुछ अनुयाइयों को हमारे विषय में सही जानकारी नहीं है, इसलिए ऐसी भ्रान्ति है। सच तो यह है कि मैं सदैव से आस्तिक था। अब भी ईश्वर को ही मानता हूँ।" मैं बोला– "प्रभु! क्या आप आत्मा को नहीं मानते थे?" बुद्ध जी बोले– "मैं अब भी आत्मा के अस्तित्व को मानता हूँ। हाँ, मैं यह नहीं मानता हूँ कि आत्मा जन्म लेती है।" मैं बोला– "प्रभु! जब कोई बच्चा जन्म लेता है, तब वह क्रिया करता है, जैसे– रोना, हाथ-पैर चलाना आदि, उसे शक्ति कहाँ से मिलती है, क्योंकि प्रकृति तो जड़ है, वह शक्ति दे नहीं सकती है?" भगवान् गौतम बुद्ध जी बोले– "योगी, तुम्हारा प्रश्न उचित है। उस बच्चे को चैतन्यता आत्मा से ही मिलती है, परन्तु आत्मा जन्म नहीं लेती है। जिस प्रकार एक जलते हुए दीपक से दूसरा दीपक जलाया जाता है, फिर ढेरों दीपक जलाए जा सकते हैं, इसी प्रकार आत्मा का प्रतिबिम्ब सभी चित्तों पर (व्यष्टि चित्तों पर) पड़ रहा है। इसी आत्मा के प्रतिबिम्ब के

कारण चित्त स्वप्रकाशित व चैतन्य-सा दिखाई देता है तथा चित्त में कार्य करने की शक्ति आती है।" इसी प्रकार हमें भगवान् गौतम बुद्ध ने बहुत शिक्षायें दी थी। उनमें से एक शिक्षा यह भी थी जिसका उल्लेख मैंने अभी किया है। उन्होंने बौद्ध धर्म के विषय में भी ढेर सारी शिक्षायें दी थी।

अहंकार

यह अनुभव दिसम्बर माह के प्रथम सप्ताह में आया। हरे रंग की सितारोंदार साड़ी पहने एक दिव्य स्त्री खड़ी है। वह स्त्री अपने मुँह में काला नाग दबाए हुए हैं। यह दृश्य देखकर मैंने सोचा- यह स्त्री बड़ी विचित्र है, नाग के शरीर का बीच का वाला भाग उसने अपने दांतो में दबा रखा है। नाग बिल्कुल शांत नीचे की ओर लटका हुआ है तथा नाग का मुँह हमारी ओर है। मैं उस स्त्री से बोला– आप इस नाग को मार डालिए ताकि यह समाप्त हो जाए। उस स्त्री ने ऐसा कार्य करने के लिए सिर हिलाकर मना कर दिया।

अर्थ– नाग अहंकार है, स्त्री प्रकृति है। प्रकृति ने अहंकार को अपने अधिकार में ले लिया है।

सन् 2001

सभी वस्तुओं का त्याग

यह अनुभव जनवरी के प्रथम सप्ताह में आया। प्राणायाम करते समय कुण्डलिनी शक्ति की आवाज सुनाई दी–"मैं तुमसे नाराज नहीं हूँ और न ही तुमसे दूर हूँ। हमारे तुम्हारे बीच यही अशुद्धता व अज्ञानता है। तुम सभी प्रकार की वस्तुओं का त्याग कर दो तथा कठोर साधना करके हमें प्राप्त कर लो"। फिर आवाज आनी बन्द हो गई। कुछ क्षणों बाद हमें दिखाई दिया– एक सुन्दर पक्षी है, उसका रंग सफेद उजला है। उसके ऊपर चारों ओर सुन्दर व मजबूत जाल है। पक्षी जाल से निकलने के लिए जोर लगा रहा है तथा खूब फड़फड़ा रहा है।

अर्थ– कुण्डलिनी शक्ति जीवात्मा के लिए कह रही है– अशुद्धता व अज्ञानता की दीवार हमारे बीच है। इसके लिए सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थों का त्याग कर दो, फिर मैं संगिनी रूप में मैं तुम्हें मिल जाऊँगी। पक्षी जीवात्मा का प्रतीक है, जाल बन्धन है। जीव बन्धन से बाहर निकलना चाहता है, जिससे वह मोक्ष को प्राप्त कर सके।

माता काली की कृपा

यह अनुभव जनवरी के द्वितीय सप्ताह में आया। मैं तीव्र गति से उड़ता हुआ आगे की ओर चला जा रहा था। सामने की ओर दो सिहांसन दिखाई दिए। सिंहासनों पर राजाओं के समान दो पुरूष बैठे हुए थे। उनके हाथों में गदा थी। मैं उन्हीं के सामने खड़ा हो गया। हमने उन दोनों से किसी प्रकार की बातचित नहीं की। कुछ क्षणों बाद दोनों पुरूष सिंहासन सहित अदृश्य हो गये। जहाँ दोनों पुरूष बैठे थे उस स्थान पर एक बड़ा-सा दरवाजा दिखाई देने लगा, फिर दरवाजा अपने आप खुल गया। मैं अपने स्थान पर खड़ा था। उसी समय हमारा शरीर उड़ता हुआ तीव्र गति से दरवाजे के अन्दर प्रवेश कर गया। अन्दर प्रवेश करते ही एक और बन्द दरवाजा दिखाई दिया। जैसे ही मैं उड़ता हुआ बन्द दरवाजे के पास पहुँचा, दरवाजा अपने आप खुल गया। मैं अन्दर प्रवेश कर गया। इसी प्रकार पाँच दरवाजे और मिले। कुल मिलाकर सात दरवाजे मिले और मैं सातों दरवाजे पार कर गया। फिर अपने आपको स्वप्रकाशित विस्तृत क्षेत्र में पाया।

जैसे ही मैंने अपनी दृष्टि सामने की तभी मैं चौंक पड़ा, क्योंकि हमारे सामने अत्यन्त विशालकाय स्वरूप में माता काली खड़ी थीं। माता काली के सिर पर एक घड़ा रखा था। उनकी आँखें अंगारों के समान लाल थी तथा सिर के बाल बिखरे हुए थे। मैं उनके स्वरूप को देख ही रहा था कि उनके सिर पर रखे घड़े से स्वच्छ पानी की धार निकलकर हमारे पैरों पर गिरने लगी। सारा पानी पैरों के पंजों पर गिर कर अदृश्य होता जाता था। पानी की धार हमारे पैरों से शरीर के ऊपरी भाग में गिरती हुई ब्रह्मरन्ध्र में आ गई। घड़े से गिरा हुआ पानी हमारा शरीर सोख गया। अब पानी की धार हमारे ब्रह्मरन्ध्र में गिर रही थी। पानी ब्रह्मरन्ध्र के अन्दर समाकर अदृश्य हो जाता था, फिर पानी जैसा गाढ़ा पदार्थ गिरना बन्द हो गया। मैं उड़ता हुआ वापस आने लगा। जब मैं वापस दरवाजे से निकल आता था, तब दरवाजा अपने आप बन्द हो जाता था। इसी प्रकार मैं बाहर आ गया।

अर्थ– यह अनुभव समाधि की उच्चतम अवस्था में आया। माता काली तमोगुण की देवी है। उसने हम पर कृपा की है। अब हमारे चित्त पर तमोगुण की मात्रा धीर-धीरे नष्ट होकर नाममात्र की रह जाएगी। फिर यही नाममात्र का तमोगुण हमारा सहायक हो जाएगा आर्थात हमारा चित्त अब शीघ्र ही शुद्ध होने लगेगा।

चारों शरीर

यह अनुभव 6 फरवरी को आया। ऊपर दूर अंतरिक्ष में तिल के समान नीला बिन्दु है। इस बिंदु के चारों ओर काले रंग का अंडाकार वलय है। काले रंग के वलय के बाहर की ओर हल्के सफेद रंग का अंडाकार वलय है। इस सफेद वलय के बाहर की ओर पीला व लाल मिश्रित रंग का अंडाकार वलय है। सबसे मध्य में जो तिल के समान नीले रंग का बिन्दु है, उसके मध्य में सुई की नोक के समान आकार का अत्यन्त तेजस्वी रंगहीन प्रकाश बिन्दु है। इसका प्रकाश आँखों को चकाचौंध कर देने वाला है। इसी पर हमारी दृष्टि कुछ पलों के लिए ठहर गई, तभी मैंने देखा कि इन चारों रंग के वलयों से गोलाकार रूप में प्रकाशमान छल्ले बाहर की ओर लगातार निकल रहे थे। ये गोलाकार प्रकाशमान छल्ले जैसे-जैसे दूर होते जाते थे, वैसे-वैसे छल्लों का आकार विस्तृत होता जाता था। फिर ये प्रकाशमान छल्ले सम्पूर्ण अंतरिक्ष में व्याप्त हो जाते थे। यही क्रिया बार-बार लगातार हो रही थी। कुछ समय बाद नीले रंग के बिन्दु के मध्य वाला प्रकाश बिन्दु धीरे-धीरे अदृश्य हो गया। फिर क्रमशः नीले, काले, सफेद व लाल रंग के वलय अदृश्य हो गये।

अर्थ– चारों रंग के वलय हमारे चारों शरीर हैं। लाल रंग का बाहरी वलय हमारा स्थूल शरीर है। सफेद रंग का वलय हमारा सूक्ष्म शरीर है। काले रंग का वलय हमारा कारण शरीर है तथा नीले रंग का तिल के आकार का बिन्दु हमारा महाकारण शरीर है। अत्यन्त तेजस्वी रंगहीन प्रकाश बिन्दु जो सुई की नोक के आकार के समान है, उसका सम्बन्ध परा-प्रकृति से है। गोल-गोल निकलने वाले छल्ले हमारी वृत्तियाँ है। ये चारों क्रमश: लाल, सफेद, काले, नीले रंग के वलय एक दूसरे के अन्दर समाये हुए हैं। इसी प्रकार ये वलय क्रमशः छल्लों के रूप में व्यापक होते जाते हैं। हमें याद आया स्वामी मुक्तानन्द जी (गणेश पुरी बम्बई के पास) लाल रंग के वलय को रक्तेश्वरी, सफेद वलय को श्वेतेश्वरी, काले रंग के वलय को कृष्णेश्वरी तथा नीले रंग के बिन्दु को नीलेश्वरी कहते थे।

प्रकृति

यह अनुभव 12 फरवरी को आया। हमारे निकट थोड़ी ऊँचाई पर एक चितकबरी बकरी सूखी पतली-पतली टहनियाँ खा रही है। सूखी टहनियाँ खाते देखकर मैं जोर-जोर से हँसने लगा, क्योंकि बकरी का स्वभाव होता है मुलायम हरा चारा खाना। मगर यहाँ पर बकरी सूखी लकड़ी खा रही है।

अर्थ– चितकबरी बकरी का अर्थ है– लाल, सफेद, काले रंग की बकरी। बकरी का अर्थ प्रकृति है। प्रकृति तीन गुणों से युक्त होती है। सफेद रंग सत्त्वगुण का प्रतीक है, लाल रंग रजोगुण का प्रतीक है तथा काला रंग तमोगुण का प्रतीक है। सूखी टहनियाँ खाने का अर्थ है– कठोर साधना करने के कारण मैं आजकल अपनी बनाई सूखी रोटियाँ खाता हूँ। वही अनुभव इस रूप में दिखाई दे रहा है। हमारा शरीर प्रकृति (अपरा) ही तो है। चितकबरी बकरी त्रिगुणात्मक प्रकृति का प्रतीक है।

धर्म रूपी वर्षा का होना

यह अनुभव 13 फरवरी को आया। हल्के नीले रंग का चमकदार स्वच्छ आसमान है। मैं आसमान की स्वच्छता देख रहा था कि तभी जोर से वर्षा होने लगी। वर्षा होते देख मैं आश्चर्यचकित हो गया। फिर मैं बोला– यह कैसी वर्षा है? आसमान में बिल्कुल बादल नहीं हैं। आसमान स्वच्छ है फिर भी मूसलाधार वर्षा हो रही है। जब मैंने आसमान को गौर पूर्वक देखना शुरू किया तो ज्ञात हुआ कि वर्षा वाला पानी स्वच्छ आसमान से अपने आप प्रकट हो रहा है। वर्षा को देखकर मैं अति प्रसन्न हूँ। ऊपर की ओर मुँह

करके मैं जोर-जोर से हँसने लगा तथा वर्षा का आनन्द उठाने लगा। वर्षा का पानी जो आसमान से गिर रहा था वह भूमि को गीला नहीं कर रहा था, बल्कि भूमि पर गिरकर अदृश्य हो जाता था। इसी प्रकार वर्षा का पानी हमारे शरीर के ऊपर गिर रहा था। वह पानी हमारे शरीर को गीला नहीं कर रहा था, बल्कि हमारे शरीर के ऊपर गिर कर अदृश्य हो जाता था। यही देखकर मैं प्रसन्न हो रहा था।

अर्थ– स्वच्छ नीले रंग का प्रकाशित आसमान हमारा ही चित्ताकाश है। हमारे चित्त में वर्षा हो रही है– अति उत्तम। पाप-पुण्य से रहित परम्-पुरूषार्थ की चित्त में जो वर्षा होती है, उसे धर्म रूपी वर्षा कहते हैं। साधक के चित्त में इस प्रकार की धर्म रूपी वर्षा तभी होती है जब ज्ञान से भी वह किसी प्रकार की फल की इच्छा नहीं रखता है। इस ज्ञान की परिपक्व अवस्था को धर्ममेघ समाधि कहते हैं। धर्ममेघ समाधि की पराकाष्ठा पर-वैराग्य है। अभी धर्ममेघ समाधि हमारी नहीं लगती है, सिर्फ अनुभव आया है। धर्ममेघ समाधि की अवस्था भविष्य में आएगी।

बन्धन से मुक्त हुआ

यह अनुभव 13 फरवरी को आया। मैं किसी स्थान पर खड़ा हूँ। हमारे चारों ओर तथा ऊपर की ओर लोहे की तारों का जाल लगा हुआ है। मैंने चारों ओर देखा। जाल मजबूत तारों का बना हुआ है। मैं समझ गया कि यह जाल इतने मजबूत तारों का क्यों बना है, ताकि मैं इस जाल से बाहर न जा सकूँ। मैंने निश्चय किया कि मैं इस जाल को तोड़कर अवश्य इससे बाहर जाऊँगा। इच्छा करते ही मेरा शरीर ऊपर की ओर तीर की भाँति चल दिया, फिर जाल में जोरदार टक्कर मारी। टक्कर इतनी जोरदार थी कि हमारा सिर जाल को तोड़कर ऊपर की ओर निकल गया तथा शेष शरीर जाल में फँस गया। शरीर जाल में फँसने के कारण मैं जाल के तारों को तोड़ने लगा। हमारा शरीर कमर से ऊपर तक जाल से निकल गया तथा तभी सिर के ऊपरी हिस्से में (सहस्त्रार में) कोई वस्तु जोर से टकराई जिसके कारण सहस्त्रार चक्र में जोरदार कंपन हुआ। अब मैंने ऊपर की ओर देखा– हमारे सिर के ऊपरी भाग में एक विशेष प्रकार की शक्ति (हाई टेंशन तार की तरह) टकराई। इसी शक्ति के कारण हमारे सहस्त्रार चक्र में कंपन हो रहा था। मैं बोला– यह शक्ति कहाँ से आ गई। इसके टकराने से हमारी मृत्यु हो जानी चाहिए थी। तब एक बार मैंने अपना सिर फिर से उस शक्ति से स्पर्श किया। स्पर्श करते ही सहस्त्रार चक्र में कंपन होने लगा। फिर मैं जोर से हँसा। मैंने अपना सिर एक ओर को किया और अंतरिक्ष में ऊपर की ओर तीव्रगति से चला गया।

अर्थ– मजबूत लोहे के तारों का जाल सांसारिक बन्धन (जीव का बन्धन) है। मैंने इस बन्धन को तोड़ दिया, फिर इस बन्धन से परे चला गया। यह अवस्था भविष्य में आएगी, अभी नहीं है। जाल से बाहर निकलते समय सिर पर एक शक्ति टकराई थी। यह शक्ति हाई टेंशन तार की तरह थी। इसे अपरा-प्रकृति की सीमा अथवा वायु तत्त्व की सीमा समझना चाहिए। आकाश तत्त्व (परम् आकाश) में अपरा-प्रकृति स्वयं अपनी रचना करती है। यह रचना वायु तत्त्व के द्वारा होती है। वायु तत्त्व ही शक्ति का प्रतीक है। इसी वायु तत्त्व से विभिन्न प्रकार की शक्ति उत्पन्न होती है। अनुभव में टकराई शक्ति अपरा-प्रकृति की आखिरी सीमा थी, जिसने अवरोध डालने का प्रयास किया। मगर मैं इस शक्ति से एक ओर से निकल कर आगे चला गया। अनुभव से निश्चित हो रहा है कि जीवात्मा बन्धन से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त होगी।

अस्मिता का साक्षात्कार

यह अनुभव 14 फरवरी को ध्यानावस्था में आया– मैंने देखा कि सुनहरे रंग के प्रकाश में अपने सामने बिल्कुल नजदीक काले नाग का सिर्फ मुँह और आँखें दिखाई दे रही थी। आँखों का पिछला हिस्सा, नाग का फन व उसका शरीर नहीं था। मैं उस सुनहरे अत्यन्त तेज प्रकाश में नाग का मुँह व आँखें देखकर सोचने लगा– इस तेजस्वी प्रकाश में नाग का सिर्फ मुँह वाला भाग ही क्यों दिखाई दे रहा है? उस प्रकाश के मध्य में नाग का मुँह अच्छा नहीं लग रहा था। फिर मैं समाधि की गहराई में चला गया। तीन घण्टे बाद समाधि टूटी।

अर्थ– हम पहले भी लिख चुके हैं कि काला नाग अहंकार का प्रतीक होता है। अनुभव में नाग का मुँह दिखाई दे रहा है। यह नाग का मुँह अस्मिता का प्रतीक है। वर्तमान समय में मैं उच्चतम अवस्था के (समाधि के) अन्तर्गत अभ्यास कर रहा हूँ अर्थात् चित्त की चौथी भूमि पर अभ्यास कर रहा हूँ। इसलिए इस अनुभव में अस्मिता का साक्षात्कार हुआ है। सुनहरा चकाचौंध कर देने वाला तेज प्रकाश चित्त पर पड़ने वाला आत्मा का प्रतिबिम्ब है। इसी प्रकाश के कारण चित्त स्वप्रकाशित-सा दिखाई देता है अर्थात् चेतन तथा जड़ (चित्त) की अभिन्नता ही अस्मिता कहलाती है। इसी अस्मिता में अविद्या बीज रूप में रहती है। अस्मिता के कारण ही जीवात्मा चित्त को अपना समझने लगता है तथा आत्मा और चित्त का भेद ज्ञान नहीं रह जाता है। अस्मिता अहंकार से भी सूक्ष्म है। इस भूमि पर अभ्यास करने वाले साधकों के क्लेश भी अति सूक्ष्म होते हैं। हम सभी जानते है कि कोई पदार्थ जितना सूक्ष्म होगा, वह उतना ही अधिक

शक्तिशाली होगा। इसलिए इस अवस्था को प्राप्त साधक को अत्यन्त क्लेश भोगना पड़ता है। अस्मिता का साक्षात्कार होने पर साधक के क्लेश व कर्माशय समाप्त होने लगते हैं।

ऋतम्भरा-प्रज्ञा का उदय होना

यह अनुभव 18 फरवरी को आया। मैं किसी स्थान पर खड़ा हूँ। उसी समय पूर्व दिशा की ओर अत्यन्त तेज प्रकाश प्रकट होने लगा। मैंने दृष्टि पूर्व दिशा की ओर स्थिर कर दी। उस प्रकट हुए तेज प्रकाश के अन्दर अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र में फैला हुआ सूर्य के समान गोलाकार प्रकाश प्रकट हो गया। यह गोलाकार अत्यन्त तेजस्वी प्रकाश सम्पूर्ण पूर्व दिशा मैं फैला हुआ था। उसका प्रकाश सम्पूर्ण अंतरिक्ष व सम्पूर्ण भूमि पर फैला हुआ था। मैंने ऐसा अद्वितीय प्रकाश पहले कभी नहीं देखा था। मैं सोचने लगा कि यह कैसा प्रकाश है जिससे अंतरिक्ष में व सम्पूर्ण भूमि पर प्रकाश ही प्रकाश फैल गया। उसी समय उस गोलाकार प्रकाश से एक प्रकाश किरण निकलकर हमारे मुँह पर पड़ी। जैसे ही प्रकाश किरण मुँह पर पड़ी, हमारी आँखें चकाचौंध हो गई तथा हमारे शरीर में झटका सा लगा। झटका लगते ही हमारी समाधि भंग हो गई तथा आँखें खुल गई।

समाधि खुलने के बाद मैं सोचने लगा कि यह कैसा दिव्य प्रकाश है जिसे मैं पहली बार देख रहा हूँ। उसके द्वारा निकली किरण मुँह पर पड़ते ही समाधि भंग हो गई तथा हमारे मस्तिष्क में विशेष प्रकार की हलचल होने लगी। यह गोलाकार प्रकाश सूर्य के समान था। सूर्य का आकार छोटा होता है, यह उससे बड़ा था। इसका किनारा भूमि को स्पर्श कर रहा था। ऐसा लगता था मानों भूमि के अन्दर से निकलकर आया है। सूर्य का प्रकाश इस प्रकाश के सामने जुगनू के समान है। यह अनुभव मात्र कुछ क्षणों के लिए ही आया था। बाद में हमें मालूम हुआ कि यह ऋतम्भरा-प्रज्ञा का दर्शन हुआ है। इस ऋतम्भरा-प्रज्ञा का उदय तभी होता है जब साधक निर्विचार समाधि की उच्चतम अवस्था में प्रवीणता प्राप्त कर लेता है। निर्विचार समाधि की उच्चतम अवस्था में रजोगुण व तमोगुण रूपी मल और आवरण के नष्ट होने पर सत्त्वगुण की प्रधानता से प्रकाश मान चित्त का स्वच्छ स्थिर रूपी एकाग्र प्रवाह निरन्तर बहता रहता है। इसी को प्रवीणता कहते हैं। इसी प्रवीणता में साधक को प्रकृति पर्यन्त सब पदार्थों का एक ही समय में साक्षात्कार हो जाता है। इस साक्षात्कार को प्रज्ञा-प्रसाद भी कहते हैं। इस प्रज्ञा के प्रकट होने तथा विनाश होने पर प्रज्ञा-लोक का (परा-प्रकृति का या ईश्वर के लोक का) विकास होता है। व्यास जी का कहना है– प्रज्ञा

रूपी प्रसाद को प्राप्त कर शोक से रहित प्राज्ञ (योगी) शोक में पड़े जनों को ऐसे देखता है, जैसे पहाड़ की चोटी पर खड़ा मनुष्य नीचे की ओर पृथ्वी पर खड़े मनुष्य को देखता है।

अर्थ– ऋतम्भरा प्रज्ञा का अर्थ है– सच्चाई को धारण करने वाली अविद्या से रहित ज्ञान। इस प्रज्ञा के प्राप्त होने से कई जन्मों के योग के अभ्यास का फल मिलता है। व्यास जी कहते हैं– वेद विहित श्रवण से, अनुमान से तथा ध्यान के अभ्यास से प्रज्ञा का सम्पादन करता हुआ साधक उत्तमयोग को प्राप्त करता है।

ऋतम्भरा-प्रज्ञा का दर्शन

यह अनुभव ध्यानावस्था में एक मार्च को आया। मैं भूमि पर खड़ा हूँ। हमसे थोड़ी दूरी पर भूमि पर एक छोटा- सा गढ़ानुमा जगह है। उस गड्ढे में पानी भरा हुआ है। मैं उसी पानी को देख रहा हूँ। उसी पानी के अन्दर नीचे की ओर अत्यन्त तेजस्वी ऋतम्भरा-प्रज्ञा प्रकट हो गई। इस प्रज्ञा से प्रकाश की एक किरण निकली। यह किरण गड्ढे के पानी को पार करती हुई हमारे मुँह पर पड़ी। प्रकाश किरण मुँह पर पड़ते ही हमारी आँखें चकाचौंध हो गई तथा शरीर को झटका लगा। झटके के साथ ही हमारी समाधि टूट गई।

अर्थ– स्वच्छ पानी हमारे चित्त की वृत्तियाँ है। वृत्तियों के नीचे भूमि पर प्रज्ञा प्रकट हो गई। पानी रूपी वृत्तियाँ प्रज्ञा के किरण रूपी प्रकाश को रोक नहीं पाई। उसके ज्ञान का प्रकाश हमारे मुँह पर पड़ा। ज्ञान का प्रकाश मुँह पर पड़ते ही हमारे शरीर में कंपन सा हुआ, फिर समाधि भंग हो गई। इस प्रज्ञा से उत्पन्न होने वाले संस्कार अन्य सभी व्युत्थान के संस्कारों के बाधक हैं।

चित्त के बाह्य परिणाम वाले तीनों गुण

यह अनुभव 4 मार्च का है। मैं किसी स्थान पर खड़ा हूँ। सामने की ओर तीन छोटे-छोटे लगभग दो वर्ष की उम्र के लड़के दिखाई दिए। ये तीनों लड़के गहरी निद्रा में सो रहे थे। एक लड़का नीचे सो रहा था और दो लड़के नीचे वाले लड़के के ऊपर सो रहे थे। लेटने का तरीका ऐसा था जैसे ऊपर वाले दोनों लड़कों ने नीचे वाले लड़कों को तकिया बना रखा हो। तकिया लगाते समय सिर्फ सिर तकिए पर रखते हैं, मगर दोनों लड़कों ने अपना आधा-आधा शरीर नीचे वाले लड़के के ऊपर रखा हुआ था। ऐसा लगता था

जैसे नीचे वाले लड़के को दोनों लड़को ने मिलकर जबरदस्ती दबा रखा हो। जब मैंने उन तीनों लड़कों के सोने का तरीका देखा, तब मुझे नीचे वाले लड़के पर दया आ गई। मैं बोला– नीचे वाले लड़के को तकलीफ होती होगी। उसी समय हमारे बगल में खड़ा पुरूष बोला, "नहीं, इसे किसी प्रकार की तकलीफ नहीं होती है, क्योंकि इनका स्वभाव ही ऐसा है।"

अर्थ– ये तीनों लड़के चित्त के बाह्य परिणाम वाले तीनों गुण हैं। इससे पहले अनुभव में भी ये तीनों गुण लड़कों के रूप में दिखाई दे चुके हैं। उस अनुभव में लड़के अपना-अपना कार्य कर रहे थे अर्थात् चित्त की वृत्तियों में (बाह्य परिणाम) परिणाम हो रहा था। अबकी बार लड़के गहरी निद्रा में सो रहे थे अर्थात् गुण अपना कार्य करके शांत हो गये हैं। इस अनुभव में एक विशेषता है– एक लड़का नीचे है और दो लड़के उसे दबाए हुए उसके ऊपर लेटे हैं अर्थात् एक गुण नीचे है और दो गुण उसे दबाए हुए हैं। जब गुणों का परिणाम क्रम होता रहता है, तब एक गुण प्रधान रहता है तथा दो गुण गौण रूप से रहते हैं। एक गुण प्रधान रूप से रहकर अपना कार्य (परिणाम) करता रहता है। जब गुण अपना परिणाम क्रम समाप्त करते हैं, तब दो गुण एक साथ होकर एक गुण को दबा लेते हैं। इससे परिणाम क्रम निरुद्ध हो जाता है। यह अवस्था साधक को सिर्फ समाधि अवस्था में प्राप्त होती है, इसे आत्मावस्थिति कहते हैं। समाधि भंग होने पर गुणों का परिणाम क्रम फिर शुरू हो जाता है। अनुभव में नीचे वाला लड़का रजोगुण है। ऊपर के दोनों लड़के सत्त्वगुण व तमोगुण के प्रतीक हैं। अभी सिर्फ अनुभव आया है। यह अवस्था कुछ समय बाद आएगी।

चित्त की भूमि

यह अनुभव 4 मार्च को योगनिद्रा में आया, इसलिए यह अवस्था कुछ समय बाद आएगी। चारों ओर प्रकाश फैला था। मैं प्रसन्न मुद्रा में आगे की ओर चला जा रहा था। हमारी दृष्टि नीचे की ओर भूमि पर पड़ी। पैरों के पास की भूमि बिल्कुल स्वच्छ थी। दाहिनी ओर थोड़ी दूरी से अत्यन्त निर्मल पानी की धारा बहकर हमारे पैरों के पास तक आ रही थी। पानी हमारे पैरों के नीचे विलीन हो रहा था। जिस जगह पानी भूमि पर विलीन हो रहा था उस स्थान पर नमी का नामोनिशान नहीं था। मैं बोला– यह कैसी भूमि है, पानी होने के बावजूद नमी न होकर बिल्कुल सूखी तथा अत्यन्त कठोर है। उस स्थान के आस-पास की भूमि ऊसर भूमि जैसी थी। जैसे ही मैंने आगे बढ़ने के लिए पैर उठाया, वहाँ की भूमि थोड़ी-सी ऊँची हो गई। मैंने दूसरा अथवा तीसरा पैर जैसे ही आगे की ओर रखा, उसी समय तीव्र झटके के साथ मैं पीछे आ गया। मैं चौंक पड़ा– ये क्या हो गया? हमारे शरीर में थोड़ी-सी वेदना सी हुई। मैं समझ गया कि उस स्थान

पर अवश्य ही कुछ अदृश्य रूप में है।जैसे ही मैंने आगे बढ़ने के लिए उस पर पैर रखा, उसी समय भूमि के अन्दर से अदृश्य रूप में शक्ति जैसी वस्तु निकलने का आभास होने लगा। फिर मैंने आगे की ओर पैर नहीं बढ़ाया, बल्कि थोड़ा-सा दाहिनी ओर से होकर आगे बढ़ गया। सामने छोटी सी दीवार के समान ऊँचाई जैसी थी। मैं उस ऊँचाई के पास पहुँचा, वह स्थान और ऊँचा हो गया। मैंने निश्चित किया कि मैं इसी ऊँचाई को पार करके आगे की ओर जाऊँगा। मैं बड़ी मुश्किल से उस ऊँचाई पर चढ़ पाया। जैसे ही मैं उस ऊँचाई पर खड़ा हुआ उसी समय हमें एक झटका लगा। झटके के साथ ही मैं अपने आप आगे की ओर चला गया। आगे किसी प्रकार की भूमि नहीं थी, बल्की प्रकाश ही प्रकाश फैला हुआ था। अब मैं अत्यन्त तेज प्रकाश में खड़ा था। मैंने चारों ओर दृष्टि करके देखा तो प्रकाश के अतिरिक्त कुछ भी नहीं था। जब मैंने नीचे की ओर देखा तो भूमि बहुत नीचे दिखाई दी तथा वह भूमि भी दिखाई दी जिस पर पहले खड़ा था।

अर्थ– पानी की धारा– चित्त वृत्तियों का प्रवाह। भूमि– चित्त की भूमि। जिस जगह भूमि गीली नहीं हो रही है, ऊसर जैसी लगती है– उस स्थान से चित्त की वृत्तियाँ प्रकट नहीं हो सकती हैं। जिस जगह शक्ति का केन्द्र है, उस जगह को लक्ष्य बनाकर यदि विशेष प्रकार का अभ्यास किया जाए तो साधक को विशेष प्रकार की शक्तियाँ (सिद्धियाँ) प्राप्त होती हैं। मैंने उस स्थान का त्याग कर दिया तथा एक ओर से आगे निकल गया। चित्त की भूमि की आखिरी सीमा पार करते समय थोड़ी-सी परेशानी हुई। इसके बाद मैं ज्ञान के प्रकाश में स्थित हो गया। यह अवस्था पूर्ण रूप से प्राप्त करने में कुछ वर्ष लग जाएँगे। अनुभव से स्पष्ट होता है कि हमें सिद्धियों में कोई दिलचस्पी नहीं है, बल्कि अपने स्वरूप में स्थित होना है। चित्त की भूमि की आखिरी सीमा पार करते समय संसार से अपनी निंदा का कष्ट सहना होगा, क्योंकि आखिरी सीमा पर दीवार खड़ी है। इस दीवार को पार करते समय प्रकृति अपना प्रभाव दिखाएगी। मगर मैं प्रकृति के प्रभाव को स्वीकार नहीं करुँगा तथा अवरोधों को पार करता जाऊँगा।

तत्त्वों का साक्षात्कार

जब योगी को निर्विचार समाधि की उच्चत्तम अवस्था में प्रवीणता प्राप्त हो जाती है, तब योगी का चित्त अत्यन्त निर्मल हो जाता है। इसी निर्मलता में ऋतम्भरा-प्रज्ञा का उदय होता है। इसी ऋतम्भरा-प्रज्ञा द्वारा प्रकृति के पदार्थों (तत्त्वों) के सामान्य व विशेष रूप का साक्षात्कार होता है। पदार्थों के विशेष रूप के साक्षात्कार के विषय में वर्णन नहीं किया जा सकता है, क्योंकि यह अनुभूति का विषय है। फिर भी मैं

लिखने का प्रयास कर रहा हूँ। आजकल मैं भौतिक रूप से अधिक संयमित रहता हूँ। इस समय मैं एकांत में रहकर स्वयं भोजन बनाता हूँ तथा एक बार ही थोड़ा भोजन करता हूँ। इससे हमारे चित्त में शुद्धता बढ़ेगी, क्योंकि वर्तमान समय में चित्त का शुद्ध होना आवश्यक है।

पृथ्वी तत्त्व के सामान्य व विशेष रूप का साक्षात्कार

यह अनुभव 4 मार्च को आया। हमें अपने सामने हल्के पीले रंग के चौकोर वर्गाकार ढेर सारे कण दिखाई दे रहे थे। इन कणों का अपने आप में घनत्व बहुत ज्यादा था। ये कण आपस में एक-दूसरे से मिले हुए तथा एक-दूसरे के ऊपर रखे हुए थे तथा एक निश्चित क्षेत्र में दिखाई दे रहे थे। मैं इन कणों को ध्यानपूर्वक देख रहा था, तभी हमारे मुँह से निकला, "यह तो पृथ्वी तत्त्व के कण हैं"। कुछ क्षणों बाद उस स्थान पर भू-भाग दिखाई देने लगा। मैं तुरन्त समझ गया कि ये कण पृथ्वी तत्त्व के ही थे। अनुभव में जो कण दिखाई दे रहे थे, वह पृथ्वी तत्त्व का विशेष रूप है। यह विशेष रुप सिर्फ योगी निर्विचार समाधि की उच्चतम अवस्था में ऋतम्भरा-प्रज्ञा के द्वारा ही साक्षात्कार कर सकता है। विशेष रूप के साक्षात्कार से पृथ्वी तत्त्व (जड़ तत्त्व) के विषय में ज्ञान हो जाता है।

प्रत्येक पदार्थ के दो रूप होते हैं– **एक-** सामान्य रूप, **दूसरा-** विशेष रूप। इस विषय में मैं पहले विस्तार से लिख चुका हूँ। केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही वस्तु के विशेष रूप को दिखलाने में समर्थ हेाता है। इन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष ज्ञान भी स्थूल वस्तुओं के प्रत्यक्ष रूप को ही दिखला सकता है, सूक्ष्म और अतीन्द्रिय पदार्थों को नहीं दिखला सकता है। पंचतन्मात्राएँ, अहंकार, चित्त आदि सूक्ष्म पदार्थों में प्रत्यक्ष की पहुँच नहीं है। आगम प्रमाण और अनुमान प्रणाम से इसके सामान्य रूप का ही पता लगा सकते हैं, इनके विशेष रूप को नहीं बतलाया जा सकता है। निर्विचार समाधि की प्रवीणता में होने वाली ऋतम्भरा-प्रज्ञा से ही इन सूक्ष्म पदार्थों के विशेष रूप का साक्षात्कार हो सकता है, अन्य किसी प्रमाण से नहीं हो सकता। अनुभव में हमें पृथ्वी तत्त्व के सामान्य और विशेष रूप का साक्षात्कार ऋतम्भरा-प्रज्ञा के द्वारा हुआ है। पृथ्वीतत्त्व का सामान्य रूप तो हम सभी दिन भर में देखते हैं, मगर इसके विशेष रूप का साक्षात्कार सांसारिक मनुष्य नहीं कर सकता है। प्रकृति में जो तीन गुण हैं, उनके वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता है। वृत्ति के द्वारा उनका साक्षात्कार कबूतरों व बच्चों के रूप में होता है।

जल तत्त्व के सामान्य व विशेष रूप का साक्षात्कार

इसका साक्षात्कार 4 मार्च को ही हुआ। अनुभव में हमें अत्यन्त स्वच्छ जल दिखाई देने लगा। कुछ क्षणों में जल में परिवर्तन होने लगा तथा जल कणों के रूप में परिवर्तित होने लगा। जल के स्थान पर कण रखे दिखाई दे रहे थे। ये कण हल्के सफेद रंग के थे। इन कणों की बनावट बड़ी विचित्र-सी थी। ऐसा लगता था जैसे गोलाकार कणों के बीच में से दो भाग कर दिए गये हैं। इन कणों का घनत्व पृथ्वी तत्त्व के कणों से बहुत कम था। मैं तुरन्त समझ गया कि ये जलतत्त्व के कण है। जलतत्त्व के कण (परमाणु) भी पृथ्वी तत्त्व के कणों (परमाणु) के समान ठोस थे, सिर्फ रंग और बनावट में फर्क था। जिस समय मैं पृथ्वी तथा जल तत्त्व का साक्षात्कार कर रहा था, उस समय मैं अपने आपको दूर ऊपर की ओर अनुभूत कर रहा था।

अग्नि तत्त्व के सामान्य रूप का साक्षात्कार

यह अनुभव 5 मार्च का है। मैंने देखा कि हमसे थोड़ी दूरी पर अग्नि जल रही थी। अग्नि काफी विस्तृत और ऊँची थी, जिसकी एक ज्वाला (लौ) काफी ऊँचाई तक थी। जलती हुई अग्नि की लपटें वायु में लहराती हुई ऊपर की ओर उठती हुई दिखाई दे रही थी, मगर कुछ ही क्षणों में अग्नि पूरी तरह से स्थिर हो गई अर्थात् अग्नि की लपटें जो ऊपर की ओर उठी हुई वायु में लहरा रही थी, उन लपटों का लहराना बन्द हो गया। अग्नि के स्थिर होने पर वह जड़ रूप में भासित होने लगी। उसी समय मैं बोला, "यह तो जड़ रूप में परिवर्तित हो गई"। मैं हंस रहा था और कह रहा था– "अग्नि जड़ रूप में परिवर्तित हो गई"।

अर्थ– इस अनुभव में अग्नि के सामान्य रूप का साक्षात्कार हुआ है। अग्नि के सामान्य रूप से सभी परिचित हैं, क्योंकि अग्नि के बिना व्यवहार की दशा में मानव जीवन असम्भव है। जब अग्नि जलती हुई दिखाई देती है, तब उसकी ज्वाला (लपटें) हवा में लहराती हुई ऊपर की ओर उठती दिखाई देती हैं। लपटों के हवा में लहराने से अग्नि में चेतनता भी भासित होती है। जब लपटों का लहराना बन्द हो गया, तब अग्नि स्थिर जल की भाँति जड़ दिखाई देने लगी। उस समय अग्नि तथा स्थिर जल में कोई फर्क महसूस नहीं होता था। फर्क सिर्फ इतना सा था कि अग्नि ऊपर की ओर उठी हुई थी तथा रंग लाल था। अग्नि की इस अवस्था को सिर्फ ध्यानावस्था में देखा जा सकता है, क्योंकि अग्नि अवस्था (स्थूल अवस्था में) में बिना वायु के नहीं जल सकती है।

अग्नि तत्त्व के विशेष रूप का साक्षात्कार

यह अनुभव 5 मार्च का है। हमारे सामने सुर्ख लाल आग सी दहकती हुई पैंसिल की मोटाई के बराबर लाईन (रेखा) सी है। हमारी दृष्टि इस सुर्ख लाल आग सी दहकती हुई रेखा के निचले सिरे पर गई, तभी उस रेखा के निचले सिरे से सुर्ख लाल रंग के गोल-गोल मूँगे के समान परमाणु बड़ी तेजी से निकलने लगे। ये सभी परमाणु (कण) नीचे भूमि पर एकत्र होने लगे। मैं उन परमाणुओं के निकलने का तरीका देखकर आश्चर्य चकित हो रहा था। मात्र कुछ क्षणों में ढेर सारे परमाणु एकत्र हो गये। ये परमाणु उस रेखा के निचले सिरे से अपने आप निकल रहे थे। मैंने उन परमाणुओं से दृष्टि हटाई और सोचा कि इस लाल रंग की दहकती हुई रेखा का ऊपरी सिरा कहाँ है? मैंने अपनी दृष्टि ऊपर की ओर की तो देखा कि उसका ऊपरी सिरा हमारे सिर के अन्दर से निकला था। तभी मैं चौंक पड़ा, हमारे चौंकते ही वह दहकती हुई रेखा अदृश्य हो गई। मगर अभी उसके द्वारा निकले परमाणु उसी स्थान पर एकत्र थे। पहले मुझे लगा कि शायद ये परमाणु गर्म होंगे। मगर इन परमाणुओं को छूने पर मालूम हुआ कि ये बिल्कुल भी गर्म नहीं थे, सिर्फ साधारण पदार्थ के समान थे। देखने में ये परमाणु बहुत सुन्दर थेतथा दहकती हुई रेखा खड़े आकार (रूप) में थी।

मैंने जो दहकती हुई सुर्ख लाल रंग की रेखा का वर्णन किया है, यह रेखा (लाईन) अत्यन्त विलक्षण कोई वस्तु थी। वे परमाणु मूँगे के समान थे, मगर पूर्ण रूप से मूँगो के समान नहीं थे। उनकी बनावट में फर्क था, सिर्फ मूँगो से तुलना की है। ये अग्नि के परमाणु होते हुए भी गर्म नहीं थे, सिर्फ उनका स्वरूप गर्म-सा दिखाई दे रहा था। ये परमाणु छूने पर जड़ वस्तु के समान थे। इन परमाणुओं का घनत्व बहुत कम था। यह अग्नि तत्त्व का विशेष रूप था।

वायु तत्त्व के सामान्य रूप का साक्षात्कार

यह अनुभव 13 मार्च को आया। मैं अनुभव में आगे की ओर चला जा रहा हूँ। जिस मार्ग पर चल रहा हूँ, वहाँ की भूमि तेज प्रकाश से युक्त है। चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश है। जाते समय मार्ग में एक स्थान से आवाज सी सुनाई दी। ऐसा लगा जैसे वायु की सरसराहट की आवाज है। मैंने आवाज की ओर देखा लेकिन हमें कुछ भी दिखाई नहीं दिया। आवाज उत्पन्न होने के स्थान पर एक विशेष प्रकार का क्षेत्र अवश्य दिखाई दिया। यह क्षेत्र हमसे लगभग 8-10 मीटर की दूरी पर था। उस क्षेत्र में हमें कुछ विशेषता-

सी दिखाई दी। इसलिए मैं खड़ा होकर उस क्षेत्र को देखने लगा, उसी समय उस क्षेत्र से एक मानव आकृति प्रकट होने लगी। कुछ क्षणों में वह मानव आकृति एक सुन्दर देवता के रूप में परिवर्तित हो गई। वह देवता हमारी ओर देख रहा था। कुछ ही क्षणों में उस देवता के शरीर में परिवर्तन होने लगा। उस चैतन्यमय देवता का शरीर धीरे-धीरे जड़ रूप में परिवर्तित होने लगा। फिर वह पत्थर की मूर्ति के समान हो गया अर्थात् पूर्ण रूप से जड़ रूप में परिवर्तित हो गया। मैं बोला, "यह देवता तो जड़ रूप में परिवर्तित हो गये।" मात्र कुछ क्षणों में उस देवता का जड़ शरीर वायु रूप में धीरे-धीरे परिवर्तित होने लगा। मैं हँसा और बोला– यह देवता तो वायु रूप में परिवर्तित हो गये। अब हमें स्थिर वायु खड़ी हुई स्पष्ट दिखाई दे रही थी। वायु का आकार गोलाकार रूप में ऊपर की ओर उठी हुए मोटे खम्भे के आकार जैसा था। फिर वह वायु गोलाकार चक्रवात के समान घूमती हुई तथा तिरछी गति करती हुई आगे की ओर थोड़ी दूरी पर स्थित प्रकाश में विलीन हो गई। मैं यह क्रिया देखकर मुस्करा रहा था और सोच रहा था कि वायु हमें जड़ रूप में पारदर्शी दिख रही है।

जिस स्थान पर देवता प्रकट हुआ था, उसी स्थान पर दूसरी मानव आकृति प्रकट होने लगी, फिर वह आकृति स्पष्ट होने लगी। मैंने उस आकृति को शीघ्र ही पहचान लिया और बोला, "अरे! बजरंगबली जी आप।" मैं इतना ही कह पाया था कि बजरंगबली जी शीघ्र ही स्थूल रूप में (पत्थर की मूर्ति जैसे आकार में) परिवर्तित हो गये। कुछ क्षणों बाद स्थूल रूप से वायु रूप में परिवर्तित हो गये। अब मैं गोलाकार रूप में खम्बे जैसे आकार में वायु का स्थिर पिण्ड देख रहा था कि तभी वह वायु अपनी ही जगह पर गोलाकार चक्रवात के समान घूमने लगी तथा घूमती हुई आगे की ओर तिरछी गति करती हुई उस स्थान पर पहुँचगई, जहाँ पहले वाली वायु विलीन हो गई थी। वह वायु भी उस प्रकाश में विलीन हो गई। जिस जगह पर वायु विलीन होती थी वह स्थान दाहिनी ओर था। अब फिर पहले वाले स्थान पर एक मानव आकृति प्रकट होने लगी। कुछ ही क्षणों में मानव आकृति देवता गणेश जी के रूप में प्रकट हो गई। मैं हँसा और बोला, "अरे! भगवन् आप।" तभी उनका शरीर बड़ी शीघ्रता से वायु रूप में परिवर्तित हो गया। वायु की ऊँची पिंडाकार आकृति अपनी जगह पर तेजी से घूमने लगी, फिर हमारी ओर तिरछी गति करती हुई आने लगी। मैं अति प्रसन्न था, वायु का आकार (पिण्ड) काफी ऊँचा व काफी विस्तृत गोलाकार रूप में था। यह गति करती हुआ हमारे पास आ गया, फिर वायु ने हमें अपने घेरे में ले लिया। मैं वायु पिण्ड के बीच खड़ा ऊपर की ओर देख रहा था। वायु अपने ही स्थान पर अति तीव्र गति से गोलाकार रूप में घूम रही थी। मैं वायु को पकड़े वायु पिण्ड के अन्दर खड़ा था। मैं वायु के अन्दर भी खड़ा

था तथा वायु गति भी कर रही थी, मगर हमें वायु के स्पर्श की अनुभूति नहीं हो रही थी। फिर वायु पिण्ड का आकार छोटा होकर अन्त में हमारे शरीर में व्याप्त हो गया।

यह अनुभव छोटा था मगर लिखने में बड़ा हो गया। यह वायु तत्त्व का सामान्य रूप था। साधारण या सांसारिक मनुष्य वायु के सामान्य रूप को कभी नहीं देख सकते हैं। वे सिर्फ त्वचा इन्द्रिय के द्वारा स्पर्श की अनुभूति से वायु तत्त्व के सामान्य रूप का अनुमान (उसकी गति का) कर सकते हैं। वायु का रंग पारदर्शी धुंएँ के बादल के समान था। वायु सदैव तिरछी गति करती है, इसलिए अनुभव में तिरछी गति करती हुई दिखाई दे रही थी। वह चक्रवात के समान चल रही थी अर्थात् गति कर रही थी, क्योंकि वायु का स्वभाव होता है गति करना अथवा कंपन करना। वायु स्पष्ट रूप से जड़ दिखाई दे रही थी। अनुभव के अंत में मैं वायु तत्त्व के अन्दर खड़ा था। वायु अपनी जगह पर घूम रही थी तथा बायें हाथ से वायु का सहारा लिए मैं आराम से खड़ा था। जिस प्रकार मनुष्य पेड़ के तने का सहारा लेकर तिरछा खड़ा हो जाता है, वैसे ही मैं वायु के अन्दर वायु का सहारा लेकर खड़ा था। वायु पूरी तरह से जड़ रूप में भासित हो रही थी, क्योंकि मैं उसका सहारा लेकर खड़ा था। अन्त में वायु तत्त्व हमारे अन्दर विलीन हो गया। जो वायु हमारे अन्दर विलीन हो गई, वह श्री गणेश जी का बदला हुआ स्वरूप (वायु) थी।

उस विशेष स्थान पर क्रमशः तीन देवता प्रकट हुए। फिर स्थूल रूप (पत्थर रूप) में परिवर्तित होकर वायु रूप में परिवर्तित हो गये, फिर प्रकाश में (आकाश तत्त्व में) विलीन हो गये।मगर गणेश जी स्थूल रूप में (पत्थर रूप में) परिवर्तित नहीं हुए, बल्कि वायु तत्त्व में परिवर्तित हो गये। पहले मैं उस वायु के अन्दर खड़ा रहा, फिर अन्त में सम्पूर्ण वायु हमारे शरीर के अन्दर व्याप्त हो गई। इन देवताओं का जन्म वायु तत्त्व के द्वारा हुआ है। अन्त में ये सभी आकाश तत्त्व (प्रकाश) में विलीन हो जाते हैं। मगर श्री गणेश नाम का देवता इन दोनों देवताओं से निश्चय ही श्रेष्ठ है, वह अन्त में हमारे अन्दर विलीन हो गया। मैं भी अन्त में अपने स्वरूप में स्थित हो जाऊँगा। श्री गणेश जी देवताओं में इसलिए पूजनीय हैं, क्योंकि वे सदैव सर्वत्र व्याप्त हैं।

ऋतम्भरा-प्रज्ञा का साक्षात्कार

यह अनुभव 13 मार्च को आया। पूर्व दिशा में निर्मल प्रज्ञा उदय होकर ऊपर अंतरिक्ष में आगे की ओर गति करने लगी। अंतरिक्ष में ऊपर जाकर प्रज्ञा स्थिर हो गई। मैं उस प्रज्ञा को देख रहा था।

इस अनुभव में दो बातें विशेष हैं। **एक**– प्रज्ञा पूर्व दिशा में सूर्य के समान उदय होकर अंतरिक्ष में जाती दिखाई दी। जिस प्रकार सूर्य पूर्व से उदय होकर ऊपर अंतरिक्ष की ओर जाता दिखाई देता है, इसी प्रकार प्रज्ञा भी अंतरिक्ष में जाती दिखाई दी, फिर ऊपर अंतरिक्ष में जाकर स्थिर हो गई। **दो**– पहले अनुभवों में जब प्रज्ञा का उदय होता था, उस प्रज्ञा की प्रकाश किरण जैसे ही हमारे चेहरे पर पड़ती थी, तभी आँखें चकाचौंध हो जाती थी तथा इसी के साथ हमारी समाधि भंग हो जाती थी। इस अनुभव में मैं ऋतम्भरा-प्रज्ञा को देख रहा था, मगर न ही मेरी आँखें चकाचौंध हुई और न ही हमारी समाधि भंग हुई।

वायु तत्त्व के अन्दर अग्नि तत्त्व, जल तत्त्व व पृथ्वी तत्त्व

यह अनुभव 13 मार्च को आया। मैंने देखा कि वायुतत्त्व ऊँचा गोलाकार पिण्डनुमा अपने स्थान पर गोलाकार रूप में घूम रहा है। इस दृश्य को देखकर मैं प्रसन्न हो रहा हूँ। कुछ क्षणों में वायु का घूमना बन्द हो गया और वायु अपने स्थान पर स्थिर हो गई। जैसे ही वायु अपने स्थान पर स्थिर हुई, उसी समय दूर से अग्नि तत्त्व आता हुआ दिखाई दिया और तीव्र गति से वायु तत्त्व के अन्दर प्रवेश कर गया। अग्नितत्त्व वायु तत्त्व के अन्दर केन्द्र में स्थित हो गया। वायु तत्त्व के आकार से अग्नितत्त्व का आकार काफी छोटा था। अग्नितत्त्व के स्थित होते ही जल तत्त्व बड़ी तीव्र गति से दूर से आता हुआ दिखाई दिया, फिर वह अग्नि तत्त्व के अन्दर केन्द्र में स्थित हो गया। जल तत्त्व का आकार अग्नि तत्त्व की अपेक्षा छोटा था। जल तत्त्व के स्थित होते ही पृथ्वी तत्त्व बड़ी तीव्रता से आता हुआ दिखाई दिया तथा जल तत्त्व के केन्द्र में स्थित हो गया। पृथ्वी तत्त्व का आकार जल तत्त्व के आकार से छोटा था। अब मैं वायु तत्त्व, अग्नि तत्त्व, जल तत्त्व तथा पृथ्वी तत्त्व को एक साथ देख रहा था। वह वायु तत्त्व के अन्दर क्रमशः स्थित थे। वायु तत्त्व का घनत्व सबसे कम था तथा व्यापकता सबसे अधिक थी। अग्नि तत्त्व का घनत्व वायु तत्त्व से ज्यादा था तथा वायु तत्त्व से व्यापकता भी काफी कम थी। जल तत्त्व का घनत्व अग्नि तत्त्व से अधिक था तथा अग्नि तत्त्व से व्यापकता भी काफी कम थी। पृथ्वी तत्त्व का घनत्व जल घनत्व से अधिक था तथा जल तत्त्व से व्यापकता भी कम थी। मैं चारों तत्त्वों को एक साथ क्रमशः एक दूसरे के अन्दर स्थित हुआ देख रहा था।

अर्थ– अनुभव में चारों तत्त्वों की व्यापकता और घनत्व दिखाया गया जो व्यापकता और घनत्व के अनुसार क्रमशः एक-दूसरे के अन्दर स्थित दिखाई दे रहे थे। वायु तत्त्व के अन्दर सूक्ष्म रूप से अग्नि तत्त्व रहता है तथा अग्नि तत्त्व के अन्दर सूक्ष्म रूप से जल तत्त्व रहता है। जल तत्त्व के अन्दर सूक्ष्म रूप से पृथ्वी

तत्त्व रहता है। इसी प्रकार सृष्टि के समय क्रमशः वायु तत्त्व से अग्नि तत्त्व, अग्नि तत्त्व से जल तत्त्व, जल तत्त्व से पृथ्वी तत्त्व प्रकट हो जाता है। सृष्टि का कार्य इन्हीं चारों तत्त्वों द्वारा आकाश तत्त्व के अन्दर होता है।

आकाश तत्त्व के सामान्य रूप का साक्षात्कार

यह अनुभव ऊपर लिखे अनुभव के बाद आया। मैं एक स्थान पर आधारहीन खड़ा हूँ। मैंने अपनी दृष्टि चारों ओर घुमाई, तब मुझे लगा यह स्थान बहुत कम घनत्व वाला है। हमारे सामने हमसे एक फीट की दूरी पर एक छोटा-सा वायु तत्त्व का पिण्ड था। मैं इस पिण्ड को देखकर पहचान गया कि यह पिण्ड वायु तत्त्व का है। इस पिण्ड का आकार हमारे पैर के तलवे के बराबर था। मैंने अपना दाहिना पैर आगे बढ़ाकर वायु पिण्ड के ऊपर रख दिया और फिर दूसरा पैर भी उठाकर वायु तत्त्व के ऊपर रख दिया। अब मैं वायु तत्त्व के ऊपर खड़ा हो गया। वायु तत्त्व का आकार हमारे पैर के तलवे के बराबर ही था। मैंने आगे बढ़ने का प्रयास किया, किन्तु जैसे ही मैंने अपना दाहिना पैर उठाकर आगे रखा तो मुझे पैर के तलवे के नीचे किसी प्रकार का आधार ही महसूस नहीं हुआ। फिर मैंने बाँया पैर उठाकर आगे की ओर रखा, उसी समय मैं आगे की ओर झुक गया। मैं सोचने लगा कि यह कैसा स्थान है, मैं खड़ा ही नहीं हो पा रहा हूँ।फिर मैंने अपना दाहिना पैर आगे की ओर रखा, उसी समय मैं दाहिनी ओर झुक गया। मेरे अन्दर विचार आया, "यह कैसा स्थान है", मैं तो चल ही नहीं पा रहा हूँ। इसी प्रकार कभी आगे झुकता, कभी दाहिनी ओर झुकता, कभी बायीं ओर झुकता हुआ आगे बढ़ रहा था। फिर मैं समझ गया कि यह स्थान रिक्त है, इसलिए मैं इस प्रकार चल पा रहा हूँ। कुछ क्षणों में मैं सामान्य रूप से खड़ा हो गया और ऊपर की ओर दृष्टि करके मुस्कराने लगा।

इस अनुभव में आकाश तत्त्व के सामान्य रूप का साक्षात्कार हुआ है। आकाश का अर्थ है- रिक्तता अथवा अवकाश। इसी रिक्तता के कारण ही मैं आकाश में चल नहीं पा रहा था। आकाश तत्त्व पंचभूतों में सबसे अधिक सूक्ष्म (कम घनत्व वाला) तथा व्यापक है। आकाश तत्त्व के अन्दर वायु तत्त्व स्थित रहता है। इसलिए अनुभव में वायु तत्त्व का आकार (सीमाएं) बिल्कुल छोटा-सा ही है। वायु तत्त्व की सीमाएं हमारे पैर के तलवे के बराबर थी अर्थात् आकाश तत्त्व की अपेक्षा वायु तत्त्व की सीमाएं बहुत ही छोटी होती हैं तथा आकाश तत्त्व की अपेक्षा वायु तत्त्व का घनत्व बहुत अधिक होता है। इसलिए वायु तत्त्व ठोस-सा दिखाई दे रहा है। इस अनुभव में वायु तत्त्व जड़ रूप में दिखाई दे रहा है, क्योंकि मैं वायु तत्त्व

के ऊपर खड़ा हो गया हूँ। वायु तत्त्व बहुत ही छोटा आकार (सीमाओं) वाला है। पिछले अनुभव में जब वायु तत्त्व का साक्षात्कार हुआ था, तब मैं इसके अन्दर खड़ा था। फिर अन्त में छोटा आकार वाला होकर हमारे अन्दर व्याप्त हो गया था। इसका कारण है– चित्त में निर्मलता जितनी ज्यादा बढ़ेगी, सूक्ष्मता भी उतनी ज्यादा बढ़ेगी और जितनी ज्यादा सूक्ष्मता बढ़ेगी उतनी ही ज्यादा व्यापकता भी बढ़ेगी। अनुभव में आकाश तत्त्व की सीमाएं स्पष्ट दिखाई दे रही हैं अर्थात् आकाश तत्त्व भी सीमित दिखाई दे रहा था। मैं वायु तत्त्व को अपने पैरों के नीचे दबाए हुए खड़ा था। आकाश तत्त्व के अन्दर कभी आगे की ओर, कभी दाहिनी ओर, कभी बायीं ओर इसलिए झुककर चल रहा हूँ, क्योंकि आकाश तत्त्व की गति का स्वभाव चारों तत्त्वों की मिश्रित गति है। आकाश तत्त्व के अन्दर चारों तत्त्व (वायु तत्त्व, अग्नि तत्त्व, जल तत्त्व, पृथ्वी तत्त्व) विद्यमान रहते हैं।

पाठकों! मैं इन तत्त्वों के साक्षात्कार के विषय में लिख रहा हूँ। यह लिखने का विषय नहीं है। स्पष्ट रूप से इस विषय पर लिखा भी नहीं जा सकता है। मैं सिर्फ लिखने का प्रयास कर रहा हूँ ताकि पाठकों और अभ्यासियों को इस विषय में जानकारी व मार्गदर्शन मिल सके। यह सिर्फ अनुभूति का विषय है। इन तत्त्वों के विषय में सिर्फ वही अच्छी तरह से समझ सकता है जिसने अभ्यास के द्वारा साक्षात्कार करके अनुभूति की प्राप्ति की है।

अस्मिता का साक्षात्कार

यह अनुभव 16 मार्च को आया। मैं प्रकाश से युक्त भूमि देख रहा हूँ। ऐसा लगता है जैसे यह भूमि प्रकाश की बनी है। यह प्रकाश कई रंगों से मिश्रित-सा लग रहा था। हमारे देखते ही भूमि पर धीरे-धीरे लहरें उठने लगी। मैंने सोचा यह भूमि कैसी है जो कपड़े की भाँति लहरा रही है। इस भूमि पर हल्के काले रंग की एक लाईन (रेखा) सी होने का आभास हो रहा था। मैं इस दृश्य को देख रहा था, फिर कुछ क्षणों बाद प्रकाश बढ़ने लगा तथा भूमि का हिलना भी बन्द हो गया। प्रकाश हर क्षण बढ़ता जा रहा था। कुछ क्षणों में प्रकाश सूर्य के समान तेज हो गया, भूमि भी पूर्ण रूप से स्वच्छ दिखाई दे रही थी।

अर्थ– आत्मा से प्रतिबिम्बित अथवा प्रकाशित चित्त की संज्ञा का नाम अस्मिता है। अस्मिता अहंकार व अविद्या की जननी है। इस अनुभव में चित्त स्वच्छ होकर अधिक प्रकाशित दिखाई दे रहा है। अस्मिता में रजोगुण के कारण भूमि लहराती हुई दिखाई दे रही थी। मगर जब मैं लहराती हुई भूमि को

स्थिर दृष्टि से देखने लगा, तब भूमि का लहराना बन्द हो गया अर्थात् रजोगुण का प्रभाव शुद्ध होकर शांत हो गया, क्योंकि क्रिया करना उसका स्वभाव है। प्रकाश में हल्के काले रंग की लाईन (रेखा) का जो आभास हो रहा है, वह तमोगुण है। धीरे-धीरे प्रकाश बढ़ने लगा, अन्त में प्रकाश सूर्य के समान हो गया। सत्त्वगुण प्रकाशक है, सत्त्वगुण की मात्रा बढ़ने पर रजोगुण व तमोगुण की मात्रा घटने लगती है। इसी कारण भूमि का हिलना बन्द हो गया तथा हल्के काले रंग की रेखा अदृश्य हो गई। अब चित्त में रजोगुण क्रिया मात्र है तथा तमोगुण इस क्रिया को रोकने मात्र रह गया है। सत्त्वगुण प्रधान रूप से विद्यमान है।

तीनों तापों का साक्षात्कार

यह अनुभव 19 मार्च में योगनिद्रा में आया। मैं कमरेनुमा जगह के अन्दर हूँ। हमारे सामने कमरेनुमा जगह में तीन चीते प्रकट हो गये। इन तीनों चीतों का स्वभाव उग्र लग रहा है। ऐसा लगता है जैसे ये हमें खा जाएँगे। तीनों चीते हमारे चारों ओर चक्कर काट रहे हैं तथा मुँह खोलकर भयंकर गर्जना कर रहे हैं। मैं बड़े आराम से भूमि पर लेट जाता हूँ और अपनी आँखें भी बन्द कर लेता हूँ। तभी एक चीता अपने दोनों आगे वाले पैरों को हमारे सीने पर रखकर भयंकर गर्जना करता है। फिर दूसरा चीता भी हमारे सीने के ऊपर दोनों पैर रखकर भयंकर गर्जना करता है। दोनों चीते गर्जना करने के बाद हमारे शरीर के ऊपर से पैर हटा लेते हैं, फिर मैं उठकर बैठ जाता हूँ। हमें कमरेनुमा जगह के अन्दर एक ही चीता बैठा दिखाई देता है, वे दोनों चीते नहीं थे। मैं उस कमरेनुमा जगह से बाहर निकल कर देखता हूँ कि वह दोनों चीते मरे पड़े हुए दिखाई देते हैं। मैं फिर कमरे के अन्दर आ जाता हूँ, तभी तीसरा चीता दरवाजे के पास खड़ा दिखाई देता है। उसी समय चीते का स्वरूप बदल जाता है और वह पुरूष रूप में हो जाता है। वह पुरूष हमसे बोला, "यह लो, इसे ग्रहण करो"। उसके हाथ में लोटे के आकार जैसा एक पात्र था। मैं उस पात्र को ले लेता हूँ। उस पात्र में पानी जैसे रंग का तरल गाढ़ा पदार्थ होता है।

अर्थ– तीनों चीते तीनों तापों के प्रतीक हैं। तीनों तापों के नाम इस प्रकार हैं। **एक**– दैहिक (आध्यात्मिक), **दूसरा**– भौतिक, **तीन**– दैविक। इन तीनों तापों के विषय में विस्तार से दुःख वाले पाठ में पढ़ सकते हैं। इन तीनों प्रकार के तापों से (दुःखों से) प्रत्येक प्राणी किसी-न-किसी ताप (दुःख) की निवृत्ति का यत्न करते रहते हैं, फिर भी तापों से छुटकारा नहीं मिलता है। मृगतृष्णा की भाँति जिन विषयों के पीछे मनुष्य सुख समझकर दौड़ते रहते हैं, वह प्राप्त होने पर दुःख ही सिद्ध होते हैं। अनुभव में दो चीते मर जाते हैं, उसके पहले हमारे ऊपर पैर रखकर गर्जना करते हैं अर्थात् दो प्रकार के ताप कुछ समय बाद (कुछ वर्षों

बाद) अपना प्रभाव दिखा कर सदैव के लिए शांत हो जाएँगे। तीसरा चीता पुरूष बनकर पात्र में कुछ देता है– यह ताप आध्यात्मिक ताप है। इसका प्रभाव अविद्या की आखिरी सीमा तक होता है, यह भी मुक्त कर देगा। तीनों तापों से मुक्त होने का अर्थ है– इसी जीवन में मोक्ष अवश्य प्राप्त होगा। तीनों तापों का साक्षात्कार वृत्तियों के द्वारा योगनिद्रा में हुआ। ये तीनों ताप किसी प्रकार के तत्त्व रूप में नहीं होते हैं। यह अनुभव योगनिद्रा में आया, इसका प्रभाव हमारे ऊपर बहुत समय बाद पड़ेगा।

वायु तत्त्व के विशेष रूप का साक्षात्कार

यह अनुभव 22 मार्च को आया। मैं अंतरिक्ष में अति तीव्र गति से चला जा रहा था। हमारी गति मन के समान तीव्र थी। तभी मैंने देखा कि हमारे सामने अंतरिक्ष में वायु तत्त्व (सामान्य रूप में) स्थिर रूप में विद्यमान है। फिर वायु तत्त्व का सामान्य रूप अदृश्य हो गया। वायु के सामान्य रूप की जगह कण ही कण (परमाणु ही परमाणु) अंतरिक्ष में प्रकट हो गये। मैं तीव्र गति से उन वायु कणों के बीच में प्रवेश कर गया। मैं वायु तत्त्व के कणों के बीच से होकर तीव्र गति से आगे चला जा रहा था। तीव्र गति के कारण वायु तत्त्व के कण हमारे शरीर से टकरा रहे थे। मगर वायु कणों का स्पर्श हमें महसूस नहीं हो रहा था। जो वायु कण हमारे शरीर से टकरा रहे थे, उनके टकराने की आवाज हमें जोर से सुनाई पड़ रही थी। ऐसा लगता था जैसे मैं रेत के कणों के बीच में अत्यन्त तीव्र गति से आगे चला जा रहा हूँ, तभी हमारी गति समाप्त हो गई। मैंने वायु कणों के क्षेत्र को पार कर लिया था। अब मैं स्वच्छ व अत्यन्त कम घनत्व वाले स्थान पर खड़ा था।

अर्थ– वायु तत्त्व के सामान्य रूप का साक्षात्कार 13 मार्च व 16 मार्च को हुआ था। उन अनुभवों में वायु तत्त्व गति करती हुई दिखाई दे रही थी। इस अनुभव में वायु तत्त्व के विशेष रूप का साक्षात्कार हुआ है। वायु तत्त्व जिन परमाणुओं से बने हैं, वही परमाणु (कण) हमें अनुभव में दिखाई दे रहे थे। मैं उन परमाणुओं के अन्दर गति करता हुआ आगे चला जा रहा था। यह परमाणु हमें रेत के कणों के समान दिखाई दे रहे थे, मगर रेत के कणों तथा उन परमाणुओं की बनावट में अंतर था। इन परमाणुओं के स्पर्श की अनुभूति (टकराने की) हमें नहीं हो रही थी, जबकि यह परमाणु हमसे टकरा रहे थे अर्थात् स्पर्श तन्मात्रा की अनुभूति नहीं हो रही थी। परमाणु टकराने की आवाज आ रही थी अर्थात् शब्द तन्मात्रा की अनुभूति हो रही थी। मैं वायु तत्त्व के विशेष रूप के अन्दर से होकर पार होता हुआ आकाश तत्त्व में खड़ा

हो गया। वायु तत्त्व के परमाणु की बनावट न ही चौकोर थी और न ही गोल थी, बल्कि उनकी बनावट षटकोण जैसी थी।

आकाश तत्त्व के विशेष रूप का साक्षात्कार

यह अनुभव 25 मार्च को आया। इस अनुभव को शब्दों में बाँधना उचित नहीं है, क्योंकि शब्दों में व्यक्त करना मुश्किल-सा हो रहा है। मैंने देखा कि मैं किसी जगह पर लेटा हुआ हूँ। जिस जगह पर लेटा हुआ हूँ वह स्थान रिक्त है। मैं स्वयं अपने आप से कर रहा हूँ, '**यह तो रिक्त स्थान है**।' हमारी दृष्टि ऊपर की ओर गई तो देखा कि आकाश ऊपर की ओर उठा हुआ है तथा आकाश की सीमाएं भी हैं। ऊपर उठे हुए आकाश के (रिक्त स्थान के) मध्य में कोई छोटी-सी वस्तु (पदार्थ) स्थिर रूप में हैं। इस स्थिर पदार्थ का स्वरूप बूंद जैसा है। आकाश जो ऊपर की ओर उठा हुआ दिखाई दे रहा है, वह स्पष्ट रूप से जड़ रूप में भासित हो रहा है। मैं सोच रहा हूँ कि यह रिक्त स्थान ऊपर की ओर क्यों उठा हुआ है? कुछ समय बाद मैं रिक्त स्थान से बाहर आ गया।

इस अनुभव में हमें आकाश तत्त्व के विशेष रूप का साक्षात्कार हुआ है। आकाश का अर्थ है– रिक्तता अथवा अवकाश। इस रिक्तता के विषय में शब्दों द्वारा ज्यादा वर्णन नहीं किया जा सकता है कि रिक्तता कैसी होती है? यह केवल अनुभूति का विषय है।इसे आकाश तत्त्व के विशेष रूप का साक्षात्कार करने वाला योगी ही समझ सकता है। अनुभव में जो आकाश तत्त्व के मध्य बूंद के आकार जैसी कोई वस्तु रखी है, वह आकाश तत्त्व का परमाणु है जिससे आकाश तत्त्व बना हुआ है। अनुभव में मैं आकाश तत्त्व के अन्दर लेटा हुआ हूँ तथा आकाश तत्त्व की सीमाएं भी दिखाई दे रही थी। मगर आकाश तत्त्व को बनाने वाले परमाणुओं की संख्या मात्र एक ही थी, जिनका स्वरूप बूंद जैसा था। इसलिए पाँचों भूतों में आकाश ही सबसे सूक्ष्म है, क्योंकि उसके परमाणुओं की संख्या का धनत्व बहुत ही कम होता है। धनत्व कम होने के कारण व्यापकता सबसे ज्यादा है। सबसे अधिक सूक्ष्म होने के कारण वह सभी के अन्दर समा जाता है।

तत्त्वों की पहचान

साधक जब समाधि अवस्था में प्रकृति के पदार्थों के विशेष रूप का साक्षात्कार करता है, तब उस पदार्थ में परमाणुओं के रंग अलग-अलग दिखाई देते हैं, क्योंकि सभी पदार्थों के परमाणुओं का रंग अलग-अलग होता है। इन तत्त्वों के परमाणुओं के रंग, गति, बनावट और तत्त्वों के परमाणुओं के विषय में आपस में भिन्नता दिखाई दी थी, यही भिन्नता मैं लिख रहा हूँ।

सबसे पहले मैं तत्त्वों के रंग के विषय में लिख रहा हूँ। तत्त्वों का रंग बताने के लिए मैं भौतिक रंगों से तुलना कर रहा हूँ। भौतिक रंगों की अपेक्षा तत्त्वों के रंग विलक्षण होते हैं। पृथ्वी तत्त्व का रंग हल्का पीला होता है, जल तत्त्व का रंग हल्के सफेद रंग जैसा होता है, अग्नि तत्त्व का रंग लाल होता है, वायु तत्त्व का रंग धुएँ के बादल के रंग के समान होता है तथा आकाश तत्त्व का रंग रंगहीन अथवा सभी तत्त्वों के मिश्रित रंगों जैसा होता है।

अनुभव में पढ़ा होगा कि जब मैं आकाश तत्त्व का साक्षात्कार कर रहा था, तब आकाश तत्त्व में गति कर रहा था। गति करते समय कभी आगे की ओर झुकता था, कभी दाहिने ओर व बायीं ओर झुकता था अर्थात् तिरछा होकर गति कर रहा था। इसका कारण है– हर तत्त्व की गति अलग-अलग होती है। पृथ्वी तत्त्व की गति आगे की ओर अर्थात् सामने की ओर होती है, जल तत्त्व की गति नीचे की ओर होती है, इसलिए जल नीचे की ओर बहता है। अग्नि तत्त्व की गति ऊपर की ओर होती है, इसलिए अग्नि सदैव ऊपर की ओर जलती है। वायु की गति तिरछी होती है, इसलिए वायु सदा तिरछी चलती है। अनुभव में वायु तिरछी चल रही थी। आकाश तत्त्व की गति सभी तत्त्वों की मिश्रित गति होती है।

इसी प्रकार सभी तत्त्वों का स्वभाव भी अलग-अलग होता है। पृथ्वी तत्त्व का स्वभाव भारी होता है, जल तत्त्व का स्वभाव शीतल होता है, अग्नि तत्त्व का स्वभाव गरम होता है, वायु तत्त्व का स्वभाव चंचल होता है तथा आकाश तत्त्व का स्वभाव सभी तत्त्वों के स्वभावों का मिश्रित है।

तत्त्वों का साक्षात्कार करते समय इन तत्त्वों के परमाणुओं की बनावट में फर्क था। इन परमाणुओं की बनावट पर हमने ज्यादा गौर नहीं किया, फिर भी हमें जो याद आ रहा वह लिख रहा हूँ। पृथ्वी तत्त्व के परमाणुओं की बनावट चौकोर-सी थी, जल तत्त्व के परमाणुओं की बनावट अर्ध-चन्द्राकार थी, जैसे गोलाकार मूँगे को बीच से तोड़कर दो बराबर-बराबर एक जैसे टुकड़े कर दिए जाएँ। अग्नि तत्त्व के परमाणुओं की बनावट गोलाकार जैसी दिखाई दी थी। वायु तत्त्व के परमाणुओं की बनावट न तो

गोलाकार थी और न ही चौकोर थी। ऐसा लगता था जैसे इन दोनों की बनावट (चौकोर व गोलाकार) के बीच वाली बनावट थी, ऐसा समझो षटकोण के समान थी। आकाश तत्त्व के परमाणु की बनावट पानी की बूंद के समान थी। अनुभव में हमें आकाश तत्त्व का मात्र एक ही परमाणु दिखाई दिया था। इन तत्त्वों के साक्षात्कार के समय तत्त्व का स्वाद भी महसूस होता है। साधक समाधि के द्वारा जिस तत्त्व का साक्षात्कार कर रहा होता है, उस तत्त्व का प्रभाव साधक पर प्रधान रूप से होता है। साधक के अन्दर उस तत्त्व की प्रधानता के कारण उसका स्वाद उसकी जिह्वा पर सूक्ष्म रूप से महसूस होता है। जब मैं इन तत्त्वों का साक्षात्कार कर रहा था, उस समय हमने अलग-अलग स्वादों पर गौर नहीं किया, मगर हमें स्वाद अवश्य याद है। ये स्वाद थे– मीठा, कसैला, खट्टा और कड़वा। मुझे याद आ रहा है कि कसैला और कड़वा स्वाद अधिक समय तक बना रहा था।

अपरा-प्रकृति और परा-प्रकृति की संधि होना

यह अनुभव 30 मार्च को आया। मैं अत्यन्त प्रकाशित मार्ग में आगे की ओर चला जा रहा हूँ। यह मार्ग बहुत ही ऊँचाई पर स्थित है। ऐसा लग रहा है मानों यह मार्ग पहाड़ की चोटी पर बना है। मार्ग के बायीं ओर काफी बहुत नीचे समतल स्वच्छ प्रकाशित भूमि है। मैं पूर्व दिशा की ओर अपने मार्ग पर आगे की ओर चला जा रहा था, तभी हमें रुकना पड़ा। मैं अपने मार्ग पर आगे नहीं जा सकता था, क्योंकि आगे मार्ग ही नहीं था, सिर्फ अत्यन्त तेज प्रकाश विद्यमान था। उस प्रकाश में भूमि तथा आकाश दिखाई नहीं दे रहे थे। ऐसा लगता था जैसे सिर्फ प्रकाश ही प्रकाश है। मैं मार्ग की अन्तिम सीमा पर खड़ा था। हमारे पीछे की ओर से एक स्त्री ने बायीं ओर नीचे के लिए छलाँग लगा दी। मैंने उस स्त्री को नीचे गिरते हुए देखा। जैसे ही वह स्त्री भूमि पर गिरी, गिरते ही वह भूमि के अन्दर धसने (समाने) लगी। ऐसा लग रहा था जैसे भूमि ठोस नहीं है, बल्कि दलदल के समान है। मगर भूमि ठोस जैसी दिखाई दे रही है। कुछ क्षणों में वह स्त्री भूमि में समा (विलीन) गई।उस स्त्री के विलीन होते ही एक पुरूष ने हमारे पीछे से नीचे की ओर छलाँग लगा दी। वह पुरूष भी उसी स्थान पर गिरा जहाँ पर पहले वह स्त्री गिरी थी। वह पुरूष उस भूमि पर पानी के समान तैरने लगा। कुछ क्षणों में वह पुरूष भी उस भूमि के अन्दर समा गया। अब मैंने सामने की ओर देखा तो सामने प्रकाश ही प्रकाश भरा था। जब मैंने दाहिनी ओर को देखा तो दाहिनी ओर का दृश्य देखकर मैं चौंक पड़ा। नीचे की ओर विस्तृत क्षेत्र में (छोटा-सा तालाब जैसे क्षेत्र में) अत्यन्त स्वच्छ पानी भरा हुआ था। उस स्वच्छ पानी के अन्दर ऊपरी सतह पर शवासन मुद्रा में वही स्त्री गहरी निद्रा में

सोई हुई थी, जिसने कुछ क्षणों पहले बायीं ओर नीचे के लिए छलाँग लगाई थी, फिर भूमि में समा गई थी। वह बड़े आराम से शवासन मुद्रा में सो रही थी। उसके शरीर पर एक भी वस्त्र नहीं था। वह पूर्ण रूप से निर्वस्त्र थी। उसके खुले हुए लम्बे-लम्बे केश शरीर के नीचे तक फैले हुए थे। मैं उसके नग्न शरीर को टकटकी लगाकर देख रहा था। वह बहुत ही सुन्दर थी। उसका चेहरा (मुख) बिल्कुल शांत था। कुछ क्षणों तक उस स्त्री को निष्भाव से देखता रहा। उसका सिर पश्चिम दिशा की ओर तथापैर पूर्व दिशा की ओर थे। तभी हमारी दृष्टि स्वच्छ पानी में गहराई की ओर गई। पानी की गहराई में भी एक स्त्री शवासन मुद्रा में लेटी हुई थी। वह स्त्री धीरे-धीरे पानी की ऊपरी सतह पर आ रही थी। जैसे-जैसे वह पानी की ऊपरी सतह पर आ रही थी, उसके शरीर पर झटके से लग रहे थे। इस स्त्री का सिर पूर्व दिशा की ओर तथा पैर पश्चिम दिशा की ओर थे। यह स्त्री भी पूर्ण रूप से निर्वस्त्र थी तथा इसके शरीर पर भी एक भी वस्त्र नहीं था। मैं इस स्त्री को गौरपूर्वक देख रहा था तथा उसके चेहरे के भावों को पढ़ रहा था। ऐसा लग रहा था मानों वह अभी जाग जाएगी। जैसे-जैसे स्त्री ऊपरी सतह की ओर आ रही थी, उसके शरीर पर भी झटके जोर-जोर से तथा शीघ्र-शीघ्र लग रहे थे। वह कुछ क्षणों में पानी की ऊपरी सतह पर आ गई, मगर सम्पूर्ण शरीर पानी में डूबा हुआ था। पानी की ऊपरी सतह पर आते ही इस स्त्री के पैरों के तलवे पहले वाली स्त्री के पैरों के तलवों से चिपक गये, क्योंकि पहले वाली स्त्री का सिर पश्चिम दिशा की ओर था तथा पैर पूर्व दिशा की ओर थे। दूसरी स्त्री (जो पानी की गहराई से आई थी) का सिर पूर्व दिशा की ओर था और पैर पश्चिम दिशा की ओर थे। यह दृश्य बहुत ही आश्चर्यजनक था। दोनों स्त्रियों के पैरों के तलवे आपस में चिपक रहे थे। देखने में 180 अंश का कोण बना रही थी अर्थात् सीधी रेखा में लेटी हुई थीं। दोनों स्त्रियों का स्वरूप व शरीर बिल्कुल एक जैसा ही था। दोनों स्त्रियाँ पूर्व रूप से नग्न थी तथा सिर के खुले हुए बाल पीठ के नीचे तक थे। पहली वाली स्त्री गहरी निद्रा में सोई हुई थी तथा दूसरी स्त्री गहरी निद्रा से जाग रही थी। दोनों स्त्रियाँ अत्यन्त सुन्दर थी। उनकी सुन्दरता की बराबरी कोई स्त्री नहीं कर सकती है। मैं अपने मार्ग के अन्तिम सिरे पर खड़ा हुआ ऊपर से नीचे की ओर देख रहा था।

अर्थ– यह अनुभव अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमें अपरा-प्रकृति और परा-प्रकृति की संधि दिखाई गई है। दूसरे शब्दों में अपरा-प्रकृति और परा-प्रकृति का आलिंगन भी कहते हैं। जब तक साधक के अन्दर परा-प्रकृति का अवतरण नहीं होगा, तब तक अपरा-प्रकृति से छुटकारा मिलना पूर्ण रूप से असम्भव है। इसलिए अभ्यासी के अन्दर परा-प्रकृति का विकास होना आवश्यक है। इस विकास के लिए सबसे पहले परा-प्रकृति का संधि होना आवश्यक है। जब तक परा-प्रकृति की साधक की अपरा-प्रकृति से संधि नहीं होगी, तब तक उसके अन्दर परा-प्रकृति का विकास होना कैसे सम्भव हो सकता है? संसारी अर्थात्

अज्ञानी मनुष्यों के लिए परा-प्रकृति गहरी निद्रा में सोई हुई के समान है। इस अनुभव में परा-प्रकृति गहरी निद्रा से जागते हुए दिखाई दे रही है तथा गहराई से आकर अपरा-प्रकृति से संधि कर लेती है। उस समय अपरा-प्रकृति गहरी निद्रा में चली जाती है।

परा-प्रकृति का अवतरण साधक के अन्दर तभी होता है, जब वह ऋतम्भरा-प्रज्ञा के द्वारा पदार्थों के विशेष रूप का साक्षात्कार कर लेता है। तब साधक के लिए अपरा-प्रकृति व उससे बने पदार्थों से आसक्ति समाप्त होने लगती है, क्योंकि उसे अपरा-प्रकृति की वास्तविकता के विषय में ज्ञान हो जाता है। इसलिए अनुभव में अपरा-प्रकृति गहरी निद्रा में सोई हुई दिखाई दे रही है। मैं जिस मार्ग पर चला जा रहा हूँ, वह बहुत ऊँचाई पर है। अस्मिता का साक्षात्कार हो जाने के कारण सबसे ऊँचाई पर बना हुआ मार्ग दिखाई दे रहा है। मैं मार्ग की आखिरी सीमा पर खड़ा हूँ। यह चित्त की भूमि की आखिरी सीमा है। मैं सबीज समाधि की सबसे ऊँची सीमा पर अभ्यास कर रहा हूँ, इसलिए मार्ग की आखिरी सीमा पर खड़ा हूँ। पीछे की ओर से एक स्त्री ने बायीं ओर नीचे की ओर छलाँग लगा दी तथा भूमि के अन्दर अदृश्य हो गई- वह अपरा-प्रकृति है, जो हमारे लिए नष्ट हुए के समान हो गई। महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रकृति हमारे पीछे थी और मैं प्रकृति से आगे खड़ा था। स्त्री के बाद नीचे की ओर कूदने वाला पुरूष प्राकृतिक बन्धन है। सामने की ओर जो प्रकाश विद्यमान दिखाई दे रहा है, वह परा-प्रकृति का प्रकाश है। यह वृत्ति द्वारा दिखाया जा रहा है।

दाहिनी तरफ नीचे की ओर जो अत्यन्त स्वच्छ पानी भरा है, वह हमारे ही चित्त की सात्विक वृत्तियाँ हैं। अपरा-प्रकृति (स्त्री) बायीं ओर भूमि में विलीन हो गई थी। कुछ क्षणों बाद दाहिनी ओर स्वच्छ पानी में ऊपरी सतह पर पानी में डूबी हुई गहरी निद्रा में दिखाई दे रही थी– अपरा-प्रकृति हमारे लिए सोई हुई के समान हो गई। उसका सिर पश्चिम दिशा की ओर था। यह प्रकृति नीचे की ओर प्रवाह वाली आर्थात् निम्नमुखी होती है। सृष्टि उन्मुख होने के कारण जीव के भोग के लिए प्रस्तुत रहती है, इसलिए यह प्रकृति जीव को भ्रमित किए रहती है। स्त्री पूर्ण रूप से नग्न है अर्थात् मैं विकारों से रहित हूँ। इसलिए वह स्त्री (अपरा-प्रकृति) नग्न दिखाई दे रही थी। जब तक साधक के विकार उसके चित्त से पूर्ण रूप से नष्ट नहीं हो जाते हैं, तब तक उसके लिए अपरा-प्रकृति बनी रहेगी। साधक का विकारों से रहित होना आवश्यक है, तभी उसका चित्त अत्यन्त शुद्ध होता है। चित्त के अत्यन्त शुद्ध होने पर अपरा-प्रकृति उसके लिए नष्ट हुए के समान हो जाएगी, तब जीव का जीवत्व नष्ट हो जाएगा तथा जीवात्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाएगी।

अनुभव में पानी की गहराई से ऊपर की ओर एक स्त्री धीरे-धीरे चली आ रही है। वह भी शवासन मुद्रा में लेटी है। उसका सिर पूर्व की ओर है तथा पैर पश्चिम की ओर हैं। यह स्त्री परा-प्रकृति है जो अभी तक हमारे लिए गहरी निद्रा में सोई हुई के समान थी। मगर अब अपरा-प्रकृति जीव के लिए भोग देने का कार्य पूर्ण करके स्वयं शांत हो गई है। इसलिए जीव के लिए परा-प्रकृति का विकास होने का समय आ गया है। इसी कारण परा-प्रकृति ऊपर की ओर आती हुई दिखाई दे रही है, उसके शरीर में झटके भी लग रहे हैं। इससे वह जीव के लिए जाग्रत अवस्था में आ जाएगी, तभी परा-प्रकृति का विकास जीव के लिए होगा। जीव के लिए परा-प्रकृति निष्प्रयोजन है, उसमें किसी प्रकार का परिणाम नहीं होता है। वह साम्यावस्था में तथा उर्ध्वमुखी रहती है। अनुभव में उसका सिर पूर्व दिशा की ओर है, जबकि अपरा-प्रकृति (स्त्री) का सिर पश्चिम दिशा की ओर है। दोनों प्रकृतियों का प्रवाह आपस में विरोधी है। अपरा-प्रकृति निम्नमुखी व सृष्टि उन्मुखी है तथा जीव को भ्रम में डाले रखती थी। यह अविद्या से युक्त है, जबकि परा-प्रकृति उर्ध्वमुखी व कैवल्य उन्मुख है तथा जीवात्मा को सदैव ज्ञान से युक्त बनाए रखती है। वह ज्ञान स्वरूप वाली है।

वह गहरे पानी से जैसे-जैसे ऊपर की ओर आती जा रही थी, वैसे-वैसे उसके शरीर में ज्यादा जोर से तथा शीघ्रता से झटके लग रहे थे। कुछ क्षणों में वह स्त्री पानी की ऊपरी सतह पर आ गई, मगर उसका शरीर पानी में डूबा रहा। ऊपर आते ही स्त्री के पैरों के तलवे पहले वाली स्त्री के पैरों के तलवों से अपने आप चिपक गये। अब दोनों स्त्रियाँ एक सीध में (180 अंश के कोण में) ऊपर की ओर मुँह किए हुए शवासन मुद्रा में लेटी थी। दोनों स्त्रियाँ पूर्ण रूप से नग्न थी, सिर के बाल खुले हुए पीठ के नीचे थे तथा दोनों का स्वरूप एक समान था। फर्क सिर्फ इतना था कि एक स्त्री का सिर पूर्व दिशा की ओर था तथा दूसरी स्त्री (अपरा-प्रकृति) का सिर पश्चिम दिशा की ओर था तथा गहरी निद्रा में सो रही थी। मगर पूर्व दिशा की ओर सिर किए (परा-प्रकृति) स्त्री के चेहरे का भाव ऐसा था मानों अभी जाग जाएगी। परा-प्रकृति से ही अंशरूप में अपरा-प्रकृति का प्राकट्य (प्रकट होना) हुआ है। इसलिए दोनों का स्वरूप एक जैसा है, मगर स्वभाव में भिन्नता है। परा-प्रकृति का सिर प्रकाश की ओर (पूर्व दिशा) है तथा अपरा-प्रकृति का सिर पश्चिम की ओर (जिधर से मैं आया हूँ) है।

प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि अविद्या से युक्त माया रूपी अपरा-प्रकृति के निम्नगामी प्रवाह को योग के अभ्यास द्वारा रोक दे तथा अपरा-प्रकृति को (चित्त को) शुद्ध बना दे, तभी परा-प्रकृति से इसकी संधि हो सकेगी। परा-प्रकृति से संधि होना अनिवार्य है। जब तक परा-प्रकृति से संधि नहीं होगी, तब तक

जीवात्मा के लिए कैवल्य का मार्ग प्रशस्त नहीं होगा, क्योंकि अपरा-प्रकृति का प्रवाह जीव के भोग के लिए है। यह भोग कैवल्य के विरोधी हैं। इसलिए अपरा-प्रकृति के प्रवाह को रोक देना आवश्यक है, तब साधक को अपना चित्त उर्ध्वमुखी बनाने का प्रयास करना चाहिए। जब उसका सम्बन्ध परा-प्रकृति से हो जाएगा, तब चित्त का प्रवाह कैवल्य की ओर जाता है।

अपरा-प्रकृति किसी भी तरह से हम सभी की माता नहीं हो सकती है, क्योंकि माता उसे कहते हैं जो बच्चे का (पुत्र का) पालन-पोषण करे, उसे सदमार्ग पर ले जाए तथा पुत्र को उसके पिता से मिलवा दे। मगर यह प्रकृति सदैव भ्रम में डाले रखती है तथा जन्म, आयु और मृत्यु के चक्र में फंसाये रखती है। यह परिणामिनी व नश्वर है। इस प्रकृति को माता समझना हम सभी की बहुत बड़ी भूल है। जब किसी जीवात्मा का सम्बन्ध परा-प्रकृति से हो जाता है, तब उसका कभी पतन नहीं होता, क्योंकि उसका प्रवाह कैवल्य उन्मुख अर्थात् उर्ध्वमुखी रहता है। परा-प्रकृति में किसी प्रकार का परिणाम नहीं होता है। वह साम्यावस्था वाली है, इसलिए यही प्रकृति हम सभी की वास्तविक माता है। अपरा-प्रकृति परा-प्रकृति की अंश मात्र है। साधक जब अपरा-प्रकृति के वास्तविक स्वरूप को जान लेता है, तब उसके प्रति तथा उससे बने पदार्थों के प्रति आसक्ति समाप्त हो जाती है। आसक्ति समाप्त होने पर अविद्या भी नष्ट हो जाती है, तब अपरा-प्रकृति उस जीवात्मा के लिए नष्ट हुए के समान हो जाती है। साधक के चित्त में संसार के लिए सम्पूर्ण विकार समाप्त हो जाते हैं। विकार समाप्त होने के कारण अपरा-प्रकृति निर्वस्त्र दिखाई दे रही है। परा-प्रकृति जीवात्मा के लिए निष्प्रयोजन है, उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं हो सकता है, इसलिए यह प्रकृति भी निर्वस्त्र दिखाई दे रही है। इस संसार की सभी शक्ति स्वरूपा देवियाँ परा-प्रकृति की अंश मात्र ही हैं। मूल प्रकृति (परा-प्रकृति) का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वह अनुमानगम्य है। यह अनुभव वृत्तियों के द्वारा दिखाया गया है।

शिवलिंग रूपी ब्रह्माण्ड

यह अनुभव 2 अप्रैल को आया। मैं अपने सामने शिवलिंग को देख रहा हूँ। कुछ क्षणों में शिवलिंग का स्वरूप छोटे से घड़े के रूप में परिवर्तित होने लगा। शिवलिंग का निचला सिरा घड़े के मुँह के आकार जैसा दिखाई देने लगा। घड़े के मुँह के आसपास काले रंग के कण फैले थे। इन कणों के द्वारा घड़े का मुँह ढका हुआ था। ये काले कण एक तरफ से अदृश्य होते जा रहे थे और घड़े का मुँह खुलता जा रहा था। कुछ क्षणों बाद काले रंग के कण अदृश्य हो गये तथा घड़े का मुँह खुल गया।

अर्थ– शिवलिंग उल्टे घड़े के रूप में परिवर्तित हो गया। यह उल्टा घड़ा जिसका मुँह नीचे की ओर है, अपरा-प्रकृति का स्वरूप है। अपरा-प्रकृति का प्रवाह नीचे की ओर होता है। घड़े का मुँह भी नीचे की ओर ही है। शिवलिंग के स्वरूप को अनुभव में दिखाया गया है। शिव का अर्थ होता है– 'कल्याणकारी देवता' तथा लिंग का अर्थ है- 'चिन्ह अथवा व्यक्त।' ऐसा कल्याणकारी देवता (ईश्वर) जिसके व्यक्त रूप में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड (अपरा-प्रकृति) समाया हुआ है अथवा सूक्ष्म रूप से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। चित्त का स्वरूप भी उल्टे घड़े के रूप में दिखाई देता है। साधक का जब ब्रह्मरन्ध्र खुलने वाला होता है, तब उसे सिर के ऊपरी भाग में उल्टा घड़ा दिखाई देता है अर्थात् साधक के चित्त (प्रकृति) का प्रवाह संसार की ओर रहता है। दूसरे शब्दों में सूक्ष्म शरीर भी उल्टे घड़े के रूप में दिखाई देता है। इसी सूक्ष्म शरीर में साधक के कर्माशय स्थित रहते हैं। जब चित्त का स्वरूप नष्ट हो जाता है, तब यह घड़ा फोड़ दिया जाता है। इसके फोड़ने का कार्य स्वयं सगुण ब्रह्म (ईश्वर) द्वारा होता है, तब साधक की जीवन्मुक्त अवस्था की शुरूआत होती है। इस अनुभव में दिखाया गया है कि शिवलिंग अपरा-प्रकृति का ही दूसरा स्वरूप है। अपरा-प्रकृति शिवलिंग के समान पिण्डाकार होती है, इसी अपरा-प्रकृति के अन्दर जीव का चित्त अपरा-प्रकृति के स्वरूप जैसा विद्यमान रहता है। घड़े के मुँह के आसपास काले कण रखे हैं। यह कण घड़े का मुँह ढके हुए हैं। काले कण तमोगुण हैं। अब तमोगुण समाप्त हो गया है अर्थात् घड़े के मुँह के आसपास का बाहरी क्षेत्र स्वच्छ हो गया है अर्थात् चित्त पर स्थित तम रूपी मल अब नष्ट हो जाने के कारण उसका मुँह खुल गया है। सांसारिक अज्ञानता नष्ट हो गई है और चित्त पर ज्ञान का प्रकाश फैल गया है। अब इस घड़े का मुँह ऊपर की ओर हो जाना चाहिए अर्थात् चित्त उर्ध्वमुखी होना चाहिए। उर्ध्वमुखी होने का अर्थ होता है- कैवल्य उन्मुख होना।

10 अप्रैल को सुबह ध्यानावस्था में दूध के सामान्य व विशेष रूप का साक्षात्कार हुआ। जब विशेष रूप का साक्षात्कार हुआ, तब दूध के अन्दर स्थित बैक्टीरिया दिखाई दिए थे। अनुभव आने के कुछ दिनों बाद तक मैंने दूध नहीं पिया, क्योंकि उसके वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार हुआ था।

ऊपर लिखे अनुभव के बाद अनुभव आया कि मैं गोलाकार पहाड़ी की चोटी पर सहजासन मुद्रा में बैठा हुआ हँस कर कह रहा हूँ कि अब मैं मास्टर बन गया हूँ। द्रष्टा के रूप में मैं दूर से सारा दृश्य देख रहा हूँ तथा सोचा कि यह ऐसा क्यों कह रहा है कि मैं मास्टर बन गया हूँ। तभी ज्ञान ने बताया कि अपरा-प्रकृति के विषय में इसे ज्ञान हो गया है, इसलिए ऐसा कह रहा है। इस अनुभव में हमारे दो रूप हैं, एक द्रष्टा के रूप में और दूसरा पहाड़ की छोटी पर सहजासन मुद्रा में बैठा हुआ है।

11 अप्रैल को ऋतम्भरा-प्रज्ञा का साक्षात्कार हुआ। मैं पाठकों को बताना चाहता हूँ कि अगर ऋतम्भरा-प्रज्ञा के साक्षात्कार के समय अभ्यासी और प्रज्ञा के बीच पेड़ अथवा मकान आ जाएँ अथवा बादल आदि आ जाएँ तो समझ लेना चाहिए कि उसके अभ्यास में अथवा जीवन में सांसारिक अवरोध आ गया है, इसलिए सतर्क रहें।

इस अवस्था में साधक की इन्द्रियों से लेकर अहंकार तक शुद्ध हो जाते हैं अर्थात् इनके अन्दर स्थित तमोगुण व रजोगुण का मैल धुल जाता है, फिर स्वच्छ हो जाने के कारण प्रकाशित हो जाते हैं। इन्द्रियाँ आदि साधक के अनुसार ही कार्य करती हैं, क्योंकि वह ज्ञान से युक्त हो जाती हैं। इन सभी का अनुभव साधक को आता है। मुझे भी अनुभव आए मगर लेख का स्वरूप ज्यादा बड़ा न हो जाए, इसलिए यह अनुभव नहीं लिख रहा हूँ।

मैं अपरा-प्रकृति को खा गया

यह अनुभव 26 मई को आया। मैं किसी स्थान पर बैठा हूँ। हमारे सामने एक थाली जैसा पात्र प्रकट हो गया। उस पात्र में नवजात शिशु (बच्चा) मृत अवस्था में लेटा हुआ था, वह नवजात शिशु लड़की थी। उसके शरीर पर वस्त्र नहीं थे। ऐसा लगता था मानों उसे भाप से हल्का-सा उबाल दिया गया हो। पात्र में एक चम्मच भी रखा था। जब मैंने उस चम्मच को उठाकर उस लड़की के शरीर से लगाया तभी उस लड़की का शरीर अपने आप फट कर पात्र के अन्दर बिखर गया। लड़की के शरीर के अन्दर माँस, हड्डी आदि कुछ भी न था। पात्र में बिखरे पदार्थ से ऐसा लगता था मानों इस सुन्दर लड़की का शरीर आटे जैसे पदार्थ का बना था, मगर उसका शरीर बाहर की ओर से देखने पर सामान्य सांसारिक लड़कियों के समान था। पात्र में बिखरे हुए पदार्थ से स्पष्ट हो रहा था कि इस लड़की के शरीर का निर्माण विशेष प्रकार के पदार्थों से हुआ है। चम्मच के द्वारा मैं उस लड़की के शरीर (बिखरे पदार्थ को) खाने लगा, परन्तु जैसे ही मैं चम्मच से उस पदार्थ को मुँह तक ले जाता, मुँह से थोड़ी दूर पहले ही चम्मच में रखा पदार्थ अदृश्य हो जाता। मगर मुझे लगता था कि मैं इस पदार्थ को खा रहा हूँ। मात्र कुछ क्षणों में मैं उस नवजात शिशु (लड़की) को खा गया। तभी उस पात्र में एक गोलाकार पिण्ड प्रकट हो गया। पिण्ड का आकार बड़े लड्डू के समान था। तब मैंने उसी चम्मच को उस पिण्ड में चुभो दिया। यह पिण्ड भी अपने आप थालीनुमा पात्र में बिखर गया। बिखरा हुआ पदार्थ बिल्कुल वैसा ही था जैसा लड़की के शरीर का पदार्थ था। मैं पिण्ड को भी क्षण भर में ही खा गया। चम्मच मुँह तक ले जाते ही चम्मच में रखा पदार्थ अदृश्य हो

जाता था। लड़की के शरीर का स्वाद तथा पिण्ड का स्वाद बिल्कुल एक जैसा था। इन दोनों में किसी प्रकार का स्वाद नहीं था, बल्कि वह पदार्थ स्वाद से रहित था।

अर्थ– मुझे इस अनुभव का अर्थ जानने के लिए समाधि का सहारा लेना पड़ा। वह नवजात शिशु (बच्चा) तथा पिण्ड अपरा-प्रकृति का स्वरूप था। अपरा-प्रकृति दो स्वरूपों में होती है, **एक**– स्त्री रूप में तथा **दूसरा**– पिण्ड रूप में। मैं अपरा-प्रकृति के दोनों स्वरूपों को खा गया, इसलिए उस लड़की के शरीर के अन्दर किसी प्रकार के अंग नहीं थे। वह सिर्फ पाँचों तत्त्वों का मिश्रण था। वही पाँचों तत्त्वों का मिश्रण पिण्ड रुप में था, इसलिए स्वाद से रहित था। स्वाद स्थूल पदार्थों में होता है। उन दोनों में अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थों का मिश्रण था, इसलिए चम्मच मुँह तक जाते ही पदार्थ अदृश्य हो जाता था, सिर्फ भासित होता था कि मैं कुछ खा रहा हूँ। मैंने ज्ञान से पूछा– अनुभव में नवजात शिशु तथा पिण्ड खाने का अर्थ क्या है? ज्ञान ने बताया– वह लड़की अपरा-प्रकृति है, उसे खाने के बाद वही पिण्ड रूप में प्रकट हो गई, उसे भी आप ने खा लिया। यह पिण्ड ब्रह्माण्ड रूपी पिण्ड है, इसमें चौदह लोक स्थित हैं। खाने का अर्थ है– अपरा-प्रकृति को आपने अपने अन्दर लीन कर लिया है। आप इस प्रकृति से परे हो गये हैं तथा इस प्रकृति पर विजय प्राप्त कर ली है। अभी आपकी यह अवस्था नहीं है, कुछ दिनों बाद यह अवस्था प्राप्त हो जाएगी। पिछले अनुभव में प्रकृति गहरी निद्रा में दिखाई दे रही थी। इस अनुभव में वह मरी हुई बच्ची के समान है अर्थात् अब यह अपरा-प्रकृति हमारे लिए नष्ट हुए के समान हो गई है। अब प्रश्न उठता है कि क्या साधक के अन्दर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड स्थित हो सकता है? उत्तर है– 'हाँ'। जब ऋतम्भरा-प्रज्ञा द्वारा प्रकृति पर्यन्त सभी पदार्थों का साक्षात्कार हो जाता है, तब प्रकृति की वास्तविकता का ज्ञान हो जाता है। उस समय ज्ञान के प्रकाश में ज्ञेय वस्तु अल्प हो जाती है तथा जीवात्मा के ज्ञान का प्रकाश अपरा-प्रकृति की सीमाओं से अधिक हो जाता हैं अर्थात् ज्ञान के प्रकाश के अन्दर अपरा-प्रकृति का क्षेत्र छोटा-सा रह जाता है। फिर अभ्यासी सम्पूर्ण अपरा-प्रकृति को अपने ही अन्दर देखता है। जैसा की अनुभव में दिखाई दिया, हमने सम्पूर्ण अपरा-प्रकृति अपने अन्दर समेट ली अर्थात् खा लिया। साधक अभ्यास के द्वारा अपने चित्त को इतना व्यापक बना लेते हैं कि अपरा-प्रकृति को अपने अन्दर ही समेट लेते हैं अर्थात् चित्त को अपरा-प्रकृति से अधिक व्यापक कर लेते हैं। ऐसा वृत्तियों के द्वारा होता है।

विवेक-ख्याति

यह अनुभव 27 अगस्त को आया। मैं नीचे की ओर देख रहा था। काफी नीचे की ओर से एक घड़ा ऊपर की ओर आता हुआ दिखाई दिया। मैं उस घड़े को ऊपर की ओर (अपनी ओर) आते हुए गौरपूर्वक देख रहा था। घड़ा जब ऊपर की ओर आ रहा था तो उस घड़े का मुँह ऊपर की ओर देखकर मैं प्रसन्न हो रहा था। जब घड़ा थोड़ा ऊपर हमारे नजदीक आया, तब हमें घड़े के अन्दर का सम्पूर्ण भाग दिखाई देने लगा। वह घड़ा पूर्ण रूप से खाली तथा अन्दर से बिल्कुल स्वच्छ था। घड़ा अन्दर व बाहर से पूरी तरह पानी से गीला था। ऐसा लग रहा था मानों पानी में डूबकर आया हो। मैं घड़े के अन्दर देख ही रहा था कि तभी मैं अचानक बोला, "मैं कौन हूँ"? उसी समय मैंने अनुभूति की कि मेरे मुँह, हाथ, पैर, आँखें आदि नहीं हैं। हमारा किसी प्रकार का शरीर भी नहीं है। सम्पूर्ण आसमान हमारा शरीर है, ऐसा अनुभूत हो रहा था। सम्पूर्ण आसमान जो ऊपर की ओर उठा हुआ है, वह मेरा शरीर है। निचला दृश्य (घड़ा) मैं नहीं हूँ। मैं अत्यन्त विस्तृत आकार में फैले आसमान के किसी भी स्थान से देख सकता था, किसी भी स्थान से बोल सकता था, मगर मैं अपने आपको (आकाश रूपी शरीर को) देख नहीं पा रहा था। ऐसा लग रहा था जैसे मैं ऊपर की ओर फैला हुआ सम्पूर्ण आकाश हूँ। हमारी दृष्टि फिर घड़े पर स्थिर हो गई, घड़ा अब भी हमारी ओर धीरे-धीरे चला आ रहा था।

अर्थ– इस अनुभव में आत्मा और चित्त की भिन्नता का ज्ञान कराया गया है। घड़ा चित्त का स्वरूप है। घड़े का मुँह ऊपर की ओर है तथा घड़ा ऊपर की ओर आ रहा है। चित्त उर्ध्वमुखी हो गया है अर्थात् चित्त का प्रवाह कैवल्य उन्मुख हो गया है। पिछले अनुभव में (2 अप्रैल 2001) घड़े का मुँह नीचे की ओर था। उस समय चित्त का प्रवाह निम्नमुखी था अर्थात् सृष्टि उन्मुख था। अब इस घड़े का मुँह ऊपर की ओर हो गया है अर्थात् कैवल्य उन्मुख हो गया है। अनुभव में आकाश को मैं अपना स्वरूप मानता हूँ। सच तो यह है कि वह आकाश नहीं, बल्कि चेतन स्वरूप आत्मा है, क्योंकि उस समय मैं अनुभूति करता हूँ कि मैं किसी भी स्थान से देख सकता हूँ, किसी भी स्थान से बोल सकता हूँ। यह गुण सिर्फ चेतन आत्मा में होता है, जड़ आकाश तत्त्व में नहीं होता। इसका मतलब यह हुआ कि अनुभव में मैं आत्मा में स्थित था तथा घड़े के रूप में चित्त को अपने से अलग देख रहा था। मैं चित्त (दृश्य घड़ा) नहीं हूँ। अनुभव में आत्मा और चित्त की भिन्नता का ज्ञान दिखाया गया तथा अभी तक जो अपने आपको शरीर, इन्द्रियाँ, तन्मात्रा, अहंकार तथा चित्त मानता था, वास्तव में वह मेरा भ्रम था। ऐसा अविद्या और माया के कारण था। अब आत्मा और चित्त की भिन्नता का ज्ञान हो जाने पर ज्ञात हो गया तथा अनुभूति भी हुई कि मैं चेतन तत्त्व

(आत्मा) हूँ, जड़ तत्त्व नहीं हूँ। संसारी मनुष्य अज्ञानता के कारण अपने को शरीर आदि मानते हैं, ऐसा अस्मिता के द्वारा होता है। विवेक-ख्याति के पहले आत्मा अज्ञानता के कारण चित्ताकार जैसी दिखती है, मगर विवेक-ख्याति के बाद चित्त आत्माकार हो जाता है। (विवेक-ख्याति के विषय में विवेक-ख्याति वाला पाठ पढ़िए)।

चित्त का ईश्वर के चित्त में अन्तर्मुखी होना

यह अनुभव 18 सितम्बर को आया। एक घड़ा प्रकाश पुंज के ऊपर रखा है। घड़े का मुँह ऊपर की ओर है। उसके मुँह के आसपास भी प्रकाश है, जिसके कारण उस घड़े का मुँह चमक रहा है। ऐसा लगता है मानों यह घड़ा स्थूल पदार्थ से नहीं, बल्कि किसी अच्छे पदार्थ से निर्मित है। फिर घड़े के आसपास का क्षेत्र दिखाई देने लगा। मेरा कोई स्वरूप नहीं है। मैं अपने आप को ऊपर की ओर आकाश में व्यापक रूप में अनुभूति कर रहा हूँ। ऐसा लगता है मानों सम्पूर्ण आकाश मेरा स्वरूप है। हमारी दृष्टि घड़े की ओर गई तो दिखाई दिया कि घड़ा बहुत बड़ी गुफ़ा के अन्दर की ओर मुहाने पर रखा है। गुफ़ा के अन्दर का दृश्य दिखाई नहीं दिया, गुफ़ा के अन्दर प्रकाश है।

अर्थ– मैं पहले अनुभव में लिख चुका हूँ कि घड़ा चित्त का स्वरूप है। इस गुफ़ा को हृदय गुफ़ा कहते हैं। इस गुफ़ा के विषय में शास्त्रों व उपनिषदों में बहुत वर्णन किया गया है। इस गुफ़ा में चैतन्य पुरूष रहता है अर्थात् इसका सम्बन्ध ईश्वर तथा परा-प्रकृति से है। जिस साधक का चित्त इस गुफ़ा में अन्तर्मुखी हो जाता है, वह साधक निश्चय ही अभ्यासानुसार सगुण ब्रह्म का दर्शन करता है। साधक इसी अवस्था से जीवन्मुक्त कहा जाने लगता है, मगर अभी वास्तविक जीवन्मुक्त अवस्था नहीं आई है, अभी तो केवल शुरूआत हुई है। अभी उसे बहुत लम्बा सफर तय करना है। 27 अगस्त की अपेक्षा इस अनुभव में चित्त की शुद्धता बहुत ज्यादा हो गई है। कहा जाता है कि अंतःकरण में ईश्वर रहता है। अनुभव में घड़ा हृदय गुफ़ा में उर्ध्वमुखी हुआ रखा है अर्थात् चित्त उर्ध्वमुखी होकर, अज्ञानता को त्यागकर तथा ज्ञान से युक्त होकर ईश्वर की ओर उन्मुख हो गया है।

मृत्यु से साक्षात्कार

अक्तूबर माह का प्रथम सप्ताह था। मैं अपने बिस्तर पर बीमारी के कारण लेटा हुआ था। रात्रि के 10 बजे का समय था। मैं अभी जाग ही रहा था कि तभी हमारी आँखें अपने आप बन्द हो गई। मैंने देखा कि हमारे शरीर से एक सांवली सी स्त्री निकल कर हमसे कुछ दूरी पर खड़ी हो गई। मैं चौंका कि यह स्त्री कौन है? वह स्त्री बोली, "योगी! मैं मृत्यु हूँ"। जैसे ही मृत्यु का नाम उस स्त्री के मुँह से सुना तो मैं मुस्कुराया और अपने दोनों हाथ जोड़कर उस स्त्री से कहा, "माते! अगर हमारा स्थूल शरीर त्यागने का समय आ चुका है, तो मैं तैयार हूँ। हमें आप अपने प्रभाव में ले लीजिए।" वह स्त्री थोड़े से क्रोध व रुखे भाव से बोली, "योगी! मैं तुम्हारी माता नहीं, बल्कि दासी हूँ, बिना आपकी इच्छा के मैं आपको स्पर्श नहीं करुँगी।" मैं बोला, "माते! मेरे द्वारा माते कहे जाने पर नाराजगी क्यों है? मेरे लिए तो समस्त स्त्री जाति माता ही है, फिर आप तो हमारी क्या समस्त चौदह लोकों के प्राणियों की माता हैं। जब आप रौद्र रूप धारण करती हैं तो चौदह लोक आपके आंचल में समा जाते हैं।" मगर अबकी बार वह स्त्री कुछ नहीं बोली, बल्कि मुस्करा कर बड़ी-बड़ी आँखें दिखाने लगी। उस स्त्री की इस भावना में प्यार भी था और आँखें दिखाने का अर्थ हल्की-सी नाराजगी भी था। तभी उस स्त्री का स्वरूप अपने आप बदलने लगा। कुछ क्षणों में डरावनी, रौद्र व विकृत रूप वाली हो गई। मैंने पूछा, "माते! आपने अपना स्वरूप बदल क्यों लिया?" वह स्त्री बोली, "इस रूप से कुछ कार्य करने हैं, तुम्हें तो हमारा कार्य मालूम ही है।" मैं बोला, "माते! आपको रूप बदलने की क्या आवश्यकता है?" वह स्त्री बोली, "योगी, जिस प्राणी की मृत्यु जिस प्रकार से होनी होती है, मैं वैसा ही स्वरूप उसके लिए धारण कर लेती हूँ।" मैं बोला, "माते! एक बात पूछूँ, आपका यह विकराल रूप किस क्षेत्र में प्रलय मचाएगा?" मेरे यह कहते ही मेरे सामने पृथ्वी गोल-गोल घूमने लगी। कुछ क्षणों में पृथ्वी का घूमना बन्द हो गया। अब मुझे अपने सामने पहाड़ियों से युक्त भू-भाग दिखाई देने लगा। उस भू-भाग को देखकर मैं बोल पड़ा कि यह तो अफगानिस्तान देश का भू-भाग है। मैं समझ गया कि इस देश के बहुत से मनुष्यों की जाने (मृत्यु) जाएँगी। मैंने कहा, "माते!" परन्तु उसी समय वह स्त्री हमारी बात काटती हुई रूखे भाव से बोली, "योगी! अब आगे प्रश्न न करना, तुम ज्ञानी हो मुझे मालूम है। तुम्हारे प्रश्न का उत्तर है– पाप जब अपनी सीमा से अधिक बढ़ने लगता है, तब किसी-न-किसी रूप में पुण्य प्रकट होने का समय आ जाता है।" अच्छा मैं चलती हूँ, इतना कहते ही वह डरावनी आकृति (स्वरूप) वाली स्त्री अदृश्य हो गई।

अर्थ– इस अनुभव के समय मैं बहुत बीमार था, इसलिए लेटा हुआ था। अनुभव में मृत्यु स्त्री रूप में दिखाई दे रही थी। इसका यह अर्थ नहीं है कि मृत्यु का स्वरूप स्त्री रूप में है। इसलिए मृत्यु ने बताया– जिस प्राणी की मृत्यु जिस प्रकार से होनी होती है, मैं उस प्राणी के लिए वैसा ही स्वरूप धारण कर लेती हूँ। प्रकृति के नियम के अनुसार जन्म लेने से पूर्व ही प्राणी की मृत्यु निश्चित हो जाती है। इसलिए मृत्यु के संस्कार उस प्राणी के चित्त पर स्थित रहते हैं तथा उचित समय आने पर मृत्यु के संस्कार प्रधान रूप से प्रकट हो जाते हैं, फिर प्राणी की मृत्यु हो जाती है। प्राणी की मृत्यु उसी तरह से होगी जिस प्रकार के संस्कार उसके चित्त पर विद्यमान रहते हैं। अनुभव में जब मैंने माते कहा, तब मृत्यु देवी नाराज हो गई और बोली कि मैं तुम्हारी माता नहीं बल्कि दासी हूँ। प्रिय पाठकों! उस स्त्री ने सत्य ही कहा था, क्योंकि मृत्यु उसे आती है जिस प्राणी की जीवात्मा जन्म, आयु, मृत्यु के चक्र के बन्धन में बंधी होती है। जिस जीवात्मा ने अपने वास्तविक स्वरूप को जान लिया है, उसका मृत्यु से क्या लेना देना है। यह अवस्था विवेक-ख्याति के बाद आती है, क्योंकि अभ्यासी को चित्त और आत्मा की भिन्नता का ज्ञान हो जाता है तथा वह अपने स्थूल शरीर का त्याग कर देता है। ऐसा साधक मृत्यु को अपने अधिकार में रखता है अर्थात् वह मृत्यु से परे हो जाता है। इसीलिए मृत्यु देवी अनुभव में मुझसे दासी शब्द का प्रयोग कर रही थी। मृत्यु अज्ञानियों की होती है। उन्हें प्राणी भी कहा जाता है, क्योंकि वे प्राण के सहारे जिन्दा रहते हैं। ज्ञानियों की मृत्यु नहीं होती है, वह अपने वास्तविक स्वरूप में (आत्मा में) अवस्थित रहते हैं। उनका सिर्फ संस्कारों के वेग से शरीर सधा रहता है। वेग समाप्त होने पर शरीर शांत हो जाता है अर्थात् उसका सम्बन्ध शरीर से अलग हो जाता है। मुझे अपना स्थूल शरीर त्यागने का समय अच्छी तरह से ज्ञात है, मैं अभी कुछ वर्ष तक इस स्थूल शरीर में और रहूँगा।

स्थूल शरीर बेकार हो चुका है

यह अनुभव 10 अक्टुबर का है। मैं ईश्वर का चिंतन कर रहा था। उसी समय हमारी आँखें बन्द हो गई। मैंने देखा कि घास-फूस का बना हुआ एक पुराना छप्पर है। यह छप्पर पूरी तरह से सड़ चुका है। हवा भी काफी तेज चल रही है, तेज हवा के कारण छप्पर का सड़ा हुआ घास-फूस छप्पर से निकलकर हवा में उड़ रहा है, जिसके कारण छप्पर कई जगह से बिल्कुल नष्ट हो चुका है। बार-बार छप्पर में हवा के तेज झोंके लग रहे हैं तथा छप्पर का घास-फूस हवा के झोंकों के साथ उड़ जाता है। मैं यही क्रिया देख रहा हूँ। उसी समय मैंने देखा कि जिस-जिस स्थान से छप्पर का घास-फूस ज्यादा उड़ गया है, उसी स्थान से छप्पर

के अन्दर बहुत तेज प्रकाश दिखाई दे रहा है। उस तेज प्रकाश से स्पष्ट समझ में आ रहा है कि छप्पर के अन्दर अत्यन्त तेजस्वी प्रकाश भरा है। यह दृश्य देखकर मैं आश्चर्यचकित हो गया और बोला, "यह कैसा छप्पर है, इसके अन्दर तो अत्यन्त तेजस्वी प्रकाश भरा है"। उस छप्पर के अन्दर स्थित तेजस्वी प्रकाश से आवाज आई, "योगी तुम्हारा स्थूल शरीर इस छप्पर के समान बिल्कुल बेकार हो चुका है, तुम इसे बहुत ज्यादा दिन तक धारण नहीं कर सकते हो"।

अर्थ– छप्पर शरीर है। इसी प्रकार यदि साधक को अनुभव में झोपड़ी दिखाई दे तब उसे उसका अर्थ शरीर से लेकर चित्त तक लगाना चाहिए। अनुभव में छप्पर हमारा शरीर है। अन्दर का प्रकाश अर्थात् रज और तम से रहित सत्त्वगुण से प्रकाशित (ज्ञान स्वरूप) हो रहा है। अज्ञानता नष्ट होने पर सर्वत्र ज्ञान का प्रकाश फैल जाता है। भौतिक दृष्टि से देखने पर योगी का शरीर माँस व हड्डियों का बना दिखाई देता है। भौतिक नेत्र ज्ञान के प्रकाश को देख नहीं पाता हैं। योगी पुरूष को जानने के लिए दिव्य दृष्टि का होना आवश्यक है।

तुम्हें प्रकृति के कुछ कार्य करने हैं

अक्तूबर के दूसरे सप्ताह में यह अनुभव आया। मैं अंतरिक्ष में लेटा हुआ हूँ। मेरे शरीर की लम्बाई बहुत अधिक है। मैं संपूर्ण अंतरक्षि में समाया हुआ हूँ। उसी समय ऊपर की ओर से कई पुरूष तीव्र गति से आकर हमारे दाहिने ओर खड़े हो गये। सभी पुरूष हमें देख रहे थे। मैंने भी क्रमशः उन सभी पुरूषों को देखा। वे गिनती में लगभग 8-10 थे। सभी पुरूष उम्र में 20 वर्ष के लगभग लग रहे थे, तभी हमारे ज्ञान ने हमें बताया– "यह सभी पुरूष अपने वास्तविक स्वरूप में नहीं हैं।" ये शब्द सुनकर मैं चौंका। मैंने सोचा ये महापुरूष कौन हैं? इन्होंने अपना स्वरूप क्यों बदला हुआ है, इन्हें स्वरूप बदलने की क्या आवश्यकता थी? मैं लेटे हुए ही उन महापुरूषों से बोला, "आप सभी महापुरुष कौन हैं, हमारे पास आकर हमें दर्शन देने का उदेश्य क्या है?" वह सभी हमारे शब्द सुनकर मुस्कराए, फिर एक साथ बोले, "योगी, हम आपके शुभ चिन्तक हैं, आपको देखने आए हैं तथा यह बताने आए हैं कि अभी आपको पृथ्वी पर .....वर्ष और रहना है, क्योंकि आपको प्रकृति के कुछ कार्य करने हैं। स्थूल शरीर त्यागने के पश्चात ईश्वर के लोक (परा-प्रकृति) की प्राप्ति होगी।" उत्तर में मैंने मुस्करा कर उन सभी का आभार व्यक्त किया। फिर मैंने पूछा, "मेरे शुभ चिन्तको, क्या आप सभी अपने वास्तविक स्वरूप का दर्शन करायेंगे?" मेरे इस प्रकार कहने पर

पहले वह सभी चौंक पड़े, क्योंकि उन पुरूषों को ऐसी आशा नहीं हुई होगी कि मैं इस प्रकार के शब्द भी कहूँगा।अगर ज्ञान हमें न बताता तो मैं जान ही नहीं पाता कि ये सभी महापुरूष अपना वास्तविक स्वरूप छिपाए हुए हैं। मैंने उनसे पूछा, "क्या मैं संकल्प करके आप सभी के वास्तविक स्वरूप को जान सकता हूँ?" उत्तर में बीच में खड़ा हुआ एक पुरूष बोला, "आपको हमारे वास्तविक स्वरूप का दर्शन करने के लिए संकल्प करने की आवश्यकता नहीं है, अच्छा हम चलते हैं, हम आपको केवल यही संदेश देने आए थे", उसी वक्त सभी नवयुवक अदृश्य हो गये।

इस अनुभव के समय मैं बहुत बीमार था। मैं सोच रहा था कि इस शरीर का त्याग हो जाए तो अच्छा ही है, तब यह अनुभव आया था। मैंने अनुभव में यह नहीं लिखा है कि मुझे पृथ्वी पर कितने वर्ष और रहना है, क्योंकि पहले से किसी को इस विषय में बताना नहीं चाहता हूँ।

सन् 2002

आजकल हमारी समाधि बहुत समय के लिये लगती है, क्योंकि दिनभर मैं ध्यान, मंत्र जाप और प्राणायाम किया करता हूँ। मंत्र जाप सुबह-शाम आधा-आधा घण्टा और प्राणायाम एक दिन में पाँच बार किया करता हूँ। भोजन में रोटी और गुड़ लिया करता हूँ, यह भोजन अल्प मात्रा में लेता हूँ। भोजन मैं दो बार अवश्य लेता हूँ ताकि मेरा स्थूल शरीर कार्य करने लायक बना रहे, क्योंकि अधिक ध्यान व अल्प भोजन करने के कारण स्थूल शरीर में हड्डियाँ मात्र ही रह गयी थी। दिन के समय में तेज प्रकाश देखने पर हमारी आँखें पूरी तरह से खुलती नहीं थी, क्योंकि अधिक ध्यान करने से और अत्यधिक गर्मी बढ़ जाने के कारण आँखों की पलकों में जख्म से हो गये थे। इसलिए ज्यादा से ज्यादा अभ्यास करने में ही लगा रहता था।

इंजन की आवाज

बहुत समय तक समाधि अवस्था में बने रहने के बाद मुझे ऐसा लगता था मानो दूर कहीं से इंजन चलने की आवाज आ रही है। मैं सोचने लगा कि इंजन की आवाज कहाँ से आ रही है? मैं उस आवाज को समझने का प्रयास करने लगा, मगर मैं नहीं समझ पाया कि यह आवाज कहाँ से आ रही है। उसी समय मुझे अपना अभास होने लगा कि मैं समाधि में बैठा हुआ हूँ। तभी हमारी आँखें खुल गयी।

मैं आसन पर बैठा हुआ सोचने लगा कि मुझे समाधि अवस्था में इंजन की आवाज क्यों सुनाई दे रही थी? मैंने सोचा– कहीं मुझे भ्रम तो नहीं हो गया है। मगर ऐसा भी नहीं था मुझे भ्रम नहीं हुआ था, क्योंकि मैं समाधि अवस्था में उस आवाज को कुछ क्षणों तक सुनता भी रहा हूँ। इसी इंजन की आवाज के कारण के कारण हमारी समाधि भी भंग हो गयी थी। इंजन की आवाज ऐसी थी मानो 10HP का पम्पिंग सेट चल रहा हो। इस प्रकार के इंजन अपने यहाँ गाँवों में किसान खेतों की सिचाई के लिए, ट्यूववेल, आटे की छोटी चक्की चलाने आदि के लिये प्रयोग करते है। किसी-किसी क्षेत्र में किसान बोझा ढ़ोने के लिए जुगाड़ गाड़ी बनाकर इसी इंजन का प्रयोग करते है। यह डीजल इंजन होने के कारण इससे जोर-जोर से धक-धक की आवाज निकलती है। ध्यानावस्था में मुझे यही धक-धक की आवाज सुनाई दे रही थी।

बाँस

ध्यानावस्था में मुझे सामने की ओर अच्छा-सा समतल खेत दिखाई दे रहा था। ऐसा लगता था, मानों इस खेत की जुताई अभी-अभी हुई है। उस जुते हुए खेत में एक जगह पर हमारी दृष्टि अपने आप स्थिर हो गयी। मुझे ऐसा लग रहा था जैसे मैं उस खेत में कुछ देखने का प्रयास कर रहा हूँ। कुछ क्षणों बाद उस जगह से मिट्टी अपने आप एक ओर को होने लगी। जिस जगह से मिट्टी अपने आप हटकर एक ओर को हुई थी, वहाँ पर एक छोटा-सा लगभग एक फीट गहरा गड्ढा बन गया था। मुझे उस गड्ढे में कुछ दिखाई देने लगा। ऐसा लग रहा था कि इस मिट्टी के अन्दर कुछ दबा हुआ है। गौर करने पर मालूम हुआ कि मिट्टी के अन्दर हरा बाँस दबा हुआ है। तभी हमारी समाधि भंग हो गयी।

समाधि अवस्था में आये अनुभव का अर्थ उस समय समझ नहीं सका कि उस जुते हुए खेत में मिट्टी के अन्दर वह हरा बाँस क्यों दबा हुआ था? इस विषय में मैं किसी से पूछ भी नहीं सकता था, क्योंकि उस अवस्था में मुझे कौन मार्ग दर्शन करेगा? मुझे मार्ग दर्शन करने वाला तो तत्त्वज्ञानी (जीवन्मुक्त पुरुष) ही हो सकता है, जो इस अवस्था को पार कर चुका है। मैं वर्तमान किसी भी ऐसे योगी को नहीं जानता हूँ, जिसने अभ्यास के द्वारा यह अवस्था प्राप्त की हो।

इंजन की आवाज

ध्यानावस्था में मुझे फिर इंजन की आवाज सुनाई देने लगी। मुझे लग रहा था कि इंजन हमारे आस-पास थोड़ी दूरी पर चल रहा है, क्योंकि उसकी धक-धक की आवाज से अनुमान हो रहा था कि आवाज दूर से नहीं आ रही है। कुछ क्षणों तक मैं आवाज सुनता रहा, फिर हमारी गहरी समाधि लग गयी, समाधि लगभग तीन से साढ़े तीन घण्टे की लगी थी। फिर हमारी आँखें खुल गयी।

मुझे याद आ गया कि कुछ दिनों पहले भी ध्यानावस्था में इंजन की आवाज सुनाई दी थी। उस समय ऐसा लग रहा था, मानो कहीं दूर इंजन चल रहा है मगर अबकी बार स्पष्ट समझ में आ रहा था कि इंजन की आवाज हमारे पास से आ रही है। शायद थोड़ी दूरी पर इंजन चल रहा है ऐसी अनुभूति ध्यानावस्था में हो रही थी।

कुछ दिनों बाद एक दिन ध्यानावस्था में मुझे इंजन की आवाज पहले की भाँति सुनाई देने लगी। मैं इंजन की धक-धक की आवाज ध्यानावस्था में सुनने लगा। कुछ क्षणों तक आवाज सुनने के बाद मेरा गहरा ध्यान लग गया। फिर हमें इंजन की आवाज सुनाई देने की याद नहीं रही। कुछ समय बाद मुझे एक अनुभव आया– मैं समतल भूमि पर बैठा हुआ हूँ। वह भूमि खेत जैसी है, क्योंकि सामने जुता हुआ खेत दिखाई दे रहा था, तभी मुझे इंजन की आवाज सुनाई देने लगी। मैं आवाज की ओर देखने लगा, जिधर से आवाज आ रही थी। मैं समझ गया कि आवाज इधर से आ रही है। आवाज जिस दिशा से आ रही थी मैं उसी ओर चलने लगा। इंजन की आवाज बढ़ती जा रही थी, उसी समय सामने की ओर साधारण-सा एक कुँआ दिखाई दिया। उसमें ईटों द्वारा किनारा नहीं बना हुआ था, बल्कि कुँआ भूमि के बराबर प्लेन (सपाट) था। आवाज कुँए के अन्दर से आ रही थी, इसलिए मैंने कुँए के अन्दर झाँक कर देखने का प्रयास किया, तो देखा इंजन कुँए के अन्दर चल रहा है, जबकि इंजन कुँए के बाहर ऊपर भूमि पर रखा होना चाहिए। कुँए में झाँकने पर मुझे कुछ भी नहीं दिखाई दिया। कुँआ गहरा था तथा नीचे की ओर अंधकार था, इसलिए स्पष्ट कुछ भी नहीं दिखाई दे रहा था। कुँए में पानी नहीं था। तभी मेरा ध्यान टूटा गया और मैंने अपनी आँखें खोल दी।

अब आसन पर बैठा हुआ मैं सोचने लगा- इंजन की धक-धक की आवाज कुँए के अन्दर से आ रही है। कुँए में पानी नहीं है, बल्कि इंजन की आवाज आ रही है, यह आश्चर्य की बात है। मैं जानता हूँ इस प्रकार ध्यानावस्था में अभ्यासी को जब कुँआ दिखाई दे तब समझ लेना चाहिये कि यह कुँआ चित्त का प्रतीक है। मगर कुँए में पानी नहीं है, यह अनुभव तो बिलकुल भिन्न प्रकार का है। मैं इसका अभी अर्थ नहीं समझ पाया। मैंने निश्चय किया अब मैं और कठोर साधना करूँगा तथा प्राणायाम का समय और अधिक बढ़ा दूँगा, इससे हमारे चित्त की शुद्धता और बढ़ेगी। तब यह दृश्य भी स्पष्ट दिखाई देने लगेगा तथा इसका अर्थ भी मालूम हो जायेगा।

ऋतम्भरा-प्रज्ञा का दिखाई देना

मैंने ध्यान का समय और ज्यादा बढ़ा दिया तथा प्राणायाम भी दिन में पाँच बार करने लगा, इससे ऋतम्भरा-प्रज्ञा मुझे ध्यानावस्था में कुछ दिनों बाद ही दिखाई देने लगती थी। शायद ऐसा चित्त में और शुद्धता के कारण हुआ होगा। ध्यानावस्था में मैं देखता था कि ऋतम्भरा-प्रज्ञा उदय होकर अंतरिक्ष में ऊपर

की ओर धीरे-धीरे चढ़ती हुई चली जा रही है। जैसे– सूर्य सुबह उग कर धीरे-धीरे आकाश में ऊपर की ओर चढ़ता जाता है।

अर्थ– ऋतम्भरा-प्रज्ञा– सत्य को भरने वाला ज्ञान। यही प्रज्ञा (ज्ञान) सभी ज्ञानों का मूल आधार है, तथा अज्ञान की विरोधी है यह अज्ञान को धीरे-धीरे मूल से नष्ट कर देती है।

इंजन की आवाज

कुछ दिनों बाद ध्यानावस्था में फिर इंजन की आवाज सुनाई देने लगी तभी अनुभव में दिखाई दिया– मैं एक कुँए के अन्दर झाँक (देख) रहा हूँ, उसी कुँए से इंजन की आवाज आ रही थी। मुझे कुँए के अन्दर नीचे की भूमि स्पष्ट दिखाई दे रही थी। कुँए में पानी नहीं था तथा कुँआ बिलकुल सूखा हुआ था। कुँए के अन्दर भूमि में एक इंजन मिट्टी में दबा हुआ दिखाई दे रहा था। इंजन का ऊपरी भाग थोड़ा-सा मुझे स्पष्ट दिखाई दे रहा था। ऐसा लगता था मानों यह इंजन बहुत पुराना है, इसकी कभी सफाई नहीं की गयी है। मिट्टी में दबे होने के बाद भी उसके कल-पुर्जे बड़े आराम से क्रियाशील थे अर्थात् चल रहे थे। तभी अनुभव समाप्त हो गया।

बाँस

ध्यानावस्था में देखा– मैं सामने की ओर जुता हुआ खेत देख रहा हूँ। खेत में किसी प्रकार का खरपतवार (घास आदि) नहीं है। खेत की मिट्टी भुरभुरी तथा स्वच्छ है। तभी मुझे खेत के बीच में मिट्टी के अन्दर लगभग 6 इंच नीचे की ओर दबा हुआ बाँस दिखाई दिया। बाँस की लम्बाई लगभग छ: से साढ़े छ: फीट रही होगी। मुझे दूर से ही मिट्टी के अन्दर दबा हुआ सूखा-सा बाँस दिखाई दे रहा था। जबकि जाग्रत अवस्था में मिट्टी के अन्दर दबी हुई वस्तु दिखाई नहीं दे सकती है। अनुभव समाप्त हुआ।

अर्थ– अनुभव में जो मिट्टी के अन्दर दबा हुआ सूखा-सा बाँस दिखाई दे रहा था, वह दिव्यदृष्टि के द्वारा देखा जा रहा था।

इंजन की आवाज

अब मैं रात-दिन कठोर अभ्यास करने में लगा रहता था। समाज में किसी से भी मिलता जुलता नहीं था इसलिए समाधि का समय भी बहुत अधिक बढ़ गया था। 5-6 घण्टे की समाधि आराम से लगी रहती थी। निर्बीज समाधि के अभ्यास के कारण समय का भान नहीं रहता था। जब निर्बीज समाधि कमजोर पड़ने लगती थी, तब सबीज समाधि की अवस्था में अनुभव आ जाता था।

ध्यानावस्था में दिखाई दिया– मैं भूमि पर खड़ा हुआ कुँए के अन्दर झाँक रहा हूँ। कुँए के अन्दर एक इंजन अपने आप चल रहा है। इंजन पुराना व गन्दा-सा है, उसमें मिट्टी भी लगी हुई है। अब धीरे-धीरे मिट्टी अपने आप छूट-छूट कर अलग हो रही है अर्थात् इंजन अपने आप स्वच्छ होता जा रहा है। ऐसा लगने लगा है मानों इंजन बहुत ज्यादा पुराना नहीं है। दृश्य बहुत अच्छा लग रहा है, कुँए के अन्दर नीचे भूमि पर इंजन अपने आप चल रहा है। फिर अनुभव समाप्त हो गया। मैं समझ गया हमारा अभ्यास बढ़ जाने के कारण चित्त में शुद्धता की मात्रा बढ़ गयी है। इसलिए यह दृश्य स्पष्ट दिखाई देने लगा है।

कुछ दिनों बाद फिर इंजन का ही अनुभव आया। उस अनुभव में मुझे दिखाई दिया– इंजन कुँए के मध्य में आधारहीन ही स्थिर है, वह अपने आप चल रहा है। बहुत ही आश्चर्यजनक दृश्य था– कुँए के मध्य में अर्थात् आधा कुँआ नीचे की ओर है, तथा आधा कुँआ ऊपर की ओर है। इंजन अपने आप आधारहीन ही आकाश में स्थिर है। उस इंजन में फ्लाइंग व्हील के बगल में एक छोटी-सी 10-12 इंच व्यास वाली पुली लगी हुई है, इस पुली में एक पट्टा चढ़ा हुआ है, यह पट्टा नीचे दूसरे व्हील को घुमा रहा है। नीचे वाला व्हील ट्यूव वेल के पंखे का व्हील है, इस पंखे से जमीन के अन्दर से पानी-निकालते हैं। इंजन अपने आप चल रहा है।

एक दो माह बाद फिर इसी प्रकार का अनुभव आया। अबकी बार दृश्य कुँए का नहीं था। मैंने देखा– एक इंजन चल रहा है, उस इंजन की पुली (व्हील) पर पट्टा चढ़ा हुआ है, वह पट्टा दूसरी ओर थोड़ी दूरी पर एक लम्बी-सी साफ्टीन में बंधी पुली के ऊपर चढ़ा हुआ है, यह साफ्टीन पट्टे के द्वारा तीव्र गति से घूम रही हैं। अर्थात् इंजन से पट्टे द्वारा लम्बी-सी साफ्टीन घुमाई जा रही है, उस साफ्टीन में ढेरों पूली (व्हील्स) कसे हुए है, इन सभी पुलियों (पहियों) पर भी पट्टे चढ़े हुए है, वह दुसरे पुली (पहिया) को घुमा रहा है उसके द्वारा विभिन्न प्रकार के कार्य हो रहे है। देखने में ऐसा लगता है, मानों बहुत बड़ा कारख़ाना चल रहा है। तभी अनुभव समाप्त हो गया।

अर्थ– मुझे अनुभव में कई महीनों से इंजन की आवाज सुनाई दे रही थी, फिर इंजन दिखाई देने लगा और अन्त में एक कारखाना-सा चलता हुआ दिखाई दिया। अब मैं इसका अर्थ लिख रहा हूँ। कुँआ– हमारा ही चित्त का प्रतीक है अर्थात् इंजन आदि की हमारे चित्त में ही क्रिया हो रही है। सत्य तो यह है– सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एक कारखाने की तरह है। इस कारखाने के सम्पूर्ण कल-पुर्जे वायु तत्त्व के द्वारा चल रहे है, क्योंकि आकाश तत्व में वायुतत्व के द्वारा ही प्रकृति ने अपना सृजन किया है। इस कारखाने को चलाने वाले इंजीनियर हिरण्यगर्भ (हिरण्य पुरुष अथवा भगवान ब्रह्मा) है। जिस प्रकार वर्तमान समय में इंजन पेट्रोल या डीजल से चलते है इसी प्रकार ब्रह्माण्ड रूपी कारखाना वायुतत्त्व के द्वारा चल रहा है।

बाँस

दिसम्बर माह में यह अनुभव आया। मैं सामने ओर जुता हुआ एक खेत देख रहा हूँ, तभी मुझे दिखाई दिया– खेत अपने आप जुतता चला जा रहा है। खेत को जोतने वाला कोई व्यक्ति नहीं है, हल भी नहीं चल रहा है, मिट्टी अपने आप जुतती चली जा रही है। तभी हमारी दृष्टि खेत के मध्य की ओर गयी, क्योंकि वहीं पर मिट्टी अपने आप जुत रही थी। मैं मिट्टी को जुतते हुए देख रहा था, उसी समय लगभग छ: से साढ़े छ: फीट लम्बा सूखा बाँस मिट्टी के ऊपर आ गया। मैं अपने स्थान से चल कर खेत के मध्य में पड़े हुए सूखे बाँस के पास गया, मैंने बाँस को गौर पूर्वक देखा– वह पूरी तरह से सूखा हुआ था। पहले मैं उसे देखकर मुस्कराया फिर मैंने अपने दाहिने हाथ से बाँस को पकड़ कर उठा लिया। जैसे ही मैंने बाँस को पकड़कर उठाया उसी समय हमारी समाधि भंग हो गयी, झटके के साथ हमारी आँखें खुल गयी।

अर्थ– जिस तरह से बाँस अन्दर और बाहर से सूखा और रसहीन है, इसी प्रकार इस संसार का स्वरूप होता है। सत्य तो यही है संसार भी अन्दर और बाहर से रसहीन ही होता है, ऐसा तत्त्वज्ञानी पुरुष संसार का अनुभूति करते है। मगर अज्ञानी पुरुष इस रसहीन संसार में रस ढूँढता रहता है और इसी में जीवन समाप्त हो जाता है। मगर तत्त्वज्ञानी पुरुष इस संसार को रसहीन समझकर त्याग देता है। बाँस अन्दर से पोला होता है– इसी प्रकार संसार पोला (खोखला) के समान है अर्थात् यहाँ पर किसी प्रकार का सुख आदि नहीं हैं। बाँस में अन्दर बाहर फाँसे होती है– इसी प्रकार संसार में सर्वत्र फाँसो के समान दुख ही दुख है।

सन् 2003

भगवान् शिव द्वारा आदि शक्ति मंत्र दिया जाना

यह अनुभव 15 जनवरी को आया। ध्यानावस्था में हमें सुनाई दिया– सभी प्रकार की इच्छाओं का त्याग करो। तुम्हें किसी ने हानि नहीं पहुँचाई है, बल्कि वह तुम्हारा कर्म था। उनके प्रति दोषारोपण न करो, क्योंकि ये सारे कार्य प्रकृति ने करवाये हैं। मैंने पूछा– "आप कौन हैं?" उत्तर मिला–"मैं तुम्हारा इष्ट हूँ। मैंने जो बातें तुम्हें बताई हैं, उनको दृढ़तापूर्वक निकाल दो, फिर ये अपरा-प्रकृति तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ पायेगी। जैसे ही ये कमियाँ तुम्हारे अन्दर से निकल जाएँगी, तब प्रकृति तुम्हारे सामने घुटने टेक देगी। इन्हीं कमियों के कारण प्रकृति तुम पर अधिकार कर लेती है, जब ये कमियाँ तुम पर प्रभावी होने लगे तो उस समय तुम **'ॐ आदिशक्ति ॐ'** मंत्र का जाप करना शुरू कर दो। इससे आदिशक्ति (परा-प्रकृति) का प्रभाव बढ़ने लगेगा, तुम्हें उसी को प्राप्त करना है।" फिर आवाज आनी बन्द हो गई।

मैंने आदिशक्ति मंत्र का बहुत जाप किया। कुछ समय बाद इस मंत्र के प्रभाव की अनुभूति होने लगी अर्थात् हमारे अन्दर परा-प्रकृति का अवतरण शीघ्रता से होने लगा। इसके अवतरण से अपरा-प्रकृति शीघ्र ही शुद्ध होने लगी।

अपरा-प्रकृति का नष्ट हुए के समान होना

इस प्रकार के कुछ अनुभव दिसम्बर 2002 तथा जनवरी 2003 में बहुत आए। पहले इस प्रकार के अनुभवों पर मैंने गौर नहीं किया, मगर जब 18 जनवरी को उसी प्रकार का अनुभव आया, तब हमें ज्ञान ने बताया- "योगी, ये अनुभव तुम्हारे लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं, इन पर गौर करो।" तब हमारी समझ में आया कि ये अनुभव हमारे लिए निश्चय ही महत्वपूर्ण हैं। यहाँ पर एक अनुभव लिख रहा हूँ। मैं किसी स्थान पर लेटा हुआ हूँ, हमें महसूस हुआ कि हमारे पैरों व कमर के ऊपर कुछ रखा हुआ है। मैंने अपनी दृष्टि पैरों की ओर की, तो मैं उधर का दृश्य देखकर आश्चर्यचकित हो गया, क्योंकि हमारे पैरो व कमर के ऊपर एक लड़की के पैर रखे हुए थे। हमारा सिर पूर्व दिशा की ओर था तथा लड़की का सिर पश्चिम दिशा की ओर। हम दोनों एक ही सीध में (180 अंश कोण में) लेटे हुए थे। हम दोनों पीठ के बल लेटे हुए थे। लड़की के

पैरों ने हमारे पैरों व कमर को नीचे दबा रखा था। लड़की के पैरों के तलवे हमारी ओर होने के कारण स्पष्ट नजर आ रहे थे। मैंने अपने हाथों से लड़की के पैरों के पंजे पकड़ रखे थे। अब हमें उस लड़की का सम्पूर्ण शरीर दिखाई देने लगा। उसकी लम्बाई हमारी लम्बाई से काफी ज्यादा थी। उसकी आँखें भी बन्द थी। ऐसा लगता था जैसे वह गहरी निद्रावस्था में चली जाएगी। उसके खुले हुए सिर के बाल उसकी पीठ के नीचे दबे हुए थे तथा उसके शरीर पर एक भी वस्त्र नहीं था, वह निर्वस्त्र थी। उसके शरीर के सारे अंग स्पष्ट दिखाई दे रहे थे। उसका शरीर दिव्य था तथा शरीर का रंग तपे हुए सोने के समान था। उसके संपूर्ण शरीर से हल्का प्रकाश (तेज) निकल रहा था। मैं सोचने लगा कि इस अद्वितीय सुन्दर लड़की ने मुझे अपने पैरों से इस तरह क्यों दबा रखा है?

इसी प्रकार का अनुभव 18 जनवरी को आया। इस अनुभव में थोड़ा-सा फर्क था। अबकी बार हमारे पैरों के तलवे और उस लड़की के पैरों के तलवे आपस में चिपके हुए थे। हमारा सिर पूर्व की ओर था तथा लड़की का सिर उत्तर दिशा की ओर था, फिर भी पैरों के तलवे आपस में चिपके हुए थे। दोनों के शरीर 90 अंश का कोण बना रहे थे। लड़की के पैरो के पंजों व एड़ी वाला भाग थोड़े-थोड़े मुड़े हुए थे। मैंने अपने पैर हिलाए तो लड़की के भी पैर हिलने लगे। लड़की पहले वाली ही थी, इस अनुभव में भी वह पूर्ण रूप से निर्वस्त्र थी।

अर्थ– दोनों अनुभवों में दिखाई देने वाली लड़की अपरा-प्रकृति है। मैंने अपना सिर पूर्व की ओर किया हुआ है अर्थात् कैवल्य उन्मुख हूँ, मेरा चित्त कैवल्य उन्मुख है। अपरा-प्रकृति अर्थात् लड़की का सिर पश्चिम की ओर है। अपरा-प्रकृति निम्नमुखी होने के कारण सृष्टि उन्मुख रहती है, वह गहरी निद्रा में जाने वाली है। इसका अर्थ है कि अपरा-प्रकृति हमारे लिए गहरी निद्रा में जाने के समान हो गई है अर्थात् नष्ट हुए के समान हो गई है। अभी वह हमें अपने प्रभाव से दबाए हुए है। अनुभव में उसके पैर हमारी कमर के ऊपर रखे हैं। मैंने उसके पैरों के पंजे पकड़ रखे थे अर्थात् मैं अपरा-प्रकृति को पकड़े हुए हूँ। वह निर्वस्त्र है– इसका अर्थ है विकारों से रहित होना। उसका शरीर स्वर्ण के समान है– अर्थात् वह शुद्धता को प्राप्त हो गई है। उसके पैर हमारे पैरों व कमर को दबाए हुए हैं– अपरा-प्रकृति का प्रभाव मात्र थोड़ा रह गया। शेष शरीर में (शरीर से लेकर चित्त तक) परा-प्रकृति का अवतरण हो चुका है। दूसरे अनुभव में लड़की के पैरों के तलवे हमारे पैरों के तलवों से चिपके हैं– अपरा-प्रकृति का प्रभाव हमारे ऊपर नहीं रह गया है, सिर्फ नाममात्र का सम्पर्क है, क्योंकि स्थूल शरीर अभी बना हुआ है। लड़की का सिर उत्तर दिशा की ओर है अर्थात् अपरा-प्रकृति लीनता की ओर है। इस अनुभव से स्पष्ट होता है कि हमारे अन्दर परा-प्रकृति का

अवतरण हो रहा है, अपरा-प्रकृति शुद्ध होती जा रही है। जितनी अपरा-प्रकृति शुद्ध होती जाएगी, उतना ही परा-प्रकृति का अवतरण होता जाएगा।

अपरा-प्रकृति संगिनी के रूप में

यह अनुभव 12 नवम्बर को आया। सुनहरा तेज प्रकाश फैला हुआ है। मैं पूर्व दिशा की ओर चला जा रहा हूँ तथा मैं दूर से द्रष्टा रूप से यह दृश्य भी देख रहा हूँ कि आनन्द कुमार पूर्व दिशा की ओर चला जा रहा है। उसे मालूम नहीं है कि उसके पीछे-पीछे कोई स्त्री चली आ रही है। मैं (द्रष्टा रूप से) बोला, "यह तो आनन्द कुमार की संगिनी है"। मेरे इतना कहते ही उस स्त्री ने मेरी ओर देखा। जैसे ही उस स्त्री ने मेरी ओर देखा मैं तुरन्त बोल पड़ा, "यह तो प्रकृति (अपरा) है", प्रकृति ने भी मुस्करा दिया।

अर्थ– इस अनुभव में मैं दो स्वरूप में हूँ। **पहला स्वरूप**– मैं पूर्व दिशा की ओर चला जा रहा हूँ, फिर अपने को दृश्य से दूर ऊपर की ओर से देख रहा था। उस समय मुझे अपना स्वरूप दिखाई नहीं दे रहा था, सिर्फ दृष्टि के द्वारा देख रहा था। आनन्द कुमार पूर्व दिशा की ओर चला जा रहा है, उसके पीछे-पीछे एक स्त्री चली जा रही है। मगर आनन्द कुमार को यह मालूम नहीं है। स्त्री की पीठ हमारी ओर थी, तभी मेरे द्वारा ध्वनि निकली, "यह तो आनन्द कुमार की संगिनी है।" मैंने अभ्यास के द्वारा अपरा-प्रकृति को नष्ट हुए के समान कर दिया है अर्थात् मैं अपरा-प्रकृति से परे हो गया हूँ, इसलिए अपरा-प्रकृति हमारे पीछे-पीछे चल रही है। मेरा चेतन स्वरूप (द्रष्टारूप में) कह रहा है– "यह आनन्द कुमार की संगिनी है।" ये शब्द कहते ही स्त्री ने मुस्करा कर सहमति प्रदान कर दी। तब मैं कहता हूँ– "यह तो प्रकृति है।" अनुभव में दोनों स्वरूपों में अपनी अनुभूति कर रहा हूँ। पहले आनन्द कुमार के रूप में जो पूर्व दिशा की ओर चला जा रहा है अर्थात् अभ्यास के द्वारा कैवल्य की ओर जा रहा है। दूसरे स्वरूप से मैं द्रष्टा रूप में हूँ। कुण्डलिनी वाला पाठ पढ़िए। उसमें पढ़ने को मिलेगा कि जीव अपनी संगिनी के साथ जन्म ग्रहण करता है। पाठकों को यह आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि योग के अभ्यासी की संगिनी अपरा-प्रकृति बन सकती है। अभ्यास के द्वारा जीव अपना इतना विकास कर सकता है कि वह जीवेश्वर बन सकता है अर्थात् ईश्वर के समान बन सकता है। इस विषय में आगे भी पढ़ेंगे। जब अभ्यासी को इस प्रकार का अनुभव आए कि अपरा-प्रकृति उसकी संगिनी के रूप में उसके साथ है, तब अभ्यासी को अपरा-प्रकृति सदैव सहयोग करती रहेगी। मगर व्युत्थान के संस्कारोंके कारण अभ्यासी को स्थूल संसार से अपमान, निंदा व क्लेश

प्राप्त होगा। इससे उसका चित्त और निर्मल होकर पर-वैराग्य के संस्कार प्रकट करेगा, जिससे व्युत्थान के संस्कार दबते जाएँगे अथवा नष्ट होते जाएँगे। अभ्यास से पहले जीव प्रकृति के बन्धन में बँधा हुआ जीवत्व को प्राप्त होता है अर्थात् पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार सुख-दुःख को भोगता है। विवेक-ख्याति के बाद जीव प्रकृति का स्वामी बन जाता है तथा जीव ज्ञान से युक्त हो जाता है।

प्रकृति बकरी के रूप में

7 दिसम्बर के अनुभव में मैंने देखा कि मैं कही चला जा रहा हूँ और एक बकरी हमारे पीछे-पीछे आ रही है। बकरी ने कुछ क्षणों बाद हमसे कुछ कहा। मैं चौंका और सोचने लगा कि यह बकरी तो मनुष्यों की भाँति बोलती है। मैं आगे-आगे चला जा रहा था तथा बकरी पीछे-पीछे बात करती चली आ रही थी। उसने हमसे कहा, "आप चिंतित न होईए, मैं आपको मार्ग बताती हूँ।" फिर वह मुझे एक ओर ले गई, तभी बकरी ने अपना स्वरूप बदल लिया और 16-17 साल की एक लड़की बन गई। उसी स्थान पर वहाँ दो पुरूष भी आ गये। वह लड़की उन दोनों पुरूषों से बोली, "यह मेरा पति है"। मैं ये शब्द सुनकर चौंक पड़ा, क्योंकि में जान चुका था कि यह अपरा-प्रकृति है तथा 16-17 साल की युवती होकर मुझे अपना पति कह रही है। फिर यह प्रकृति हमारा हाथ पकड़ कर ऊँची सीढ़ियों पर चढ़ती हुई एक कमरे जैसे स्थान पर ले गई। वहाँ सामने की ओर ऊँचे सिंहासन पर एक सुन्दर स्त्री विराजमान थी, उसके सामने मुझे खड़ा कर दिया, फिर स्वयं अदृश्य हो गई। सामने सिंहासन पर बैठी स्त्री हमें देखकर मुस्करा रही थी। मैंने सोचा हमें देखकर यह मुस्करा क्यों रही है? मैंने अपने शरीर पर दृष्टि डाली तो देखा कि हमारे शरीर पर एक भी वस्त्र नहीं था, मैं पूर्ण रूप से निर्वस्त्र था। मैं अपने को निर्वस्त्र देखकर निष्भाव से खड़ा रहा, वह स्त्री अब भी मुस्करा रही थी।

अर्थ– बकरी=अपरा-प्रकृति तथा पति=स्वामी, सिंहासन पर बैठी स्त्री= परा-प्रकृति। अपरा-प्रकृति का जीव के लिए कार्य समाप्त हो गया, इसलिए वह अदृश्य हो गई। उसने हमें परा-प्रकृति तक पहुँचा दिया। निर्वस्त्र होना अर्थात् विकारों से रहित होना। मुझें विकारों से रहित देखकर परा-प्रकृति मुस्करा रही है। परा-प्रकृति का साक्षात्कार नहीं किया (वास्तविक स्वरूप का) जा सकता है, यह केवल वृत्तियों के द्वारा दिखाया गया। बकरी का अर्थ होता है– प्रकृति। कभी-कभी साधक को तीन रंगों वाली बकरी दिखाई

देती है। ये तीनों रंग काले, सफेद, लाल हैं। काले रंग का अर्थ तमोगुण होता है, सफेद रंग सत्त्वगुण का प्रतीक होता है तथा लाल रंग तमोगुण का प्रतीक होता है। इसका विवरण शास्त्रों में भी मिलता है।

अब तुम किराएदार हो गये हो

यह अनुभव 24 दिसम्बर का है। मैं तेज प्रकाश से युक्त विशेष प्रकार के क्षेत्र में खड़ा था, तभी एक सुन्दर स्त्री हमारे पास आई। उसके हाथ में एक टोकरी थी। वह स्त्री बोली, "यह लो (टोकरी के लिए कहा) इसे उधर रखो।" मैंने उस लड़की के हाथ से टोकरी ली, फिर उस टोकरी को मैंने एक तरफ रख दिया। उस टोकरी में कुछ था, टोकरी भूमि पर रखते समय हमारे अन्दर विचार आया कि यह टोकरी मेरी नहीं है। टोकरी रखकर जब मैं खड़ा हुआ तो वह स्त्री बोली, "अब तुम मेरे किराएदार हो गये हो, पहले तुम उसके किराएदार थे।" मैं उस स्त्री का मुँह देखने लगा और मन में सोचने लगा कि यह स्त्री हमें ऐसा क्यों कह रही है? वह स्त्री कहकर एक ओर चली गई।

अर्थ– स्त्री अर्थात् परा-प्रकृति। यदि मैं टोकरी अपने लिए ले लेता तो अवश्य ही कुछ-न-कुछ भोग करना पड़ता। मगर मेरे अन्दर विचार आया कि यह मेरी नहीं है। पहले मैं अपरा-प्रकृति का किराएदार था, अब परा-प्रकृति का किराएदार हो गया हूँ। अपरा-प्रकृति से तो अभ्यास के द्वारा परे हो गया हूँ, अब बहुत समय तक स्थूल शरीर त्यागने के पश्चात परा-प्रकृति के क्षेत्र में रहूँगा। इसलिए वह स्त्री कह रही थी कि अब तुम मेरे किराएदार हो गये हो। अभी तक मैं अपरा-प्रकृति के क्षेत्र में बना रहा। इस प्रकृति में रहना किराएदार की तरह ही है। किराएदार सदैव किराए के मकान में नहीं रह सकता है, क्योंकि मकान उसके स्वामी का होता है। अब हमारा चित्त परा-प्रकृति में अन्तर्मुखी है तथा स्थूल शरीर त्यागने के बाद परा-प्रकृति के क्षेत्र में रहूँगा। परा-प्रकृति चाहे जितनी स्फूर्ति वाली क्यों न हो मगर वह जड़ ही है। अपने स्वरूप में (निगुर्ण ब्रह्म में) जब सदैव के लिए लीन हो जाऊँगा, तब मुझे परा-प्रकृति का भी त्याग करना होगा। निर्गुण उपासकों को परा-प्रकृति (मूल प्रकृति या ईश्वर का लोक) का त्याग कभी-न-कभी अवश्य करना होता है।

यह अनुभव 27 दिसम्बर को आया। मैं सुबह अपने आसन पर समाधि मुद्रा में बैठा हुआ था। कुछ समय बाद हमारी समाधि टूट गई, तभी हमें अपने स्थूल शरीर की अनुभूति होने लगी। हमारा ध्यान जननेंद्रिय की ओर गया। तभी मैं चौंका, क्योंकि हमारा लिंग सीधा होकर पेट से चिपक हुआ था। लिंग का

अग्रभाग नाभि से नीचे चिपका हुआ था। मैंने अपना आसन बदल लिया। अब मैं वज्रासन लगाकर बैठ गया, मगर लिंग शांत न हुआ। वह फिर ऊपर की ओर होकर नाभि के पास चिपक गया। मुझे ऐसा लगा जैसे इसके अन्दर बहुत शक्ति आ गई है। ऐसी अवस्था होकर भी हमारे अन्दर कामेच्छा नहीं थी, बल्कि ऐसा लग रहा था जैसे इस स्थान पर चैतन्यता ही नहीं है, लिंग सिर्फ जड़ मात्र है। कुछ समय तक यही क्रिया होती रही, फिर समाधि की गहराई में चला गया।

अर्थ– इस प्रकार की क्रिया हमें 20 वर्ष पूर्व साधना काल में हुई थी। इस क्रिया का अर्थ विशेष प्रकार का होता है। यदि योग का अभ्यासी नया है और उसे मात्र कुछ वर्ष ही अभ्यास करते हुए हैं, ऐसे साधक को समझ लेना चाहिए कि भविष्य में वह महान बनेगा, यश प्राप्त करेगा तथा गुरू पद भी प्राप्त कर सकता है। दूसरा अर्थ यह भी है कि साधक को यह अनुभव यदि उच्चावस्था में आता है तो अवश्य ही पूर्णता को प्राप्त करेगा। लिंग का कार्य होता है– मूत्र विसर्जन तथा प्रकृति की सृष्टि उन्मुख क्रिया को आगे बढ़ाना। जब अभ्यासी को इस अवस्था में यह क्रिया हो तब इसका अर्थ है- प्रकृति की सृष्टि उन्मुख व प्रलय उन्मुख अवस्थाओं से पूर्णरूप से निवृत हो जाना।

सन् 2004

सरल बनो

यह अनुभव एक जनवरी को आया। ध्यान पर बैठते ही आवाज आई– "पुत्र! बिल्कुल सरल हो जाओ, जब पूर्ण रूप से सरल हो जाओगे, उसी समय महान बन जाओगे।" मैंने पूछा आप कौन हैं? आवाज आई, "मैं तुम्हारा परम् पिता हूँ।" मैं बोला, "प्रभु! प्रणाम।" आवाज आई, "शीघ्र महान बनो।" फिर आवाज आनी बन्द हो गई। मैं बोला, "मैं ब्रह्माण्ड की समस्त दिव्य शक्तियों, योगियों, तपस्वियों को प्रणाम करता हूँ।" उसी समय बहुत सारी आवाज़ें एक साथ गूंजने लगी– "योगी, तुम महान हो, योगी, तुम महान हो।" कुछ क्षणों बाद अत्यन्त मधुर आवाज सुनाई दी– "कहो पुत्र, कैसे हो?" मैं बोला– "अच्छा हूँ।" क्या हमारी माता बोल रही हैं? आवाज आई- "हाँ, तुम्हारी माता बोल रही हूँ। पुत्र पहले तुम पूर्ण रूप से सरल हो जाओ। तुम्हें कोई उल्टा-सीधा कहे तो तुम उसे उत्तर में कुछ भी नहीं कहोगे। तुम सिर्फ सुनोगे, कहोगे कुछ नहीं। जब तुम ऐसा करने लगोगे तभी महान बन जाओगे, क्योंकि सरलता ही मनुष्य को श्रेष्ठ बनाती है। तुम्हें किसी के यहाँ जाकर भिक्षा नहीं माँगनी है। तुम्हारा अहंकार पूर्ण रूप से अन्तर्मुखी हो चुका है। अब तुम निर्भय या प्रसन्न होकर रहो, तुम्हें किसी बात की चिंता करने की आवश्यकता नहीं है।" फिर आवाज आनी बन्द हो गई।

अर्थ– यह आवाज प्रेरणा के द्वारा परम्-शिव व परा-प्रकृति की थी। प्रत्यक्ष रूप से बात करना अथवा समधि अवस्था में वृत्तियों के द्वारा बात करना सम्भव नहीं है। प्रेरणा के द्वारा सिर्फ ध्वनि सुनाई देती है।

चक्की का चलना

यह अनुभव 5 जनवरी को आया। कम घनत्व वाला प्रकाशित अंतरिक्ष है। इसी अंतरिक्ष में एक चक्की चल रही है। अनाज रखने वाला पात्र चक्की के ऊपर न होकर चक्की से एक तरफ ऊपरी ओर स्थित है। इसी पात्र के निचले भाग से अनाज बड़ी तेजी से गिरता हुआ चक्की के अन्दर चला जाता है। अनाज गेहूँ के समान है।

अर्थ– इस अनुभव का अर्थ गूढ़ है। कबीर दास जी ने इस चक्की के विषय में बहुत अच्छा वर्णन किया है। चक्की के दोनों पाटों का अर्थ माया और ब्रह्म से है। अनाज कर्माशय है, कर्माशय का भोग जीव करता है।

वायु तत्त्व आकाश तत्त्व में विलीन होने की ओर

यह अनुभव 8 जनवरी को आया। मैं चार-पाँच वर्षीय सुलहने बच्चे को दोनों हाथों में उठाये हुए प्यार कर रहा था। मैं इस बच्चे को अपना पुत्र मान रहा हूँ। बच्चे के पेट पर मैं अपने मुँह का दबाव देकर उसे गुदगुदी कर रहा हूँ। बच्चा पूर्ण रूप से निर्वस्त्र है। मैं उसका मुँह नहीं देख रहा हूँ अर्थात् बच्चे का मुँह दिखाई नहीं दे रहा है, क्योंकि हमारा मुँह उसके पेट के पास था। कभी-कभी बच्चे के पेट पर अपने मुँह का दबाव देकर गुदगुदी कर रहा था, तभी बच्चे को हल्की-सी खाँसी आ गई। खाँसते ही उसके मुँह से पीले रंग के कपड़े जैसी जंजीर नुमा चिट (फिता सा) सी लगभग एक फीट लम्बी निकल आई। मैंने जैसे ही बच्चे का मुँह देखा तो मैं आश्चर्यचकित हो गया, क्योंकि वह बच्चा देवता गणेश जी थे। मैं गणेश जी को बच्चे के रूप में खिला रहा था। अब भी मैं उन्हें अपना पुत्र मान रहा था तथा खिलाते समय अनुभूति कर रहा था कि मैं अपने पुत्र को खिला रहा हूँ। गणेश जी अपना मुँह चला रहे थे (जैसे कोई पशु जुगाली करता है)। मुँह चलाने के साथ ही उनके मुँह से जंजीर नुमा कपड़े की चिट निकल रही थी। चिट लगभग दो मीटर निकल आई होगी, तभी मैंने बायीं और खड़ी एक स्त्री से कहा, "देख, बच्चे के मुँह से क्या निकल रहा है, इसे निकाल दे।" वह स्त्री बच्चे के मुँह से चिट तीव्र गति से खींचने लगी। तीव्र गति से चिट खींचने के कारण बच्चे का मुँह मुरझाने लगा। तब मैं स्त्री से बोला, "धीरे-धीरे खींच, उसे तकलीफ हो रही है।" जैसे-जैसे बच्चे के मुँह से चिट बाहर निकलती जाती, उसका पेट पिचकता और चेहरा मुरझाता जाता। मैं उस स्त्री से बोला कि बच्चा तो मर जाएगा। फिर बच्चे को भूमि पर बिठा दिया और उस स्त्री की ओर मुड़ा। मैं उसे अपनी पत्नी समझ रहा था।

अर्थ– अनुभव पढ़ने में विचित्र है। गणेश जी वायु तत्त्व से उत्पन्न हुए हैं। पहले के अनुभवों में वायु रूप में परिवर्तित होकर हमारे अन्दर विलीन हो गये थे। गणेश जी वायु तत्त्व के प्रतीक हैं। मैं उन्हें बच्चे की भाँति खिला रहा हूँ, मतलब वायु तत्त्व में अभी हमारी हल्की-सी आसक्ति है। अर्थात् अपरा-प्रकृति में कहीं-न-कहीं सूक्ष्म रुप से थोड़ी सी आसक्ति है। गणेश जी के मुँह से चिट निकल रही है– मतलब हमें

प्रकृति में (व्यवहार की दशा में) अभी कुछ ओर भोगना होगा। यदि अनुभव में वह लड़का मर जाता तो अच्छा था। इससे मैं वायु तत्त्व से परे हो जाता तथा आकाश तत्त्व में पूर्ण रूप से स्थित हो जाता। इसका अर्थ हुआ कि जीवन्मुक्त अवस्था की परिपक्वता मिलने में अभी समय लगेगा। अनुभव में गणेश जी बच्चे के रूप में बहुत ही सुन्दर दिखाई दे रहे थे। उनके शरीर का रंग तपे हुए सोने की भाँति था। बहुत से साधक इसी प्रकार के अनुभवों को देखकर भ्रमित हो जाते हैं कि मैं अमुक देवता का अवतार हूँ, ऐसा समझ लेना अज्ञानता होती है। कारण यह है– देवताओं की उत्पत्ति अग्नि तत्त्व से हुई है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश की उत्पत्ति आकाश तत्त्व से हुई है। जब साधक को इन तत्त्वों की अनुभूति होती है, तब उस तत्त्व से सम्बंधित देवताओं के स्वरूप को वृत्तियाँ (सात्विक वृत्ति) धारण कर लेती हैं, जैसा कि इसी अनुभव में दिखाया गया है। मैं अनुभव में कह रहा हूँ– बच्चा मर जाएगा अर्थात् वायुतत्त्व आकाश तत्त्व में विलीन हो जाएगा। विलीन होना आवश्यक है, तभी आत्मा में अवस्थिति की परिपक्वता आएगी। अपरा-प्रकृति वायु तत्त्व के द्वारा ही आकाश तत्त्व से सृष्टि की रचना करती है। अगर मैं वायु तत्त्व में जरा भी आसक्त रहा तो अपरा-प्रकृति से सम्पर्क बना रहेगा। वर्तमान समय के लिए मैं अपरा-प्रकृति से परे हो गया हूँ, मगर कभी-कभी कुछ समय के लिए अपरा-प्रकृति में (संसार में) बना रहता हूँ। इसलिए अनुभव में गणेश जी को अर्थात् वायु तत्त्व को पकड़े हुए हूँ। धीरे-धीरे अभ्यास के द्वारा वायु तत्त्व को पूर्ण रूप से आकाश तत्त्व में अन्तर्मुखी कर दूँगा। साधकों के लिए हमारी राय है कि ऐसे अनुभवों को देखकर कभी भ्रमित न हों कि वह अमुक देवता के अवतार हैं और न ही कभी किसी के कहने में आएं कि अमुक संत उस देवता का अवतार है।

प्रज्ञा के तीन स्वरूपों का साक्षात्कार

यह अनुभव 15 दिसम्बर 2003 को आया था, मगर उस समय लिख नहीं पाया। स्वच्छ अंतरिक्ष में (आकाश में) पश्चिम दिशा में शरद ऋतु में उगते हुए सूर्य के आकार से बड़ी प्रज्ञा देखी। उसी समय पूर्व दिशा में दूसरी प्रज्ञा देखी। मैं एक साथ पश्चिम और पूर्व दिशा में दो प्रज्ञाएं देख रहा था। मैं बोला, "एक साथ दो-दो प्रज्ञाएं देख रहा हूँ, बड़ा विचित्र दृश्य है।" तभी उत्तर दिशा में एक और प्रज्ञा प्रकट होकर थोड़ा ऊपर की ओर अंतरिक्ष में जाने लगी। अंतरिक्ष में थोड़ा ऊपर की ओर चढ़कर दक्षिण दिशा की ओर गति करने लगी। प्रज्ञा तीव्र गति से दक्षिण दिशा में पहुँची, फिर वापस होकर उत्तर दिशा में आ गई। इस प्रकार उसने दो-तीन बार चक्कर लगाए। उत्तर दिशा से दक्षिण दिशा में जाती, फिर दक्षिण दिशा से उत्तर दिशा में

आती थी। हमें इस प्रकार की क्रिया पर हँसी आ गई। मगर पश्चिम दिशा व पूर्व दिशा वाली प्रज्ञाएं अपनी जगह पर स्थिर थी।

अर्थ– अनुभव में एक साथ तीन प्रज्ञा प्रज्ञाएं दिखाई दी। इन तीनों प्रज्ञाओं के विषय में भगवान् श्री व्यास जी कहते हैं, "वेद विहित श्रवण से, अनुमान (मनन) से और ध्यानाभ्यास में आदर से, तीन प्रकार से प्रज्ञा का सम्पादन करता हुआ योगी उत्तम योग को प्राप्त होता है।"

बौद्ध धर्म में भी तीन प्रकार की प्रज्ञाओं के विषय में इस प्रकार का उल्लेख मिलता है। समाधि का फल है– प्रज्ञा का उदय। भव-चक्र के मूल में 'अविद्या' विद्यमान है। जब तक प्रज्ञा का उदय नहीं होता, तब तक अविद्या का नाश नहीं हो सकता है। साधक का प्रधान लक्ष्य इसी प्रज्ञा की उपलब्धि में होता है। प्रज्ञा तीन प्रकार की होती है। 1. श्रुतिमय प्रज्ञा, 2. चिन्तामयी प्रज्ञा, 3. भावनामयी प्रज्ञा। **श्रुतिमय प्रज्ञा**– आप्त प्रमाणों से उत्पन्न निश्चय, **चिन्तामयी प्रज्ञा**– युक्ति से उत्पन्न निश्चय तथा, **भावनामयी प्रज्ञा**– समाधि जन्य निश्चय। श्रुति चिन्ता-प्रज्ञा से संपन्न शीलवान पुरूष भावना (ध्यान) का अधिकारी होता है। प्रज्ञावान पुरूष नाना प्रकार की सिद्धियाँ ही नहीं पाता है, प्रत्युत प्राणियों के पूर्व जन्म का ज्ञान, पर चित्तज्ञान, दिव्य श्रोत, दिव्य चक्षु तथा दुःख क्षय ज्ञान से सम्पन्न हो जाता है। उसकी चित्त भोग की इच्छा, जन्म लेने की इच्छा, अज्ञान मल से सदा के लिए विमुक्त हो जाती है। ऐसा साधक निर्वाण प्राप्त कर अर्हत की महनीय उच्च पदवी को पा लेता है।

साधक को ऋतम्भरा-प्रज्ञा का साक्षात्कार कई वर्षों तक होता रहता है। इसका कारण यह है कि योग में निचली भूमियों को सात्विक बनाते हुए ऊँची भूमियों में आरोह होता है। उन ऊँची भूमियों में सात्विकता की अधिकता के अनुसार ही दिव्यता की वृद्धि होती है। उन ऊँची भूमियों की सात्विकता और दिव्यता को लेकर अवरोह में नीची भूमियों को सात्विक और दिव्य बनाया जाता है। इस प्रकार नीची और ऊँची सारी भूमियाँ, सारे अंग और उनकी क्रियाएँ अर्थात् बाह्य अभ्यन्तर, सारा ही जीवन सात्विक और दिव्य बन जाता है।

अपरा प्रकृति का स्वरूप

अब मैं इस छिद्र से सम्बंधित अनुभव लिख रहा हूँ। यह अनुभव हमें 11 मार्च को सुबह आया। मैं तेज प्रकाशमान क्षेत्र में खड़ा हूँ। इस प्रकाशमान क्षेत्र में विशेषता यह थी कि तेज प्रकाश के कारण भूमि

और अंतरिक्ष एक जैसे स्वरूप वाले दिखाई दे रहे थे। हमसे थोड़ी दूरी पर ऊँचे आकार में एक स्थूल पिण्ड स्थित था। हमने स्थूल पिण्ड पर गहराई से दृष्टि डाली तो अन्दर से पारदर्शी आवरण द्वारा चार भागों में भासित होने लगा, जबकि बाहर से एक ही पिण्ड था। मैं इस पिण्ड को देख रहा था, तभी हमारी आँखें खुल गई। मैं चुपचाप आसन पर ही लेट गया।

अर्थ– स्थूल पिण्ड अपरा-प्रकृति का स्वरूप है। चारों भाग वायु तत्त्व, अग्नि तत्त्व, जल तत्त्वतथा जड़ तत्त्व हैं। अपरा-प्रकृति इन्हीं चारों तत्त्वों के द्वारा आकाश तत्त्व में सृष्टि का कार्य करती है। पिण्ड के रूप में अपरा-प्रकृति ही है। जिस प्रकाशमान क्षेत्र में मैं खड़ा हूँ, वह आकाश तत्त्व है।

ऊपर लिखे अनुभव के बाद कुछ क्षणों में हमारी आँखें अपने आप बन्द हो गई। मैं अपने आपको भूल गया। जब यह अनुभव आया– मैं एक बड़े छिद्र से नीचे की ओर देख रहा हूँ, नीचे प्रकाश भरा हुआ है। जिस क्षेत्र में मैं स्थित हूँ (छिद्र के ऊपर), वहाँ का प्रकाश नीचे के प्रकाश की अपेक्षा ज्यादा तेज प्रकाश है। हमारी दृष्टि छिद्र पर ही केन्द्रित है, उसी समय मैं कहता हूँ, "यह छिद्र तो खुल गया, तभी अनुभव समाप्त हो गया।" मैं होश में आ गया और मैंने अपनी आँखें खोल दी। मैं अब भी बिना हिले-डुले अपने आसन पर लेटा हुआ था। जैसे ही मैंने उठकर बैठने का प्रयास किया, मैं फिर बेहोश होकर गिर पड़ा। कुछ समय बाद होश आने पर जब मैंने दुबारा उठकर बैठने का प्रयास किया, फिर चक्कर आ गया और मैं बेहोश हो गया। इस प्रकार मैं तीन बार बेहोश हुआ। मैं नहीं समझ पा रहा था कि ऐसी क्रिया क्यों हो रही है? लगभग डेढ़-दो घण्टे बाद में उठकर बैठ गया। फिर किसी कार्य के लिए चल दिया। चलते समय ऐसा लग रहा था मानों मैं अपने शरीर में नहीं हूँ। हमारा शरीर एक लाश के समान अपने आप चल रहा था।

अर्थ– मैं छिद्र के ऊपर चला गया हूँ, इसलिए छिद्र से नीचे की ओर देख रहा हूँ। ऊपर का क्षेत्र परा-प्रकृति का है, छिद्र से निचला क्षेत्र अपरा-प्रकृति का है। अनुभव में सम्पूर्ण अपरा-प्रकृति प्रकाश स्वरूप में दिखाई दे रही है। जब अपरा-प्रकृति नष्ट हुए के समान हो जाती है, तब उस योगी के लिए सम्पूर्ण अपरा-प्रकृति प्रकाशित (ज्ञान के प्रकाश से) हो जाती है। परा-प्रकृति के क्षेत्र का प्रकाश अधिक तेज होने का कारण है– परा-प्रकृति में सत्त्वगुण विशुद्धता को लिए हुए है तथा अपरा-प्रकृति में सत्त्वगुण विशुद्धता को छोड़े हुए है। इस अनुभव में मैं स्वयं परा-प्रकृति में अवस्थित हो गया हूँ। परा-प्रकृति के क्षेत्र में अपरा-

प्रकृति बीज रूप में विद्यमान हो जाती है, जब वह महाप्रलय को प्राप्त होती है। यह अनुभव योगनिद्रा में आया था।

दिव्यदृष्टि

11 मार्च को दोपहर को ध्यान करने के लिए बैठा तो मुझे चक्कर आ गया और मैं अपने आसन पर गिर पड़ा। मुझे लगा हमारा सिर गोल-गोल घूम रहा है। हमें होश नहीं रहा, उसी समय हमें अनुभव आया कि मैं एक आँख देख रहा हूँ। आँख खुली हुई है तथा आँख का आकार काफी बड़ा है। इस आँख के अन्दर एक और आँख प्रकट हो गई। कुछ क्षणों में इस आँख के अन्दर भी एक और आँख दिखाई देने लगी। कुछ क्षणों तक मैं इन तीनों आँखों को देखता रहा, फिर अनुभव समाप्त हो गया और फिर मुझे होश आ गया। मैं उठकर बैठने लगा तभी आसन पर चक्कर खाकर गिर पड़ा और बेहोश-सा हो गया, तब यह अनुभव आया।

मैं अत्यन्त तेज प्रकाश वाले क्षेत्र में लेटा हुआ हूँ। वह क्षेत्र गोल-गोल घूम रहा है। मैं उस तेजस्वी प्रकाश को देख रहा हूँ। जब होश आया तब मैंने फिर उठकर बैठने की कोशिश की मगर मैं फिर गिर कर बेहोश हो गया।

अर्थ– तीनों आँखें क्रमशः भौतिक, सूक्ष्म और कारण शरीर की थी। सूक्ष्म और कारण शरीर की आँखों को दिव्य दृष्टि कहते हैं। दूसरे शब्दों में– तीनों आँखें सूक्ष्म, कारण और महाकारण थी। कारण शरीर ही अधिक शुद्ध होकर महाकारण बन जाता है अथवा कहते हैं कि कुछ पुरूष महाकारण शरीर को नहीं मानते हैं, क्योंकि कारण शरीर ही बाद में महाकारण कहलाता है। दूसरे अनुभव में मैं परा-प्रकृति के क्षेत्र में गोल-गोल घूम रहा हूँ।

अपरा-प्रकृति और परा-प्रकृति के बीच में किसी प्रकार का छिद्र नहीं है, ऐसा दृश्य में सिर्फ भासित होता है। मैंने शास्त्र में किसी जगह पढ़ा था कि क्षीर सागर के निचले तल पर एक छिद्र है, इस छिद्र से नीचे के लोक में जाया जाता है। वास्तव में परा-प्रकृति के अन्दर ही सीमित क्षेत्र में अपरा-प्रकृति सृष्टि का कार्य करती रहती है। दोनों प्रकृतियों के बीच में घनत्व का अंतर है।

आकाश तत्त्व में अवस्थित

8 जुलाई को सुबह ध्यानावस्था में मैंने देखा कि मुझे अपने सामने अत्यन्त व्यापक आकाश दिखाई दे रहा है। उस आकाश के मध्य में स्थिर पारदर्शी गेंद के आकार में वायु तत्त्व स्थित है। मैं द्रष्टा रूप से इन दोनों तत्त्वों को देख रहा हूँ। मैं बोला, "यह तो आकाश तत्त्व के अन्दर वायु तत्त्व स्थित है।" तभी वायु तत्त्व का आकार धीरे-धीरे बढ़ने लगा तथा आकाश के अन्दर वायु गति करने लगी। मैं वायु तत्त्व का गति करने का तरीका देख रहा था, तभी अनुभव समाप्त हो गया। कुछ क्षणों बाद फिर अनुभव आया। वायु तत्त्व स्थिर होकर अत्यन्त छोटे आकार में आकाश तत्त्व में स्थित हो गया।

जुलाई के दूसरे सप्ताह में अनुभव आया– मैं स्वच्छ आकाश तत्त्व को देख रहा हूँ। उस व्यापक आकाश में वायु तत्त्व नींबू के आकार का जड़ व गन्दा-सा (आकाश की अपेक्षा) दिखाई दे रहा है।

अर्थ– आकाश तत्त्व व वायु तत्त्व दोनों ही जड़ रूप में दिखाई दे रहे थे। वायु तत्त्व का बुरा हाल था।

स्थूल शरीर का दिव्य प्रकाश रूप में परिवर्तित होना

10 अगस्त सायंकाल को मैं ध्यान करने बैठा। मैंने अपनी आँखें बन्द ही की थी कि तभी दिखाई दिया कि गर्दन से नीचे का हमारा स्थूल शरीर अदृश्य हो गया। मैं जोर से बोला, "यह क्या हो गया, हमारा शरीर कहाँ चला गया?" मगर मैं अपनी आँखें खोल नहीं सका, तभी हमारा सिर भी अदृश्य हो गया। मैंने देखा कि हमारा स्थूल शरीर पूर्ण रूप से अदृश्य हो गया है। मैं अपने अदृश्य शरीर से दूर खड़ा था (सूक्ष्म शरीर में), मगर मुझे स्थूल शरीर दिखाई नहीं दिया। फिर मुझे अपनी याद नहीं रही अर्थात् समाधि में स्थित हो गया। कुछ समय बाद हमें अपने अस्तित्व का भान होने लगा अर्थात् समाधि टूटने लगी। मैंने देखा कि हमारा स्थूल शरीर ही नहीं है। जिस स्थान पर स्थूल शरीर ध्यान के लिए बैठा था, उस स्थान पर दिव्य तेज प्रकाश स्थित था। अपने अन्दर मुझे झटका-सा लगा कि हमारा स्थूल शरीर कहाँ चला गया? उसी समय दिव्य तेज प्रकाश स्थूल शरीर के रुप में परिवर्तित होने लगा।फिर मैं स्थूल शरीर में प्रवेश कर गया, अब मैं आँखें खोले बैठा था, फिर भी हमारा स्थूल शरीर पत्थर के समान स्थिर था। कुछ समय बाद हमें चेतना सी आई, तब मुझे लगा कि हमारा स्थूल शरीर वायु के समान हल्का है।

प्रिय पाठकों! ऐसा अनुभव जीवन में पहली बार आया, बड़ी विचित्र साक्षात् अनुभूति थी। ध्यान करने के लिए मैंने आँखें बन्द ही की थी कि तभी मुझे ऐसी अनुभूति हुई कि मैं ध्यान नहीं कर रहा था अर्थात् जाग्रत अवस्था में था। फिर मैंने अपने आपको स्थूल शरीर से दूर खड़ा पाया अर्थात् सूक्ष्म शरीर द्वारा अलग हो गया। अब मैं सूक्ष्म शरीर से स्थूल शरीर को देखने का प्रयत्न करने लगा। जब समाधि टूटने लगी तब अपने अस्तित्व का भान हुआ (अर्थात् सूक्ष्म शरीर में)। उस समय मैंने देखा (इस सूक्ष्म शरीर में स्थित थोड़ी दूरी पर खड़ा था) कि स्थूल शरीर के स्थान पर छोटे से आकार में दिव्य प्रकाश स्थित हो गया है। ऐसा इसलिए दिखाई दिया, क्योंकि चित्त की सभी प्रकार की भूमियाँ आरोह व अवरोह क्रम से शुद्ध हो रही हैं। उसी के अनुसार स्थूल शरीर से लेकर चित्त तक, चित्त से लेकर स्थूल शरीर तक समान शुद्धि होनी चाहिए। यह शुद्धि स्थूल नेत्रों से नहीं दिखाई देती है, क्योंकि ज्ञान का प्रकाश सदैव दिव्य दृष्टि से दिखाई देता है। जब योगी के लिए सम्पूर्ण अपरा-प्रकृति नष्ट हुए के समान होकर फिर ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित हो जाती है। उस समय स्थूल जगत् उसे दिखाई ही नहीं देता है, उसे सिर्फ प्रकाश ही प्रकाश दिखाई देता है। जब वह व्युत्थान की दशा में होता है तथा संसार में व्यवहार करता है, इससे उसकी अवस्था में किसी प्रकार का फर्क नहीं पड़ता है, क्योंकि उसका चित्त ईश्वर के चित्त में अन्तर्मुखी रहता है अर्थात् संसारी मनुष्यों को योगी का प्रकाशित शरीर कैसे दिखाई दे सकता है? उनके चित्त में (संसारी मनुष्यों के) रज तम का मैल व अविद्या का आवरण रहता है, यही अवरोध होता है। तत्त्वज्ञानी पुरूष का स्थूल जगत् में स्थूल शरीर ही रहेगा, मगर यह स्थूल शरीर ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित होता है, तभी जीवन्मुक्त अवस्था परिपक्व होती है। योगी ही दूसरे के विषय में देख तथा जान सकता है। संसारी मनुष्य ऐसा नहीं कर सकता है।

सहस्त्र-दल कमल (सहस्त्रार चक्र) का विकास होना शुरू हुआ

यह अनुभव अगस्त माह में आया। मैंने देखा कि अंतरिक्ष बहुत कम घनत्व वाला, स्वच्छ तथा निर्मल है। इसी अंतरिक्ष के मध्य में ऊपर की ओर फूल की बहुत बड़ी कली है। कली का स्वरूप बहुत बड़ा है। ऐसा लगता है कि जब यह कली विकसित होगी, तब फूल का स्वरूप बहुत ही बड़ा होगा। कली का ऊपरी भाग खुलने-सा लगा है, कली के नीचे छोटी सी डण्डी भी थी।

अर्थ– यह कली सहस्त्र-दल की है, अभी इसका विकास नहीं हुआ है। कली का ऊपरी भाग खुलने लगा है। अब यह कली शीघ्र ही विकसित होनी शुरू हो जाएगी। सहस्त्र-दल कमल सहस्त्रार चक्र है। अब यह चक्र खुलने लगा है। अभ्यास के अनुसार इसका विकास होता जाएगा। सहस्त्र-दल कमल के विकास का अर्थ है परा-प्रकृति का विकास। जैसे-जैसे इस कमल का विकास होगा, वैसे-वैसे साधक के लिए परा-प्रकृति का भी विकास होगा।

सहस्त्र-दल कमल का विकास

यह अनुभव 17अक्तूबर को आया। हमें लगभग एक फीट लम्बी कमल की नाल व उसके ऊपरी भाग पर तीन-चार पत्ते लगे दिखाई दिए। उसके ऊपर फूल खिला था। हमारी दृष्टि उस कमल की खिली हुई पंखुड़ियों की ओर गई। उस फूल में खुली हुई अनगिनत ढेरों पंखुड़ियाँ थी। मैं उन पंखुड़ियों के ऊपर खड़ा होकर आगे की ओर गति करने लगा। उस समय ऐसा लग रहा था मानों अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र में खुली हुई पंखुड़ियाँ फैली हुई हैं अर्थात् उस खिले हुए फूल की सीमाएं अनन्त थी। मैंने फूल पर खड़े होकर चारों ओर दृष्टि दौड़ाई। हमें फूल की खिली हुई (विकसित) पंखुड़ियाँ ही सर्वत्र दिखाई दी। मैं फूल के ऊपर तीव्र गति से आगे बढ़ता चला जा रहा था। फिर एक जगह हमें ठहरना पड़ा, क्योंकि आगे की ओर कुछ पंखुड़ियाँ बन्द थी। मैंने एक बार फिर चारों ओर दृष्टि दौड़ाई। मुझे फूल की पंखुड़ियों के अतिरिक्त कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था। हमारा अनुभव समाप्त हो गया।

यह अनुभव सहस्त्र-दल कमल (सहस्त्रार चक्र) का है। शास्त्रों के अनुसार इस कमल के फूल में एक हजार पंखुड़ियाँ (दल) होती हैं। मैंने पंखुड़ियों की गिनती तो नहीं की मगर इतना अवश्य कह सकता हूँ कि एक हजार पंखुड़ियाँ अवश्य होंगी। इसलिए इस कमल के लिए सहस्त्र (हजार) शब्द का प्रयोग किया गया है। इस फूल की पंखुड़ियों का रंग हल्का पीला, हल्का नीला तथा हल्का लाल (गुलाबी) था। यह फूल अभी पूरी तरह से विकसित नहीं हुआ था, क्योंकि फूल के मध्य में कुछ पंखुड़ियाँ बन्द थी। शास्त्रों के अनुसार इस सहस्त्र-दल कमल पर परम्-शिव अपनी परा-शक्ति के साथ विराजमान रहते हैं। यही परम्-शिव ईश्वर विधाता व जीवों के परम् पिता हैं। यह सहस्त्र-दल कमल परा-प्रकृति में पूर्ण रूप से व्याप्त रहता है। जब अभ्यास के द्वारा साधक के चित्त में निर्मल ऋतम्भरा-प्रज्ञा का उदय होकर पदार्थ के विशेष रूप का साक्षात्कार हो जाता है, फिर कुछ समय तक अभ्यास करने के बाद (विवेक-ख्याति के बाद)

सुषुप्तावस्था में स्थित हुआ सहस्त्र-दल कमल का पूर्ण विकास होना सम्भव हो पाता है। ऐसा तभी होता है जब साधक के चित्त में स्थित व्युत्थान के संस्कार पर-वैराग्य व अभ्यास के द्वारा नष्ट होने लगते हैं। यह जीवन्मुक्त अवस्था होती है। जैसे-जैसे इस सहस्त्र-दल कमल का विकास होना शुरू होता है, वैसे-वैसे साधक के लिए परा-प्रकृति का विकास होना शुरू हो जाता है, क्योंकि इस सहस्त्र-दल कमल का सीधा सम्बन्ध परा-प्रकृति की व्यापकता से है। जब सहस्त्र-दल पूर्ण विकसित हो जाता है अर्थात् समस्त पंखुड़ियाँ खुल जाती हैं, उस समय अभ्यासी के लिए परा-प्रकृति का पूर्ण विकास हो जाता है।

उन साधकों के लिए एक आवश्यक बात बता दूँ, जिन साधकों का ब्रह्मरन्ध्र खुल चुका है तथा कुण्डलिनी भी पूर्ण यात्रा करके स्थिर हो चुकी है। ऐसे साधक यह न समझें कि उनका सहस्त्रार चक्र खुला हुआ है। वर्तमान समय में बहुत से साधक गुरू पद स्थित हैं जो सैकड़ों शिष्य बनाकर बड़े-बड़े आश्रमों में रहते हैं। ऐसे साधकों की निर्विकल्प समाधि तो लगती है, मगर सहस्त्रार चक्र पूर्ण रूप से अविकसित अर्थात् सुषुप्तावस्था में रहता है।

सहस्त्रार चक्र जीवन्मुक्त अवस्था में खुलता (विकसित) है। सहस्त्रार चक्र (सहस्त्र-दल कमल) खुलने का अर्थ– जीव का जीवत्व पीछे छूट गया तथा जीव शिव रूप में स्थित हो जाता है अर्थात् शिवत्व की पदवी प्राप्त कर लेता है। विदेह मुक्त अवस्था में चित्त का अरूप भी नहीं रहता है। ब्रह्मरन्ध्र खुलने पर जो अत्यन्त तेज प्रकाश दिखाई देता है वह ब्रह्म के स्वरूप का प्रकाश नहीं होता है। जैसा कि कहा जाता है– यह ब्रह्म का प्रकाश है, बल्कि यह अहंकार की सात्विक सशक्त वृत्ति प्रकाश रूप में होती है। यही वृत्ति ब्रह्म की ओर से उसके स्वरूप का निर्देशन करती है। इस अवस्था में साधक अहंकार की भूमि पर प्रवेश करता है। इस अवस्था में तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए साधक को ढेरों वर्ष अथवा कई जन्म लग जाते हैं। तत्त्वज्ञान की प्राप्ति प्रकृतिलय अवस्था को प्राप्त किए हुए (जन्म से ही) साधकों को होती है। इसलिए ब्रह्मरन्ध्र खुलने पर साधक को यह नहीं समझना चाहिए कि उसका सहस्त्रार चक्र खुल गया है। सहस्त्रार चक्र का सम्बन्ध ईश्वर के लोक (परा-प्रकृति) से है। सहस्त्रार चक्र खुले हुए योगी इस संसार में वर्तमान समय में मात्र कुछ ही होंगे।

सहस्त्रार चक्र में एक हजार दलों का कमल है, यह जो कहा गया है वह इस प्रकार है– मूलाधार चक्र से आज्ञा चक्र तक 50 दल अथवा 50 मात्रकाएँ हैं। सहस्त्रार चक्र में कुल 20 विवर हैं, एक विवर में 50 मात्राकाएँ गिनी जाएँ तो एक हजार दल हो जाते हैं। समाधि अवस्था में मैंने इन विवरों को देखा है। ये विवर कुँए जैसे स्वरूप में दिखाई देते हैं। इन विवरों में अत्यन्त क्लेशात्मक संस्कार भरे रहते हैं। इन

क्लेशात्मक संस्कारों को साधक धीरे-धीरे भोगकर नष्टकरता है। जिस विवर के क्लेशात्मक संस्कार भोगकर नष्ट कर लेता है, तब इस विवर के अन्दर सर्वत्र ज्ञान का प्रकाश भर जाता है। यह क्रिया साधक ध्यानावस्था में देखता है। इसी प्रकार धीरे-धीरे संस्कारों को भोगकर विवर ज्ञान के प्रकाश से भरते रहते हैं। इन विवरों को भरने में साधक को वर्षों लग जाते हैं। इन विवरों के भर जाने पर सहस्त्र-दल कमल पूर्ण विकसित हो जाता है। ऐसा जीव जीवत्व त्याग कर जीवेश्वर बन जाता है अर्थात् शिवत्व की पदवी प्राप्त कर लेता है, इसे ही पूर्णता कहते हैं। इस सहस्त्रार चक्र के विषय में मैं पहले भी लिख चुका हूँ।

सहस्त्रार चक्र के पूर्ण विकास के लिए आवश्यक है– तमोगुणी अहंकार को पूर्ण रूप से त्याग देना चाहिए। परन्तु इस अहंकार का त्याग तभी हो सकता है, जब ऋतम्भरा-प्रज्ञा के द्वारा स्थूल से लेकर प्रकृति पर्यन्त तक सारे पदार्थों का एक साथ साक्षात्कार हो जाता है। फिर विवेक-ख्याति के उत्पन्न होने पर आत्मा अनात्मा विषयक ज्ञान होने से तमोगुणी अहंकार क्षीण होने लगता है। फिर धीरे-धीरे अभ्यास के द्वारा तमोगुणी अहंकार (जो देहाभिमान का कारण है) से निवृत्त हो जाता है, तब सात्विक अहंकार का उदय होता है। इसी सात्विक अहंकार का विस्तार होने पर सहस्त्र-दल कमल का विकास होता है। इसलिए अभ्यासी को चाहिए कि देहाभिमान का कारण अर्थात् सम्पूर्ण अपरा-प्रकृति व उससे बने पदार्थों के पूर्ण रूप अहम् मम् वाले भाव से निवृत होकर परम् अहंकार (सत्त्वगुणी) का उदयकर पूर्ण विस्तार (विकास) करना होगा, तभी सहस्त्र-दल कमल का पूर्ण विकास होना सम्भव हो पायेगा।

मैं उन अभ्यासियों के लिए दो शब्द लिखना चाँहूगा जिनके चित्त में ऋतम्भरा-प्रज्ञा का उदय हो चुका है। सिर्फ एक-दो बार प्रज्ञा के उदय हो जाने पर (साक्षात्कार हो जाने पर) व प्रकृति के पदार्थों के विशेष रूप का साक्षात्कार हो जाने पर जीव को जीवत्व से मुक्त न समझें, बल्कि समाधि का अभ्यास करते रहें। चित्त में प्रज्ञा का उदय होना व छिपना (अस्त होना) कई बार होता है तथा प्रज्ञा अलग-अलग दिशाओं से उदय होकर अलग-अगल दिशाओं में अस्त होती दिखाई देती है। इस क्रिया से चित्त की निचली व ऊपरी भूमि (स्थूल से लेकर चित्त तक) आरोह-अवरोह क्रम से समान रुप से शुद्धि होती रहती है। यह क्रिया तब तक चलती रहती है जब तक आरोह-अवरोह क्रम के समान शुद्धि नहीं हो जाती अर्थात् उच्चतम अवस्था और स्थूल अवस्था समान रूप से शुद्ध नहीं हो जाती है। यह प्रक्रिया वर्षों तक चलती रहती है। इस अवस्था में जैसे-जैसे चित्त की शुद्धता बढ़ेगी, वैसे-वैसे जीव के लिए परा-प्रकृति का विकास सम्भव होगा। जीव और चित्त की समान शुद्धता होने पर सहस्त्रार चक्र का पूर्ण विकास हो जाता है।

सहस्त्र-दल कमल के पूर्ण विकास के लिए स्थूल व सूक्ष्म रूप से सम्पूर्ण संसार से आसक्ति का त्याग करना होगा। माता-पिता, पत्नी-पुत्र, भाई-बहन, मित्र-रिश्तेदार आदि अभ्यासी के लिए बन्धन स्वरूप ही हैं। अत इन सभी के मोह से ऊपर उठना होगा वरना परा-प्रकृति का अभ्यासी के अन्दर अवतरण व उसका विकास होना सम्भव नहीं हो पायेगा। इन सभी से अहम् मम वाला बन्धन तोड़ना ही होगा। बन्धन तोड़ते समय बन्धन आपके मार्ग में अवरोध भी डाल सकता है, परन्तु इस अवरोध को पीछे छोड़कर आगे बढ़ना होगा। इसके बाद ही जीव का जीवत्व नष्ट होगा और तब सहस्त्र-दल कमल का पूर्ण विकास होगा।

सहस्त्र-दल का कमल पूर्ण रूप से विकसित हो गया

यह अनुभव 29 नवम्बर को आया। मैं देख रहा था कि सहस्त्र-दल कमल विस्तृत क्षेत्र में विकसित हो गया है। उसी समय स्पष्ट दिखाई दिया कि सहस्त्र-दल कमल के मध्य में चार पंखुड़ियाँ बन्द हैं। इन पंखुड़ियों पर हमारी दृष्टि पड़ते ही एक-एक करके चारों पंखुड़ियाँ खुल गई। पंखुड़ियाँ खुलते ही मध्य भाग में बैठा हुआ एक पुरूष दिखाई दिया। इस पुरूष का स्वरूप स्पष्ट नजर नहीं आ रहा था। मैं इस पुरूष को देखने का प्रयास कर रहा था।

अर्थ– कमल के मध्य में पंखुड़ियों के अन्दर बैठा हुआ पुरूष हमारा ही स्वरूप है। इस अनुभव में दिखाया गया कि हमारे लिए अब इस सहस्त्र-दल कमल का विकास हो गया है। इस अनुभव का अर्थ मैं अनुभव में ही समझ रहा था कि मैंने परा-प्रकृति का विकास कर लिया है। मैंने अपनी आँखें बन्द की, फिर ईश्वर से प्रार्थना की। हे ईश्वर! मैं आपको प्रणाम करता हूँ, कृपया आप हमें बताएं कि जो अनुभव हमने देखा है, क्या वह सत्य है? फिर भी आपके द्वारा सुनना चाहता हूँ। क्या आप मेरी आवाज सुन रहे हैं? आवाज आई, "हाँ, मैं तुम्हारी आवाज सुन रहा हूँ और देख भी रहा हूँ कि तुम्हें जो यह अनुभव आया, इस अनुभव वाली अवस्था कुछ दिनों बाद परिपक्व होगी। संसार में थोड़ा-सा दुःख तो मिलता ही रहता है। श्री राम और कृष्ण ने भी भूलोक पर आकर बहुत दुःख उठाये थे। क्या जानना चाहोगे? लो स्वयं जान लो, कृष्ण के विषय में जानो।" उसी समय मैं कृष्ण के विषय में देखने लगा– वासुदेव जी कृष्ण को टोकरी में रखे रात्रि के समय यमुना नदी पार कर रहे हैं। तभी आवाज आई– "अरे! यह क्या कर रहे हो, दृश्य देखने लगे, सिर्फ अंतीन्द्रिय ज्ञान से जानों कि कृष्ण ने कितने दुःख सहे हैं। राम तो राजा के पुत्र बने फिर

भी दुःख उठाना पड़ा। उन्हें बचपन में दुःख नहीं मिला, मगर बाद में जंगल में बहुत दुःख उठाये। अन्त में अपनी पत्नी सीता को भी त्यागना पड़ा।" फिर आवाज आनी बन्द हो गई और राम और सीता की आवाज आने लगी। राम कह रहे थे–"सीते! मुझे गलत मत समझना, अब तुमको त्यागने का समय आ गया है। शायद तुम हमारी बात को नहीं समझ रही होगी, तो अपने निज स्वरूप से पूछ लो।" सीता बोली– "हाँ स्वामी! हमें मालूम है, विधि का विधान यही है। हम बिछुड़ कहाँ रहे हैं, हमें संसार के सामने तुमसे दूर जाना है। यह कार्य लक्ष्मण को सौंप दो, मुझे जंगल में छोड़ आए, शेष कार्य मैं खुद कर लूंगी।" उसी समय मैं सोचने लगा कि ऐसा तो शास्त्रों में नहीं लिखा है। तभी श्रीकृष्ण की आवाज आने लगी। वह राधा से कह रहे थे– "हमारा तुम्हारा साथ तो अनन्त काल से है, क्या तुम्हें याद नहीं है? परन्तु अब बिछुड़ने का समय आ गया है, यह कष्ट तुम्हें सहना ही होगा। अब हमारा समय कुछ लीलाएं करने का आ गया है। तुम्हारे विरह के समय मैं तुम्हारे पास ही रहूँगा (गूढ़ शब्दों में कहा)।" राधा की आवाज सिर्फ सिसकने की आ रही थी। फिर मैंने अपनी आँखें खोल दी और सोचने लगा कि ऐसा भी शास्त्रों में कभी नहीं पढ़ा है। हो सकता है वाल्मीकि जी व व्यास जी ने ये शब्द न लिखें हों, नहीं तो हमें ऐसे शब्द नहीं सुनाई देते। ईश्वर हमें इन शब्दों के द्वारा शिक्षा क्यों देते? राम और कृष्ण का अपनी-अपनी संगिनी त्यागने के विषय में ही क्यों बताया, यह हमारी समझ में नहीं आया।

सहस्त्र-दल कमल ज्ञान का आयतन है, यही परा-प्रकृति या ईश्वर का लोक है। अनुभव में सहस्त्र-दल कमल पूर्ण विकसित होते हुए दिखाया गया है। सहस्त्र-दल कमल के मध्य में जो पुरूष बैठा हुआ दिखाई दिया वह पुरूष जीवेश्वर रूप में मैं ही हूँ। इसका अर्थ है कि जीव ने अपना जीवत्व पीछे छोड़ दिया है तथा अपने वास्तविक स्वरूप जीवेश्वर रूप में स्थित होकर शिवत्व की पदवी प्राप्त करने वाला है। यही स्थान परम्-शिव व पराशक्ति का है। जीव ईश्वर का अंश है, इसलिए यह ईश्वर के समान है। जब जीव अज्ञानता वश अपरा-प्रकृति को अपनी भोग वस्तु समझकर भोगने लगता है, तब जीव जीवत्व को प्राप्त हो जाता है तथा अभ्यास के द्वारा विवेक-ख्याति अवस्था प्राप्त होने पर अपरा-प्रकृति का त्याग करने लगता है। अपरा-प्रकृति से आसक्ति की समाप्ति होने पर जीव का जीवत्व छूट जाता है, फिर जीवेश्वर रूप को प्राप्त हो जाता है। इस अवस्था में जीव को ईश्वर के समान सम्पूर्ण शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। इसका अर्थ यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वह ईश्वर बन जाता है। सदैव याद रखना चाहिए कि जीव ईश्वर का अंश मात्र है, इसलिए सम्पूर्ण शक्तियाँ ईश्वर की अपेक्षा अंशमात्र ही प्राप्त होती हैं। ईश्वर को शक्तियाँ नित्य प्राप्त हैं, जीव को शक्तियाँ परिणाम द्वारा प्राप्त हुई हैं। जगत् की उत्पत्ति-स्थिति प्रलय का अधिकार सिर्फ ईश्वर के ही पास है, जीव को प्राप्त नहीं होता है। जीवेश्वर को चैतन्य अलौकिक

अक्षरात्मक देह (महाकारण शरीर) की प्राप्ति होती है। यह चैतन्य अलौकिक अक्षरात्मक देह ईश्वर के समान स्वरूप वाली होती है। यह अवस्था मुझे अभ्यासानुसार भविष्य में क्रमश: धीरे-धीरे प्राप्त होगी।

ईश्वर के समान स्वरूप व शक्तियों का प्राप्त होना

यह अनुभव 5 दिसम्बर को आया। मैं लेटा हुआ हूँ, मेरा स्वरूप अत्यन्त विशाल व अनन्त सीमा वाला है। मुझे सर्वत्र अपना ही शरीर दिखाई दे रहा है। मैं अपना शरीर नाभि तक ही देख पा रहा हूँ, नाभि से निचला भाग हमें नहीं दिखाई दे रहा है। नाभि के पास ही चौड़े कुँए के आकार में अपरा-प्रकृति दिखाई दी। कुँए के अन्दर प्रकाश (स्थूल-सा) भरा हुआ है। उसी समय मैं बोला, "लो इसका भोग करो।" हमारे द्वारा इन शब्दों को कहते ही हमारे दाहिने ओर के वक्ष से हमारे ही समान तेजस्वी बिल्कुल छोटा-सा मानव आकार प्रकट हो गया। यह मानव आकार हमारे शरीर के ऊपर चलता हुआ नाभि की ओर जाने लगा। मैं उस मानव आकार को देखते ही बोला, "यह तो मैं ही हूँ", जबकि उस मानव आकार का पीठ वाला भाग दिखाई दे रहा था। वह मानव आकार हमारे पेट के ऊपर चलता हुआ (वक्ष-स्थल) नाभि की ओर जा रहा था। नाभि के पास पहुँचकर वह काफी चौड़े कुँए नुमा क्षेत्र के अन्दर स्थित अपरा-प्रकृति के ऊपर पेट के बल गिर पड़ा अर्थात् कुँए के अन्दर गिर पड़ा। अपरा-प्रकृति के ऊपर गिरने पर उसने सम्पूर्ण अपरा-प्रकृति को अपने स्वरूप के (शरीर) नीचे दबा लिया। इसका मुँह अपरा-प्रकृति की ओर (नीचे की ओर) था। मुझे उस मानव आकार का पीठ वाला भाग दिखाई दे रहा था, तभी दृश्य बदल गया। बिल्कुल अपरा-प्रकृति जैसा दृश्य उससे हटकर दूसरा बना गया। इस दृश्य में सम्पूर्ण अपरा-प्रकृति के ऊपर एक काला सर्प व्यास रेखा के समान सीधा लेटा हुआ था। इस काले सर्प का मुँह नीचे की ओर अर्थात् अपरा-प्रकृति की ओर था। सर्प के शरीर पर दो-तीन मोटी-मोटी सफेद रेखाएं आड़े रूप में थी। मैं यह दृश्य देख कर हँस पड़ा, क्योंकि जिस प्रकार मुझसे प्रकट हुए मानव ने सम्पूर्ण अपरा-प्रकृति को अपने नीचे दबा लिया था, ठीक उसी प्रकार इस काले सर्प ने सम्पूर्ण अपरा-प्रकृति को नीचे दबा रखा था। यह दोनों दृश्य समाप्त हो जाने के बाद भी मैं अत्यन्त विशाल व अनन्त स्वरूप में अर्थात् सम्पूर्ण क्षेत्र में लेटा हुआ था। उसी समय हमें अपने स्थूल शरीर की याद आ गई। मैंने देखा कि मैं आँखें बन्द किए हुए (स्थूल शरीर में) बैठा था। हमें अनुभूति हो रही थी कि क्षुद्र स्थूल शरीर व अनन्त विशाल स्वरूप दोनों में मैं ही हूँ। बड़ी विचित्र अनुभूति थी। अत्यन्त विशाल स्वरूप से मैं सम्पूर्ण क्षेत्र में स्थित था। इसी विशाल स्वरूप के अन्दर अपरा-प्रकृति मात्र थोड़े से क्षेत्र के अन्दर स्थित थी। इसी अपरा-प्रकृति में अत्यन्त छोटे से रूप में

(स्थूल शरीर में) मैं स्थित हूँ अर्थात् अत्यन्त विशाल स्वरूप के अन्दर बिल्कुल वैसा ही अत्यन्त छोटा-सा शरीर स्थित है। मैं कभी छोटे स्वरूप में अपनी अनुभूति करता, फिर अत्यन्त विशाल स्वरूप में अपनी अनुभूति करता, कभी दोनों स्वरूपों में एक साथ अनुभूति करता। यह अनुभूति अत्यन्त आनन्ददायक थी। यह अनुभूतियाँ मैं जाग्रत अवस्था में कर रहा था, सिर्फ हमारे स्थूल नेत्र बन्द थे। तभी मेरा विशाल स्वरूप छोटे स्वरूप से बोला, "एक बात याद रखना, इस संसार में तुम्हारा अब कुछ भी नहीं है।" अनुभव समाप्त हो गया।

अर्थ– मैं इस अनुभव में ईश्वर के समान स्वरूप वाला बन गया। मैंने अपरा-प्रकृति को अपने शरीर के अन्दर ही मात्र थोड़ी-सी जगह के अन्तर्गत विद्यमान देखा। मेरे द्वारा जीव की उत्पत्ति भी हुई तथा यह भी दिखाया गया कि जीव किस प्रकार ईश्वर के शरीर से प्रकट होकर अपरा-प्रकृति में जन्म ग्रहण करने आ जाता है। जीव प्रकट होकर ईश्वर के चेहरे को नहीं देखता है, बल्कि ईश्वर की आज्ञानुसार अपरा-प्रकृति की ओर चल देता है। फिर अपरा-प्रकृति में आता हुआ (गिरता हुआ) दिखाई देता है। जीव सम्पूर्ण अपरा-प्रकृति अपने को नीचे दबा लेता है, तभी उसके अन्दर विकार आ जाता है 'यह मेरी है', यही उसके पतन का कारण है। फिर अहंकार (सर्प के रूप में) प्रकट हो जाता है अर्थात् बहिर्मुखी हो जाता है, अन्त में स्थूल जगत् में स्थूल शरीर को प्राप्त होता है। जीव ईश्वर से किस प्रकार प्रकट होता है, यह मुझे पहली बार अनुभव के द्वारा ज्ञात हुआ। इससे पहले मैंने कभी शास्त्रों में नहीं पढ़ा। शायद भगवान् व्यास जी ने इस विषय पर लिखना उचित नहीं समझा होगा।

इस अनुभव से स्पष्ट हो गया कि अपरा-प्रकृति ईश्वर के अन्दर ही विद्यमान रहती है अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ईश्वर के अन्दर स्थित है। उसी में सृष्टि और प्रलय होती रहती है, ईश्वर पर इसका कोई फर्क नहीं पड़ता है। ईश्वर के अन्दर अपरा-प्रकृति विद्यमान होने के कारण ईश्वर कण-कण में विद्यमान रहता है, क्योंकि अपरा-प्रकृति ईश्वर के शरीर में ही विद्यमान है। जीव ईश्वर का अंश होने के कारण ईश्वर के ही समान है। मगर अपरा-प्रकृति को अपना समझ लेने के कारण अर्थात् आसक्ति के कारण बन्धन से मोह वश बंध जाता है। फिर वह अपने स्वरूप को भूल जाता है तथा सदैव दुःख उठाता रहता है। ईश्वर ने जीव को प्रकृति का भोग करने के लिए कहा था, परन्तु यह नहीं कहा था कि इस प्रकृति को अपना समझो अथवा इसमें अज्ञानता वश आसक्त हो जाओ। जीव ईश्वर के वचनों के अनुसार नहीं चला, इसलिए यहाँ दुःख की अनुभूति करता रहता है। इस प्रकृति का नियम है– परिवर्तन। परिवर्तनशील वस्तु किसी एक की होकर नहीं रह सकती है, यही जीव के दुःख का कारण है।

अनुभव में अपरा-प्रकृति कुँए के समान नीचे की ओर दिखाई दे रही है। जब अपने से कम घनत्व वाला क्षेत्र दिखाई देता है, तब वह ऊपर की ओर भासित होता है। जब अपने से अधिक घनत्व वाला क्षेत्र दिखाई देता है, तब वह नीचे की ओर भासित होता है। इसलिए अपरा-प्रकृति नीचे की ओर (कुँए के समान) दिखाई दे रही है, जबकि वह कुँए जैसा क्षेत्र नहीं है, बल्कि भासित हो रहा है। परा-प्रकृति की अपेक्षा अपरा-प्रकृति बहुत अधिक घनत्व वाली है। सच तो यह है कि परा-प्रकृति के क्षेत्र के अन्दर ही अपरा-प्रकृति विद्यमान है। जीव जब अपरा-प्रकृति में आया तब उसका मुँह नीचे की ओर था। प्रकृति निम्न मुखी है अर्थात् सृष्टि उन्मुख रहती है। जीव अपरा-प्रकृति को अपना समझने के कारण नीचे की ओर दृष्टि किए है। इसी प्रकार अहंकार (सर्प) नीचे की ओर बर्हिमुख है, तभी तो सृष्टि में उन्मुख प्रवाह बहता है।

अपरा प्रकृति की सीमाएँ

यह अनुभव 18 दिसम्बर का है। अनुभव में मैं सहजासन मुद्रा में बैठा हूँ। सम्पूर्ण अपरा-प्रकृति के कार्य हमारे अन्दर (पेट वाले भाग में) ही हो रहे हैं, ऐसा मैं देख रहा हूँ। फिर मैं दूर स्थित होकर देखने लगा– हमारा सूक्ष्म शरीर उर्ध्व होने लगा, थोड़ा-सा उर्ध्व होकर आगे की ओर गति करने लगा। यह शरीर अब भी सहजासन मुद्रा में बैठा हुआ था। यह शरीर आगे की ओर चला जा रहा था। हमें सम्पूर्ण क्षेत्र की सीमाएं दिखाई दे रही थी। यह गोलाकार क्षेत्र था, जब सूक्ष्म शरीर आगे की ओर गति करता हुआ सीमा पर पहुँचा। आखिरी सीमा पर पहुँचते ही शरीर अपने आप अदृश्य हो गया। शरीर के अदृश्य होते ही क्षेत्र भी अदृश्य हो गया। अब मैं द्रष्टा रुप में अकेला सर्वत्र व्याप्त था।

अर्थ– अपने शरीर के अन्दर सम्पूर्ण अपरा-प्रकृति का व्यवहार देख रहा था, फिर द्रष्टा रूप से सूक्ष्म शरीर को देख रहा था। सूक्ष्म शरीर के नष्ट होते ही अपरा-प्रकृति भी नष्ट हुए के समान हो गई। इसलिए अपरा-प्रकृति का क्षेत्र अदृश्य होता दिखाई दिया।

अंडे के रूप में स्थित कर्माशय नष्ट हुए

यह अनुभव 25 दिसम्बर का है। हमारे सामने थोड़ा नीचे की ओर पात्र में रखा हुआ एक अंडा दिखाई दिया। मैंने इस अंडे को पात्र से उठाकर हाथों में ले लिया, फिर दोनों हाथों से एक बार में ही अंडे के छिलके को अलग कर दिया। अंडे का ऊपरी आवरण अपने आप आधा-आधा होकर बीच से अलग हो गया। अंडे के अन्दर वाला भाग पात्र में पिण्ड रूप में गिर गया। अंडे के छिलके को (ऊपरी आवरण को) मैं हाथों में पकड़े था तभी अनुभव समाप्त हो गया।

यह वही अंडा है, जिसका उल्लेख मैंने अपनी पुस्तक **'योग कैसे करें'** में किया है। यह अनुभव 22 मई 1999 को आया था। तब यह अंडा हमारे हृदय से निकलकर अंतरिक्ष में चला गया था तथा अंडे के अन्दर से आवाज आई थी, "तुम्हें अगला जन्म लेना अनिवार्य है।" अब यही अंडा अनुभव में दिखाई दिया। अब मेरे अन्दर परा-प्रकृति का विकास क्रम होना शुरू हो गया है। जीव जीवेश्वर रूप में स्थित होता दिखाई दिया। ऐसी अवस्था में जिन सूक्ष्म कर्माशयों ने अंडे का स्वरूप धारण कर रखा है, ये अपने आपको किस क्षेत्र में छिपा सकते हैं, मैं तो सर्वत्र विद्यमान हूँ। आखिरकार इन कर्माशयों को प्रकट होना पड़ा। अब मैंने अंडे का ऊपरी आवरण अलग कर दिया है, इससे अन्दर स्थित इस रूप में कर्माशय अब नष्ट हो जाएँगे।

कर्माशयों से मुक्त होना तय

यह अनुभव 30 दिसम्बर को ध्यानवस्था में आया। हमारे सामने अंडे के अन्दर का गीला गाढ़ा पिण्ड रूपी भाग (बिना आवरण के) प्रकट हो गया। मैंने अपने दाहिने हाथ की हथेली बिना आवरण वाले अंडे के ऊपर दे मारी। जोर से हथेली लगते ही अंडे का गीला गाढ़ा पदार्थ बिखर कर चारों ओर फैल गया। बिखरा हुआ पदार्थ हमारे ऊपर शरीर के निचले भाग पर भी गिरा, तभी समाधि भंग हो गई।

अर्थ– अंडे का गीला गाढ़ा पदार्थ चारों ओर बिखर गया= इन कर्माशयों को भोगकर अब मैं कर्माशयों से मुक्त हो जाऊँगा अर्थात् मैं पूर्ण रूप से सदैव के लिए कर्माशयों से रहित हो जाऊँगा।

हमसे इस विषय में बहुत से लोगों ने विभिन्न तरह के प्रश्न किए कि आप अनुभव में लिख रहे हैं, 'अगला जन्म लेना अनिवार्य है', मगर आपने तो तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लिया है। तत्त्वज्ञानी पुरूष जन्म-मृत्यु

के आवागमन से मुक्त हो जाता है? मैंने इस अनुभव में उस अंडे को नष्ट कर दिया है, फिर भी यदि हमसे जन्म ग्रहण करने के लिए परा-प्रकृति ने कहा तो मैं अवश्य जन्म ग्रहण करने भूलोक पर आ जाऊँगा। वह जन्म हमारा विशेष प्रकार का होगा, क्योंकि मैं अभी से तत्त्वज्ञान से युक्त हूँ।

सन् 2005

श्री हरि के स्वरूप में अनन्त ब्रह्माण्ड

16 जनवरी को ध्यान करने के पश्चात यह अनुभव आँखें बन्द करने पर आया। मैं बैठा हुआ हूँ, हमारे सामने एक महापुरूष अत्यन्त विशाल स्वरूप में लेटा हुआ है। उसके शरीर पर वस्त्र नहीं हैं। उसके सम्पूर्ण शरीर पर ढेरों ब्रह्माण्ड विद्यमान हैं। इन ब्रह्माण्डों की गिनती नहीं की जा सकती है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों का स्वरूप एक जैसा ही है। ऐसा लग रहा है मानों उस महापुरूष के शरीर पर साबुदाना के आकार के समान अनन्त ब्रह्माण्ड स्थित हैं। उसके सिर, गला, गले से नीचे के क्षेत्र पर (वक्ष स्थल) ब्रह्माण्ड स्थित नहीं थे, शेष सम्पूर्ण क्षेत्र पर ब्रह्माण्ड स्थित थे। उस विशालकाय महापुरूष का सम्पूर्ण शरीर गौरवपूर्वक देखने के बाद मैं बोल पड़ा, "ये तो श्री हरि हैं।" उनके शरीर पर अनन्त ब्रह्माण्ड विद्यमान हैं।

अर्थ– ब्रह्माण्ड= अपरा-प्रकृति है। श्री हरि के शरीर (उनके चित्त में अथवा परा-प्रकृति में) पर ढेरों ब्रह्माण्ड स्थित हैं। इस अनुभव में उन्होंने मुकुट, माला तथा वस्त्र आदि नहीं पहने थे, उनका शरीर प्रकाश द्वारा बना था। शास्त्रों में वर्णन मिलता है कि श्री हरि के रोम-रोम में ब्रह्माण्ड व्याप्त हैं अर्थात् अनन्त ब्रह्माण्ड स्थित हैं। यह दृश्य देखकर लगता है कि हमारे ब्रह्माण्ड जैसे अनन्त ब्रह्माण्ड हैं। उस समय हम यह नहीं जान सके कि इन अनन्त ब्रह्माण्डों में हम कौन से ब्रह्माण्ड के अन्दर स्थित हैं?

श्री हरि का आशीर्वाद

16 जनवरी सायं काल 7 बजे ध्यान करने के लिए आँखें बन्द करके बैठ गया तभी आवाज सुनाई दी, "पुत्र, तुम्हें हमारे स्वरूप का दर्शन हो गया है।" मेरी शक्ति योगमाया के द्वारा निर्मित ब्रह्माण्डों को मेरे स्वरुप में स्थित देखे। मेरे इस स्वरुप का जिस जीव को दर्शन हो जाता है, फिर उसे कभी भी हमारी योगमाया प्रभावित नहीं करती है। अब तुम जन्म ग्रहण करने से मुक्त हो गये हो। तुम्हें हमारे जिस स्वरूप का चिंतन करना हो करो, चाहे मेरे इस स्वरूप का, चाहे आत्म स्वरूप का। तुम्हें आत्म स्वरूप अच्छा लगता है उसी का चिंतन करो और समाधि लगाओ। मैं उसी समय समाधि में स्थित हो गया। श्री हरि की

आवाज आई, "उर्ध्व हो जाओ", क्षण भर रुक कर फिर आवाज आई, "और उर्ध्व हो जाओं", फिर मैं अपने आप को भूल गया तथा समाधि में लीन हो गया।

अर्थ– इस अनुभव में स्वंय श्री हरि ने कहा कि जिस जीव को मेरा दर्शन (इस स्वरूप का) हो जाता है, फिर वह जन्म ग्रहण नहीं करता है तथा इस मार्ग पर आगे जाने के लिए आशीर्वाद भी दिया।

माया द्वारा अपने स्वरूप का दर्शन

यह अनुभव 18 जनवरी को आया। मैंने देखा कि मैं आसन मुद्रा में बैठा हुआ हूँ। हमारे सामने अत्यन्त उज्जवल सफेद कपड़े पहने हुए एक स्त्री आई। उसने हमें गौरपूर्वक देखा और फिर बोली, "तुम्हारी अवस्था तो बहुत आगे पहुँच गई है"। उत्तर में मैं कुछ ना बोला, सिर्फ उसे देखता ही रहा। वह स्त्री फिर बोली, "मुझे यह बताइए", परन्तु तभी मैंने उसकी बात काटते हुए कहा, "आप हमारी माता हैं, हमारी गुरू हैं, हम आपको क्या बता सकते हैं, आप तो श्रेष्ठ हैं।" उत्तर में वह स्त्री कुछ न बोली, बल्कि हमारे आसन के सामने थोड़ी दूरी पर नीचे भूमि पर लेट गई। उसका शरीर शवासन मुद्रा में था। फिर उसका शरीर बदलने-सा लगा, उसके चेहरे की सुन्दरता पहले जैसी नहीं रही, उसके चेहरे व शरीर का तेज भी कम हो गया। उसके शरीर के कपड़े व बाह्य त्वचा अदृश्य हो गई। त्वचा के अदृश्य होते ही शरीर का माँस व रक्त वाहिनी नाड़ियाँ स्पष्ट रुप से दिखाई देने लगी। इन नाड़ियों के अन्दर रक्त प्रवाह आता और जाता हुआ दिखाई दे रहा था। क्षण भर में माँस व रक्तवाहिनी नाड़ियाँ भी अदृश्य हो गई। अब सम्पूर्ण शरीर की हड्डियाँ व गले से लेकर कमर तक के आंतरिक अंग अर्थात् भोजन नली, आमाशय, हृदय, फेफड़े, यकृत, आँते आदि दिखाई दे रहे थे। ये सभी अंग व्यवस्थापूर्वक क्रिया भी कर रहे थे। गले से ऊपर वाला भाग सिर्फ हड्डियों का ढाँचा था। तभी वह स्त्री बोली, "देखो मेरा आंतरिक स्वरूप कैसा है।" मैं स्थिर दृष्टि किए हुए उन अंगों व उन अंगों की क्रिया प्रणाली को देख रहा था। कुछ क्षण बाद सभी अंग (आंतरिक) अदृश्य हो गये, अब सिर्फ हड्डियों का ढाँचा रह गया था। हड्डियों का ढांचा रूपी स्त्री बोली, "देखो अब मैं कैसी लगती हूँ।" बिना कोई उत्तर दिए मैं निष्भाव रूप से कुछ क्षणों तक देखता रहा, फिर आसन को त्यागकर एक ओर चल दिया, तभी हमारा ध्यान टूट गया।

अनुभव में यह स्त्री माया का स्वरूप है। इस माया ने पहले अपने स्वरूप की सुन्दरता दिखाई, फिर आंतरिक अंग व उनकी कार्य प्रणाली दिखाई। यह इसी स्वरूप के बल पर तथा जगत् के मोहक होने से

जीव समूहों को अज्ञानता के द्वारा बांधे रखती है। जीव बड़े आराम से मजबूत बन्धनों में बंधता रहता है। मैंने इसे माता व गुरू भी कहा था। वह स्त्री हमसे क्या पूछना चाहती थी, यह मुझे मालूम नहीं है, क्योंकि मैंने उसकी बात काट दी थी। जब स्त्री शवासन मुद्रा में लेटकर शांत हो गई, तब उसका चेहरा थोड़ा-सा बदल गया। उसकी उम्र ज्यादा लगने लगी तथा चेहरे का तेज व लावण्यता समाप्त हो गई थी। अनुभव के अन्त में मैं आसन से उठकर चल दिया अर्थात् हमें इस स्वरूप से पूर्ण रूप से विरक्ति हो गई।

तुम पूर्ण हो

यह अनुभव 25 जनवरी को आया। हमारी आँखें अपने आप बन्द हो गई। फिर हमें आवाज सुनाई दी, "तुम इस व्यास रेखा के समान पूर्ण हो।" इन्हीं शब्दों के साथ हमें सामने की ओर वृत्ताकार रूप में क्षेत्र दिखाई दिया। इस वृत्ताकार क्षेत्र के बीच में एक व्यास रेखा प्रचण्ड तेजस्वी रूप में दिखाई दी। मैं इस रेखा को (व्यास रेखा) कुछ क्षणों तक देखता रहा, फिर प्रसन्नता से उछल पड़ा।

अर्थ– व्यास का अर्थ होता है– 'पूर्ण' अर्थात् जो अपने आप में पूर्ण हो। वृत्ताकार क्षेत्र आकाश तत्त्व द्वारा निर्मित था अर्थात् वह क्षेत्र हमें कम घनत्व वाला स्वच्छ दिखाई दे रहा था। जो व्यास रेखा दिखाई दे रही थी उस रेखा का अर्थ पूर्णता से होता है। जिस प्रकार वह रेखा वृत्त के अन्दर पूर्ण है, उसी प्रकार हमसे कहा गया कि तुम भी पूर्ण हो।

चित्त की भूमि का शुद्ध होना

यह अनुभव 27 अप्रैल को आया। अनुभव आश्चर्यजनक है। मैं किसी खुले हुए मकान के अन्दर आसन में बैठा हूँ। उस भूमि पर सूर्य के प्रकाश के समान प्रकाश फैला हुआ है तथा दीवारों का भी प्रतिबिम्ब दिखाई दे रहा है। हमारी दृष्टि आसमान की ओर गई। आसमान अत्यन्त स्वच्छ, नीला व कम घनत्व वाला था तथा आसमान में रात्रि के समान तारे निकले हुए थे। मैं यह देखकर आश्चर्यचकित हो गया कि आसमान में तारे निकले हुए हैं और भूमि पर दिन के समान प्रकाश फैला हुआ है। अर्थात् रात्रि और दिन दोनों एक साथ विद्यमान थे। भूमि पर एक बकरी लाल और सफेद रंग की बंधी हुई है, तभी

पश्चिम दिशा में आसमान में जोरदार बिजली चमकी। बिजली के चमकते ही मैं सोचने लगा कि आसमान स्वच्छ है, बादल भी नहीं है, फिर भी बिजली चमक रही है।

अर्थ– भूमि पर प्रकाश है, आसमान पर रात्रि के समान तारे निकले हुए हैं। हम पहले भी लिख चुके हैं कि जब ऋतम्भरा-प्रज्ञा का चित्त में उदय होता है, तब चित्त की निचली भूमि और ऊँची भूमि आरोह-अवरोह व अवरोह-आरोह क्रम से शुद्ध हुआ करती है अर्थात् स्थूल से लेकर चित्त तक, चित्त से लेकर स्थूल भूतों (स्थूल शरीर तक) की क्रम से शुद्धि होती रहती है। चित्त की भूमि पर प्रज्ञा का प्रकाश फैला हुआ है। अनुभव में दिखाई देने वाला आकाश चित्ताकश है, उसमें प्रज्ञा का प्रकाश कम है, क्योंकि पश्चिम दिशा में बिजली चमकी, ऐसी कुण्डलिनी जाग्रत होते समय चमकती है। तब साधक सूक्ष्म भूतों के अन्तर्गत साधना करने की शुरूआत करता है अर्थात् दृश्य में दिखाई देने वाली भूमि व आसमान में दिखाई देने वाले तारों का आपस में भूमि की अवस्था में परिवर्तन है। चित्त में स्थित स्थूल पंचभूत व सूक्ष्म पंचभूत, तन्मात्राओं, अहंकार आदि की भूमियाँ भिन्न होती हैं। अनुभव का अर्थ है– चित्त का आरोह-अवरोह क्रम से फिर अवरोह-आरोह क्रम से शुद्ध होना, जिससे स्थूल से लेकर चित्त तक समान रूप से शुद्धि हो जाए। यह प्रक्रिया वर्षों तक अभ्यास के अनुसार चलेगी। बकरी प्रकृति का प्रतीक है, लाल रंग- रजोगुण, सफेद रंग- सत्त्वगुण है।

स्थूल जगत नष्ट हुए के समान

यह अनुभव 20 जून का है। जैसे ही ध्यान करने के लिए आँखें बन्द की तभी दिखाई दिया– मेरी कुटिया के आसपास स्थित पेड़ आदि क्रमशः अदृश्य होते जा रहे हैं। अदृश्य हुए स्थान पर प्रकाश ही प्रकाश दिखाई दे रहा था। यह प्रकाश अत्यन्त स्वच्छ व निर्मल था। मेरी कुटिया व आसपास का दूर-दूर तक का क्षेत्र प्रकाश से युक्त था। वहाँ पर कुटिया नहीं थी। जो बड़े-बड़े ढेरों पेड़ हैं, वह भी नहीं थे। हमारा स्थूल शरीर भी नहीं था, सिर्फ प्रकाश ही प्रकाश विद्यमान था। मैं अभी केवल आँखें बन्द किए हुए था, ध्यान नहीं कर रहा था अर्थात् समाधि नहीं लगी थी। मैं यह दृश्य देखकर सोचने लगा कि मेरी कृटिया और मैं तथा आसपास के पेड़ आदि कहाँ गये? सम्पूर्ण आश्रम ही अदृश्य था, सिर्फ प्रकाश अत्यन्त स्वच्छ व निर्मल था।

अर्थ– अनुभव में असत् की सत्ता अदृश्य हो गई। उस स्थान पर निर्मल निखरा हुआ प्रकाश विद्यमान देखा। अनुभव से स्पष्ट होता है कि असत् (अपरा-प्रकृति) की सत्ता है ही नहीं, सिर्फ ब्रह्म ही सर्वत्र विद्यमान है। गीता में श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं– *"हे अर्जुन! असत् वस्तु का अस्तित्व नहीं है ओर सत् का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनों को तत्त्वज्ञानी पुरूषों द्वारा देखा गया है। **(गीता-2/16)**।"*

सहस्त्र-दल कमल

यह अनुभव 14 अगस्त को आया। मैं अनन्त पंखुड़ियों वाला कमल का फूल देख रहा था। मैंने फूल का निचला भाग देखा। निचले भाग में पंखुड़ियों के किनारों पर काला-काला पदार्थ सा लगा है। कुछ क्षणों तक मैं यहीं पर देखता रहा फिर बोला कि यह काला रंग समाप्त होना चाहिए।

अर्थ– यह सहस्त्र-दल कमल है। निचले भाग में काला पदार्थ लगा है। वह चित्त पर स्थित तमोगुण है। इस तमोगुण को भोगकर व अभ्यास के द्वारा समाप्त करना होगा।

परम्-शांति की अवस्था

यह अनुभव 16 अगस्त को आया। चारों ओर तेज प्रकाश फैला हुआ है। मैं बड़े आराम से आसमान की ओर मुँह करके लेटा हुआ हूँ। फिर मैं उठकर बैठकर गया, तो देखा कि मैं काफी मोटी खम्बेनुमा जगह के ऊपर लेटा हुआ हूँ। इसकी ऊँचाई कई मीटर होगी। नीचे चारों ओर समतल भूमि है जो प्रकाश से चमक रही है।

अर्थ- इस गोलाकार खम्बे का स्वरूप ऊपर की ओर उठे हुए गदा के समान है। जिस प्रकार गदा का ऊपरी भाग गोलाकार रूप में होता है तथा निचला भाग गोल, पतला व लम्बा सा होता है, उसी प्रकार ऊपर गोलाकार चौड़े स्थान पर लेटा था। नीचे वाला भाग खम्बेनुमा, गोलाकार तथा पतला था। मैं लेटा हुआ आकाश की ओर देख रहा था। नीचे समतल प्रकाशित भूमि चित्त की है। जो ऊपर की ओर गंदा-सा उठा हुआ है, उसके ऊपर लेटना अर्थात् अपरा-प्रकृति से परे उर्ध्वमुखी होकर परम्-शांति को प्राप्त हूँ। वेदान्त के अनुसार यह जगह ईश्वर की होती है तथा इस ऊपर उठे स्थान पर स्थित होकर सभी जीवों पर शासन करता है।

सभी धर्मों की आखिरी सीमा एक ही है

यह अनुभव 19 अगस्त का है। हमारे सामने स्वामी चिदानन्द जी बैठे थे। मैं उनके पास गया और बोला, "स्वामी जी! आप यहाँ बैठे हुए हैं?, मैं आपके दर्शन के लिए आपके आश्रम में तीन बार गया मगर आपके सेवकों ने मना कर दिया।" मैं स्वामी जी को दण्डवत प्रणाम करने लगा। जिस समय मैं भूमि पर लेटा था, स्वामी जी ने हमारे सिर को दोनों हाथों से थपथपाया व आशीर्वाद दिया। उस समय मैं दिव्य दृष्टि से अपना सम्पूर्ण शरीर देख रहा था। मैंने देखा कि मेरे शरीर पर एक भी वस्त्र नहीं है, मैं पूर्ण रूप से नग्न था। फिर मैं उठकर बैठ गया। स्वामी चिदानन्द जी बोले, "मैं मिलने के लिए किसी को मना नहीं करता हूँ।" फिर उन्होंने हमें एक मोटी-सी पुस्तक दी और बोले, "यह पुस्तक लो, इसे पढो और अपने पास रखो।" मैंने पुस्तक को खोलकर देखा, उसमें गीता लिखी हुई थी। मैं समझ गया कि यह गीता है। स्वामी जी उठकर खड़े हो गये। फिर उन्होंने भी अपने वस्त्र उतार दिए और नग्न हो गये। फिर वह अपनी जगह पर बैठ गये। हम दोनों एक दूसरे के सामने नग्न बैठे हुए थे। कुछ क्षणों बाद मैं वहाँ से चल दिया। अब मैं (महलनुमा) मकान के अन्दर आगे की ओर चल रहा था। यह बहुत सुन्दर बना था। फिर मैं आगे का दृश्य देखकर ठहर गया। सामने की ओर जैन धर्म के साधक विशेष प्रकार की साधना कर रहे थे। मैं समझ गया कि ये साधक जैनी हैं। दूसरी ओर देखा तो पंजाबी साधक बैठे साधना कर रहे थे। मैं ओर आगे बढ़ा तो एक ओर मुसलमान स्त्री-पुरूष नमाज पढ़ रहे थे। मैं सोचने लगा कि यह कैसी जगह है, जहाँ सभी धर्मों के लोग उपस्थित हैं। मैं ओर आगे बढ़ा तो उधर अंग्रेज पुरूष अपनी प्रार्थना कर रहे थे। फिर आगे की ओर बढ़ा तो वहाँ पर छोटे-छोटे से समूह में पुरूष विभिन्न प्रकार की साधना कर रहे थे। अब मैं समझ गया कि सभी धर्मों के साधक अपने-अपने ढंग से साधना कर रहे हैं। उस विशाल भवन में ऊपर छत थी मगर वहीं पर एक ओर से जाने पर ऊपर की ओर आसमान दिखाई दिया, उधर सीढ़ियाँ नहीं थी। आसमान की ओर पतले-पतले तार थे। ऊपर की ओर जाना मुश्किल था, मगर जोर लगाकर मैंने उन तारों को पकड़ लिया, फिर तारों को तोड़ता हुआ मैं तारों के ऊपर से निकलने लगा। फिर आँखें बन्द करके ईश्वर का स्मरण करने लगा, तभी भयंकर विस्फोट हुआ, विस्फोट की आवाज सुनकर मैं चौंक पड़ा। हमारी आँखें खुल गई, मैंने देखा वहाँ विशाल भवन नहीं था। विस्फोट की आवाज के साथ महलनुमा मकान अदृश्य हो गया था। सभी धर्मों के पुरूष न जाने कहाँ चले गये थे। अब मैं सिर्फ अकेला था, चारों ओर बिल्कुल शांत स्वच्छ आकाश था।

अर्थ– यह स्वामी चिदानन्द जी ऋषिकेश के शिवानन्द आश्रम में रहते हैं। नग्न होना– विकारों से रहित होना है। दोनों एक-दूसरे के सामने विकारों से रहित बैठे थे। महलनुमा जगह अपरा-प्रकृति का क्षेत्र। अपरा-प्रकृति की आखिरी सीमा के अन्दर सभी धर्मों की आखिरी सीमाएं है। भूलोक पर अज्ञानता के कारण मनुष्य एक-दूसरे के धर्म की बुराई करता है। सभी धर्म बराबर हैं तथा अन्त में सभी धर्मों के अनुयायी एक ही स्थान पर पहुँचते हैं। इसलिए सभी मुनष्यों को दूसरों के धर्म का सम्मान करना चाहिए। अपरा-प्रकृति की सीमा से परे किसी धर्म का अस्तित्व नहीं है, क्योंकि ईश्वर के यहाँ सभी जीव समान हैं। अनुभव में दिखाई देने वाले पतले-पतले तार जाल के समान थे। यह जाल बन्धन का स्वरूप है तथा अपरा-प्रकृति की आखिरी सीमा है। सभी धर्म अपरा-प्रकृति के अन्तर्गत आते हैं। ईश्वर को प्राप्त करने के लिए धर्म रूपी बन्धन से परे जाना होगा। ईश्वर के लोक में सभी जीवात्माएँ समान हैं। मेरे द्वारा बन्धन नष्ट करते ही सम्पूर्ण अपरा-प्रकृति का स्वरूप नष्ट हो गया।

सन् 2006

आवा

यह अनुभव 6 जनवरी को आया। चारों ओर तेज प्रकाश फैला हुआ है। सामने की ओर ऊँचा-सा आवा लगा है। आवा के बाहरी ओर गीली मिट्टी का अच्छी तरह से लेप लगाया गया है। आवा के ऊपरी भाग से धुआँ तेजी से निकल रहा है अर्थात् आवा के अन्दर बर्तन पकाने के लिए आग लगा दी गई है।

अर्थ– आवा– जिसमें कुम्हार घड़ा पकाता है। घड़े के समान हमें इस संसार में पकना होगा अर्थात् वर्तमान में जो हमारी जीवन्मुक्त अवस्था है, उस जीवन्मुक्त अवस्था को इस संसार रूपी आवा में हमें अभ्यास द्वारा परिपक्व बनाना होगा।

नाव

यह अनुभव 3 फरवरी को आया। मैं दूर से बैठा देख रहा हूँ कि एक नाव नदी पार कर रही है। नाव धीरे-धीरे आगे की ओर चली जा रही है। नाव के ऊपर एक पुरूष बैठा हुआ है। जब नाव नदी के उस पार किनारे पर पहुँच गई, तब वह पुरूष नाव से उतर कर उस पार खड़ा हो गया।

अर्थ– नदी– संसार का स्वरूप है तथा नाव- ज्ञान का स्वरूप। नाव पर बैठा हुआ पुरूष मैं हूँ। मैं ज्ञान रूपी नाव पर बैठकर संसार से पार हो गया। इस नाव के विषय में शास्त्रों में व गीता में उल्लेख मिलता है।

तीर

यह अनुभव 14 फरवरी का है। मैं किसी स्थान पर खड़ा हुआ हूँ तथा चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश फैला हुआ है। तभी हमारे बायीं ओर भूमि के ऊपर आकाश में विस्फोट की आवाज सुनाई दी। विस्फोट के साथ आसपास के सम्पूर्ण पुरूषों व अन्य जीवों की मृत्यु हो गई। मैंने विस्फोट की ओर देखा तो विचित्र सा दृश्य दिखाई दिया। मैंने देखा कि एक पुरूष भूमि से काफी ऊपर तीरों के ऊपर खड़ा था। तीर के ऊपर

वाला सिरा भूमि के ऊपर था तथा दूसरा वाला सिरा उसके पैरों के तलवों में चिपका था। जब वह पैर उठाकर चलता था तब तीर की नोक वाला भाग भूमि से स्पर्श होता था। नोक वाला भाग भूमि पर स्पर्श होते ही भूमि पर विस्फोट होता था। विस्फोट के साथ आस-पास के प्राणी मर जाते थे। वह दो तीरों के ऊपर खड़ा हुआ तीरों के सहारे आगे की ओर (पूर्व की ओर) चला जा रहा था।

अर्थ– वह पुरूष मैं हूँ, तीर का अर्थ ज्ञान होता है। योग रूपी तरकस होता है। वह पुरूष ज्ञान के ऊपर सवार है। विस्फोट होना व प्राणियों का मरना- ज्ञान के द्वारा चित्त की वृत्तियाँ नष्ट होती जा रही हैं, इससे निर्बीज समाधि का अभ्यास बढ़ाने में सहायता मिलेगी।

अनुभवों में कई बार दिखाई देता है कि कोई पुरूष तीर कमान लिए है, वह तीर के द्वारा ऊपर अंतरिक्ष की ओर निशाना लगा रहा है। इसका अर्थ होता है– अभ्यासी ज्ञान के द्वारा ब्रह्म प्राप्ति का लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयास (अभ्यास) कर रहा है अर्थात् ज्ञान के द्वारा ब्रह्म प्राप्ति का लक्ष्य भेद रहा है। कभी-कभी तीर की नोक ऊपर की ओर दिखाई देती है, उसका भी यही अर्थ होता है। जब अनुभव में दिखाई दे कि कोई तीर कमान लिए हुए हो तथा तीर की नोक नीचे ओर है अर्थात् भूमि की ओर है, तब अभ्यासी को समझ लेना चाहिए कि उसका अभ्यास रुक जाएगा या अवरोध आ जाएगा अथवा वह संसार की ओर आसक्त होकर व्यवहार में लिप्त हो जाएगा।

चित्त की भूमि पर छिद्र

पाठकों! इस प्रकार के कई अनुभव 2005 में आए, मगर यहाँ पर मैं एक ही अनुभव लिख रहा हूँ। साधकों! इस प्रकार के कई अनुभव कुछ महीनों तक आते रहते हैं। मैं समाधि अवस्था में अपने आसन पर बैठा था। समाधि अवस्था में बहुत जोर से विस्फोट की आवाज सुनाई दी। विस्फोट के कारण हमारी समाधि खुल गई और मैं आँखें खोलकर बैठ गया। मगर यह नहीं समझ पाया कि विस्फोट की आवाज कहाँ से आई?

एक दिन मैं समाधि पर बैठा था। हमें विस्फोट की आवाज सुनाई दी। आवाज के साथ ही हमें होश-सा आने लगा, तभी हमें अनुभव में दिखाई देने लगा कि मैं भूमि पर बैठा हुआ भूमि की ओर देख रहा था। भूमि पर दो-ढाई फीट चौड़ा एक छिद्र था। मैं छिद्र के अन्दर झाँककर देखने लगा। छिद्र के अन्दर देखने पर मैं चौंक पड़ा, क्योंकि छिद्र आर-पार था। छिद्र के नीचे की ओर उस पार अत्यन्त स्वच्छ आसमान दिखाई

दे रहा था। ऐसा लग रहा था कि जिस भूमि पर मैं बैठा हुआ हूँ वह ठोस पदार्थ से बनी हुई परत है। जैसा ऊपर की ओर आकाश है, वैसा ही नीचे भी आकाश है। कुछ क्षणों में एक जोरदार विस्फोट फिर से हुआ, मैं फिर चौंक पड़ा। यह विस्फोट बिल्कुल वैसा ही था जैसा पहले सुना था। विस्फोट के साथ वहीं एक ओर भूमि पर एक ओर छिद्र हो गया। मैं छिद्र के पास गया, उस दो-ढाई फुट चौड़े छिद्र के अन्दर झाँकने लगा। उस छिद्र के नीचे उस पार स्वच्छ आसमान विद्यमान था, जो अब स्पष्ट दिखाई देने लगा। भूमि ठोस पदार्थ से बनी हुई मोटी परत थी, यह मोटी परत आकाश में विद्यमान है। भूमि की मोटाई 8-10 फुट रही होगी। अब विस्फोट के द्वारा छिद्र हो रहे हैं। इस प्रकार छिद्र हो-हो कर भूमि नष्ट हो जाएगी, फिर सिर्फ आकाश शेष रह जाएगा। इस भूमि के अन्दर मोटी-मोटी लकड़ियों का जाल दिखाई (छिद्र के द्वार) दे रहा था। छिद्र होते समय मिट्टी जैसा पदार्थ अदृश्य हो जाता था। लकड़ियों का जाल-सा बना रहता था। ये लकड़ियाँ भूमि को मजबूती प्रदान कर रही थी, जिस प्रकार मकान की पक्की छत (लेंटर में) में लोहे के सरियों का जाल मजबूती प्रदान करता है।

ऐसे अनुभव लगातार कुछ महीनों से आ रहे थे। अब भूमि पर छिद्र ही छिद्र हो गये थे। ऐसा लगता था जैसे कुछ दिनों बाद छिद्र हो-हो कर यह भूमि ही नष्ट हो जाएगी, फिर ऊपर-नीचे अर्थात् सर्वत्र आकाश ही आकाश रह जाएगा।

अर्थ– भूमि– चित्त की भूमि, छिद्र होने का अर्थ है– चित्त की भूमि का नष्ट हो जाना। छिद्र के अन्दर स्थित लकड़ियों का अर्थ है- अत्यन्त क्लेशात्मक कर्माशय। इन अनुभवों में चित्त की भूमि थोड़ी-थोड़ी करके टूट रही है। नीचे की ओर आकाश का दिखाई देना- चित्त की भूमि चित्ताकाश के अन्दर ही विद्यमान है। भूमि टूटने पर चित्ताकाश दिखाई देने लगता है। इस भूमि पर कर्माशय विद्यमान रहते हैं। सच तो यह है कि कर्माशयों के द्वारा ही इस भूमि का निर्माण हुआ है। इस भूमि के नष्ट हो जाने पर जीवन्मुक्त अवस्था परिपक्व हो जाएगी।

आवश्यक जानकारी– विवेक-ख्याति अवस्था प्राप्त होने के बाद जब तक विवेक-ख्याति का प्रवाह निरन्तर चित्त में बहता रहता है, तब तक उसकी अवस्थिति आत्मा में रहती है। जब विवेक-ख्याति का प्रवाह रुक जाता है अर्थात् जब चित्त में व्युत्थान की वृत्तियाँ प्रकट हो जाती है, तब साधक अपरा-प्रकृति के (व्युत्थान अवस्था में) अन्तर्गत आ जाता है। उसी अवस्था में अपरा-प्रकृति से सम्बंधित अनुभव आते हैं। जब उसके चित्त में फिर विवेक-ख्याति का प्रवाह निरन्तर बहने लगता है, तब आत्मानुभूति होने लगती है। इस प्रकार के अभ्यास से पर-वैराग्य के संस्कार पुष्ट होते हैं। व्युत्थान के

संस्कार कमजोर हो-हो कर दबते रहते हैं। वे व्युत्थान के संस्कार (वृत्तियाँ) व्युत्थान अवस्था से लेकर समाधि की उच्चतम अवस्था तक के होते हैं, इसलिए आत्मानुभूति के बाद भी अपरा-प्रकृति की अनुभूति होने लगती है। इसलिए अभ्यास के द्वारा विवेक-ख्याति का निरन्तर प्रवाह बनाए रखने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। निर्बीज समाधि जब परिपक्व हो जाती है, तब व्युत्थान के संस्कार पूर्ण रूप से दब जाते हैं।

मैं शिवलिंग के ऊपर

यह अनुभव 7 अक्तूबर का है। अनुभव में देखा कि मैं शिवलिंग के ऊपर सहजासन मुद्रा में बैठा हूँ। दिव्य दृष्टि के द्वारा हमें अपने नीचे शिवलिंग का स्वरूप दिखाई दे रहा था। काले रंग के शिवलिंग की ऊँचाई लगभग एक-डेढ़ फुट होगी। शिवलिंग का ऊपरी सिरा हमारे गुदा द्वार को स्पर्श कर रहा था अर्थात् शिवलिंग के ऊपर बैठे समय हमें अनुभूति सी हो रही थी कि हमारा गुदा द्वार शिवलिंग के ऊपर रखा है। मैं उस समय हँस रहा था।

अर्थ– शिवलिंग अपरा-प्रकृति का प्रतीक है। प्रकृति के चार स्वरूप होते हैं– 1. अलिंग 2. लिंग 3. विशेष 4. अविशेष। अलिंग (अव्यक्त) रूप में परा-प्रकृति होती है, क्योंकि इसमें गुण साम्यावस्था में रहते हैं। लिंग, विशेष, अविशेष रूप में अपरा-प्रकृति रहती है। यह व्यक्त रूप में होती है, क्योंकि इसमें गुण विषमावस्था को प्राप्त होने के कारण परिणाम को प्राप्त होते हैं। सम्पूर्ण प्रकृति (परा-प्रकृति और अपरा-प्रकृति) के स्वामी परम्-शिव ही हैं। वही ईश्वर हैं, सगुण ब्रह्म हैं। निर्गुण ब्रह्म ही सगुण ब्रह्म का स्वरूप धारण करता है। ब्रह्म ही प्रकृति के रूप में (परा-शक्ति के रूप में) प्रकट हो जाते हैं। अव्यक्त होने के कारण परा-प्रकृति को अलिंग कहते हैं, इसी अलिंग से लिंग रूप में (व्यक्त रूप में) अपरा-प्रकृति प्रकट हो जाती है अर्थात् अलिंग और लिंग रूप में परम्-शिव ही होते हैं।

अनुभव में मैं अपरा-प्रकृति के (शिवलिंग) ऊपर बैठा हूँ अर्थात् मैं अपरा-प्रकृति से परे हो गया हूँ। यहाँ पर शिवलिंग का अर्थ परम्-शिव से नहीं लगाया जा सकता है। पहले के अनुभवों में शिवलिंग का स्वरूप दिखाया जा चुका है। प्रकृति की वास्तविकता जानने के बाद शिवलिंग का वास्तविक ज्ञान हो पाता है।

सन् 2007

सगुण ब्रह्म (परम्-शिव) का दर्शन

यह अनुभव 11 जनवरी को आया। मैंने अपने सामने थोड़ा नीचे की ओर एक घड़ा देखा, जिसका मुँह नीचे की ओर था। हमारी दृष्टि घड़े के मध्य भाग पर पड़ी, उसमें एक छिद्र था। घड़े के मध्य में आड़े रूप में गोलाकार गहरी रेखा बनी थी। यह रेखा घड़े के जर्जर हो जाने के कारण बनी थी। घड़ा मध्य भाग में पुराना हो जाने के कारण बिल्कुल कमजोर हो गया था। ऐसा लगा रहा था मानों घड़ा किसी भी वक्त टूट कर मध्य भाग से दो टुकड़ों में बंट जाएगा, क्योंकि घड़ा पुराना होने के कारण कमजोर हो गया था। तभी मैं बोला– "इस घड़े का मुँह नीचे की ओर क्यों है?" अब हमारी दृष्टि घड़े के मुँह पर पड़ी, तब मैं देखकर चौंका कि वह किसी की हथेली पर रखा था। मैंने हथेली देखनी शुरू की, उसी समय हमें भगवान् शिव दिखाई दिए। भगवान् शिव आगे की ओर हाथ किए अपनी हथेली पर उल्टा घड़ा (नीचे की ओर मुँह) रखे हुए खड़े थे। उनके सिर के बाल खुले हुए थे, बाल चारों ओर बिखरे हुए थे तथा नीचे पैरों की पिन्डलियों तक लटके हुए थे। हमारी और भगवान् शिव की दृष्टि एक दूसरे से टकराई अर्थात् एक दूसरे को देखा। उनके शरीर पर नाग नहीं थे, सिर्फ कमर में व्याघ्र चर्म पहने थे। उसी क्षण भगवान् शिव ने उस घड़े को नीचे की ओर दे मारा (किसी वस्तु पर पटक दिया)। घड़ा टूट कर ढेरों टुकड़ों के रूप में बिखर गया। सारे दृश्य में चित्त की भूमि नहीं थी। नीचे की ओर अनन्त गहराई तक स्वच्छ निर्मल आकाश था तथा ऊपर भी स्वच्छ निर्मल आकाश था। भगवान् शिव के शरीर की लम्बाई सौ (100 मीटर) मीटर के लगभग होगी। नीचे की ओर उनके सम्पूर्ण पैर दिखाई नहीं दे रहे थे। उनके पैर आकाश के अन्दर थे तथा उनका चेहरा बहुत सुन्दर था। शरीर पर सिर्फ कमर पर व्याघ्र चर्म-सा पहने थे। यह अनुभव कुछ क्षणों का ही था।

अर्थ– इस अनुभव में सगुण ब्रह्म का साक्षात्कार हुआ है, इसी को पुरूष दर्शन भी कहते हैं। इसका वर्णन शास्त्रों में मिलता है। यह परम्-शिव थे जो सभी प्राणियों के चित्त में हृदय गुफ़ा में रहते हैं। इनका स्वरूप शंकर के समान था, क्योंकि सभी रूद्र (शंकर) इन्हीं परम्-शिव के तीसरे नेत्र से प्रकट होते हैं। भगवान् शंकर के गले में नाग रहता है, मगर ये नाग व त्रिशुल आदि से रहित थे। नाग अहंकार का स्वरूप होता है, परन्तु ये परम्-शिव तमोगुणी अहंकार से परे हैं। यह निर्गुण ब्रह्म का सगुण स्वरूप होता है। शंकर पर तमोगुणी अहंकार का प्रभाव नहीं पड़ता है, वे अहंकार को (नाग को) बाहर से लपेटे रहते हैं। जिस

अभ्यासी को सगुण ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है, उसे ईश्वर के लोक की स्थूल शरीर त्यागने के पश्चात प्राप्ति अवश्य होती है अर्थात् मोक्ष मिलना निश्चित है, यही जीवन्मुक्त अवस्था होती है। अनुभव में भूमि नहीं है, नीचे की ओर भी स्वच्छ आकाश है तथा चित्त की भूमि नष्ट हो चुकी है अर्थात् चित्त का स्वरूप नष्ट हो गया है, जिसमें परम्-शिव का साक्षात्कार हुआ है। घड़ा चित्त का स्वरूप था, वह स्वरूप परम्-शिव ने नष्ट कर दिया। घड़ा रूपी चित्त पुराना व जर्जर हो चुका था। जिस घड़े में छिद्र हो जाता है वह उपयोगी नहीं रह जाता है, बल्कि नष्ट हुए के समान हो जाता है। इसलिए उसे नष्ट कर दिया गया। दूसरे शब्दों में यह सूक्ष्म शरीर का प्रतीक है, क्योंकि प्राणियों के कर्माशय सूक्ष्म शरीर में ही विद्यमान रहते हैं। सूक्ष्म शरीर का सम्बन्ध चित्त की भूमि से होता है। चित्त की भूमि नष्ट होने के बाद साधक को जगत् का आभास मात्र ही होता है। परम्-शिव सगुण होने के कारण सर्वत्र व्याप्त हैं, इसलिए उनका स्वरूप अत्यन्त व्यापक दिखाई दे रहा है।

कलयुग ने हमसे माफी माँगी

यह अनुभव 14 जनवरी को आया। ध्यान में हमें कुरूप चेहरे वाला एक पुरूष दिखाई दिया। कुछ समय तक मैं उसकी कुरूपता को देखता रहा, फिर मन में सोचा की यह कैसा कुरूप चेहरे वाला पुरूष है? मैंने उस कुरूप चेहरे वाले पुरूष से पूछा, "आप कौन है?" उस पुरूष ने उत्तर दिया, "मैं कलयुग हूँ। योगी, हमें क्षमा कर दो।" मैंने कलयुग से पूछा कि आप किस बात की क्षमा माँग रहे हैं? कलयुग बोला कि मैंने आपके साथ अन्याय किया है। मैं अपने प्रभाव का प्रयोग करके आपको कष्ट देता रहा, अधर्म का सहारा लेकर आप पर मिथ्या आरोप लगवाए तथा अपमानित करवाया। कलयुग इसी प्रकार ढेरों शब्द बोले जा रहा था। मैं उसके शब्दों को सुनकर हँसने लगा। जब कलयुग चुप हो गया, तब मैं कलयुग से बोला कि तुमने कोई भी कार्य गलत नहीं किया है, बल्कि तुम्हारे द्वारा किए गये सारे कार्य हमारे हित में ही साबित हुए हैं। मैं तुम्हें अपना विरोधी नहीं मानता हूँ और न ही तुम्हारे कार्यों से दुःखी हूँ, बल्कि सच तो यह है कि तुमने हमारा सहयोग ही किया है। कलयुग तू अपने कार्यों पर दुःखी मत हो, मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। अभी तुम अपना कार्य इसी प्रकार करते रहो ताकि हमारा उदेश्य पूर्ण हो सके। कलयुग दुःखी भाव से चुपचाप खड़ा हमारी बातें सुन रहा था, मैं हँसे जा रहा था। आखिरकार मैं क्यों न हँसता, उसने हमारा लक्ष्य आसान जो कर दिया था। फिर कलयुग अदृश्य हो गया।

अर्थ– कलयुग हमसे इसलिए माफी माँग रहा था, क्योंकि उसी से प्रेरित होकर समाज ने हम पर कुछ झुठे आरोप लगाए, मगर ऐसे आरोपों से मैं विचलित नहीं हुआ। हाँ, दिखावे के लिए मैं कभी-कभी क्रोध में आ जाता था ताकि आरोपी प्रसन्न हो जाएँ और अपना कार्य करते रहें। परन्तु ऐसे आरोपों से मैं कभी दुःखी नहीं हुआ, बल्कि मैं एकांत में जाकर हँसा करता था। ऐसे लोग मेरे कर्माशयों को समाप्त कर चित्त की शुद्धि कर रहे हैं तथा वे लोग स्वयं अपना ही चित्त मलिन करते जा रहे हैं अर्थात् वे दूसरे रूप में मेरा चित्त शुद्ध करने के कारण मेरे शुभचिंतक जैसे ही हैं। इसलिए हमने कलयुग से कहा, "अभी कुछ दिन और ऐसे ही कार्य करवाते रहो।" कलयुग अपने प्रभाव से ऐसे लोगों को अधर्मी बना देता है। ऐसे अधर्मियों के चित्त में सदैव तमोगुणी वृत्तियों का प्रवाह बहता रहता है। मैं कलयुग को अपना मित्र मानता हूँ। ऐसे अवरोधों से साधक का कल्याण ही होता है, क्योंकि अकारण अपमान सहने व निन्दा सुनने से चित्त में स्थित मल जलकर नष्ट हो जाता है तथा चित्त निर्मल व शुद्ध होने लगता है। मैं अपना चित्त शुद्ध करने के लिए इसी प्रकार से समाज का सहयोग ले लेता हूँ तथा आरोपियों के लिए मन में ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि प्रभु ये लोग सैदव मेरी तरह प्रसन्न रहें।

सर्वोच्च अवस्था पर

यह अनुभव 17 जून को आया। अनुभव में मैं आसन लगाए हुए बैठा हूँ। मैंने आँखें खोलकर देखा (अनुभव में) कि मैं अत्यन्त स्वच्छ आकाश में आसन लगाए हुए बैठा हूँ। मुझे अपने आसन के नीचे का दृश्य दिखाई देने लगा, तब दिखाई दिया कि मैं बहुत ऊँची पर्वत की चोटी के ऊपर आसन लगाए हुए बैठा हूँ। पर्वत की चोटी का ऊपरी भाग नोक के समान था। मुझे आश्चर्य हुआ कि मैं इतने ऊँचे पर्वत की नोकदार चोटी के ऊपर बैठा हूँ।

अर्थ– इस अनुभव में मैं चित्त की सर्वोच्च अवस्था पर आसन लगाए हुए विद्यमान हूँ।

सन् 2008

नाग ने काटा

यह अनुभव 27 फरवरी का है। चारों ओर प्रकाश फैला हुआ था। मैं महलनुमा घर के आँगन में बैठा हुआ हूँ। घर के बारह की ओर से हमारे पास बहुत लम्बा व हल्का काला नाग आता हुआ दिखाई दिया। नाग हमारे पास आकर अपना फन ऊपर उठाने लगा, तब मैं बोला, "कृपया आप अपना स्वरूप छोटा कर लीजिए, इतने विशाल स्वरूप से हमें डर लगता है।" मेरे कहते ही नाग ने अपना स्वरूप छोटा कर लिया, परन्तु फिर भी उसका स्वरूप विशालकाय था। उस नाग ने अपना फन ऊपर की ओर उठाया। मैं बड़े आराम से बैठा हुआ बोला, "मुझे मालूम है, आप मुझे काटोगे।" उस नाग के फन की लम्बाई एक मीटर रही होगी। उसके फन को देखकर मैं डरा नहीं, बल्कि सोचा की इसका फन कितना बड़ा है। नाग की लम्बाई 18-20 फीट की रही होगी। नाग ने अपना मुँह खोला और हमारे दाहिने हाथ के अंगुठे और तर्जनी के बीच वाला भाग अपने मुँह के अन्दर भर लिया। मैंने अपना हाथ हिलाया नहीं, क्योंकि वह अपने मुँह से हमारा हाथ दबाए हुआ था। उस समय उसके दाँतो का दबाव हमें महसूस हो रहा था, मगर विष वाले दाँतो की अनुभूति नहीं हो रही थी। कुछ क्षणों बाद नाग ने हमारा हाथ छोड़ दिया, फिर वहीं पर अदृश्य हो गया। हमारे हाथ पर उसके छोटे-छोटे दाँतो के निशान दिखाई दे रहे थे।

अर्थ– सन् 1985 से 1986 के बीच तीन बार इसी प्रकार के अनुभव आए थे। यदि किसी साधक को ध्यानावस्था में नाग काट ले तो उस साधक को इसी जन्म में मोक्ष मिलना निश्चित हो जाता है। वर्तमान में मैं जीवन्मुक्त अवस्था में हूँ। मैं तो अभी से मोक्ष की अनुभूति कर रहा हूँ।

बाँस

यह अनुभव 21 मार्च का है। ध्यानावस्था में मैंने देखा कि सामने थोड़ी दूरी पर एक कटा हुआ बाँस दिखाई दे रहा है। बाँस खड़े आकार में तथा सूखा हुआ था। कटे हुए भाग से स्पष्ट दिखाई दे रहा था कि बाँस अन्दर से खोखला है। मैंने बाँस के अन्दर झाँक कर देखा तो दिखाई दिया कि अन्दर की ओर गाँठे भी पोली (खोखली) थी।

अर्थ– स्थूल संसार बाँस के समान बाहर व अन्दर से नीरस ही है। जिस प्रकार सूखा हुआ बाँस अन्दर व बाहर से रसहीन होता है, उसी प्रकार मुक्त पुरूष के लिए यह संसार रसहीन ही है। जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरूष को इस जगत् का जीवन बाँस के समान बाहर व भीतर से शून्य, रसहीन तथा वासना रहित प्रतीत होता है।

संसार चक्र

यह अनुभव 19 अप्रैल का है। हमें अपने सिर का ऊपरी भाग (बाहर की ओर से) दिखाई देने लगा। मैं ऊपरी भाग को देख रहा था कि तभी सिर के ऊपर मध्य-भाग में स्थित कील के ऊपर चाक-सा घूमने लगा। यह चाक कुम्हार के चाक के समान था। अब ऐसा लग रहा था मानों कुम्हार का चाक हमारे सिर के ऊपर घूम रहा हो। मुझे यह भी दिखाई दे रहा था कि हमारे सिर में मिट्टी भरी है। कुछ क्षणों बाद चाक की गति धीरे-धीरे कम होती गई। चाक अपनी जगह पर ठहर गया तथा अपनी धुरी पर गति करता हुआ हमारे सामने आ गया। अब मैं उस चाक को अपनी दृष्टि के सामने देख रहा था। देखते-ही-देखते चाक टूट कर छिन्न-भिन्न हो गया तथा टूटे हुए टुकड़े धीरे-धीरे अदृश्य हो गये। अब मैं अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा में बैठा हुआ था।

अर्थ– कुम्हार के चाक के समान यह संसार चक्र अज्ञानियों के लिए गति करता रहता है, मगर तत्त्वज्ञान प्राप्त होने पर यह संसार चक्र नष्ट हो जाता है, फिर पुनर्जन्म चक्र समाप्त हो जाता है। जब संकल्प रूपी नाभि का भली प्रकार अवरोध कर दिया जाता है, तब यह संकल्प रूपी चक्र रुक जाता है। किन्तु संकल्पात्मक मनोरूप नाभि को राग-द्वेष आदि के क्षोभित करने पर इस संसार रूपी चक्र को रोकने की चेष्टा करने पर भी वेग के कारण चलता रहता है।

तीर

एक पुरूष पूर्व दिशा की ओर तीव्र गति से तीर मारे जा रहा था। वह पुरूष तीर किसे मार रहा था, यह तो गौर नहीं किया। हमारी दृष्टि उस पुरूष की ओर थी जिसके हाथों में तीर कमान थी। वह पुरूष

तीव्रगति से कमान से तीर छोड़े जा रहा था। कमान पर तीर अपने आप चढ़ा हुआ प्रकट हो जाता था। वह पुरूष चलता हुआ आगे की ओर बढ़ रहा था।

अर्थ– वह पुरूष मैं हूँ तथा तीर चलाने का अर्थ है– ज्ञान के द्वारा लक्ष्य को भेदना। वह पुरूष सिर्फ अपने लक्ष्य को देख रहा है तथा उसी को ही भेद रहा है। लक्ष्य भेदते हुए आगे की ओर बढ़ता जा रहा है। लक्ष्य का अर्थ– 'ब्रह्म प्राप्ति' है।

सहस्त्र-दल कमल पर परम्-शिव व परा-शक्ति एक साथ विराजमान

यह अनुभव 25 अप्रैल को आया। मैं बहुत ही विस्तृत गुफ़ा जैसी जगह के अन्दर खड़ा हूँ। हमसे थोड़ी दूरी पर एक बहुत बड़ा कमल का फूल खिला हुआ है। इस कमल के फूल को देखकर मैं हँसा और बोला, "यह तो सहस्त्र-दल कमल है"। मैं इन शब्दों को कह ही पाया था कि सहस्त्र-दल कमल पर भगवान् परम्-शिव बैठी हुई मुद्रा में प्रकट हो गये। भगवान् शिव को मैंने क्षण भर देखा ही था कि तभी उनकी बायीं ओर एक बहुत ही सुन्दर स्त्री बैठी हुई दिखाई दी। अब सहस्त्र-दल कमल पर भगवान् परम्-शिव तथा उनकी परा-शक्ति (परा-प्रकृति) एक साथ बैठे दिखाई दे रहे थे। यह सहस्त्र-दल कमल गुफ़ा के अन्दर की ओर सम्पूर्ण क्षेत्र में विद्यमान था। मैं गुफ़ा के मुहाने पर स्वच्छ निर्मल आकाश में खड़ा था।

अर्थ– सहस्त्र-दल कमल के ऊपर परम्-शिव और उनकी संगिनी परा-शक्ति एक साथ विराजमान थे। सहस्त्र-दल कमल का सम्बन्ध परा-प्रकृति से होता है। जिस जगह मैं खड़ा था वह गुफ़ा का मुहाना था। सहस्त्र-दल कमल गुफ़ा के अन्दर सर्वत्र व्याप्त था। यह गुफ़ा हृदय गुफ़ा है, इसका सम्बन्ध परा-प्रकृति से होता है। इस हृदय गुफ़ा का वर्णन शास्त्रों में बहुत किया गया है। सहस्त्र-दल कमल पर परम्-शिव व परा-प्रकृति को एक साथ विराजमान देखने का अर्थ होता है कि योगी शीघ्र ही अभ्यास के द्वारा पूर्णता को प्राप्त करेगा। यही परम्-शिव महेश्वर अर्थात् सगुण ब्रह्म हैं।

मैं भगवान् शंकर के रूप में

यह अनुभव 16 अगस्त का है। ध्यानावस्था में मैं शंकर के रुप वाला बन गया। मैं अपने आप को भगवान् शंकर मान रहा था। हमें अपना स्वरूप दिखाई दे रहा था। मैं आगे की ओर थोड़ा-सा चला, फिर

अपने हाथ से कोई वस्तु सामने की ओर दी ओर बोला, "यह लो।" इन शब्दों के कहते ही हाथ से एक मीटर वर्गाकार पारदर्शी वस्तु (क्षेत्र) सामने की ओर दी। वह वस्तु हाथ से अलग होते ही अपने आप सामने की ओर चली गई। सामने कोई दिखाई नहीं दे रहा था अर्थात् कोई नहीं था। जब मैंने कहा, "यह लो", उस वस्तु को देने के बाद बोला, "हाँ, अब मैं जा रहा हूँ", फिर मैं एक ओर को चल दिया। थोड़ा-सा ही चला था फिर ठहर गया। मैंने नीचे की ओर देखा तो नीचे अंधकार ही अंधकार था। अंधकार देखकर मैं बोला, "इस समय सृष्टि में तो रात्रि चल रही है, ब्रह्मा शांत होकर समाधि में लीन हो गये हैं।" वहीं पर समाधि मुद्रा में भगवान् ब्रह्मा जी बैठे थे। उनका शरीर तपे हुए सोने के समान रंग वाला था। मैं भगवान् शंकर के स्वरूप में खड़ा था। हमारे स्थूल शरीर से झटका-सा लगा और हमारी समाधि टूट गई। मैं बोला, "मैं तो भगवान् शंकर बन गया हूँ।"

अर्थ– भगवान् शंकर हमारे इष्ट हैं। मैं अपने इष्ट के स्वरूप वाला बन गया अर्थात् मैं ब्रह्मभाव को प्राप्त हो गया। यह अनुभव हमें वृत्तियों द्वारा दिखाया गया। कुछ साधक इस प्रकार के अनुभव आने से भ्रम में पड़ जाते हैं कि वह अमुक देवता है अथवा अमुक देवता का अवतार है। ब्रह्मभाव प्राप्त होने के कारण वृत्ति उसी भाव के अनुसार ही स्वरूप धारण कर लेती है। इस प्रकार के अनुभव का अर्थ निकालते समय अभ्यासी की योग्यता का भी ध्यान रखना पड़ता है कि उसका अभ्यास किस अवस्था पर चल रहा है? इस अनुभव का अर्थ है– 'मैं ब्रह्म भाव को प्राप्त हो गया हूँ।' नीचे की ओर देखने पर सर्वत्र रात्रि दिखाई दे रही है अर्थात् साधक के लिए अपरा-प्रकृति नष्ट हुए के समान हो गई है। अपरा-प्रकृति में प्रलय होने पर भगवान् ब्रह्मा समाधि में लीन हो जाते हैं तथा सृष्टि का समय आने पर समाधि से उठ जाते हैं, फिर सृष्टि का कार्य करने लगते हैं। एक मीटर वर्गाकार पारदर्शी क्षेत्र हमारे चित्त का स्वरूप है। यह अनुभव पूर्णता की ओर इशारा कर रहा है। चित्त अर्थात् क्षेत्र देने का अर्थ है– 'चित्त का त्याग कर देना।' जीवात्मा का सम्बन्ध जब चित्त से अलग हो जाता है, तब वह अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाता है। यह अवस्था कुछ समय बाद आएगी।

संकल्प करो हमारी सोई हुई सारी शक्तियाँ जाग्रत हो जाएँ

यह निर्देश हमें 28 अक्तूबर को ध्यानावस्था में दिया गया। मुझे मस्तिष्क में ध्वनि सुनाई देने लगी– "संकल्प करो, हमारी सोई हुई सारी शक्तियाँ जाग्रत हो जाएँ, ऐसा प्रभु ने कहा है।" मुझे शब्दों पर

आश्चर्य हुआ कि प्रभु ने हमें ऐसा करने के लिए निर्देश दिया है। मैंने संकल्प किया ओर बोला, "हे परम्-पिता, क्या यह संदेश आपकी प्रेरणा से हम तक आ रहा है?" फिर आवाज आई– "हाँ, ऐसा संकल्प करो ताकि तुम्हारी सम्पूर्ण शक्तियाँ जाग्रत ही जाएँ।" मैंने संकल्प किया, "हमारी सोई हुई सारी शक्तियाँ जाग्रत हो जाएँ, ऐसा प्रभु ने कहा है।" कुछ क्षणों बाद हमें स्पष्ट रूप से दिखाई दिया कि एक स्त्री हमारे पास आई ओर सामने खड़ी हो गई तथा बोली, "तुम्हारी सोई हुई शक्तियाँ धीरे-धीरे क्रमशः जाग्रत होंगी, इसके लिए कुछ समय लगेगा।"

अर्थ– पाठकों! आप सोच सकते हैं कि इस अवस्था को प्राप्त होने पर इस प्रकार की शक्तियों को जाग्रत करने को क्यों कहा गया है? क्या अभी शक्तियाँ जाग्रत नहीं है? समाधान– कुछ शक्तियाँ (सिद्धियाँ) योग की अन्तिम सीमा पर प्राप्त होती हैं। ऐसी सिद्धियाँ प्रत्येक अभ्यासी को प्राप्त नहीं होती हैं, सिर्फ उन्हें ही प्राप्त होती हैं जो पूर्णता प्राप्त कर लेते हैं। मैंने अपने जीवन में सिद्धियों का प्रयोग बहुत ही कम किया है। थोड़ा बहुत सिद्धियों का प्रयोग हमने सिर्फ आध्यात्मिक कार्यों के लिए ही किया है। मेरी रूचि इन सिद्धियों के प्रति बहुत ही कम रही है।

सहनशीलता की देवी

यह अनुभव 4 नवम्बर का है, ध्यानावस्था में एक स्त्री का चेहरा दिखाई दिया। चेहरा जड़ रूप में भासित हो रहा था। मैंने पूछा, "आप कौन हैं?" उत्तर मिला, "मैं सहनशीलता की देवी हूँ।" मैंने अपने मन में बोला, "सहनशीलता की देवी।" वह फिर बोली, "मुझमे कोई श्रद्धा नहीं रखता है, मगर तुमने मुझमे श्रद्धा की है इसलिए तुम्हें मेरा सदैव आशीर्वाद है, मुझे धारण कर तुम महान बनोगे।" फिर उस स्त्री का चेहरा अदृश्य हो गया।

अर्थ– मुझे घोर कष्ट दिए गये, परेशानियाँ आई, यहाँ तक की सब कुछ नष्ट हो गया, मगर मैं बड़े आराम से सहन करता रहा। किसी भी प्राणी के लिए अन्त:करण से बुरा नहीं सोचा। सांसारिक दिखावे में भले ही चाहे जो दिखा हूँ, मगर मेरा मन ईश्वर से प्रार्थना करता रहा कि अमुक का कल्याण हो। मैं अब भी सहनशीलता को धारण किए हूँ। कभी-कभी बाहर से कुछ ओर दिखाता हूँ, इससे संसार धोखे में आ जाता है। आखिरकार हमें पूर्णता प्राप्त करके ईश्वर के पास जाना है।

क्या तुम्हें शिवत्व पद दिया जाना चाहिए

11 नवम्बर को सुबह मैं कुर्सी पर शांत बैठा हुआ था कि तभी हमें ध्वनि सुनाई दी– "क्या तुम्हें शिवत्व पद दिया जाना चाहिए?" मैं इन शब्दों को सुनकर चौंक पड़ा, आँखें बन्द करके मैं ध्यान मुद्रा में बैठ गया। फिर से आवाज सुनाई दी, "क्या तुम्हें शिवत्व पद दिया जाना चाहिए?" मैं बोला, "प्रभु प्रणाम।" फिर आवाज सुनाई दी, "ये शब्द तुम्हें प्रेरणा के द्वारा सुनाई दे रहे हैं।" मैं बोला, "यह आपकी इच्छा पर निर्भर है, जैसा आप उचित समझें। जब आप हमें इसके योग्य समझें तब यह पद दे दें। मेरी इच्छा अवश्य है कि जब मैं स्थूल शरीर त्यागूं तब यह पद मेरे पास हो अर्थात् मैं शिवत्व प्राप्त करके ही शरीर त्यागना चाहता हूँ। अत: हाँ, मैं यह आपसे माँगता हूँ कि हमारा चित्त निर्मल हो जाए, ताकि मैं समस्त प्राणियों को एक साथ समान रूप से देख सकूँ तथा सभी प्राणियों में हमारी समबुद्धि हो।" उसी समय ढेर सारी आवाज़ें गूंज उठी– "योगी, तुम्हारी जय हो। योगी, तुम्हारी जय हो।" यह शब्द कई बार कहे गये। फिर आवाज आई, "तुम्हें कुछ समय बाद शिवत्व पद दिया जाएगा", तभी हमारी आँखें खुल गई।

अर्थ– शिवत्व को प्राप्त करना अर्थात् ईश्वर तत्त्व को प्राप्त करना– पूर्णता को प्राप्त करना। ऐसा तब होता है जब पहले जड़ प्रकृति को त्याग कर अपने स्वरूप में स्थित हो जाए, फिर जड़ प्रकृति को अपना स्वरूप समझकर उसे अपना लेना। तब समस्त प्राणियों में अपनी अनुभूति होने लगती है अर्थात् समस्त भाषमान शरीर मेरे ही स्वरूप हैं। यही शिवत्व का विकास होना या पूर्णता कहलाता है। जो साधक व्यतिरेक योग व अन्वय योग दोनों प्रकार का अभ्यास करता है, वह इस संसार में रहते हुए शिव के समान ही है। शिवत्व के विषय में हम पीछे लिख आए हैं।

सन् 2009

प्रकृति देवी की प्रेरणा से कार्य करना

यह अनुभव 2 मार्च को सुबह ध्यानावस्था में आया। मैं किसी स्थान पर खड़ा हूँ, वहाँ प्रकाश ही प्रकाश फैला हुआ है। हमारे मुँह के सामने अति नजदीक एक स्त्री का चेहरा प्रकट हो गया। मैं उस स्त्री का चेहरा देख रहा था। वह आँखों को नीचे की ओर किए हुए थी। उसके चेहरे पर प्रकाश की किरणें पड़ रही थी। मैं उस स्त्री से बोला, "हे देवी! आप कौन हैं?" परन्तु उसने कोई उत्तर नहीं दिया। मैं फिर बोला– "हे देवी! मैं आपको प्रणाम करता हूँ, आप कौन हैं, कृपया हमें अपना परिचय दीजिये।" तब वह स्त्री बोली– "मैं ब्रह्माण्ड की रचना करती हूँ तथा ब्रह्माण्ड का नाश भी करती हूँ। जो तुम पर उँगली उठाते हैं अथवा गलत बोलते हैं, उन्हें अवश्य दण्ड मिलेगा। तुमने मेरी प्रेरणा से ही सारे कार्य किए हैं, यही मैं तुम्हें बताने आई हूँ।" मैं बोला– "हे माता! मैं आपको प्रणाम करता हूँ।" तभी वह चेहरा अदृश्य हो गया।

अर्थ– यह स्त्री प्रकृति देवी है। वे हमें यह बताने आई थीं कि मैंने सारे कार्य उन्ही की प्रेरणा से किए हैं। समाज के जिन लोगों ने हमें अकारण अपमानित व निंदित किया है उन्हें भविष्य में दण्ड अवश्य मिलेगा, तभी वे अदृश्य हो गई। मैं उस प्रकृति देवी से कहना चाहता था कि जिन लोगों ने हमारे साथ अनुचित व्यवहार किया है, आप उन्हें माफ कर दीजिये, बल्कि हमारी ओर से उन्हें शुभ आशीर्वाद दीजिये, क्योंकि उनके व्यवहार से हमें अध्यात्म मार्ग में बहुत बड़ा लाभ मिला है। अत: हम उन सभी के आभारी हैं।

चित्त का साक्षात्कार

यह अनुभव 28 मार्च को आया। मैं भूमि पर खड़ा हूँ, सामने की ओर का क्षितिज (जहाँ भूमि और आकाश सामने दिशा की ओर मिलते हैं) देख रहा था कि तभी हमारी दृष्टि अपने आप क्लॉक वाइज घूम गई। अब मैं चारों ओर का क्षितिज देख रहा था, जबकि मैं अपनी ही जगह पर स्थिर खड़ा था। मैंने अपना सिर स्थिर रखा हुआ था फिर भी मुझे क्लॉक वाइज सम्पूर्ण क्षेत्र (पीछे का भी) दिखाई दे रहा था। कुछ क्षणों में दूसरी बार फिर क्लॉक वाइज क्षितिज दिखाई देने लगा। जब तीसरी बार क्लॉक वाइज दिखाई देने

लगा, तभी पीछे से क्षितिज संकरा होने लगा अर्थात् पीछे का क्षितिज सिकुड़ता हुआ हमारी ओर आने लगा। वह इतना सिकुड़ा कि क्षितिज मेरे पास ही आ गया। मैं सीमा पर खड़ा दिखाई देने लगा, फिर सम्पूर्ण क्षेत्र सिकुड़ने लगा। अब सम्पूर्ण क्षेत्र गोलाकार रूप में सिकुड़ रहा था (संकुचित हो रहा था)। जिस जगह पर मैं खड़ा था वह क्षेत्र सामने आ गया अर्थात् अब मैं उस क्षेत्र से अलग खड़ा था। क्षेत्र तीव्रता से छोटा हो रहा था। अन्त में उसका स्वरूप फुटबाल के बराबर रह गया, वह छोटे से पिण्ड रूप में दिखाई दे रहा था। अब मेरा कोई स्वरूप नहीं था, मैं दूर स्थित उस गोलाकार पिण्ड को देख रहा था। इसी पिण्ड में मैं पहले विद्यमान था, अब उससे दूर द्रष्टा रूप में उस छोटे से पिण्ड को देख रहा था।

अर्थ– जिस क्षेत्र में मैं खड़ा था, वह चित्त था। मैंने अपने चित्त को पहली बार पूर्णरूप से देखा, तभी उसका स्वरूप छोटा हो गया। फिर मैं अपने स्वरूप में विद्यमान हो गया। चित्त छोटे से क्षेत्र के रूप में पहली बार दिखाई दे रहा था। यह चित्त का साक्षात्कार होना कहा जाएगा। चित्त के साक्षात्कार के बाद जीवात्मा अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है।

मैं सहस्त्रार चक्र व अहंकार के ऊपर आसन लगाकर बैठा

यह अनुभव 23 मई को आया। मैं द्रष्टा रूप में सामने दूर बैठे हुए पुरूष को देख रहा था कि तभी मेरे अन्दर से मेरा छोटा स्वरूप आसन मुद्रा में बैठा हुआ बाहर की ओर निकल पड़ा। वह आसन मुद्रा में बैठा हुआ सामने की ओर अपने आप चला जा रहा था। सामने दूर बैठे पुरूष के सिर के ऊपर अपने आप बैठ गया। जो पुरूष पहले से बैठा हुआ था वह भी आसन मुद्रा में ही बैठा था। हमारा छोटा स्वरूप भी आसन लगाए अपने आप उसके ऊपर बैठ गया। कुछ क्षणों तक हमारा छोटा स्वरूप उस पुरूष के सिर के ऊपर (सहस्त्रार चक्र के ऊपर) ध्यान मुद्रा में बैठा रहा। फिर कुछ क्षणों बाद ध्यान मुद्रा में ही बैठा हुआ वह स्वरूप उड़ता हुआ सा आसन लगाए हुए ही एक ओर हो गया। अब सामने की ओर एक काला नाग फन उठाये हुए खड़ा था। इस नाग का मुँह पूर्व दिशा की ओर था तथा हमारी ओर फन का पिछला वाला भाग था। मेरा छोटा स्वरूप नाग के फन के ऊपर बैठकर ध्यान करने लगा। मैं दूर से द्रष्टा रूप में विद्यमान यह दृश्य देख रहा था। कुछ क्षणों के बाद मेरा छोटा स्वरूप जो नाग के फन के ऊपर बैठा ध्यान कर रहा था, वह अदृश्य हो गया।

अर्थ– इस अनुभव में मैं द्रष्टा रूप से सारा दृश्य भी देख रहा था तथा हमारा छोटा स्वरूप उस पुरूष के सिर के ऊपर अर्थात् सहस्त्रार चक्र के ऊपर ध्यान भी कर रहा था, फिर नाग के फन के ऊपर भी बैठकर ध्यान किया। मेरा छोटा स्वरूप मानव आकार में था। सहस्त्रार चक्र के ऊपर ध्यान करना= जीवेश्वर रुप को प्राप्त करना। नाग– अहंकार। अहंकार के ऊपर ध्यान करना= अहंकार पर विजय प्राप्त करना। अंहकार को अपने अधिकार में लेना= अहंकार से परे होना अर्थात् जीवेश्वर स्वरूप में स्थित होना। इस अनुभव से स्पष्ट होता है कि मैं अवश्य शिवत्व प्राप्त करुँगा। भगवान् श्री हरि ने अपने नीचे नाग को दबा रखा है, उसी को अपनी शैय्या बना रखी है। वास्तव में उन्होंनें अहंकार को नीचे दबा रखा है। देवता शंकर अपने गले में नाग लपेटे हैं अर्थात् अहंकार को लेपेटे हैं अथवा अहंकार को अपने अधिकार में लिए हैं।

सहस्त्र-दल कमल के ऊपर विद्यमान हुआ

यह अनुभव 15 जून का है। हमारे सामने कमल के फूल का थोड़ा-सा भाग दिखाई दे रहा था। इस थोड़े से भाग में ढेर सारी पंखुड़ियाँ थी। मैं समझ गया कि यह सहस्त्र-दल कमल का हिस्सा दिखाई दे रहा है, तभी कमल का शेष भाग भी प्रकट हो गया। अब मैं इस सहस्त्र-दल कमल को पूर्ण स्वरूप में देख रहा था। फूल बहुत ही सुन्दर, पारदर्शी जैसा तथा बहुत हल्का गुलाबी रंग का था। मैं इसे देखकर मुस्करा रहा था। मैं अपनी जगह से अपने आप आगे की ओर उड़ता हुआ सा गया, फिर सहस्त्र-दल कमल के मध्य में खड़ा हो गया। मैं सहस्त्र-दल कमल के मध्य में खड़ा हुआ चारों ओर देख रहा था। सर्वत्र कमल की पंखुड़ियाँ दिखाई दे रही थी कि तभी दृश्य बदला तथा हमें दूसरा अनुभव आ गया। मैं अपने हाथ में मोटी सी कमल की डण्डी लिए था। कमल की डण्डी अन्दर से पोली थी, उसकी लम्बाई डेढ़ फुट रही होगी।

अर्थ– सहस्त्र-दल कमल ज्ञान का आयतन तथा परा-प्रकृति का क्षेत्र है। कमल के ऊपर खड़ा होना– परा-प्रकृति का पूर्ण विकास होना। कमल की डण्डी हाथ में लेना तथा अन्दर से वह पोली है– संसार का स्वरूप डण्डी की भाँति है। जैसी डण्डी अन्दर से पोली होती है, वैसा ही यह संसार अन्दर से सार-रहित है अर्थात् जैसा बाहर होता है, वैसा ही अन्दर भी होता है। इस अवस्था में अभ्यासी संसार के वास्तविक स्वरूप को जान लेता है तथा प्रकृति के दोषों के विषय में भी ज्ञान हो जाता है।

अभ्यासी को शिवत्व (पूर्णता) तभी प्राप्त होता है, जब सहस्त्र-दल कमल के ऊपर उसके साथ शक्ति भी विराजमान हो। शक्ति तभी उसके साथ विराज होती है, जब अभ्यासी समस्त प्रकृति को अपना

ही स्वरूप अर्थात् ब्रह्म स्वरूप समझता है। तब वह अन्वय योग को भी पूर्ण कर लेता है। अभी हमें अन्वय योग का अभ्यास करना है। वैसे मैं अन्वय योग का अभ्यास करने लगा हूँ, परिपक्व होने में समय लगेगा।

सहस्त्र-दल कमल

यह अनुभव 13 जुलाई का है। मैं अपनी कुटिया में लेटा हुआ था। हमारी आँखें अपने आप बन्द हो गई। आँखें बन्द होते ही दिखाई दिया कि हमारे सिर के बायीं ओर एक बहुत बड़ी कमल की कली है। जैसे ही हमारी दृष्टि उस कली पर पड़ी, कली तुरन्त तीव्र गति से विकसित होने लगी। उसकी पंखुड़ियाँ तीव्रता से खुल रही थी। मात्र 5-10 सैकिण्ड में फूल पूर्ण रूप से विकसित हो गया। अब वह फूल बहुत बड़ा दिखाई दे रहा था। उस फूल में अनन्त पंखुड़ियाँ थी। मैं बोला– "यह तो सहस्त्र-दल कमल है।" तभी फूल हमारे सिर के अन्दर प्रवेश कर गया। सिर के अन्दर प्रवेश करते ही हमारा सिर अदृश्य हो गया। सिर की जगह अब सहस्त्र-दल कमल था। सहस्त्र-दल कमल हमारी गर्दन के ऊपर स्थित था। मैं बोला- "यह क्या हो गया, मेरा सिर कहाँ गया?" मैंने आँखें खोल दी और सोचने लगा– आखिरकार सहस्त्र-दल कमल मात्र आँखें बन्द करने पर दिखाई दे रहा था, सिर अदृश्य हो गया था। आँखें खोले मैं जाग रहा था कि तभी हमारी आँखें फिर बन्द हो गई। मुझे पहले जैसा दृश्य फिर दिखाई दिया। कली का तीव्रता से विकसित होना, फिर फूल का हमारे सिर के अन्दर प्रवेश होना, सिर का अदृश्य होना। अब सहस्त्र-दल कमल हमारी गर्दन के ऊपर स्थित था, जिस प्रकार सिर गर्दन के ऊपर स्थित है। मैंने अपनी आँखें फिर खोल दी ओर सोचने लगा– "सहस्त्र-दल कमल इस प्रकार क्यों दिखाई देता है।" कुछ क्षणों बाद मेरी आँखें फिर बन्द हो गई, फिर वही दृश्य पहले जैसा दिखाई दिया। एक ही दृश्य तीनों बार दिखाई दिया। मैं लेटा हुआ था, उठकर बैठ गया। आसन लगाकर ध्यान करने लगा, फिर ज्ञान से पूछा इस प्रकार के अनुभव का अर्थ क्या है? तब मालूम हुआ- सहस्त्र-दल कमल ज्ञान का आयतन है। इसका सम्बन्ध परा-प्रकृति से है। यह सहस्त्र-दल कमल परा-प्रकृति में पूर्ण रूप से व्याप्त है। इस अनुभव से स्पष्ट होता है कि आपके शरीर में परा-प्रकृति का अवतरण हो गया है अर्थात् स्थूल शरीर से लेकर चित्त तक समान रूप से शुद्धि होना चाहिए, वही शुद्धि हो रही है। आपकी अपरा-प्रकृति (चित्त) की पूर्ण रूप से शुद्धि होने की यह एक प्रक्रिया है। जब अभ्यासी के लिए स्थूल से लेकर प्रकृति पर्यन्त समान शुद्धि हो जाती है, तब वह सदैव के लिए पूर्णता में स्थित हो जाता है अर्थात् अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। सहस्त्र-दल कमल

का रंग पारदर्शी तथा हल्का गुलाबी था। साधक के अन्दर परा-प्रकृति का अवतरण धीरे-धीरे ही होता है। अशुद्ध प्रकृति (अपरा-प्रकृति) जितनी शुद्ध होगी, उतना ही परा-प्रकृति का अवतरण होता जाएगा।

जगत् का अस्तित्व न जाने कहाँ विलीन हो गया

यह अनुभव 31 जुलाई का है। मात्र आँखें बन्द करने पर ही यह अनुभव आया। अंतरिक्ष में चारों ओर प्रकाश फैला हुआ है। स्टील के एक पात्र में (तसले जैसे पात्र में) स्वच्छ राख भरी हुई है। यह पात्र अंतरिक्ष (आकाश) में अपने आप स्थित है। इसी से राख उड़ रही है, मानों कोई राख को उड़ा रहा है। पात्र अपने आप तिरछा होकर हिल रहा है, मानों कोई इसे हिला रहा हो। तसले से ढेर सारी राख नीचे की ओर गिर रही है, वायु का वेग भी बहुत तेज है। वायु के वेग के कारण राख तीव्र गति से उड़ती जा रही है और न जाने उड़कर राख कहाँ विलीन होती जा रही है?

अर्थ– राख- कर्माशयों का जला हुआ अवशेष। यह राख उड़कर न जाने कहाँ (ज्ञान-रूपी प्रकाश में) विलीन होती जा रही है। वृत्तियों के द्वारा ही जगत् का अस्तित्व है। वृत्तियों के नष्ट हो जाने पर जगत् का अस्तित्व भी नष्ट हो जाता है। यह राख चित्त की वृत्तियों की है। ऐसा समझो, कर्माशय जब योगाग्नि द्वारा जलते हैं, तब राख रूपी अवशेष रह जाता है। अनुभव में राख भी उड़कर अदृश्य हो गई। जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरूष के लिए भ्रान्ति की शांति हो जाने पर जगत् का स्वरूप भी नष्ट हो जाता है। उसकी दृष्टि में एक मात्र ब्रह्म ही विद्यमान दिखाई देता है। जैसे खूब जले हुए घास-फूस की भस्म राशि (राख) वायु के वेग से उड़कर न जाने कहाँ चली जाती है, वैसे ही आत्म स्वरूप में विश्राम प्राप्त हो जाने पर इस जगत् का अस्तित्व न जाने कहाँ विलीन हो जाता है।

समता का अभ्यास करो

13 सितम्बर को यह अनुभव आया। हमें प्रकाश से युक्त आकाश दिखाई दे रहा था। आकाश का घनत्व बहुत ही कम था, तभी आकाश के अन्दर से आवाज आई, "अब समता का अभ्यास करो, तुम इस योग्य हो गये हो।" मैं इन शब्दों को सुन रहा था तथा निर्मल स्वच्छ आकाश भी देख रहा था। एक बार

फिर आकाश से आवाज आई, "अब समता का अभ्यास करो।" मैं बोला, "मैं समता का अभ्यास करुँगा।"

अर्थ– समस्त प्राणियों को समान रूप से देखना अर्थात् समस्त प्राणियों के अन्दर ब्रह्म का दर्शन करना अर्थात् अपना ही स्वरूप मानना समता कहलाता है। यह अन्वय योग के द्वारा सम्भव होता है। अन्वय योग में जड़ प्रकृति ब्रह्म स्वरूप दिखाई देती है। सगुण ब्रह्म के साक्षात्कार के बाद ही समता का अभ्यास करना सम्भव होता है।

योगी तुम ऋषि हो

यह अनुभव 21 दिसम्बर का है। अत्यन्त स्वच्छ कम घनत्व वाला आकाश है। मैं आकाश की ओर देख रहा हूँ कि तभी आकाश से आवाज आई, "योगी तुम ऋषि हो, ऋषि कभी भी संसार के व्यवहार का चिंतन नहीं करता है। तुमने तो सम्पूर्ण विश्व को माफ कर दिया है, अब सिर्फ अपने में स्थित रहने का प्रयास करो।" मैं शांत होकर सुनता रहा, कुछ नहीं बोला।

अर्थ– अनुभव में कहा गया कि तुम ऋषि हो, ऋषि संसार का चिंतन नहीं करता है। मैं शायद संसार के व्यवहार से क्षुब्ध हो गया था अथवा उसके विषयों का चिंतन करने लगा था, तभी ये शब्द हमसे ध्यानावस्था में कहे गये। ऋषि की योग्यता हमारे अन्दर कब आई, यह तो हमें मालूम ही नहीं हुआ। अपने आपको अपने में स्थित करना, आत्मा को आत्मा में स्थित करना, यह अवस्था स्थित-प्रज्ञ की होती है। अभी हमारी अवस्था जीवन्मुक्त की है।

सन् 2010

चित्ताकाश से आगे

यह अनुभव 4 जनवरी का है। मैं आकाश में खड़ा हूँ, आकाश बिल्कुल निर्मल व स्वप्रकाशित-सा है। मैं शायद आकाश के मध्य में खड़ा हूँ, हमारी दृष्टि ऊपर की ओर है। मैं पूर्ण रूप से शांत होकर टकटकी लगाए स्थिर दृष्टि से ऊपर की ओर देख रहा था कि तभी ऊपर का आकाश बीच से फट गया। आकाश में मोटी दरार पड़ गई, उस दरार से विशेष प्रकार का चैतन्यमय प्रकाश-सा दिखाई दिया। ऐसी चैतन्यता मैंने पहली बार देखी थी। आकाश बीच में से फट कर उसके दोनों किनारे अपनी-अपनी ओर को हटते जा रहे थे अर्थात् सिकुड़ते जा रहे थे अथवा अदृश्य होते जा रहे थे। मैं उस चेतन तत्त्व को देख रहा था। आकाश का अस्तित्व नष्ट होता जा रहा था।

अर्थ– पाठकों! इस अनुभव को शायद शब्दों में नहीं लिख सकता हूँ, फिर भी प्रयास कर रहा हूँ। मैं आकाश तत्त्व में शांत भाव से खड़ा ऊपर की ओर देख रहा हूँ। जब आकाश ऊपर की ओर बीच से फट गया तो लगभग एक किलोमीटर लम्बी दरार सी पड़ गई। इतना ही लम्बा सम्पूर्ण आकाश दिखाई दे रहा था। आकाश वैसे भी स्वच्छ व निर्मल था मगर जब वह फट गया तब भासित हुआ कि आकाश कपड़े की भाँति है तथा पूर्ण रूप से जड़ है। मैं दरार के उस पार स्थित (आकाश के उस पार) अत्यन्त स्वच्छ निर्मल निखरे हुए प्रकाश को देख रहा था। प्रकाश का स्वरूप (आकार) दरार चौड़ी होते जाने के कारण और ज्यादा दिखाई देता जा रहा था। आकाश का स्वरूप घटता जा रहा था। अनुभव से स्पष्ट होता है कि आकाश रूपी आवरण हमारे तथा प्रकाश के बीच में पर्दे जैसा अवरोध है। अभी तक यही आकाश (सूक्ष्म आकाश) ऐसा दिखाई देता था मानों यही चैतन्य-सा है अर्थात् स्वप्रकाशित है। इस अनुभव में आकाश तत्त्व मात्र कपड़े जैसा दिखाई दे रहा था। मैं प्रकाश के विषय में कुछ नहीं लिख सकता हूँ, क्योंकि यह सिर्फ अनुभूति का विषय है। इस प्रकार का प्रकाश मैंने पहली बार देखा था। विवेक-ख्याति के समय भी ऐसा स्वरूप नहीं देखा था। इस अनुभव में चित्ताकाश से आगे की अवस्था दिखाई दे रही है।

मुझे निर्बीज समाधि बहुत समय से लगती है, तब मैं अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता हूँ, मगर चित्ताकाश से आगे का दर्शन अब हुआ है। इसके विषय में केवल अनुभूति करने वाला ही जान सकता है। इसलिए क्षमा करना, मैं लिख नहीं पा रहा हूँ। मैं इतना अवश्य लिख सकता हूँ कि सम्पूर्ण आकाश एक

कपड़े की भाँति मैं ओढ़ सकता हूँ अथवा ओढ़ता हूँ। यह अनुभव वृत्ति के द्वारा दिखाया गया। यह वृत्ति की व्यापकता की चरम सीमा है।

अपना जीवन मुझे दे दो

यह अनुभव 4 जनवरी का है। दोपहर का समय था। मैं अपनी कुटिया में लेटा हुआ था, तभी हमारी आँखें बन्द हो गई। मैंने देखा कि सामने की ओर से एक पुरूष चला आ रहा है। वह कुटिया के दरवाजे से अन्दर आ गया। उसने सफेद वस्त्र पहने हुए थे, सफेद लम्बी सी दाढ़ी थी, सिर के बाल भी सफेद से थे। वह पुरुष जैसे ही कुटिया के अन्दर आया तुरन्त अदृश्य हो गया। तभी आवाज आई– "मैं आपसे कुछ माँगने आया हूँ, क्या आप मुझे दोगे?" मैं उत्तर में चुप रहा तथा सोचने लगा कि मालूम नहीं ये पुरूष क्या माँगना चाहता है तथा ये कौन है? फिर आवाज आई– "मैं आपसे कुछ माँगने आया हूँ, क्या आप देंगे?" मैं बोला– "मैं अवश्य दूँगा, आपको क्या चाहिए?" आवाज आई– "मैं आपका जीवन माँगता हूँ, हमें आपका जीवन चाहिए।" ये शब्द सुनकर मैं चौंक पड़ा, सोचा कि अभी मेरी मृत्यु तो नहीं हो सकती है, फिर ये मेरा जीवन क्यों चाहते है? आवाज सुनाई दी- "मुझे आपका जीवन चाहिए, क्या दोगे?" मैं बोला- "मैं अपना जीवन आपको देता हूँ।" आवाज आई– "ठीक है, अब आपका जीवन मेरा हुआ, अब इस जीवन में जो भी प्राप्त होगा वह मेरा होगा। चाहे आपको सम्मान प्राप्त हो, चाहे अपमान, वह सब मेरा हुआ, मुझे प्राप्त होगा।" मैंने पूछा– "आप कौन है?" आवाज आई– "मैं तुम्हारा इष्ट हूँ।" ये शब्द सुनकर मुझे आश्चर्य हुआ तथा सोचा कि प्रभु हमारा जीवन माँग रहे हैं। मैंने पूछा- "समाधि अवस्था में अपने स्वरूप को क्यों नहीं दिखाया?" आवाज आई– "मैं भेष बदलकर ही इस प्रकार के कार्य करता हूँ, परन्तु वास्तविक स्वरूप से मैं अपने आप में विद्यमान रहता हूँ, इसलिए अब सदैव ध्यान रखना कि आपका यह जीवन अब मेरा है।"

अर्थ– यह अनुभव जाग्रत अवस्था का है। जब यह अनुभव आया उस वक्त मेरी आँखें बन्द थी। जो पुरूष कुटिया के अन्दर आया, वह सूक्ष्म शरीर धारण किए हुए था। उसे ईश्वर का स्वरूप ही कहा जा सकता है। ईश्वर कहीं आता-जाता नहीं है, वह तो सर्वत्र विद्यमान है। ईश्वर से प्रेरणा के द्वारा बात की थी। अनुभव का अर्थ है कि संसार चाहे जैसा व्यवहार करे मगर तुम संसार के व्यवहार से प्रभावित मत होना। जब अभ्यासी ईश्वर अथवा निर्गुण ब्रह्म का सदैव मनन करता रहता है अथवा अवस्थित रहता है, तब

संसार द्वारा किया गया किसी प्रकार का व्यवहार उसे प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि वह सांसारिक पदार्थों को ग्रहण नहीं करता है। वह तो अपरा-प्रकृति से पूर्ण रूप से परे होता है तथा उसका चित्त ईश्वर के चित्त में सदैव अन्तर्मुखी रहता है। "अब सब कुछ ईश्वर को अर्पण कर दो", यह भाव अनुभव का है, मगर मैं तो बहुत पहले ही सब कुछ ईश्वर को अर्पण कर चुका हूँ।

सभी प्राणी तुम्हारे अंश हैं

यह अनुभव 30 जनवरी का है। ध्यानावस्था में मुझे सुनाई दिया– "सभी प्राणी तुम्हारे ही अंश हैं।" यह शब्द सुनते ही हमारी आँखें खुल गई। मैं सोचने लगा कि मैं यह अनुभूति कैसे कर सकूँगा कि सभी प्राणी हमारे ही अंश हैं। संसार में विभिन्न प्रकार के प्राणी हैं, जिनमें कुछ तो अत्यन्त अधर्मी हैं, तो इन्हें मैं अपना अंश कैसे मान सकता हूँ? तभी ज्ञान ने बताया– "आपके शरीर के अंग भी विभिन्न प्रकार के हैं, उन अंगों के कार्य भी भिन्नता को लिए हुए हैं, फिर भी आप उन्हें अपना मानते हैं।"

अर्थ– इस प्रकार की अनुभूति अन्वय योग के द्वारा प्राप्त होती है, मैं इसका अभ्यास कर रहा हूँ। ज्ञान के द्वारा तो सब कुछ मालूम है, मगर भौतिक जगत् में ऐसा मानने में हमारे मन को भी हमारा साथ देना चाहिए।

आहट

यह अनुभव 1 मार्च का है। ध्यानावस्था में सुनाई दिया- "हे ज्ञानी पुरूष! क्या तुम्हें कुछ आहट सुनाई नहीं दे रही है?" मैं आश्चर्यचकित हुआ और बोला- "आहट, कैसी आहट! मैं इस शब्द का अर्थ नहीं समझा।" आवाज आई- "भविष्य की आहट, जो तुम्हारे भविष्य में आने वाला है। तुम्हारा भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है, भविष्य में तुम ज्ञान के प्रकाश से सराबोर हो जाओगे, इन्तजार करो भविष्य का, छोड़ो उन सब बातों को जिन्होंने तुम्हारे साथ अधर्म से युक्त होकर व्यवहार किया, यहाँ पर तुम्हारा कोई नहीं है। पूर्ण रूप से प्रकाश में स्थित होकर अपने जीवन को थोड़े में समेट लो, कुछ समय बाद भूलोक को त्याग कर अपने लोक में स्थित हो जाना।" हमसे और भी कुछ कहा गया था मगर हमें याद नहीं है।

योगी की उपाधि दी गई

यह अनुभव 17 मार्च को आया। मैंने ध्यानावस्था में देखा कि बहुत ऊपर अंतरिक्ष में पूर्व दिशा की ओर एक पुरूष चला जा रहा है, उसकी पीठ हमारी ओर थी। वह दाहिने हाथ में लाठी के समान हरा वृक्ष पकड़े हुए था। वह पेड़ को इस प्रकार पकड़े था, जैसे बुजुर्ग (वृद्ध) पुरूष लाठी लेकर चलता है। सामने बहुत ऊँचाई पर एक पुरूष प्रकट हो गया। उसके प्रकट होते ही मैं अपनी अनुभूति लाठी वाले पुरूष के अन्दर करने लगा। अब वह पुरूष हमारे समाने खड़ा था जो ऊपर अंतरिक्ष में प्रकट हुआ था। उसकी सफेद दाढ़ी लम्बी सी थी, सिर के बाल लम्बे-लम्बे थे, उसने सफेद रंग के ढीले कपड़े पहने थे। वह हमसे बोला- "कौन कहता है कि तुम योगी नहीं हो, तुम योगी हो, प्रज्ज्वलित दीप के समान तुम प्रकाशमान हो।" मैं उसका मुँह देखता रहा, परन्तु उससे कुछ नहीं बोला।

अर्थ– पूर्व दिशा की ओर जाने वाला पुरूष मैं ही हूँ। यह दृश्य कम घनत्व के अंतरिक्ष में आया। मैं पहले दूर से यह दृश्य द्रष्टा रूप से देख रहा था, फिर मैं उसी पुरूष के अन्दर अपनी अनुभूति करने लगा, क्योंकि वह मेरा ही स्वरूप था। लाठी की तरह एक हरा पेड़ पकड़े हूँ– यह पेड़ लाठी के समान ही था। इसमें मात्र कुछ पत्तियाँ लगी थी। यह कटी हुई डाली के समान था। इसका अर्थ है कि मैं संसार को पकड़े हुए हूँ। यह संसार हमारी यही पुस्तक है जिसे मैं लिख रहा हूँ, क्योंकि इस पुस्तक (लेख) का सम्बन्ध संसार से ही है। इसलिए दृश्य में ऐसा दिखाई दिया। जिस समय मैं यह लेख लिख लूँगा, तब यह लाठी जैसा पेड़ नष्ट हो जाएगा। उस पुरूष ने हमें योगी की उपाधि दी है, तभी वह कह रहा है कि कौन कहता है कि तुम योगी नहीं हो अर्थात् तुम योगी हो। जब जीव और शिव एक हो जाते हैं, तब योगी की उपाधि प्राप्त हो जाती है। जब साधक को जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त हो जाती है तब वह योगी ही होता है, क्योंकि वह यह भी कह रहा है कि तुम दीपक के समान प्रकाशमान हो अर्थात् प्रकाश देने वाले हो।

परा-प्रकृति का अवतरण

यह अनुभव 3 जुलाई को सुबह ध्यानावस्था में आया। मैंने देखा कि मैं ध्यानावस्था में बैठा हुआ हूँ, फिर भी हमें दिव्य दृष्टि के द्वारा अपने सिर के ऊपर अंतरिक्ष दिखाई दे रहा था। कुछ क्षणों में देखा कि दूर ऊपर की ओर अंतरिक्ष से एक दिव्य स्त्री आसन मुद्रा में बैठी हुई नीचे की ओर चली आ रही है। नीचे ध्यानावस्था में हमारा शरीर बैठा हुआ था। वह दिव्य स्त्री सीधे नीचे आकर हमारे सिर के ऊपर (अर्थात्

सहस्त्रार चक्र में) से हमारे अन्दर प्रवेश कर गई, फिर इस देवी के अनेकों स्वरूप लगातार हमारे सिर के ऊपरी भाग से हमारे अन्दर प्रवेश करते जा रहे थे। जैसे पानी की धार नीचे की ओर गिराई जाती है, उसी प्रकार इस देवी के अनन्त स्वरूप तीव्रता से हमारे सहस्त्रार चक्र में प्रवेश करते जा रहे थे। देवी का प्रत्येक स्वरूप आसन मुद्रा में बैठा हुआ था तथा उसके सिर पर बहुत ही सुन्दर मुकुट लगा हुआ था। मैं इस क्रिया को देख रहा था। इस देवी के दिव्य स्वरूप को देखकर मैं बोला–"यह तो गायत्री देवी है।" गायत्री देवी के अनन्त स्वरूप निरन्तर हमारे सिर के अन्दर प्रवेश करते जा रहे थे। तभी मुझे अपना सम्पूर्ण स्वरूप दिखाई देने लगा। हमारा स्वरूप स्फटिक मणि के समान स्वच्छ पारदर्शी आवरण मात्र था, आवरण के सिवाय कुछ भी नहीं था। शरीर अन्दर से पूर्ण रूप से खोखला था। हमारे शरीर के अन्दर धीरे-धीरे पानी के समान तरल पदार्थ भरता जा रहा था। जैसे काँच के गिलास में पानी भरने पर बाहर से दिखाई देता है कि गिलास के अन्दर कितना पानी भरा है, उसी तरह हमारे शरीर के अन्दर पानी जैसे तरल पदार्थ का स्तर ऊपर की ओर बढ़ता हुआ दिखाई दे रहा था। यह पानी जैसा तरल पदार्थ हमारे शरीर में गले तक भर गया था, फिर धीरे-धीरे सिर के ऊपरी भाग तक आ गया। मुझे फिर दिखाई दिया कि गायत्री देवी के स्वरूपों का प्रवाह सिर के ऊपरी भाग से हमारे शरीर के अन्दर आ रहा है।

अर्थ– अनुभव में हमें गायत्री देवी का अवतरण दिखाया गया है, वैसे योगी के अन्दर परा-प्रकृति का अवतरण होता है। अनुभव में उस देवी को मैं गायत्री देवी कहता हूँ। परा-प्रकृति ही इस स्वरूप से अवतरित हुई है। परा-प्रकृति का प्रवाह हमारे शरीर के अन्दर आ रहा था। लगातार प्रवाह आने के कारण गायत्री देवी के अनन्त स्वरूप निरन्तर हमारे सहस्त्रार चक्र के क्षेत्र में प्रवेश करते जा रहे थे। अनुभव में मेरा स्वरूप आवरण मात्र था। यह आवरण इतना स्वच्छ था कि इसकी तुलना स्फटिक मणि से कर रहा हूँ। परा-प्रकृति का अवतरण हमारे शरीर के अन्दर अत्यन्त स्वच्छ पारदर्शी तरल पदार्थ के समान दिखाई दे रहा था। मैंने इस तरल पदार्थ की तुलना स्वच्छ पानी से की है। इस अनुभव का अर्थ है- परा-प्रकृति का पूर्ण अवतरण हमारे अन्दर हो चुका है, इसकी अनुभूति हमें धीरे-धीरे होगी।

समस्त ब्रह्माण्ड को धारण कर लिया

यह अनुभव जुलाई के प्रथम सप्ताह में आया। मैं समाधि अवस्था में कह रहा हूँ कि समस्त प्राणियों में ब्रह्म के चिंतन का प्रवाह बहे। समस्त प्राणी ब्रह्ममय हो जाएँ, सभी प्राणियों का कल्याण हो, संसार के

समस्त प्राणी हमारे ही स्वरूप हैं, मैं समस्त प्राणियों के अन्दर विद्यमान हूँ। फिर मैं चुप हो गया। कुछ क्षणों के बाद हमें दिखाई दिया कि सामने की ओर एक पुरूष सहजासन मुद्रा में बैठा हुआ है, इस पुरूष की गोद में एक गोलाकार पिण्ड रखा हुआ है। वह पुरूष पिण्ड को दोनों हाथों से पकड़े हुए है। यह पिण्ड तीव्र गति से घूम (क्लॉक वाईज) रहा है।

अर्थ– गोलाकार पिण्ड को धारण करने वाला पुरूष मैं ही हूँ। गोलाकार पिण्ड अपरा-प्रकृति का स्वरूप है, मैं अपरा-प्रकृति को धारण किए हुए हूँ।

समस्त ब्रह्माण्ड मेरे चारों ओर घूम रहा है

यह अनुभव जुलाई के प्रथम सप्ताह में ध्यानावस्था में आया। मैंने नीचे की ओर देखा तो दिखाई दिया कि हमारे चारों ओर रिंग के आकार में चौड़ा क्षेत्र तीव्र गति से घूम रहा है। मैं केन्द्र में स्थित स्थिर रूप से विद्यमान हूँ। मुझे अपने स्वरूप की याद आई, तब मैंने अपने आप को देखा तो दिखाई दिया कि मैं मानव स्वरूप वाला नहीं हूँ, बल्कि अंतरिक्ष के मध्य में गोलाकार लम्बा-सा ऊपर की ओर ऊँचा उठा हुआ पिण्ड जैसा स्थित हूँ। देखने में खड़े रूप में लट्टे के समान हूँ, पिण्ड के ऊपरी भाग से मैं चारों ओर तथा नीचे की ओर देख रहा हूँ। नीचे की ओर हमारे चारों ओर का क्षेत्र रिंगाकार में घूम रहा है।

अर्थ– अनुभव में अंतरिक्ष के मध्य में लट्टे के समान खड़ा हुआ मैं ब्रह्म स्वरूप वाला हूँ। हमारे चारों ओर अपरा-प्रकृति चक्कर लगा रही है। ब्रह्म स्वरूप होने के कारण मैं कहीं से भी देख सकता हूँ। इस प्रकार के अनुभव कई बार आए।

तुम्हारे अन्दर ब्रह्मऋषि के गुण आने लगे हैं

यह अनुभव जुलाई के प्रथम सप्ताह का है। सुबह 10 बजे मैं कुछ कार्य कर रहा था कि तभी मैं जोर से बोल पड़ा- "तुम्हारे अन्दर ब्रह्मऋषि के गुण आने लगे हैं।" अपने मुँह से ये शब्द सुनकर मैं चौंक पड़ा। कुछ क्षणों बाद मेरे मुँह से फिर यही शब्द निकले- "तुम्हारे अन्दर ब्रह्मऋषि के गुण आने लगे हैं।" फिर मैं आँखें बन्द करके ध्यान मुद्रा में बैठ गया, तब मुझे अंतरिक्ष से ये शब्द सुनाई देने लगे- "तुम्हारे अन्दर ब्रह्मऋषि के गुण आने लगे हैं।" फिर मैंने पूछा- "हमारे मुँह से ऐसे शब्द क्यों निकल रहे थे अथवा अब

क्यों सुनाई दे रहे हैं?" उत्तर मिला- "हाँ, यह सच है, यह गुण आपके अन्दर आने लगे हैं, क्योंकि अब आप सभी को क्षमा कर देते हैं, सभी से निन्दा सुन लेते हो तथा समस्त प्राणियों के कल्याण की कामना रखते हो। आप सभी प्राणियों को अपना ही स्वरूप मानते हैं।" फिर मैं कुछ न बोला।

सम्पूर्ण इच्छाओं से रहित होना

9 जुलाई को सायंकाल मैं अपने आश्रम में भगवान शंकर के चबूतरे पर बैठा हुआ ध्यान कर रहा था कि तभी अनुभव में देखा– चबुतरे पर बने शिवलिंग के स्थान पर कुँआ बना हुआ है। कुँए के अन्दर का दृश्य नीचे तक हमें दिखाई नहीं दे रहा है, क्योंकि मैं कुँए से थोड़ा दूर बैठा हुआ हूँ, मगर कुँए की ओर देख रहा हूँ। कुँए के अन्दर एक-डेढ़ मीटर की गहराई तक दिखाई दे रहा था कि तभी आवाज आई- "कुँए के अन्दर झाँक कर देखो तो।" मगर मैंने झाँक कर नहीं देखा। फिर से आवाज आई– " कुँए के अन्दर झाँक कर देखो।" मैंने इस बार भी झाँक कर नहीं देखा तथा अपने अन्दर सोचा– "क्या देखूं, इसके अन्दर तो राख भरी है।" तभी दिखाई दिया की कुँआ नीचे की ओर से ऊपर की ओर भरता आ रहा है, उसमें शुद्ध साफ राख भरी है। कुछ ही क्षणों में ऊपर तक राख भर आई।

यह कुँए वाला दृश्य तब आया जब ध्यान पर बैठते ही मैं बोला- "इन मिट्टी के पिण्डों अर्थात् माँस के पिण्डों में क्या रखा है, ये तो सिर्फ चलते-फिरते माँस के पिण्ड हैं। जीव अकारण ही भ्रम में पड़ा हुआ है।"

अर्थ– कुँआ अपरा-प्रकृति व चित्त है। राख सभी प्रकार की इच्छाओं का शांत हो जाना है। यह राख जले हुए कर्माशयों का अवशेष है।

अपरा-प्रकृति का स्वरूप

यह अनुभव 16 जुलाई को ध्यानावस्था में आया। सामने की ओर छोटा-सा क्षेत्र क्लॉक वाईज घूमता हुआ दिखाई दे रहा था। उस क्षेत्र के मध्य में काला नाग फन उठाए खड़ा हुआ था। सम्पूर्ण क्षेत्र घूमने के कारण नाग भी अपनी जगह पर घूम रहा था। नाग जड़ रूप में स्पष्ट दिखाई दे रहा था। ऐसा लग

रहा था मानों वह काली मिट्टी का बना हो। सम्पूर्ण क्षेत्र ग्रामोफोन के रिकार्ड के समान क्लॉक वाईज घूम रहा था। कुछ समय तक मैं यह अनुभव देखता रहा।

फिर इसी प्रकार का मिलता-जुलता अनुभव 3 अगस्त को आया। सामने थोड़ा नीचे की ओर एक प्रकाशमान स्त्री का चेहरा व गर्दन दिखाई दे रहा था। उस स्त्री का चेहरा दाहिनी करवट के बल सो रहा था। यह दृश्य एक-डेढ़ फीट व्यास के गोलाकार क्षेत्र के अन्दर दिखाई दे रहा था। इस गोलाकार क्षेत्र के बाहर चारों ओर तेज प्रकाश फैला हुआ था। स्त्री का चेहरा प्रकाश द्वारा बना था। गोलाकार क्षेत्र में घूमते समय उसका चेहरा भी घूम रहा था। ऐसा लगता था मानों यह चेहरा गहरी निद्रा में सो रहा हो। मैं इस दृश्य को टकटकी लगाए देख रहा था कि तभी स्त्री के चेहरे के स्थान पर फन उठाये हुए नाग दिखाई देने लगा अर्थात् स्त्री का चेहरा फन उठाये हुए नाग के रूप में परिवर्तित हो गया। यह भी स्त्री के चेहरे के समान प्रकाश द्वारा बना हुआ था। नाग एक फीट ऊँचा व फन उठाये हुए था। नाग का शरीर नहीं दिखाई दे रहा था, सिर्फ फन व फन से लगा हुआ थोड़ा-सा शरीर का भाग दिखाई दे रहा था। वह गोलाकार क्षेत्र पहले की भाँति घूम रहा था। अभी उस क्षेत्र ने क्लॉक वाईज दो ही चक्कर लगाए थे, तभी नाग अदृश्य हो गया। उस स्थान पर फिर से पहले वाला स्त्री का चेहरा प्रकट हो गया, वह चेहरा गहरी नींद में सो रहा था। गोलाकार क्षेत्र तीव्र गति से क्लॉक वाईज अपनी जगह पर अब भी घूम रहा था।

अर्थ– इस अनुभव में सम्पूर्ण दृश्य बहुत ही कम घनत्व वाला था, इसलिए प्रकाश द्वारा बना था। स्त्री का चेहरा अपरा-प्रकृति का स्वरूप है तथा नाग अहंकार का स्वरूप है। क्लॉक वाईज घूमना अर्थात् गति करना है, यह अपरा-प्रकृति का स्वभाव है। इस अनुभव में अपरा-प्रकृति का स्वरूप मात्र थोड़ा-सा ही है, वह भी अत्यन्त शुद्ध है तथा सुषुप्तावस्था में है अर्थात् नष्ट हुए के समान है। अपरा-प्रकृति से प्रकट हुआ अहंकार ही सृष्टि का कारण बनता है। समस्त सृष्टि अहंकार के द्वारा उत्पन्न हुई है, इसलिए अनुभव में स्त्री के चेहरे के स्थान पर नाग दिखाई दे रहा था। यह अवस्था हमारे चित्त की है।

मैं सर्वोच्च स्थिति के पास

यह अनुभव 3 अगस्त को ध्यानावस्था में आया। मैं सीढ़ी के ऊपर खड़ा हूँ, सम्पूर्ण सीढ़ी अत्यन्त तेज प्रकाश के द्वारा बनी हुई है। सीढ़ी के जिस पायदान पर मैं खड़ा हूँ, उस पायदान से ऊपर की ओर दो पायदान और हैं। मैंने नीचे की ओर देखा तो दिखाई दिया कि नीचे विशाल महलनुमा मकान बना हुआ है।

सीढ़ी इसी महलनुमा मकान की छत के ऊपर बिल्कुल सीधी 90 अंश (नब्बे अंश) के कोण के समान अंतरिक्ष में खड़ी हुई है। अब मैं ऊपर के दोनों पायदानों की ओर देख कर बोला– "अभी दो पायदान चढ़ना और शेष है, लो एक पायदान और चढ़ जाता हूँ।" तभी सीढ़ी पर एक पायदान और चढ़ गया। इस पायदान पर पैर रखते समय थोड़ा-सा जोर लगाना पड़ा फिर पायदान पर आराम से खड़े होकर इधर-उधर देखने लगा। चारों ओर तेज प्रकाश फैल हुआ था। ऐसा लग रहा था जैसे मैं बहुत ऊपर अंतरिक्ष में खड़ा हूँ। अब सीढ़ी की सबसे ऊपर की पायदान चढ़ना शेष रह गया था, मगर उस पायदान की ओर ध्यान नहीं दिया। सीढ़ी के पायदान बहुत चौड़े थे, उस पर खड़े होकर इधर-उधर एक दो कदम घूमा जा सकता था।

अर्थ– सीढ़ी पर चढ़ना उन्नति का प्रतीक है। यह सीढ़ी ज्ञान की अवस्थाओं की प्रतीक है, इसलिए ज्ञान की सातों अवस्थाओं की प्रतीक हैं। अनुभव में मैं ज्ञान के पाँचवे पायदान पर खड़ा था, फिर छटवें पायदान पर खड़ा हो गया। आखरी पायदान अर्थात् ज्ञान का सातवां पायदान अभी शेष है। मैं आखिरी पायदान की ओर ध्यान नहीं देता हूँ, क्योंकि यह पायदान तुरीयातीत अवस्था वाला है। अभी-अभी मैं ज्ञान की छटवीं पायदान पर आया हूँ। यह अवस्था अभ्यास के द्वारा कई वर्षों में परिपक्व कर पाऊँगा, तब सातवीं पायदान की अवस्था प्राप्त की जा सकती है। यह निश्चित है कि ज्ञान के सातवें पायदान पर अभ्यास करके ही इस स्थूल शरीर का त्याग करुँगा। ज्ञान की चौथी अवस्था प्राप्त होने पर जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त हो जाती है। चौथी, पाँचवी और छटवीं अवस्था वाले साधक को जीवन्मुक्त अवस्था वाला कहा जाता है। जिस अभ्यासी ने अपने चित्त की वृत्तियाँ पूर्ण रुप से निरुद्ध कर दी हैं, उसे ज्ञान की सातवीं अवस्था वाला कहा जाता है। इसी को स्थित-प्रज्ञ अथवा आत्मस्थित पुरूष कहते हैं। अभी इस प्रकार का अभ्यास मैं नहीं कर सकता हूँ, क्योंकि अभी प्रकृति के कुछ कार्य करने हैं।

आकाश तत्त्व

यह अनुभव 28 अगस्त को आया। मैं आकाश में खड़ा हुआ ऊपर की ओर देख रहा था। ऊपर आकाश में एक काला नाग विद्यमान था। वह काला नाग काले रंग की मिट्टी का बना हुआ था। देखने में नाग पूर्ण रूप से जड़ रूप वाला दिखाई दे रहा था। उसका आधा शरीर कुण्डली के रूप में था तथा मुँह की ओर वाला आधा शरीर नीचे की ओर लटका हुआ था अर्थात् उस नाग का मुँह नीचे की ओर लटका हुआ था। मैं नाग को देख रहा था तथा सोच रहा था कि कितने स्वच्छ आकाश में यह गन्दा काला-सा

नाग है। तभी देखा तो नीचे की ओर से आकाश चटाई के समान फोल्ड होने लगा (मुड़ने लगा), ऐसा लग रहा था मानों कोई चटाई मोड़ रहा हो। वह आकाश मुड़ता हुआ अर्थात् फोल्ड होता हुआ ऊपर की ओर चला गया। उसी के अन्दर नाग भी मुड़ कर अन्दर बन्द हो गया। हमें जो स्वच्छ आकाश दिखाई दे रहा था, उसकी ऊपरी पतली परत ही मुड़ रही थी (फोल्ड हो रही थी)। आकाश की ऊपरी परत फोल्ड होने के बाद अत्यन्त निर्मल स्वच्छ (पहले से ज्यादा निर्मल) व शांत आकाश दिखाई देने लगा था।

अर्थ– नाग अहंकार का स्वरूप है। इस अहंकार के बहिर्मुख होने पर सृष्टि का कार्य होना शुरू हो जाता है। आकाश चटाई के समान नीचे से ऊपर की ओर फोल्ड हो गया, यह चित्त का आवरण था, इसे चित्ताकाश कहते हैं। चित्ताकाश पूर्ण रूप से नष्ट नहीं हुआ है, बल्कि चटाई के समान मुड़ता हुआ ऊपर की ओर चला गया। चित्ताकाश के हटने के बाद आकाश अत्यन्त स्वच्छ परम् शांत दिखाई दे रहा था।

अपरा-प्रकृति को अपने सिर के नीचे दबा लिया

यह अनुभव 28 सितम्बर को आया था। पीली साड़ी पहने, सुन्दर शरीर व गोरे रंग वाली स्त्री हमारे सामने लेट गई। उसका सिर पश्चिम दिशा की ओर था, उसी से चिपक कर पूर्व दिशा की ओर मुँह करके मैं भी लेट गया। मैंने उस स्त्री के दोनों पैरों को पकड़कर अपने सिर के नीचे दबा लिया। अब मैं उस स्त्री के पैरों के पंजे अपने सिर के नीचे दबाए था, हम दोनों एक दूसरे का मुँह देख रहे थे। वह स्त्री कुछ बोले जा रही थी, मगर मैं समझ नहीं पा रहा था कि वह क्या कह रही थी? यह दृश्य कम घनत्व वाले आकाश में दिखाई दे रहा था।

अर्थ– यह स्त्री अपरा-प्रकृति थी, इसलिए उसका सिर पश्चिम की ओर था। पश्चिम दिशा का अर्थ होता है, नीचे की ओर उन्मुख अथवा सृष्टि उन्मुख होना। मैं पूर्व दिशा की ओर सिर किए हूँ अर्थात् कैवल्य उन्मुख हूँ। अनुभव में मैंने अपरा-प्रकृति को अपने नीचे दबा रखा है। वह स्त्री कुछ कह रही है अर्थात् हमें संसार में कुछ कार्य करने होंगे।

मैं छिद्र से उस पार चला गया

यह अनुभव 16 अक्तूबर को सुबह ध्यानावस्था में आया। ऊपर की ओर अंतरिक्ष में गोलाकार छिद्र है। मैं इस गोलाकार छिद्र से अपने आप ऊपर की ओर जाने लगा। हमारा शरीर कमर तक ऊपर की ओर चला गया। शरीर का शेष निचला भाग छिद्र से नीचे की ओर बना रहा। छिद्र के ऊपरी क्षेत्र में देखा– प्रकाश मान क्षेत्र में एक विशेष प्रकार का क्षेत्र है। उसी क्षेत्र से पानी की पतली धारा प्रकट होकर छिद्र की ओर आ रही है। इसी धारा में एक मानव आकार बहता हुआ छिद्र की ओर आने लगा।

अर्थ– इस छिद्र के विषय में मैं पहले भी लिख चुका हूँ। अपरा-प्रकृति और परा-प्रकृति के बीच में छिद्रनुमा भासित होने वाली जगह है। वैसे वास्तव में छिद्र नहीं है, सिर्फ भासित होता है। इसके ऊपरी भाग में परा-प्रकृति है, निचले भाग में अपरा-प्रकृति है। आधा शरीर हमारा परा-प्रकृति के क्षेत्र में चला गया। परा-प्रकृति में पानी की धारा प्रकट होकर छिद्र की ओर आ रही थी, यहीं से अपरा-प्रकृति का सूक्ष्म रूप से प्राकट्य होता है, फिर सृजन का कार्य करती है। अपरा-प्रकृति के प्रवाह में बहता हुआ जीव (मानव आकार) जीवत्व के प्राप्त होने संसार में जन्म ग्रहण करने के लिए आ जाता है। योगी को परा-प्रकृति का साक्षात्कार नहीं हो सकता है, इसलिए यह दृश्य सिर्फ अपरा-प्रकृति से सम्बंधित दिखाया गया है। इसी विशेष प्रकार के क्षेत्र में अपरा-प्रकृति महाप्रलय के समय बीज रूप में विद्यमान रहती है।

चित्त की चंचलता शांत हो गई

यह अनुभव 21 अक्तूबर का है। चारों ओर झील के समान पानी भरा हुआ है, पानी गहरा व शांत है। मैं पानी के ऊपर खड़ा हूँ, हमारे पैरों के पंजे पानी के अन्दर डूबे से है। मैं पूर्व दिशा की ओर मुँह करके किसी पुरूष से कह रहा हूँ- "मैं पानी के ऊपर चल सकता हूँ।" हमारे कहते ही पानी की ऊपरी परत बर्फ के रूप में परिवर्तित होने लगी। अब मैं बर्फ के ऊपर बड़े आराम से चल रहा था। मैं जिस ओर पानी के ऊपर चलता, उसी ओर पानी की ऊपरी सतह बर्फ के रूप में बदल जाती थी।

अर्थ– झील के समान भरा हुआ पानी संसार का स्वरूप व चित्त वृत्तियों का स्वरूप है। पानी के ऊपर चलना अर्थात् संसार के ऊपर चलना। पानी का बर्फ के समान बनना अर्थात् वृत्तियों का परम् शांत होना या निरुद्ध हो जाना। इस अनुभव में दिखाया गया है कि हमारे लिए चित्त अब शांत हो गया है। संसार का स्वरूप विद्यमान रहते हुए भी मैं उसके प्रभाव से परे हूँ।

परम् शांत

यह अनुभव 25 अक्तूबर को ध्यानावस्था में आया। हमारी दृष्टि नीचे की ओर थी, नीचे की ओर हल्के प्रकाश में यह दृश्य दिखाई दिया। दृश्य में हाईवे (चौड़ी सड़क) के समान अण्डाकार स्वरूप था अथवा चौड़ा पट्टी-नुमा क्षेत्र अण्डाकार रूप में था। इसी चौड़े पट्टी-नुमा क्षेत्र पर एक प्रकार का प्रवाह बह रहा था। जितने क्षेत्र पर प्रवाह बह रहा था, वह क्षेत्र अन्य क्षेत्र से थोड़ा अधिक प्रकाशित था। मैं इस प्रवाह को अण्डाकार परिधि में बहते हुऐ देखकर ही समझ गया था कि यह अपरा-प्रकृति का क्षेत्र है। यही प्रवाह सृष्टि का स्वरूप है। अब मैंने अपनी दृष्टि नीचे की ओर से हटा ली। फिर अपने आप में अवस्थित होकर सोचने लगा कि यही अपरा-प्रकृति का स्वरूप है, जिसमें समस्त प्राणियों का जीवन चक्र घूमता रहता है। अपरा-प्रकृति का स्वरूप देखने के बाद मैं अपने आप में शांत हो गया, बहुत समय तक बिल्कुल शांत बैठा रहा। कुछ समय बाद मैंने फिर नीचे की ओर दृष्टि की, हमें फिर से पहले जैसा दृश्य दिखाई दिया। मैं सम्पूर्ण अपरा-प्रकृति से ऊपर स्थित (अपने स्वरूप में स्थित) परम् शांत था।

अर्थ– अनुभव में अपरा-प्रकृति की सृष्टि का प्रवाह अण्डाकार रूप में बह रहा था। यह प्रवाह वायु तत्त्व का था, यह सम्पूर्ण प्रवाह आकाश तत्त्व में स्थित था। सम्पूर्ण सृष्टि आकाश तत्त्व के अन्दर ही वायु तत्त्व के द्वारा रची जाती है। सम्पूर्ण अपरा-प्रकृति का क्षेत्र बिल्कुल छोटा-सा था। मैं अपरा-प्रकृति के क्षेत्र को अपने पैर के तलवे के नीचे दबा सकता था, क्योंकि हमारा स्वरूप बहुत ही विशाल था। इस अनुभव को देखकर हमारी इच्छा नहीं होती है कि दुबारा जन्म ग्रहण करने के लिए इस संसार में (सृष्टि में) आऊँ। अब हमारा मन पूरी तरह से अपरा-प्रकृति से उदासीन हो गया है।

हे ईश्वर! इन सभी को माफ कर दो

यह अनुभव 25 अक्तूबर को रात्रि 11 बजे आया। ध्यानावस्था के समय अपरा-प्रकृति में स्थित प्राणियों की याद आई कि सम्पूर्ण प्राणी इसी अपरा-प्रकृति को अपना समझकर दुःखों का भोग कर रहे हैं। हमें समाज के बहुत से लोगों ने अकारण ही अपमानित किया। मुझे मालूम है कि इन सभी को उनके कर्मों की सज़ा मिलेगी। मुझे इन सभी मनुष्यों पर दया आई, जिन्होंने हमें अकारण ही अपमानित किया तथा कष्ट पहुँचाया। मैंने ईश्वर से प्रार्थना की– "हे ईश्वर! इन सभी मनुष्यों को माफ कर दो, जिन्होंने हमें अपमानित किया व कष्ट पहुँचाया है। ये सभी अज्ञानी है, इन्हें हमारी वास्तविकता का ज्ञान नहीं है। अत:

हमें इन सभी मनुष्यों से कोई शिकायत नहीं है। इसलिए इनके अपराध क्षमा कर दिए जाएँ, ये सभी क्षमा के पात्र हैं।" फिर मैं शांत होकर अपने स्वरूप में स्थित हो गया।

अर्थ– जब मैंने अपरा-प्रकृति को ऊपर लिखे अनुभव वाले स्वरूप में देखा तथा अपने स्वरूप की अनुभूति की तब मुझे उन मनुष्यों के प्रति दया भाव आ गया जिन्होंने हमें अकारण ही कष्ट पहुँचाये थे। ऐसे मनुष्यों से हमें किसी प्रकार का कोई वैर-भाव नहीं है, बल्कि मैं इन सभी मनुष्यों का आभारी हूँ, क्योंकि इन्होंने हमें योग के अभ्यास में इस अवस्था पर पहुँचने में हमारी सहायता की है।

मैं ही सृष्टि वाला वृक्ष हूँ

यह अनुभव 29 नवम्बर को ध्यानावस्था में आया। मैं सामने की ओर देख रहा हूँ। हमारे यहाँ से दूर तक वृक्ष की एक शाखा विद्यमान है। इस शाखा के आखिरी सिरे पर एक मुर्गे ने अपनी चोंच मारी। मुर्गे के द्वारा वृक्ष की शाखा पर चोंच मारते ही शाखा हमारी ओर को सिकुड़ने लगी। मैं इस दृश्य को देखकर आश्चर्यचकित हुआ। मुर्गा अपने पैरों के द्वारा धीरे-धीरे अंतरिक्ष में चलता हुआ हमारी ओर चला आ रहा था तथा शाखा के आखिरी सिरे पर चोंच भी मारता जा रहा था। शाखा सिकुड़ती हुई हमारी ओर चली आ रही थी, तभी मैंने देखा कि सम्पूर्ण शाखा धीरे-धीरे हमारे शरीर के अन्दर प्रवेश करके अदृश्य हो गई। अब मैंने अपने आप को देखा तो देखा कि हमारा शरीर नहीं था, बल्कि शरीर के स्थान पर बहुत मोटा वृक्ष का तना था। यह तना पूर्ण रूप से सूखा हुआ था। इसमें बाहरी छिलका भी नहीं था तथा अन्दर की ओर से पूरी तरह से खोखला था। सूखे तने की लकड़ी की परत चार इंच मोटी रही होगी, तने का व्यास बहुत ज्यादा था। ऐसा लगता था जैसे यह अत्यन्त विशाल वृक्ष का तना था। तने का स्वरूप पूर्ण रूप से नष्ट हुए के समान था, सिर्फ स्वरूप मात्र भासित-सा हो रहा था।

अर्थ– वृक्ष की शाखा का अर्थ है– संसार में किसी विषय के सम्बन्ध का प्रतीक होना। यह सांसारिक विषय यही लेख है। इस लेख को पुस्तक के रूप में समाज का मार्गदर्शन करना है। अब यह कार्य पूर्ण सा हो गया अथवा हो जाएगा। यह कार्य ईश्वर से प्रेरित हुआ प्रकृति का ही कार्य है। वृक्ष संसार का स्वरूप है। मुझे अपना शरीर दिखाई नहीं दे रहा है, बल्कि मैं स्वयं वृक्ष के तने के रूप में हूँ। ऐसा इसलिए दिखाई दिया, क्योंकि मैं अब अपने स्वरूप से सर्वत्र व्याप्त हूँ। इस व्यापकता के कारण यह संसार मुझे अपने स्वरूप में दिखाई दे रहा है। तत्त्वज्ञान के द्वारा मुझे ज्ञात है कि ब्रह्म ही सर्वत्र व्याप्त है, सृष्टि का

कोई अस्तित्व नहीं है। अभ्यास के द्वारा मैंने अपने आपको अपने स्वरूप में स्थित कर लिया है तथा ब्रह्मरस से ओत-प्रोत रहता हूँ। ऐसी अवस्था में सृष्टि विद्यमान रहते हुए भी नष्ट हुए के समान है, इसलिए ऐसा अनुभव आया है। संसार का स्वरूप अन्दर व बाहर से सूखे खोखले वृक्ष के तने के समान है। संसार का ऐसा स्वरूप तत्त्वज्ञानी के लिए होता है। इस वृक्ष के विषय में गीता के पन्द्रहवें अध्याय के पहले शलोक में वर्णन किया गया है।

हमारा स्थूल शरीर प्रारब्ध वेग के द्वारा सधा हुआ है

यह अनुभव 6 दिसम्बर को आया। मैं एक बैलगाड़ी के ऊपर खड़ा हुआ हूँ, बैलगाड़ी अपने आप आगे की ओर चली जा रही है। बैलगाड़ी में बैल नहीं जुते हैं तथा बैलगाड़ी में जुआँ भी नहीं लगा हुआ है अर्थात् बैलगाड़ी जुएँ और बैलों से रहित अपने आप आगे की ओर चली जा रही है। मैं बैलगाड़ी के ऊपर खड़ा हुआ मुस्करा रहा हूँ। कुछ क्षणों बाद मैं बैलगाड़ी से दूर थोड़ा ऊपर की ओर अंतरिक्ष में स्थित हो गया। अब मैं जुएँ और बैलों से रहित थोड़ा सा नीचे की ओर खड़ी हुई बैलगाड़ी को देख रहा हूँ।

मुझे इसी प्रकार का अनुभव 24 नवम्बर को भी आया था। उस अनुभव में मैंने देखा था कि सामने की ओर एक बैलगाड़ी खड़ी है, जो बिल्कुल खाली है। उसमें किसी प्रकार का सामान आदि नहीं है, गाड़ीवान व बैल आदि भी नहीं हैं।

अर्थ– अनुभवों में दिखाई देने वाली बैलगाड़ी हमारा ही शरीर है। इस बैलगाड़ी में बैल नहीं जुते हैं। बैलगाड़ी को दो बैल खींचते हैं तथा जुआँ भी नहीं है अर्थात् बैलगाड़ी जुऐं और बैलों से रहित है। यह दोनों बैल प्राण-शक्ति व मन शक्ति का प्रतीक होते हैं। जिस प्रकार स्थूल शरीर को प्राण और मन दोनों एक साथ मिलकर व्यवस्था पूर्वक चलाने के लिए क्रिया करते हैं। बैलगाड़ी के अग्र भाग में आड़ी लकड़ी के रूप में जुआँ लगा रहता है। यही आड़ी लकड़ी (जुआँ) दोनों बैलों के कन्धों पर रखी रहती है, इसी के सहारे बैल अपने शरीर का बल लगाकर बैलगाड़ी को खीचते हैं। जब बैलगाड़ी में जुआँ ही नहीं है, तो बैलगाड़ी को किस प्रकार से खींचा जाए? जब अभ्यासी अभ्यास के द्वारा तथा भोगकर चित्त में स्थित सम्पूर्ण कर्माशयों को नष्ट कर देता है, तब स्थूल शरीर प्रारब्ध वेग के द्वारा सधा रहता है। तब मन व प्राणों के द्वारा इस शरीर को बनाए रखने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि अभ्यासी के चित्त में प्रारब्ध रूप में

कर्माशय ही नहीं होते हैं। इन्हीं कर्माशयों के कारण चित्त के अन्दर प्राणों का स्पन्दन होता है। प्राणों के स्पन्दन से चित्त में स्थित वृत्तियाँ प्रकट होकर बाहर निकलती है।

कर्माशयों से रहित होने पर शरीर का सधे रहने का कोई विशेष कारण नहीं होता है, बल्कि प्रारब्ध वेग के द्वारा शरीर सधा रहता है। जिस प्रकार कमान से तीर छूटने के बाद आगे की ओर गति करता रहता है, तीर का आगे की ओर गति करने का कारण कमान की ही शक्ति ही है। कमान की शक्ति समाप्त हो जाने पर तीर अपने आप गिर जाएगा अथवा कुम्हार का चाक बर्तन बनाने के बाद भी गति करता रहता है। बाद में गति करने का कोई कारण नहीं होता है, यह गति कुम्हार के द्वारा चाक को गति देने के लिए लगाई गई लकड़ी के डण्डे की शक्ति के द्वारा हो रही है। जब डण्डे द्वारा लगाई गई शक्ति समाप्त हो जाएगी, तब चाक की गति स्वमेव समाप्त हो जाएगी। इसी प्रकार प्रारब्ध वेग समाप्त हो जाने पर इस शरीर का सधा रहना सम्भव नहीं हो पायेगा अर्थात् शरीर शांत हो जाएगा।

यह अवस्था अभ्यासी को तब प्राप्त होती है, जब वह पूर्ण रूप से जीवन्मुक्त अवस्था में परिपक्व हो जाता है। यह परिपक्वता ज्ञान की छटवीं अवस्था में प्राप्त होती है। इस अवस्था में अवस्थित अभ्यासी भौतिक जगत् में रहता हुआ भी ब्रह्म स्वरूप ही होता है, क्योंकि उसके लिए अब यह जगत् आभास मात्र ही है। ब्रह्म स्वरूप हुआ ऐसा पुरूष संसार के किसी नियम को मानने के लिए बाध्य नहीं है, क्योंकि वह पूर्ण रूप से स्वतंत्र होता है। उसका अन्त:करण ब्रह्म रस से ओत-प्रोत रहता है। ऐसा पुरुष प्रकृति का सम्मान करते हुए ईश्वरीय कार्यों को गुप्त रूप से करता रहता है।

जीवन्मुक्त अवस्था परिपक्व हो गई

यह अनुभव दिसम्बर माह के आखिरी सप्ताह में आया। नीचे की ओर छोटा सा प्रकाशित क्षेत्र दिखाई दे रहा था। उस प्रकाशित क्षेत्र के मध्य में एक शिवलिंग विद्यमान था, उस शिवलिंग के ऊपर थाली नुमा पात्र रखा था। थाली नुमा पात्र के अन्दर एक छोटी सी चकिया (घर में गेहूँ पीसने वाली चकिया) अपने आप चल रही थी। उस चकिया के चारों ओर पात्र के अन्दर ही धीरे-धीरे आटा गिर रहा था। पात्र के अन्दर थोड़ा सा ही आटा था। चकिया के ऊपरी ओर मध्य वाले भाग में, जिसमें लोहे की मोटी कील फंसी होती है तथा पीसने के लिए अनाज डालते हैं, उस गड्ढेनुमा जगह के अन्दर थोड़ा सा आटा भरा था। इस दृश्य को देखकर मैं सोचने लगा कि अनाज की जगह पिसा-पिसाया आटा पीसा जा रहा है। चकिया अपने आप चल रही थी, उसे चलाने वाला कोई नहीं था।

अर्थ– सम्पूर्ण प्रकाशित क्षेत्र हमारा ही चित्त है। शिवलिंग का अर्थ चित्त व अपरा-प्रकृति होता है। चकिया के द्वारा अनाज पीसा जाता है, ऐसी चकिया गावों में अब भी देखने को मिल जाएगी, जिससे स्त्रियाँ घरों में अनाज पीसा करती हैं। इस अनुभव में तीन बातें महत्वपूर्ण हैं। **एक**– शिवलिंग के ऊपर चकिया चल रही है, **दो**– चकिया अपने आप चल रही है, **तीन**– पिसे हुए आटे को पीसा जा रहा है। शिवलिंग के ऊपर स्थित होकर चकिया चलने का अर्थ है– शिवलिंग अपरा-प्रकृति का स्वरूप होता है। तत्त्वज्ञानी के लिए अपरा-प्रकृति नष्ट हुए के समान हो जाती है अर्थात् वह इस प्रकृति से परे हो जाता है। उसका चित्त व्यापक होकर ईश्वर के चित्त में अन्तर्मुखी हो जाता है। उसकी अवस्था अपरा-प्रकृति से परे होने के कारण अनुभव में चकिया शिवलिंग के ऊपर से चलती हुई दिखाई दे रही है। चकिया अपने आप चल रही है। इसका अर्थ है– तत्त्वज्ञानी का स्थूल शरीर प्रारब्ध वेग के द्वारा सधा रहता है, जिस प्रकार कुम्हार का चाक बर्तन बनाने के बाद भी घूमता रहता है और कमान से छूटा हुआ तीर अपने आप आगे की ओर गति करता रहता है। अभ्यासी का स्थूल शरीर प्रारब्ध भोग को भोगने के लिए विद्यमान रहता है। प्रारब्ध की समाप्ति पर तत्त्वज्ञानी का शरीर प्रारब्ध वेग के द्वारा सधा रहता है, वेग की समाप्ति होने पर शरीर गिर जाएगा। तब चित्त से लेकर स्थूल शरीर तक की समस्त चेष्टाएँ सदैव के लिए शांत हो जाएँगी, तब चकिया चलना बन्द हो जाएगा तथा चकिया का स्वरुप भी मेरे लिए नष्ट हो जाएगा। पिसे हुए आटे को पीसने का अर्थ है– कर्मों से परे होकर अर्थात् कर्मों से रहित होकर भी संसार के कल्याण हेतु कर्म करना। ऐसे कर्म जीवों के कल्याण के लिए किए जाते हैं। तत्वज्ञानी के द्वारा कर्म करने पर भी उसके अन्दर लेशमात्र भी कर्ताभाव नहीं आता है, क्योंकि तत्त्वज्ञानी आत्मानन्द में सदा मग्न रहने के कारण अन्तर्मुखी रहते हैं। आप्तकाम होने के समय वह किसी भी वस्तु प्राप्ति के लिए चेष्टा नहीं करता है। उसका चित्त पूर्ण रूप से वासना रहित होता है। यह अनुभव हमारी जीवन्मुक्त अवस्था की परिपक्वता को दर्शा रहा है।

अन्वय योग का पूर्ण होना

यह अनुभव दिसम्बर माह के अन्तिम दिनों में आया– "मैं व्यापक स्वरूप में विद्यमान हूँ।" हमारे नीचे दाहिनी ओर से पानी की एक धारा प्रकट होकर थोड़ा-सा सामने की ओर जाकर फिर नीचे की ओर चली गई। अब मैं पानी के प्रवाह की ओर देखने लगा, तब मुझे दिखाई दिया कि हमारे नीचे से पानी की धारा प्रकट होकर थोड़ा-सा आगे की ओर चलकर नीचे की ओर सर्पाकार गति के रूप में चली जा रही है, जैसे कोई सर्प लकड़ी के लट्ठे में चारों ओर लिपटा हुआ नीचे की ओर जाता है। कुछ क्षणों बाद मैं ही पानी

की धारा के स्थान पर नीचे की ओर जाने लगा। उस समय अनुभूति कर रहा था कि पानी की धारा मैं ही हूँ, फिर नीचे जाकर मैं ध्यान मुद्रा में बैठा गया। उस समय सम्पूर्ण अपरा-प्रकृति के क्षेत्र में बैठा हुआ मैं अनुभूति कर रहा था– "सम्पूर्ण प्राणियों के अन्दर मैं ही विद्यमान हूँ, सम्पूर्ण अपरा-प्रकृति मेरा ही स्वरूप है।" अब मैं अपनी अनुभूति दोनों स्वरूपों में कर रहा था। **एक**– ऊपर बैठे हुए स्वरूप में जिससे पानी की धारा प्रकट हुई है। **दूसरा**– अपने इस स्वरूप में। दोनों स्वरूपों में अनुभूति के समय आनन्दित हो रहा था। फिर दिखाई देने लगा कि मेरे अन्दर ही दूसरा स्वरूप विद्यमान है, मैं ही सर्वत्र विद्यमान हूँ, मैं अकेला ही अपने आप में स्थित हूँ।

अर्थ– पानी की धारा अपरा-प्रकृति का स्वरूप है। अभ्यासी को अनुभव में संसार या अपरा-प्रकृति नदी के रूप में दिखाई देते हैं। अपरा-प्रकृति का प्रवाह निम्नमुखी होता है, इसी कारण अनुभव में पानी की धारा नीचे की ओर जाती दिखाई दे रही है। पानी की धारा सर्पाकार गति करती हुई नीचे की ओर जाती है। इसका अर्थ है– सम्पूर्ण सृष्टि की रचना अहंकार द्वारा ही हुई है अर्थात् अहंकार के कारण सम्पूर्ण प्रकृति विद्यमान सी रहती है। अभ्यासी को अहंकार नाग के रूप में दिखाई देता है। **दूसरा**– कुण्डलिनी शक्ति ही अपरा-प्रकृति के रूप में है। कुण्डलिनी शक्ति व प्राण शक्ति को साथ में लेकर ही जीव इस संसार में जन्म ग्रहण करता है। कुण्डलिनी शक्ति अभ्यासी को सुनहले नाग के रूप में दिखाई देती है। इसलिए अनुभव में पानी की धारा सर्पाकार गति करती हुई नीचे की ओर आती है, जैसे कोई सर्प खड़े हुए लट्ठे में लिपटता हुआ नीचे की ओर आता है। हमारा स्वरूप जिस स्थान पर विद्यमान है, वह स्थान उल्टे खड़े हुए गदा के समान है। ऐसी अवस्था में गदा का गोल मोटा वाला भाग ऊपर की ओर हो जाएगा अर्थात् गोल चौड़ा वाला भाग ऊपर की ओर है, उसी के ऊपर मैं स्थित हूँ।

वेदान्त दर्शन में लेख मिलता है

उल्टे खड़े हुए गदा के समान उठे हुए स्थान के ऊपर ब्रह्म विद्यमान रहता है। उसी स्थान पर स्थित हुआ ब्रह्म सम्पूर्ण जीवों पर शासन करता है। मैं ब्रह्म स्वरूप में उसी स्थान पर विद्यमान हूँ। हमारे शरीर के निचले क्षेत्र से अपरा-प्रकृति पानी की धारा के रूप में प्रकट होकर नीचे की ओर आ रही है। मैं अनुभव में दो स्वरूपों में विद्यमान हूँ। अनुभव में नीचे की ओर जाने वाला दूसरा स्वरूप् अनुभूति कर रहा है– "मैं ही अपरा-प्रकृति हूँ।" अपरा-प्रकृति में स्थित सम्पूर्ण भाषमान शरीर में मेरे ही स्वरूप हैं। ब्रह्म से उत्पन्न होने वाला ब्रह्म ही होता है। अपरा-प्रकृति परा-प्रकृति के अन्दर ही अपनी रचना करती है, इसलिए हमारे अन्दर

ही हमारा दूसरा स्वरूप विद्यमान हुआ दिखाई दे रहा है। फिर मैं अनुभूति करता हूँ– "मैं अकेला ही पूर्ण रूप से सर्वत्र व्याप्त हूँ।" इस अनुभव के अनुसार अन्वय योग का अभ्यास पूर्ण हुआ है। अन्वय योग में अभ्यासी सम्पूर्ण अपरा-प्रकृति को ब्रह्म रूप में (अपने स्वरूप में) अनुभूत करता है। इस अवस्था में अभ्यासी 'समता' में स्थित होता है। यह योग के अभ्यास की चरम सीमा है। यह अवस्था हमें कुछ समय बाद आएगी।

मैं चरवाहा हूँ

यह अनुभव दिसम्बर माह के अन्तिम दिनों में आया। ध्यानावस्था में मैंने देखा कि मैं प्रकाशमान क्षेत्र में खड़ा हूँ, तभी हमारे सामने एक मानव आकृति प्रकट हो गई। वह मानव आकृति प्रकाश पुंज जैसी थी। उसका स्वरूप स्पष्ट दिखाई नहीं दे रहा था। उसने हमसे पूछा कि आप कौन है? मैं बोला कि मैं चरवाहा हूँ, पशुओं को चराता हूँ। फिर वह मानव आकृति कुछ न बोली, बल्कि हमारे ही सामने प्रकाश में विलीन हो गई। अब मैंने अपनी दृष्टि नीचे की ओर की, तब दिखाई दिया कि नीचे की ओर काफी दूरी पर उज्ज्वल सफेद रंग का महलनुमा मकान बना हुआ है। मैं ऊपर की ओर अंतरिक्ष में विद्यमान था, अनुभव समाप्त हो गया।

अर्थ– जीव को पशु कहा जाता है, ऐसा शास्त्रों में भी वर्णन मिलता है। जीव में जब तक जीवत्व रहेगा, तब तक उसकी तुलना पशु से की जाती रहेगी। जीव के अज्ञानी होने के कारण उसे ऐसा कहा जाता है। भगवान् शिव का नाम पशुपति भी है, क्योंकि वह जीवों पर शासन करते हैं। बाईबल में एक उदाहरण मिलता है– प्रभु यीशु कहते हैं- "भेड़ मत बनो, चरवाहा बनो। मैं एक कुशल चरवाहा हूँ, झुण्ड में आगे चलने वाली भेड़ यदि खाई में गिर जाए तो उसके पीछे चलने वाली अन्य भेड़ें भी उसी का अनुसरण करेंगी। कुशल चरवाहा ही अपने पशुओं का उचित मार्गदर्शन कर सकता है।" इस अनुभव का अर्थ है– पूर्णता को प्राप्त होना अर्थात् ब्रह्मस्वरूप हो जाना। तत्त्वज्ञानी पुरूष ही अज्ञानी जीवों का उचित मार्गदर्शन कर सकता है। अज्ञानी जीव इस संसार में सदैव मोह के कारण भटकता रहता है। अनुभव में नीचे की ओर दिखाई देने वाला मकान अपरा-प्रकृति है, मैं इससे परे प्रकाश में विद्यमान हूँ।

प्रिय पाठकों! ऊपर लिखी हुई पंक्तियों के बाद ही लिखने की हमारी क्षमता समाप्त सी हो गई है। मैं अभी 30-35 पेज का तीसरा अध्याय और लिखना चाहता था। उस अध्याय में अनुभवों का सटीक अर्थ

कैसे निकाला जाए यह लिखना था, जिससे साधक अभ्यास करते समय स्वयं अपने अनुभवों का अर्थ निकाल ले। उसे बार-बार किसी से पूछने की आवश्यकता न पड़ती, मगर प्रकृति ने हमारा मार्ग अवरूद्ध कर दिया। लिखने की मेरी क्षमता कुछ समय के लिए रोक दी गई। मैं समझ गया कि हमारी लिखने की क्षमता समाप्त कर दी गई है। मैं लेखनी छोड़ कर चुपचाप जाकर लेट गया, तब अनुभव आया– 20-25 वर्ष की स्त्री हरे रंग के कपड़े पहने है, उसका शरीर माँसल है। वह अपने दाहिने हाथ में कुल्हाड़ी लिए है, कुल्हाड़ी के लोहे वाला भाग ऊपर की ओर किए है। वह स्त्री आँखें बन्द किए हुए अपनी जगह पर खड़ी है, उसका शरीर कभी पीछे की ओर झुकता है तो कभी आगे की झुकता है। ऐसा लगता है मानों वह स्त्री अभी गिर पड़ेगी और इसकी मृत्यु हो जाएगी, फिर दृश्य समाप्त हो गया। हमें आवाज सुनाई दी- "जिस पुरूष के लिए प्रकृति नष्ट हुए के समान हो जाती है, वह प्रकृति का भेद नहीं खोलता है।" फिर मैं बोला- "मैं कल्याण करना चाहता हूँ, इसलिए ऐसा लेख लिखना चाहता हूँ।" हमें आवाज सुनाई दी- "कल्याण करना प्रकृति का कार्य है, आपका नहीं।" मैं समझ गया कि इसलिए हमारी लिखने क्षमता समाप्त कर दी गई है। अनुभव में दिखाई देने वाली स्त्री प्रकृति है, वह नहीं चाहती कि मैं उसका रहस्य खोलूं। मुझे प्रकृति के विषय में ज्ञान है, क्योंकि मैंने प्रकृति का साक्षात्कार किया है। मैं नहीं चाहता कि योग का अभ्यास करते समय मार्गदर्शन के विषय में जो हमे परेशानी आई है, वह अन्य साधकों को प्राप्त न हो, मगर हमें अब प्रकृति के सम्मान का ध्यान रखना है। जिस कार्य में प्रकृति की इच्छा न हो, उस कार्य को मैं कैसे करने का प्रयास करुँ? उसे अपनी व्यवस्था अपने अनुसार करनी है।

जब साधक समाधि की उच्चतम अवस्था का अभ्यास कर रहा होता है, तब उसे कुछ अनुभव कई बार आते हैं। अगर ऐसे अनुभवों को गौरपूर्वक देखें तो हर अनुभव में थोड़ा-सा फर्क होता है। यह फर्क स्वयं उसके अभ्यास के कारण होता है। जैसे-जैसे साधक अभ्यास करेगा, वैसे-वैसे उसका चित्त शुद्ध होगा तथा अगली अवस्था धीरे-धीरे प्राप्त होगी अर्थात् साधक की अवस्था परिवर्तन के कारण अनुभव में भी परिवर्तन होता जाता है। कभी-कभी साधक का साधना में (अभ्यास में) पतन भी हो जाता है। इसलिए साधक को सदैव सर्तक होकर अभ्यास करना चाहिए तथा संसार में इस प्रकार का व्यवहार करें कि उसकी साधना सदैव आगे की ओर बढ़ती रहे। यदि साधक के चित्त के अन्दर स्थित कर्माशयों के कारण अभ्यास में रूकावट आ गई है, तब धैयपूर्वक अभ्यास करता रहे। अभ्यास को किसी भी अवस्था में न छोड़े। बीमारी आदि के समय भी यदि स्थूल शरीर अभ्यास के लिए साथ न दे रहा हो तो दुःखी न हो, बल्कि मन से ईश्वर का चिंतन करते रहे अर्थात् अभ्यास को रोके नहीं। अब मैं इन अनुभवों के विषय में लिख रहा हूँ।

इंजन

ध्यानावस्था में कभी-कभी इंजन की आवाज सुनाई देती है। ऐसा लगता है मानों कही इंजन चल रहा है। शुरूआत में साधक को इंजन की आवाज सुनाई देती है, मगर कुछ समय बाद इंजन दिखाई देने लगता है। एक समय ऐसा भी आता है जब अभ्यासी को स्पष्ट रूप से समझ में आ जाता है कि यह इंजन हमारे ही शरीर के अन्दर है। हमारा शरीर इंजन की भाँति कार्य करता है। कभी-कभी इंजन से चकिया (चक्की) चलती दिखाई देती है। यह अनुभव अभ्यासी कई बार देखता है। हर बार अनुभव में (दृश्य में) थोड़ी सी भिन्नता होती है।

अर्थ– सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड कारखाने के समान है (इंजन के समान है), वायु रूपी ईंधन से इस कारखाने के कलपुर्जे व्यवस्था-पूर्वक चला करते हैं। इस कारखाने का इंजीनियर हिरण्यगर्भ अर्थात् ब्रह्माजी हैं। इसी तरह हमारा शरीर भी इंजन की भाँति है। प्राण वायु रूपी ईंधन से इस इंजन के कलपुर्जे व्यवस्था-पूर्वक चला करते हैं अर्थात् इस शरीर के अंग प्राण वायु के द्वारा व्यवस्था-पूर्वक कार्य करते हैं।

नाव

साधक को कई बार (नौका) दिखाई देती है, नाव नदी के इसी किनारे पर है। नाव के ऊपर कोई बैठा हुआ है। नाव नदी को पार कर रही है या नाव नदी को पार कर चुकी है आदि। साधक को योग्यता के अनुसार अनुभव आता है। अभ्यास के द्वारा जैसे-जैसे ज्ञान की प्राप्ति होती है, अनुभव में नाव पर बैठा पुरूष नदी को पार करता हुआ दिखाई देता है। तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जाने पर नाव नदी को पार कर जाती है, फिर यह दृश्य दिखाई नहीं देता है अर्थात् दृश्य भी अदृश्य हो जाता है। नाव का अर्थ है– यह ज्ञान रूपी नौका (नाव) है, नदी संसार है। ज्ञान रूपी नौका पर सवार होकर साधक इस संसार को पार कर जाता है। इसका वर्णन गीता में भी किया गया है।

ऋतम्भरा-प्रज्ञा

प्रज्ञा के विषय में मैं पहले ही लिख चुका हूँ। प्रज्ञा साधकों को कई बार कई वर्षों तक चित्त में उदय होकर गति करती हुई दिखाई देती है। इसका कारण है– स्थूल शरीर से लेकर चित्त तक आरोह-अवरोह व

अवरोह-आरोह क्रम से शुद्ध होना। जब समान रूप से शुद्धिकरण हो जाता है, यह शुद्धिकरण कई वर्षों के अभ्यास से होता है, तब प्रज्ञा रूपी वृत्ति धीरे-धीरे सूक्ष्म तथा व्यापक होकर ब्रह्म स्वरूप ही हो जाती है। प्रज्ञा का अनुभव कई वर्षों तक आता है।

झोपड़ी

अनुभव में झोपड़ी कई बार दिखाई देती है। झोपड़ी या छप्पर घास-फूस का बना होता है, अब यह पुराना हो गया है, उसका फूस उड़ रहा है, झोपड़ी धीरे-धीरे नष्ट हो रही है, झोपड़ी के अन्दर प्रकाश भरा है आदि। इसी प्रकार के अनुभव आते हैं। साधक को झोपड़ी का स्वरूप देखकर अपने अभ्यास की सफलता व अवस्था का अर्थ लगा लेना चाहिए। इस झोपड़ी का अर्थ स्थूल शरीर से लेकर चित्त तक होता है। झोपड़ी की अवस्था देखकर अपनी शुद्धता से अर्थ लगा देना चाहिए।

योनि

साधक को इसका अनुभव बहुत आता है। उसे स्त्री दिखाई देती है, उस स्त्री की योनि के आसपास का क्षेत्र दिखाई देगा। योनि के विभिन्न प्रकार के अनुभव आएंगे, अन्त में दिखाई देगा कि वह किसी स्त्री की योनि को देख रहा है। साधक की दृष्टि योनि पर है, फिर योनि का परिवर्तन होना शुरू हो जाता है। योनि चित्त की भूमि के रूप में परिवर्तित हो जाती है। यह अनुभव तब आता है जब साधक को ईश्वर (सगुण ब्रह्म) का साक्षात्कार हो जाता है। साधक को अनुभव में जब स्त्री की योनि दिखाई दे, तब उसे अन्त:करण में (हृदय में) किसी प्रकार का विकार नहीं लाना चाहिए, बल्कि निष्भाव से उसका आलम्बन करते रहना चाहिए। अन्त में जब योनि का स्वरूप चित्त में परिवर्तित हो जाता है, तब इसका साक्षात्कार नहीं होता है। भौतिक दृष्टि से योनि उत्पत्ति का केन्द्र है, इसी प्रकार चित्त भी उत्पत्ति का केन्द्र है। वास्तव में योनि चित्त ही है, इसलिए अनुभव में योनि बार-बार दिखाई देती है।

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं– "मेरी योनि (गर्भ रखने का स्थान) चित्त है। उसी में मैं गर्भ रखता हूँ अर्थात् अपने ज्ञान का प्रकाश डालता हूँ और उसी जड़ चेतन के संयोग से सब भूतों की

उत्पत्ति होती है। सब योनियों में जो शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सबकी योनि चित्त है और उसमें बीज डालने वाला मैं (चेतन तत्त्व) पिता हूँ।"

विवर

विवर के अनुभव उन साधकों को आते हैं, जिनका सहस्त्र-दल कमल विकसित होने लगता है। इस चक्र में 20 विवर होते हैं। इन सभी विवरों को अभ्यास द्वारा ज्ञान के प्रकाश से भरना होता है। साधक को ये विवर समाधि अवस्था में कुँए के रूप में दिखाई देते हैं। इस कुँए के अन्दर अंधकार-सा होता है मगर पानी नहीं होता, वह इसमें झाँककर देखता है। कभी-कभी इसके अन्दर भी उतर जाता है। इस कुँए (विवर) के अन्दर दीवारों में छिद्र होते हैं। इन छिद्रों में काला अंधकार भरा होता है। ये अंधकार क्लेशात्मक वृत्तियाँ होती हैं अथवा इन छिद्रों में क्लेशात्मक वृत्तियाँ विद्यमान रहती है। इन वृत्तियों को अवश्य भोगना होता है, तभी ये नष्ट होती है। एक विवर (कुँए) का अंधकार नष्ट होने में कई महीनों का अभ्यास लग जाता है, फिर अंधकार नष्ट होने पर ज्ञान का प्रकाश भरने लगता है अर्थात् कुँए में प्रकाश भरने लगता है। जब ज्ञान के प्रकाश से विवर पूरा भर जाता है, तब विवर का स्वरूप नष्ट हो जाता है, वहाँ प्रकाश विद्यमान हो जाता है। इसी प्रकार एक-एक करके विवर को ज्ञान के प्रकाश से भरना होता है। सम्पूर्ण विवर भरने में (नष्ट करने में) कई वर्ष लग जाते हैं। विवर नष्ट करते समय अभ्यासी को संसार से क्लेश सहना पड़ता है, क्योंकि विवर के अन्दर छिद्रों में क्लेशात्मक वृत्तियाँ विद्यमान रहती हैं। इन क्लेशात्मक वृत्तियों को भोगकर ही समाप्त करना होता है। मैंने इस लेख में विवर का अनुभव नहीं लिखा है।

उल्टा वृक्ष

इसके कई अनुभव साधक को आते हैं। अनुभव में दिखाई देता है कि आकाश में अत्यन्त विशाल उल्टा वृक्ष लटका हुआ है, जिसकी जड़े ऊपर आकाश की ओर होती हैं तथा डालियाँ नीचे की ओर होती हैं। इस दृश्य को देखकर आश्चर्य होता है तथा हँसी भी आती है, क्योंकि सामने की ओर उल्टा वृक्ष होता है। इसका वर्णन गीता में पंद्रहवें अध्याय के पहले श्लोक में किया गया है।

साधक को ध्यानावस्था में जो अनुभव दिखाई देते हैं, वह सभी अनुभव उसके चित्त में स्थित वृत्तियों के अनुसार ही दिखाई देते हैं। वृत्तियाँ ही दृश्य को धारण करती हैं। ये अनुभव स्पष्ट नहीं होते हैं इसलिए अनुभवों का अर्थ निकालना पड़ता है। अनुभवों का अर्थ नया साधक नहीं निकाल सकता है। उसे अपने मार्गदर्शक से पूछना होगा, इसलिए मार्गदर्शक अनुभवी होना चाहिए। कभी-कभी अनुभवी मार्गदर्शक भी सही अर्थ नहीं निकाल पाता है, क्योंकि चित्त में विभिन्न प्रकार की अनन्त वृत्तियाँ होती हैं। इसलिए साधकों के अनुभव भी भिन्नता को लिए होते हैं, मगर इनका गूढ़ अर्थ एक-सा होता है।

धर्ममेघ समाधि

अभ्यास के द्वारा जब ऋतम्भरा-प्रज्ञा का चित्त में उदय होता है तथा प्रकृति के पदार्थों के विशेष रूप का साक्षात्कार हो जाता है, तभी से साधक के चित्त पर पाप-पुण्य से रहित धर्म रूपी वर्षा होनी शुरु होती है। स्वच्छ आकाश से पानी अपने आप प्रकट होकर भूमि पर वर्षा करता है। यह वर्षा चित्त के अन्दर ही चित्ताकाश से चित्त की भूमि पर होती है। शुरूआत के अनुभवों में साधक इस वर्षा में भीगता है। वर्षा का पानी साधक का शरीर सोख लेता है तथा भूमि पर गिरा पानी भूमि सोख लेती है। पानी भूमि पर बहता हुआ दिखाई नहीं देता है, क्योंकि सारा पानी सोख लिया जाता है। इस प्रकार के अनुभव बहुत आते हैं। अभ्यास के परिपक्व होने पर वर्षा का पानी भूमि को गीला कर देता है। गीली भूमि पर साधक चलता है अथवा देखता है। जब तक चित्त की भूमि रहती है, तब तक कुछ वर्षों तक यह अनुभव कई बार आता है। हर अनुभव कुछ-न-कुछ भिन्नता से युक्त होता है, इसे धर्ममेघ समाधि कहते हैं।

इस लेख के अन्त में

मनुष्य जब किसी से राग करेगा, तब वह दूसरे से द्वेष अवश्य करेगा, क्योंकि जो किसी से राग करता है वह द्वेष अवश्य करता है। मुनष्य किसी से राग न करे तो द्वेष भी नहीं करेगा। वह सर्वत्र मंगलमय देखने लग जाएगा, तब उसका मन अपने आप शांत होने लगेगा। अगर जीवन का पूर्ण आनन्द लेना चाहते हैं तो ऐसा कार्य मत करें जिससे चित्त खिन्न होने लगे। जिस कार्य से भय, चिंता आदि होने लगे उस कार्य को विष के समान त्याग दो। मन को अन्तर्मुखी करो, जब मन अन्तर्मुखी होने लगेगा तब चित्त चंचलता छोड़कर आत्म विश्रान्ति का लाभ लेने लगेगा। चित्त जितना समाहित होता जाएगा, उतना ही चित्त में सत्त्वगुण का प्रकाश बढ़ता जाएगा। इस सत्त्वगुण के प्रकाश को इतना बढ़ाओ कि तमोगुण व रजोगुण लेशमात्र रह जाए, तब आत्मज्ञान की प्राप्ति होने लगेगी। एक बात ध्यान रहे कि आत्म ज्ञान के आगे सारे ज्ञान छोटे हैं, आत्म पद के सामने (स्थित-प्रज्ञा के समय) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के समस्त पद छोटे रह जाते हैं।

अपने को हीन समझना और परिस्थितियों के सामने झुक जाना पुरूषों के लिए उचित नहीं है। जिनका यह कहना है कि मनुष्य परिस्थितियों का दास है, मैं उनके इन शब्दों से सहमत नहीं हूँ। ऐसा सिर्फ वही कह सकते हैं, जो अपने आपको देह मात्र मानते हैं। शंकाएँ, चिन्ताएँ और भय ही जीवन को नष्ट कर रहे हैं। अत: शंका, चिंता और भय को अपने अन्दर जितना स्थान दोगे, उतना ही उन्नति से दूर रहोगे तथा अपने स्वरूप से दूर बने रहोगे। प्रकृति आपको भ्रम में डाले रहेगी, अपना बन्धन और मजबूत करती जाएगी। इसलिए अज्ञानियों के वचनों और उनके अवरोधों से भयभीत बिल्कुल न होइए। योगियों का जीवन चरित्र इस बात की पुष्टि करता है कि आपके अन्दर ईश्वरीय शक्ति है। उसे जाग्रत करो फिर उस शक्ति के द्वारा सब कुछ करने में सामर्थवान हो जाओगे। परिस्थितियों को बदल देना आपके हाथ में होगा। आप हीन नहीं हैं और न ही आप निर्बल हैं, बल्कि आप सर्वशक्तिमान हैं। अपने चित्त के मिथ्या संस्कार को अभ्यास द्वारा निरुद्ध करके महान बन जाओ। इसमें कोई शक नहीं है कि आपका ही वास्तविक स्वरूप इस समस्त संसार का पिता है।

प्रतिकूलता से कभी मत डरो। चिंता, भय, शोक आदि को दूर फेंक दो, इन पर बिल्कुल ध्यान मत दो। सभी स्वप्न मात्र हैं, ऐसा समझो। सारी शक्तियाँ निर्भयता से प्राप्त होती हैं, इसलिए आप बिल्कुल निर्भय हो जाइए, किसी भी अनुकुलता की आस मत करो। सांसारिक तुच्छ विषयों के लिए किसी के सामने हाथ मत फैलाइये, नहीं तो तुम्हारे अन्दर दीनता आ जाएगी। दीन मत बनो, सांसारिक इच्छाओं का त्याग कर दो। ऐसा करने पर वह दिन दूर नहीं होगा, जब आपके अन्दर महानता आने लगेगी। इन्द्रियों के

अधिकार में न रहो, बल्कि इन्द्रियों को अपने अधिकार में ले लो। इन्द्रियाँ विषयों को भोगने से कभी तृप्त नहीं होती हैं, स्वयं विषय ही मनुष्य के जीवन को भोग डालते है।

देहाध्यास का त्याग करना मनुष्य के लिए अति आवश्यक है। मृत्यु से पूर्व शरीर के प्रति ममता से रहित होना पड़ेगा, नहीं तो कर्मों का बन्धन आपका पीछा नहीं छोड़ेगा। जब तक इस शरीर व प्राण को अपना मानते रहोगे तब तक जन्म-मृत्यु को प्राप्त होते रहोगे। आज जिस वस्तु को अपना समझ रहे हो, एक दिन सब यहीं छोड़कर जाओगे। इसलिए विवेक द्वारा मोह और ममता को अलग करते रहो। यदि तुमने शरीर के साथ मोह किया तो भय व्याप्त हो जाएगा, क्योंकि शरीर की मृत्यु निश्चित है। इस परिवर्तन को तो स्वयं सृष्टिकर्ता भी नहीं रोक सकता है। यदि आपने अपने स्वरूप को पहचान लिया, उसका साक्षात्कार कर लिया अर्थात् अपने स्वरूप में स्थित हो गये, तो आपको मृत्यु का भय कभी नहीं होगा, बल्कि मृत्यु आपकी दासी हो जाएगी।

अपने विचारों के मोह और आसक्ति से अपने आपको दूर रखो। आपका यह दुर्लभ शरीर स्त्री व बच्चों के लिए नहीं है और न ही भौतिक वस्तुओं के संग्रह करने के लिए है। बाहर के रिश्ते-नाते तथा सांसारिक व्यवहार को उतना ही महत्व दो, जहाँ तक साधना के मार्ग में विघ्न न बने। यह दुर्लभ शरीर आत्म ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्राप्त हुआ है। साधना करना अर्थात् योग का अभ्यास करना मनुष्य का प्रमुख कर्तव्य है, बाकी सब गौण है। ऐसा दृढ़ निश्चय करके अपने मार्ग में आगे बढ़ते जाइए। परिणाम व भ्रम से युक्त क्षणभंगुर संसार से मोह मत कीजिए। स्थूल शरीर युगों-युगों तक स्थिर रहे अथवा इसी समय इसका नाश हो जाए, इसका भय तुम मत करो। अपने मन को स्थिर करके अपने स्वरूप में स्थित होने का प्रयास कीजिये।

देहादि अनात्म पदार्थों में अपनेपन का अभिमान करने वाले सांसारिक पुरूषों का आश्रय लेना व्यर्थ होता है। अज्ञानी मनुष्य अज्ञानियों को जिस ज्ञान का उपदेश करता है वह तो अज्ञान ही है। उसके द्वारा संसार रूपी घोर अंधकार से मुक्त होना असम्भव ही है, परन्तु जिस मनुष्य को तत्त्वज्ञानी मार्गदर्शक मिल जाए, उसके द्वारा बताए गये मार्ग पर चलने से अज्ञान नष्ट हो जाता है, क्योंकि तत्त्वज्ञानी गुरू की कृपा से अज्ञानी मनुष्य अन्त:करण में स्थित अज्ञान रूपी गांठ कट जाती है। जैसे अग्नि में तपाने से सोना-चाँदी के मल दूर हो जाते हैं, उनका सच्चा रूप निखर आता है, वैसे ही तत्त्वज्ञानी गुरू की सेवा से जीव अपने अंत:करण का अज्ञान रूपी मल त्याग देता है और अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित हो जाता है। कामनाओं के बन्धन में जकड़े हुए मनुष्यों को किसी तत्त्वज्ञानी महापुरूष की शरण में जाना चाहिए। जिस

मनुष्य ने तत्त्वज्ञान प्राप्त न किया हो, ऐसे अज्ञानी मनुष्य को अपना पथ-प्रदर्शक कभी नहीं बनाना चाहिए। अज्ञानी मनुष्य की उपमा अन्धे मनुष्य से की जाती है, क्योंकि अज्ञानी मनुष्य खुद ही इस संसार में भटक रहा होता है, वह दूसरों को रास्ता क्या बताएगा? यह सत्य है कि वर्तमान समय में तत्त्वज्ञानी महापुरूष की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। जिन महापुरूषों ने तत्त्वज्ञान की प्राप्ति कर ली है, वह अपने आपको व्यक्त नहीं करते हैं, क्योंकि तत्त्वज्ञान प्राप्ति के कारण वे संसार में रहते हुए भी संसार से दूर रहते हैं। ऐसी अवस्था में अज्ञानी मनुष्य तत्त्वज्ञानी के विषय में समझ पाने में अक्षम है।

-योगी आनन्द जी

हे अमृत के पुत्रों!

"आप शरीर नहीं, इन्द्रिय नहीं, मन नहीं व चित्त नहीं हैं। कब तक अज्ञान रूपी निद्रा में सोते रहोगे। संयम व अभ्यास के द्वारा चित्त में स्थित अज्ञान के आवरण को छिन्न-भिन्न कर दो। आवरण के नष्ट होते ही आपके चित्त में ऋतम्भरा -प्रज्ञा रूपी ज्ञान का उदय हो जायेगा। यही ज्ञान अभ्यासानुसार धीरे-धीरे चित्त की प्रशान्त वाहिता स्थिति तक पहुँचाने में सहायक होगा अर्थात् अज्ञानता के नष्ट होते ही सर्वत्र व्यापक होकर अपने चेतन स्वरूप में अवस्थित हो जाओगे"।

-योगी आनन्द जी

ISBN 978-93-5288-433-9

Email id: anandkyogi@gmail.com
Facebook: http://www.fb.com/sahajdhyanyog
Website: http://www.kundalinimeditation.in/
Youtube: http://www.youtube.com/c/YogiAnandJiSahajDhyanYog